मीमांसक-लेखावली

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा

[वेदाङ्गादिविषयको द्वितीयो भागः]

युधिष्ठिर मीमांसक

भूमिका

मैंने अपने जीवन में शास्त्र-ज्ञान-सम्बन्धी जो कुछ उपलब्धि प्राप्त की है, उसमें स्व-स्व विषयों के पारङ्गत परम सहृदय शिष्यहितेच्छु गुरुजनों का अध्यापन तो केन्द्रीभूत है ही, परन्तु इसके अतिरिक्त अध्ययनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में ही आरम्भ हुए पाठ्यविषयग्रन्थों से भिन्न विविध विषयों के ग्रन्थों के पारायणरूप स्वाध्याय को मैं प्रमुख मानता हूं।

ग्रन्थ-पारायण का आरम्भ कब और कैसे हुआ और उसे विशिष्ट दिशा कब और कैसे प्राप्त हुई, इसका उल्लेख मैं 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' के प्रथम भाग की भूमिका में कर चुका हूं। लेखनकार्य का आरम्भ और उसमें शोधविषयक प्रवृत्ति कैसे हुई, इसका भी वर्णन वहां लिख चुका हूं।

सन् १९२६ के उत्तरार्ध में प्रारम्भ हुआ पारायणरूप स्वाध्याय[1] निरन्तर आगे बढ़ता गया और इसने **जरामर्य-सत्र** का रूप ले लिया। यह सत्र अब भी चालू है, परन्तु शरीर के जरा से जीर्ण और विविध क्षेत्रिय व्याधियों से शीर्ण हो जाने के कारण शैथिल्य आ गया है। इस जरामर्य स्वाध्यायरूपी ब्रह्मसत्र को निरन्तर गति देने में मेरी स्वर्गीया सहधर्मचारिणी **यशोदादेवी** का प्रमुख हाथ था। उसके सहयोग के बिना यह स्वाध्यायसत्र किसी भी स्थिति में चालू नहीं रह सकता था।

इस स्वाध्यायरूपी ब्रह्मसत्र को आरम्भ हुए ६५ वर्ष हो चुके हैं। इस सुदीर्घ अवधि में मैंने विविध विषयों के सहस्रों मुद्रित और हस्तलिखित ग्रन्थों[2] का पारायण किया है। हस्तलिखित ग्रन्थों की उपलब्धि के लिए देशविभाजन से पूर्व

---

१. लगभग इसी काल का दिनचर्यासंबन्धी एक पत्र उणादिकोश के अन्त में सुरक्षित है, जिसमें 'प्रातःकाल ४-३० साढ़े चार बजे उठने से लेकर रात में १० बजे सोने तक की दिनचर्या लिखी हुई है। इसमें पाठ्यग्रन्थों के अध्ययन मनन स्मरण एवं पुनरावर्तन कार्य में लगे १० घण्टों के अतिरिक्त रात ९-१० तक १ घण्टा सामान्य ग्रन्थों के अध्ययन और पारायण के लिये नियत था।

२. इनमें से अनेक ग्रन्थ मेरे पारायणकाल के ४०-५० वर्ष पश्चात् छपे और अनेक अभी तक छपे ही नहीं।

लाहौर के डी०ए०वी० कालेज का तथा पञ्जाब विश्वविद्यालय का विशाल पुस्तकालय प्रधान सहायक थे। सन् १९३२–३४ के मध्य अध्ययनार्थ काशी रहने पर 'संस्कृत महाविद्यालय' (सम्प्रति 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय') के विशाल हस्तलिखित ग्रन्थ सङ्ग्रह से प्रभूत सहायता प्राप्त हुई। देश-विभाजन के पश्चात् प्राच्यविद्या के प्रमुख केन्द्र 'पुणे', जहां अनेक बड़े-बड़े पुस्तकालय हैं, की कई बार यात्रा की। इनके अतिरिक्त पटना, कलकत्ता, गोण्डल (सौराष्ट्र), मैसूर, बड़ौदा और मद्रास प्रभृति नगरों में विद्यमान पुस्तकालयों का उपयोग करने के लिये यात्राएं करके विविध विषयों के शोधनिष्णात विद्वद्वरों से भेंट की, जिससे समय-समय पर मुझे सहयोग मिलता रहा।

लेखनकार्य मैंने अध्ययनकाल में ही आरम्भ कर दिया था। मेरा प्रथम लेख 'शंङ्कासमाधान' शीर्षक वाला 'आर्यमित्र' (साप्ताहिक) के २१ नवम्बर १९२९ के अङ्क में छपा था। इसके पश्चात् २-३ और लेख मई १९३१ तक लिखे थे। तत्पश्चात् विशिष्ट कारणवश लेखन-कार्य में गत्यवरोध हो गया। पुनः लेखन-कार्य का सिलसिला जनवरी १९३९ से आरम्भ होता है। इस अवरोध का लाभ यह हुआ कि मेरे लेखों में शोधप्रधानता आ गई। लेखन के इस सुदीर्घ काल में लगभग ७०-७५ लेख वा निबन्ध हिन्दी और संस्कृत भाषा में लिखे, जो हिन्दी वा संस्कृत की लब्धप्रतिष्ठ पत्र-पत्रिकाओं में छपे। शोधकार्य की दृष्टि से हिन्दी वा संस्कृत में लिखे गये ४०-४५ लेख प्रमुख हैं। इनमें से कुछ लेख उत्तर-काल में सन् १९७० तक लिखे गये तत्तद्विषयक ग्रन्थों के भाग बन गये। फिर भी बहुत-से ऐसे महत्त्वपूर्ण लेख अवशिष्ट थे, जिनका कहीं एकत्र सङ्कलन करना आवश्यक समझा। अतः संवत् २०३३ में कुछ वेदविषयक लेखों का संग्रह "वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा" के प्रथम भाग में सङ्कलित करके प्रकाशित किया था। कालान्तर में अन्य भी अनेक शोधपूर्ण लेख लिखे गये। उन्हें भी "वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा" के दूसरे भाग में सङ्कलित करना चाहता था, किन्तु कार्य की व्यस्तता और शारीरिक अक्षमता के कारण यह कार्य रुका रहा। प्रथम भाग को भी समाप्त हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो चुके थे। अतः यह आवश्यक समझा कि प्रथम भाग के पुनर्मुद्रण के पश्चात् द्वितीय भाग में अवशिष्ट सभी लेख छापे जायें।

निरन्तर कागज और छपाई के बढ़ते हुए व्यय के कारण 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' के दोनों भागों को मैं प्रथम भाग (सं० २०३३) के समान स्वयं प्रकाशन करने में असमर्थ था। अतः इसके दोनों भागों का प्रकाशन "सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता" की ओर से किया जा रहा है। प्रथम भाग संवत् २०४७ में प्रकाशित हो चुका है और द्वितीय भाग अब प्रकाशित हो रहा है।

द्वितीय भाग के प्रकाशन में दैवी बाधा—द्वितीय भाग में प्रकाश्यमाण सभी लेखों की परिशोधित वा परिवर्धित प्रतियों के अनुमुद्रण एक सम्पुट (=फाइल) में क्रमशः सुरक्षित रखे थे; परन्तु स्वास्थ्य की अति क्षीणता के कारण मेरा बहालगढ़ में एकाकी रहना कठिन हो गया, अतः मैं फरीदाबाद अपने पुत्र के पास आ गया। तदनन्तर मेरी अनुपस्थिति में जिस अलमारी में लेखों का संग्रहात्मक सम्पुट रखा हुआ था, उस अलमारी के स्थान पर दूसरी अलमारी में पुस्तकों के परिवर्तनकाल में कार्यकर्ता द्वारा वह सम्पुट कहीं अस्थान में रखा गया। बहुत ढूढने पर भी उपलब्ध नहीं हुआ। प्रयत्न करने पर लेखों का पूर्व संग्रह तो प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु कुछ लेखों की अनुमुद्रण प्रतियां प्राप्त हो गयीं। (इन उपलब्ध अनुमुद्रण प्रतियों का अस्वस्थता के कारण परिशोधनादि न कर सका, यथापूर्व ही ये लेख छापने पड़े)। जिन लेखों की एक ही अनुमुद्रण प्रति थी, वह पूर्व संग्रह के नष्ट हो जाने से नष्ट हो गए। अतः प्रस्तुत द्वितीय भाग में अनेक उपयोगी शोधपूर्ण लेखों का सन्निवेश नहीं हो सका।

प्रस्तुत द्वितीय भाग में वेद के "षडङ्ग" सम्बन्धी उन लेखों का संग्रह है, जो किसी पुस्तक के अन्तर्भूत नहीं हुए। इसके अतिरिक्त एक लेख पूर्वमीमांसा से सम्बन्ध रखता है। इन शास्त्रीय विषयों के अतिरिक्त कतिपय अन्य भी महत्त्वपूर्ण लेख जो विविध समयों में विशिष्ट अवसरों पर पढ़े गये थे, उनको भी अन्त में सङ्कलित कर दिया है। इस भाग में जितने लेख सङ्कलित हुए हैं, उनमें कुछ लेख सद्य.लिखित भी हैं। इस दृष्टि से आजतक लिखे गये प्रायः सभी शोधपूर्ण विशिष्ट लेख **"वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा"** के दोनों भागों में प्रकाशित हो रहे हैं। द्वितीय भाग में कुछ लेख संस्कृत भाषा में लिखे हुए ही छपे हैं। अपनी शारीरिक अक्षमता के कारण हिन्दी अनुवाद साथ में प्रकाशित नहीं कर सका।

वैदिकधर्म के विचारों को फैलानेवाले वन्दनीय पूर्वज

स्वामी दयानन्द की वैदिक धर्म सम्बन्धी विचारधारा को अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार लेखन द्वारा सामान्य जनता तक पहुंचाने का विगत शताधिक वर्षों में जिन महानुभावों ने प्रयत्न किया, वे सभी हमारे वन्द्य हैं। यही नहीं, जिन्होंने किसी भी प्रकार से इस कार्य में सहयोग दिया, वे भी हमारे लिये सम्मान के पात्र हैं। आर्यसमाज के आरम्भिक काल में कनेक आर्य विद्वानों ने दर्शनशास्त्रों, उपनिषदों एवं मनुस्मृति प्रभृति ग्रन्थों पर व्याख्याएं लिखीं और प्रत्येक ग्रन्थ के स्वल्प काल में कई-कई संस्करण प्रकाशित हुए। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों का जितना भाष्य लिखा था, उससे बचे हुए ऋक्, साम और अथर्ववेद पर भी इस काल के विद्वानों ने

भाष्य लिखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसका प्रधान कारण यह था कि इस काल के आर्यों में अपने ज्ञान को बढ़ाने की विशेष इच्छा निहित थी। वे नियमित रूप से स्वाध्याय करते थे। वेदादिसच्छास्त्रों के अभिप्राय को स्वयं जानने के उत्साह से संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिए भी प्रयत्नशील रहते थे। निदर्शनार्थ इसका एक उदाहरण देना ही हम पर्याप्त समझते हैं। श्री क्षेमकरणदासजी ने राजकीय सेवा से निवृत्त होने के पश्चात् संस्कृत भाषा का विशेष अध्ययन करके वेदाध्ययन आरम्भ किया और तत्कालीन महाराजा सयाजीराव गायकवाड बड़ोदा के द्वारा संचालित चारों वेदों की परीक्षा में से तीन वेदों की परीक्षा उत्तीर्ण करके **'त्रिवेदी'** आस्पद प्राप्त किया। इतना ही नहीं, अथर्ववेद जिस पर सायणाचार्य का भाष्य भी पूरा उपलब्ध नहीं है, भाष्य रचा और उसके गोपथब्राह्मण, जिस पर कोई व्याख्या नहीं लिखी गई थी, भाषानुवाद किया।

स्वाध्याय का ह्रास और अज्ञान की वृद्धि

उत्तरकाल में आर्यों में जैसे-जैसे स्वाध्याय में कमी आती गई वैसे उनके ज्ञान में कमी आती गई और दर्शनों, उपनिषदों के सदृश गहन ग्रन्थों के अध्ययन में रुचि न्यून होती गई। इस काल में अचानक वेदभाष्य लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी। जिन्हें व्याकरण आदि किसी भी वेदाङ्ग का ज्ञान नहीं था, उन्होंने भी वेदभाष्य लिखने आरम्भ किये। यदि इस काल में लिखे गये वेदभाष्यों की गिनती करें तो आपाततः यह ज्ञात होगा कि लोगों की रुचि वेदाध्ययन में बढ़ी, परन्तु वास्तविकता यह है कि कतिपय अपवादों को छोड़कर वेदभाष्य लिखने और पढ़ने वालों के ज्ञान में निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। साधारण जनता के अज्ञान से लाभ उठाने के लिए कई चतुर पण्डितों ने दयानन्द की आड़ में ज्ञानवृद्धि और चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ कर दिया। अज्ञान की वृद्धि तथा स्वतन्त्र चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाने का वह फल सामने आ रहा है, जिसकी आशङ्का स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व प्रकट की थी, अर्थात् **'यह भी एक मत बन जायेगा।'**[१]

साधारण आर्यों के विषय में क्या कहा जाये, शिरोमणि सभाओं के प्रधान तथा मन्त्री आदि भी ऐसे हैं, जिन्होंने ऋषि दयानन्द के सत्यार्थ-प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका और संस्कारविधि को भी 'अथ' से 'इति' पर्यन्त एकबार भी अक्षरशः

---

१. द्र०—'मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास' का आरम्भिक भाग। लेखक—दामोदर सुन्दरदास, बम्बई। संवत् १९८९। पूरा पाठ 'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' तृतीय संस्क०, भाग २, भूमिका, पृष्ठ ८ पर छपा है।

शायद ही पढ़ा हो। इसके फलस्वरूप अनेक अवैदिक मान्यताएं आर्यसमाज में पनप रहीं हैं। इसका एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। आर्यसमाज की आरम्भकाल से यह मान्यता रही है कि **धर्म एक ही है और सब मत हैं।** परन्तु सन् १९७५ में आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा के उत्त्वावधान में जो 'आर्यसमाज शताब्दी समारोह' मनाया गया, उसमें विशालकाय पट्ट पर लिखा था—**सर्वधर्म सम्मेलन।** अर्थात् सार्वदेशिकप्रतिनिधिसभा के प्रधान आदि को या तो धर्म और मत का अन्तर ज्ञात नहीं था या फिर इन्दिराप्रशासन को प्रसन्न करने और सञ्जय गान्धी को बुलाकर परोक्ष लाभ की प्राप्ति के लिये यह वैदिक मान्यता के विरुद्ध कार्य किया गया होगा। इस सम्मेलन में सञ्जय गान्धी आये और कृत्रिम जन्मनिरोध पर भाषण देकर चले गये।

इसके दो उदाहरण और भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१—दयानन्द-जन्मशताब्दी (सन् १९२५) तक दयानन्द का सम्बन्ध प्रधानरूप से वेद के साथ माना जाता था। इसीलिए उस समय **'वेदों का डङ्का आलम में बजवा दिया ऋषि दयानन्द ने'** तथा **'वेदों वलियां ऋषियां तेरे आवन दी लोड़'** जैसे भजन ही प्रमुख रूप से गाए जाते थे।

२—आरम्भ काल से आर्यसमाज में वार्षिक उत्सवों के समय **'वेद-सम्मेलन'** करने की परम्परा रही है। वह अब प्रायः लुप्त हो गई है। उसके स्थान में सामयिक विषयों के सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। इसका सीधा तात्पर्य है—**दयानन्द और आर्यसमाज का भूतकाल में वेदों के साथ जो अटूट सम्बन्ध माना जाता था, वह प्रायः टूट गया।**

आर्यसमाजप्रवर्तक दयानन्द की निरपेक्षता

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अनेक भक्तजनों के आग्रह पर भावी काल में आर्यसमाज दयानन्द मत न बन जाए, इसके लिए उन्हें सचेत रहने का उपदेश करने के पश्चात् आर्यसमाज की स्थापना की अनुमति प्रदान की। बम्बई आर्यसमाज के सदस्यों द्वारा गुरु वा मुख्य सहायक पद पर प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना को अस्वीकार करके वे साधारण सदस्य बने। उन्होंने अपनी किसी पाठशाला में स्वलिखित ग्रन्थों को पढ़ाने का निर्देश नहीं दिया। यहां तक कि पठन-पाठन विधि में उणादिकोश के अध्ययन के प्रसङ्ग में उस पर स्वलिखित वृत्ति पढ़ने-पढ़ाने का भी संकेत नहीं किया। सत्यार्थप्रकाश के अन्त में जो मन्तव्यामन्तव्य प्रकरण लिखा, उसके आदि में 'स्व' शब्द का प्रयोग करके आर्यसमाज को उनके बन्धन से भी मुक्त रखा। उन्होंने सदा वेदादि-

सच्छास्त्रों के अध्ययन मनन एवं स्वाध्याय की प्रेरणा दी। ऐसे लोकैषणा से रहित दयानन्द के अनुयायी सम्पूर्ण विचारधारा को दयानन्द के घेरे में ही सीमित करके उसे दयानन्दपन्थ बना रहे हैं। ऐसे लोगों को उत्साह मिलता है आर्यों के स्वाध्याय-हीनता के कारण पनप रहे अज्ञान से। आर्यसमाज की उन्नति का एकमात्र साधन है—वेदादि सत्यशास्त्रों के साथ दयानन्द के ग्रन्थों के स्वाध्याय और मनन को बढ़ावा देना।

इतर विद्वत्समाज आर्यसमाज से क्या अपेक्षा रखता है ?

श्री पं० अग्निहोत्री रामानुज तातार्य का पत्र

कुम्मघोण निवासी श्री पं० अग्निहोत्री रामानुज तातार्य को **'पानीपत-आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी'** के अवसर पर सम्मानार्थ बुलाया था। आपका गत मास (जनवरी १९८५) एक छह पृष्ठों का सुदीर्घ पत्र संस्कृत[1] में मुझे प्राप्त हुआ। उसमें यहां के कार्य को देखकर जो उद्‌गार प्रकट किए, उन्हें संक्षेप से हिन्दी में दे रहा हूं।[2]

आपका पाण्डित्य और वैदिक धर्म के प्रचार में अतिशय प्रवृत्ति का बार-बार स्मरण करके आनन्दसागर में निमग्न होता हूं।····· आपके पुस्तकालय और अनुसन्धान कार्य में प्रवृत्ति को देखकर मैं विस्मित हुआ।·····

आर्यसमाज की प्रवृत्ति को बहुत समय से सूक्ष्मेक्षिका से अनुभव कर रहा हूं। क्योंकि इस समय भारत में सभी मठाधिपति अपने-अपने समुदाय के प्रचार में लगे हुए हैं। वेद को सर्वथा छोड़ चुके हैं। उनमें वेदविषयक श्रद्धा उत्पन्न करना असम्भव है।····· मैंने यह निर्णय किया है कि यदि वेदमात्र की रक्षा के लिए कुछ न किया जाएगा तो वेद की स्थिति भी नहीं रहेगी।····· इस प्रकार का कार्य आर्यसमाज कर सकेगा वा नहीं, यह आरम्भकाल में संशय हुआ था, परन्तु कुछ काल व्यतीत होने पर आर्यसमाज के ग्रन्थों के देखने से यही एक समाज इस कार्य के करने में समर्थ है, यह निश्चय हुआ। [पानीपत आ० स० श० समारोह में] समागत सन्यासियों, गृहस्थों, आचार्यों और छात्रों के दर्शन से आर्यसमाज एक ही [वेद की रक्षा के लिए] पर्याप्त है, यह विचार किया।

---

१. मूल संस्कृत पत्र मेरे संग्रह में कहीं सुरक्षित अवश्य होगा, परन्तु सम्प्रति उसे ढूंढ़ना मेरे लिये असम्भव है।

२. वेदवाणी के मार्च १९८५ अङ्क से उद्‌धृत।

यदि वर्तमान के लोगों का जीवनसम्बन्धी [वेद में] कुछ न कहा तो वे [वेद पर] विश्वास न करेंगे। इसलिए साम्प्रतिक लोकानुबन्धी सामुदायिक आर्थिक राजकीय व्यवहारों के साथ वेद का यदि सम्बन्ध न होवे तो वेदों का उपयोग ही सन्देहास्पद हो जाए।····· वेद लोकातीत और कालातीत विषय के लिए प्रवृत्त नहीं हुए, अपितु लोगों के दैनन्दिन व्यवहार में उपकार के लिए प्रवृत्त हुए हैं। सब वेदों में यही देखा जाता है। इसी प्रकार के अर्थों को बतलाने के लिए वेद की प्रवृत्ति हुई, ऐसा पूज्य दयानन्द सरस्वती के व्याख्यान से ही जाना जा सकता है। मनु ने 'सर्व वेद से सिद्ध होता है' ऐसा कहा है।·····सभापति लोगों के सामने खड़े होकर 'तुम्हारे सब प्रकार के व्यवहार की रक्षा के लिए वेद प्रवृत्त हुए है' ऐसी घोषणा करने को वेद के बिना कोई भी नहीं आता।·····समस्त भारत की एकता के सम्पादन में भी वेद ही मूलभूत हैं, ऐसा लोगो में उत्साह उत्पन्न करना चाहिए।

पचास से अधिक वर्षों से वेद के प्रचार के विषय में बहुत विचार किया, दिन रात वेदरक्षा के प्रकार की चिन्ता ही मेरे मन में रहती है। हम लोग वैदिक सम्प्रदाय में दस पीढ़ी से धुरन्धर हैं, परन्तु आधुनिक दशा के अनुसार वैदिक भावों को प्रकट करना आवश्यक है, यह मेरा आशय है। विशुद्ध वैदिक भावों का ही आधुनिक काल में प्रचार आवश्यक है।

आर्य लेखकों द्वारा लिखित साहित्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायियों ने विगत ११७ वर्षों में जो साहित्य लिखा है, वह विषय और ग्रन्थ-संख्या की दृष्टि से अल्प नहीं है। यह तथ्य श्री पं० भवानीलाल भारतीय द्वारा लिखित तथा सद्यःप्रकाशित 'आर्य लेखक कोश' से प्रमाणित हो जाता है। परन्तु इस अनल्प ग्रन्थराशि में उच्चकोटि का चिरस्थायी साहित्य अति स्वल्प है। स्वामी दयानन्द सरस्वती की शास्त्रीय विचारधारा को लक्ष्य में रखकर उनके विचारों की पुष्टि और मध्यकालीन विकृत वैदिक मान्यताओं के खण्डन में विविध शास्त्रीय प्रमाणों से अलङ्कृत ग्रन्थ, जो विरोधी विचारधारा के माननेवाले व्यक्तियों को 'विचार करने' वा 'प्रतिपक्ष में लिखने' के लिए प्रेरित कर सकें, ऐसे ग्रन्थ वा उनके लिखनेवालों की संख्या अति स्वल्प है।

इस विषय में जो स्थिति आर्यसमाज की है, उससे भी गई गुजरी स्थिति आर्यसमाज के विरोधी जगत् की है, जिसकी संख्या आर्यसमाज से सहस्रों गुणा अधिक है। विगत १२० वर्षों में स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के खण्डन में केवल तीन ही ऐसे प्रमुख ग्रन्थ लिखे गये, जिन के उत्तर में ग्रन्थ लिखने पड़े। एक—मुरादाबाद

निवासी श्री पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने सत्यार्थ-प्रकाश के खण्डन में **'दयानन्दतिमिर-भास्कर'** लिखा। दूसरा—आगरा निवासी श्री पं० घनश्यामदास ने संस्कृत में **'भूमिका धिक्कार'** अपरपर्याय **'भूमिकाभास'** लिखा। तीसरा ग्रन्थ इसी काल में श्री स्वामी हरिहरानन्द जी करपात्री ने **'वेदार्थ पारिजात'** लिखा। प्रथम ग्रन्थ का उत्तर श्री स्वामी तुलसीरामजी ने **'भास्कर-प्रकाश'** नाम से और दूसरे का उत्तर श्री पं० द्विजेन्द्रनाथजी ने संस्कृत में ही **'भूमिका-प्रकाश'** नाम से यथासमय प्रकाशित किया। 'वेदार्थ पारिजात' के सम्बन्ध में आगे लिखा जाएगा।

श्री करपात्रीजी द्वारा विशेष सम्मानित तीन आर्य लेखक

पौराणिक जगत् में भक्ति का एक स्वरूप **'द्रोह करना'** भी माना गया है। इतना ही नहीं, जहां आराधना या स्तुतिरूप भक्ति से मुक्त को संसिद्धि में अनेक जन्म व्यतीत करने पड़ते हैं[1], वहां द्रोहात्मक भक्ति में संसिद्धि अल्पकाल में हो जाती है। भागवत पुराण के दशम स्कन्ध के ७४वें अध्याय से विदित होता है कि शिशुपाल को 'द्रोहरूप' भक्ति से तीन जन्म में ही परमधाम की प्राप्ति हो गई थी।[2] अतः यह कहा जाए कि पुराणों के मतानुसार आराधना या स्तवनरूपभक्ति से द्रोह-भक्ति सरल और उत्तम है, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

इस दृष्टि से किसी को सम्मानित करने के भी दो मार्ग हैं। एक—जिसको सम्मानित करना हो उसके गुणों वा उत्तम कार्यों का बखान करना और दूसरा—उसकी निन्दा करना अथवा सर्वाङ्गसुन्दर कार्य में मक्षिका-निकर के समान व्रण खोजना, न्यूनतादर्शन के लिए खण्डन करना। श्री करपात्रीजी भागवत के प्रसिद्ध कथाकार थे, अतः उन्होंने 'द्रोह-भक्ति' के समान दयानन्द के प्रति अपशब्द लिखना, निरर्थक दोष-निदर्शन वा खण्डन करना रूप सम्मान-विधि का आश्रय लिया है। संराध्य के साथ उसके सेवकों की भक्ति भी पौराणिक भक्तिशास्त्र में आवश्यक मानी गई है। जैसे रामभक्त राम के सेवक हनुमान् की भी भक्ति करते हैं। इसी प्रकार अपनी विशिष्ट सम्मान-विधि के अनुरूप दयानन्द का तो सम्मान किया ही, दयानन्द के तीन सेवकों को भी सम्मानित करके यह प्रमाणित कर दिया कि उनकी दृष्टि में आर्यसमाज में दयानन्द के वास्तविकरूप में तीन ही विशिष्ट सेवक हैं। अस्तु।

---

१. अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। गीता ६।४५॥

२. जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया।
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्॥—श्लोक ४६॥

ऋ० भा० भूमिका के खण्डन में लिखा गया वेदार्थ-पारिजात

श्री स्वामी हरिहरानन्द जी करपात्री (करपात्र) ने स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित वेदविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'[1] के खण्डन में **वेदार्थ-पारिजात** नाम का एक विशालकाय ग्रन्थ लिखा है। यह दो भागों में बृहद् आकार के २२७४ पृष्ठों में संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में मुद्रित हुआ है। इसके प्रथम भाग में **दयानन्दमतखण्डनम्** शीर्षक से पृष्ठ ४८४ से ७८८ तक ३०५ पृष्ठों में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के **'ईश्वरप्रार्थनाविषय'** से लेकर **'वेदसंज्ञाविचार-विषय'** तक भाग का खण्डन छपा है। द्वितीय भाग में पृष्ठ ११६४ से १७४२ तक ५७९ पृष्ठों में **'ब्रह्मविद्याविषय'** से लेकर **'अलङ्कारविषय'** पर्यन्त भागों का खण्डन मुद्रित किया है। अर्थात् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के खण्डन में श्री करपात्रीजी ने (३०५+५७९=) ८८४ पृष्ठ व्यय किए हैं।

कोई भी सचेता समर्थ विद्वान् किसी विद्वान् के मतों का खण्डन करते हुए अपने गौरव की रक्षा का ध्यान रखता है और अपने लेखन में पूर्ण सतर्कता बर्तता है। परन्तु यदि कोई असमर्थ व्यक्ति द्वेषबुद्धि से प्रेरित होकर किसी का खण्डन करता है, तो वह अपनी अयोग्यता या असमर्थता को छिपाने के लिए मर्यादा का ध्यान न रखकर साधारणजनों से प्रयुक्त किए जानेवाले अवाच्य अपशब्दों का आश्रय लेता है। जिस व्यक्ति के मतों का करपात्रीजी ने खण्डन किया है, वे चतुर्थाश्रमी थे और स्वयं करपात्रीजी भी संन्यासाश्रमी थे। सब एषणाओं से मुक्त होने का सङ्कल्प करके ही कोई व्यक्ति संन्यास की दीक्षा ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में श्री करपात्रीजी द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती के लिए प्रयुक्त अपशब्दावली क्या **'खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे'** कहावत को चरितार्थ नहीं करती? दूसरे शब्दों में यही कहा जा सकता है कि करपात्रीजी ने दयानन्दमत के खण्डन में अपने को असमर्थ पाकर अपशब्दरूपी वागाडम्बर के सहारे स्वगौरव को बचाने की चेष्टा की। परन्तु इससे उन्होंने न केवल अपनी आश्रम-मर्यादा का ही उल्लङ्घन किया, अपितु दयानन्द के खण्डन में अपनी असमर्थता भी प्रकट कर दी।

"दयानन्दमत के खण्डन में करपात्रीजी असमर्थ रहे, यह मैं इसलिए कह रहा हूं

---

१. द्र०—"संस्कृत-साहित्य का आरम्भ ऋग्वेद से होता है और उसकी समाप्ति स्वामी दयानन्द की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पर होती है।" (मैक्समूलर के 'हम भारत से क्या सीखें' के नाम से संकलित भाषणों के तृतीय भाषण में, पृष्ठ १०२)।

कि ११ से १८ नवम्बर १९६४ में अमृतसर नगर में सम्पन्न हुए सर्ववेदशाखा-सम्मेलन में पुरी के शङ्कराचार्य श्री निरञ्जनदेव तीर्थ के सेनापतित्व में शतशः ग्रन्थरूपी दिव्यास्त्रों से सम्पन्न बीसियों महारथी पण्डितों से युक्त स्वदलीय महती सेना के बल पर भी श्री करपात्रीजी दयानन्द के एक तृतीय श्रेणी के मुझ जैसे एकाकी शस्त्र-रहित (=ग्रन्थरहित) सेवक को दो दिन निरन्तर चलनेवाले शास्त्र-समर में पराजित नहीं कर सके। एक-के-बाद-एक महारथी धराशायी होते रहे। वक्ता बदलते गए। उनके सेनापति श्री स्वामी निरञ्जनदेवजी तीर्थ को **'यह शास्त्रार्थ नहीं था, शास्त्रचर्चा थी। इसमें जय-पराजय का प्रश्न ही नहीं उठता'** कहकर अपने घुटने टेकने पड़े। इस प्रकार इस शास्त्रार्थ की समाप्ति हुई। (इसकी साक्षी उस समय शास्त्रार्थ में उपस्थित पौराणिक मतस्थ जीवित व्यक्ति आज भी दे सकते हैं।) श्री करपात्रीजी की पराजय का एक प्रमाण यह भी है कि उक्त शास्त्र-समर से पूर्व श्री करपात्रीजी मुझे सदा सर्ववेदशाखासम्मेलन में निमन्त्रित करते रहे। इस सम्मेलन में भी मैं उनके निमन्त्रण पर ही अमृतसर पहुंचा था। परन्तु उक्त शास्त्रार्थ के परिणाम से श्री करपात्रीजी इतने भयभीत हुए कि उन्होंने सन् १९६४ के पश्चात् सम्पन्न होनेवाले किसी सम्मेलन में मुझे निमन्त्रित करने का साहस नहीं किया। क्या यह व्यवहार श्री करपात्रीजी के उक्त शास्त्र-समर में पराजित होने को उजागर नहीं करता ?

श्री करपात्रीजी ने दयानन्द के पचासों सेवकों में से जिन तीन को अपने खण्डन का लक्ष्य बनाया, उससे क्या उन्होंने प्रकारान्तर से उन्हें सम्मानित नहीं किया ? पूज्य गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु के लेखों का खण्डन **जिज्ञासुमत-समीक्षणम्** शीर्षक से प्रथम भाग में पृष्ठ ७८९ से ८३४ तक ४६ पृष्ठों में किया है। तत्पश्चात् श्री पं० भगवद्दत्तजी के लेखों का खण्डन **भगवद्दत्तखण्डनम्** शीर्षक से पृष्ठ ८३४ से ९०८ तक ७५ पृष्ठों में लिखा है। मेरे लेखों का खण्डन **युधिष्ठिर-मीमांसकमतखण्डनम्** शीर्षक से द्वितीय भाग के पृष्ठ १८२४ से २१४१ तक ३१८ पृष्ठों में **श्रुतिसंज्ञाविचारप्रत्याख्यानम्, आम्नायसंज्ञाविचारनिरासः, मन्त्रविनियोग-विमर्शः, देवयोनिः, गोमेधः** और **श्रौतयज्ञमीमांसा** उपशीर्षकों से लिखा है। सम्भवतः मेरे लिए इतने अधिक पृष्ठों को काले करने का कारण अमृतसर में हुई अपनी सदल पराजय की खीझ को मिटाना रहा हो। इस प्रकरण के अतिरिक्त ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकाखण्डन के साथ-साथ भूमिका पर लिखी गई टिप्पणियों के खण्डन में बहुत कुछ लिखा है।

श्री करपात्रीजी ने आर्यसमाज के सर्वमान्य पूज्य व्यक्ति के प्रति अवाच्य शब्दों की झड़ी लगाकर आर्यसमाजियों को कुपित करने का निमन्त्रण दिया। परन्तु कर-

पात्रीजी के **वेदार्थ-पारिजात**' के खण्डन में जो ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं,[1] उनके लेखकों ने आर्यमर्यादा का पूर्णतया पालन करते हुए कहीं पर भी करपात्रीजी जैसे चतुर्थाश्रमी के प्रति अभद्र शब्द का प्रयोग नहीं किया। इस दृष्टि से भी श्री करपात्रीजी अपने अनार्यजुष्ट कार्य से लौकिक व्यवहार में भी पराजित हुए, यह स्पष्ट है।

करपात्रीजी के मतानुसार वेदों का प्रयोजन केवल द्रव्यमय यज्ञ ही है। इनमें गौ, अश्व, अज आदि लोकोपयोगी पशुओं को मारकर उनके अङ्गों के होम करने का विधान है। इस कारण यज्ञशेष के रूप में यजमान और ऋत्विजों को मांसभक्षण करने के लिये बाधित होना पड़ता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मध्यकालीन अवैदिक परम्पराओं का खण्डन किया, इससे श्री करपात्रीजी अधिक कुपित नहीं थे; अपितु उनका स्वामी दयानन्द सरस्वती पर कोप का प्रधान कारण था—वेद को समस्त विद्याओं का आकर ग्रन्थ मानना और वेदमन्त्रों द्वारा विविध विद्याओं को प्रमाणित करना। (यह रहस्य मुझे अमृतसर में हुए शास्त्रार्थ में विदित हुआ था)।

मेरे विविध लेखों का खण्डन जिस व्यक्ति से लिखाया गया है, वह निश्चय ही मीमांसाविषयक मध्यकालीन परम्परा के अच्छे ज्ञाता हैं। परन्तु वे परम्परागत शुद्ध-अशुद्ध मिश्रित विचारधारा से इतने प्रभावित हैं कि उनमें सत्य-असत्य के निर्णय की बुद्धि सर्वथा कुण्ठित हो गई है। अथवा **गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः** नियम के अनुसार लोकलज्जावश सत्य को प्रकट करने की उनमें शक्ति नहीं है। अन्यथा यज्ञ में अपने हाथ से मारे गए पशु के सम्बन्ध में **न उ वा एतन्म्रियसे** (ऋ० १।१६२।२१) मन्त्र को उद्धृत कर यह कहना कि 'यह मरा नहीं है', कहां तक उचित है? मेरे खण्डन में मीमांसा को आगे करके जो कुछ लिखा गया है, उससे ज्ञात होता है कि लेखक मीमांसा-शास्त्र के विविध ग्रन्थों और मतों से परिचित नहीं है। इसका एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। मैंने **मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या** के आदि में लिखे गए **श्रौतयज्ञमीमांसा** में विकृति यज्ञों के उदाहरणों में "**दाक्षायणेष्टि**" का उल्लेख किया था। इस पर लेखक ने वाक्छल का आश्रय लेकर लिखा है—"**दाक्षायण याग है, इष्टि नहीं है।**" परन्तु मीमांसा अध्याय २, पाद ३ के चतुर्थ **दाक्षायणादीनां गुण-**

---

१. श्री पं० विशुद्धानन्द मिश्र शास्त्री जी वेदार्थपारिजात के खण्डन में 'वेदार्थ-कल्प-द्रुम' ग्रन्थ लिख रहे हैं। प्रथम भाग छप चुका है, द्वितीय छप रहा है, तृतीय भाग भी लिखा जा चुका है। डा० श्री ब्रह्मानन्दशर्माजी वेदार्थपारिजात के खण्डन में 'वेदार्थ-विमर्श' ग्रन्थ लिख रहे हैं। यह 'परोपकारी' पत्र में क्रमशः प्रकाशित हो रहा है। एक भाग पुस्तकाकार में छप चुका है।

ताधिकरणम् के शाबरभाष्य के अनुसार दर्शपौर्णमासेष्टि में ही गुणान्तराधानरूप दाक्षायण याग है। अब विचारना चाहिए कि दाक्षायण यज्ञ को स्वतन्त्र याग न मान कर दर्शपौर्णमास में गुणान्तराधानरूप माना गया है। जब दर्शपौर्णमास के लिए इष्टि शब्द का प्रयोग सर्वसम्मत है तब उसी इष्टि में कुछ गुणान्तराधान से निर्वर्तित नाम-मात्र से भिन्न दाक्षायण यज्ञ के लिए इष्टि शब्द का प्रयोग करना क्योंकर अशास्त्रीय हो सकता है? शाबरभाष्य आदि के अनुसार दाक्षायण यज्ञ स्वतन्त्र यज्ञ नहीं है। अब रही दाक्षायणेष्टि को विकृतियाग के रूप में उदाहृत करने की बात। जो लोग दाक्षायण याग को स्वतन्त्र याग नहीं मानते, उनके मत में तो दाक्षायणेष्टि को विकृति याग के रूप में उपस्थित करना अशुद्ध हो सकता है, परन्तु जिन्होंने मीमांसाशास्त्र के विविध ग्रन्थों का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि कुमारिलभट्ट के अनुयायी विविध महायज्ञों के आहर्ता वासुदेव दीक्षित ने अपनी 'कुतूहलवृत्ति' में दाक्षायण यज्ञ को उक्त अधिकरण का विषय ही नहीं बनाया। उसने अनेक प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि दाक्षायणयाग विकृतियाग है। क्योंकि कौषीतकिब्राह्मण में दर्शपूर्णमास के विधान के अनन्तर अनेक इष्टियों का विधान करके दाक्षायणेष्टि का विधान किया गया है। इससे स्पष्ट है कि दाक्षायणेष्टि का पौर्णमासेष्टि के साथ सम्बन्ध न होने से यह विकृतियाग है। यतः तैत्तिरीयसंहिता में दर्शपौर्ण-मासेष्टि के साथ ही दाक्षायणेष्टि का विधान है, अतः तैत्तिरीयशाखाध्येताओं को यह भ्रम हुआ है कि दाक्षायणेष्टि दर्शपौर्णमास में गुणान्तराधानरूप है, स्वतन्त्र इष्टि नहीं है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि वासुदेव दीक्षित स्वयं तैत्तिरीय-संहिताध्यायी था।

वेदार्थपारिजात की प्रस्तावना के लेखक ने लिखा है—**'रामायणकालात् प्रागेव कठतैत्तिरीयशाखाध्यायिन आसन्निति महर्षिवाल्मीकेरादिकवेर्वचनाद् अवगच्छामः'** (पृष्ठ ७)।

इस प्रस्तावना के लेखक प्रसिद्ध मीमांसक हैं। शबरस्वामी आदि मीमांसकों के मत में यद्यपि सभी शाखाएं नित्य हैं, परन्तु इनके साथ सम्प्रति जिस नाम का सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध द्वापर के अन्तिम काल में भगवान् कृष्णद्वैपायन के शिष्य वैशम्पायन और उसके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा पूर्वतः विद्यमान शाखाओं के विशेष प्रवचन के कारण है। यह **आख्याप्रवचनात्** (मी० १।१।३०) के शाबरभाष्य से स्पष्ट है। अतः जब त्रेता में कठ तैत्तिरीय आदि शाखाप्रवचनकर्ता उत्पन्न ही नहीं हुए थे, तो उस काल में कठ-तैत्तिरीय शाखाध्येताओं की सत्ता कैसे सम्भव है? अतः रामायण अयोध्याकाण्ड के सर्ग ३२ के १५ से १८ तक के श्लोक, जिनमें कठ तैत्तिरीय शाखाओं के नाम आये हैं, इतिहासविरुद्ध होने से किसी कृष्णयजुर्वेदी ने

स्वशाखाओं की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये प्रक्षेप किया है। आश्चर्य है कि मीमांसाशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् ने अपने शास्त्र के सिद्धान्त की अवहेलना कैसे की, यह समझ में नहीं आता। सम्भव है उन्होंने इतिहास का ज्ञान न होने से यह भूल की है। रामायण के शोधपूर्ण बड़ौदरा के विशिष्ट संस्करण के सम्पादक ने भी इतिहास का ज्ञान न होने से अथवा सम्पादन में उसका आश्रय न लेने से इन श्लोकों को अपने संस्करण में स्थान दिया। यह है इतिहास की अवहेलना करने का फल। इस विषय में 'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' के इसी भाग में पृष्ठ २८१–२८२ देखें।

मेरे व्यक्तिगत विषय में जो कुछ लिखा है, उसका आशय यह है कि 'श्री स्व० पं० चिन्नस्वामीजी को यह आशङ्का भी नहीं थी कि मैं इन्हें मीमांसाशास्त्र नहीं पढ़ा रहा, अपितु आस्तीन में सांप पाल रहा हूं।' वास्तविकता इससे सर्वथा विपरीत है। पूज्य गुरुवर्य तो कितने उदारचरित थे, इस विषय में एक घटना की ओर संकेत करना उचित होगा। एक दिन पढ़ाते हुए पूज्य गुरुवर्य ने कहा कि "माध्व सम्प्रदाय के आचार्यों ने द्वैतमत की सिद्धि के लिए अनेक ऐसी जाली श्रुतियां बना लीं, जो कहीं नहीं मिलतीं।" इस पर मैंने विनम्रतापूर्वक गुरुजी से कहा कि माध्व सम्प्रदाय के राघवेन्द्राचार्य ने **मन्त्रार्थ-मञ्जरी** में लिखा है कि "हमारे आचार्यों पर जाली श्रुतियां गढ़ने का दोष इसलिए लगाया जाता है कि वे सम्प्रति किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होतीं। शाङ्करभाष्य और शाबरभाष्य में भी ऐसी बहुत-सी श्रुतियां हैं, जो किसी ग्रन्थ में नहीं मिलतीं। क्या वे भी जाली है?"[1] मेरे इस कथन को सुनकर गुरुवर्य ने न तो उस समय और न कालान्तर में कभी मुझपर अप्रसन्नता प्रकट की। इतना ही नहीं, इस घटना के पश्चात् मैंने अनुभव किया कि पूज्य गुरुजी का मुझपर स्नेह अधिक बढ़ा। इसका कारण मैं समझता हूं कि वे यह समझ गए थे कि युधिष्ठिर सामान्य विद्यार्थी नहीं है; अपितु इसे अनेक विषयों का ज्ञान है। इस स्थिति में पूज्य गुरुवर यह सोच ही कैसे सकते थे कि "मैं आस्तीन में सांप पाल रहा हूं।"

लेखक ने मुझ पर गुरुवर्य के मत के खण्डन के कारण गुरुद्रोह करने का आरोप लगाया है। मीमांसा के भाट्टमत के अनुयायी व्यक्तियों ने एक-दूसरे का इतना खण्डन किया है कि उसमें से सत्य को पाना कठिन है। फिर भी सभी अपने को भाट्टमतानुयायी मानते हैं। इतना ही नहीं, भाट्टमत के प्रसिद्ध अनुयायी खण्डदेव ने मीमांसा पर **भाट्टदीपिका** नामक एक ग्रन्थ लिखा है। यह मीमांसकों में विशेषरूप से आदृत है।

---

१. विशेष द्रष्टव्य— आत्म-परिचय, पृष्ठ १६०, १६१ (द्वितीय संस्करण)।

खण्डदेव के शिष्य शम्भुभट्ट ने "भाट्टदीपिका" पर प्रभावती नाम्नी व्याख्या लिखी है। शम्भुभट्ट ने अपनी व्याख्या में स्वगुरु खण्डदेव के मतों का बहुत्र प्रत्याख्यान किया है। यह उल्लेख शम्भुभट्ट ने अपनी व्याख्या के आरम्भ में स्वयं लिखा है। इतना होने पर भी किसी मीमांसक ने खण्डदेव को गुरुद्रोही नहीं कहा। क्योंकि विद्वज्जनों की मान्यता है, "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।" ऐसी अवस्था में यदि मैंने पूज्य गुरुवर्य की किसी मान्यता के विपरीत भी लिखा है, तो मैंने कोई अपराध नहीं किया। इतना ही नहीं, मेरी अपनी मान्यता है कि यदि पूज्य गुरुदेव जीवित होते तो मैंने मीमांसाशास्त्र पर जो गुरुतर कार्य किया है, उससे अवश्य प्रसन्न होते। यदि पौराणिक मतानुसार कहा जाय तो पूज्य गुरुवर स्वर्ग में बैठे हुए मीमांसा-सम्बन्धी कार्य पर मुझे आशीर्वाद दे रहे हैं। वैसे भी गुरुजनों का आशीर्वाद मुझे सदा प्राप्त होता रहा है, इसी कारण मैं अपने लक्ष्य में सफल हुआ हूं और शरीर के जीर्ण-शीर्ण होने पर भी लक्ष्य की ओर मन्द गति से बढ़ रहा हूं।

लेखन कार्य का उद्देश्य

मैंने जितना भी लेखन कार्य किया है, वह चाहे लेखरूप हो, चाहे स्वतन्त्र ग्रन्थ-रूप में, चाहे किसी ग्रन्थ की व्याख्या और किसी ग्रन्थ के सम्पादन में ग्रन्थ के परिचय तथा टिप्पणी आदि के रूप में क्यों न हो, उस सबके पीछे मेरी एकमात्र दृष्टि यह रही है कि किसी न किसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों को अधिक से अधिक उन पाठको तक पहुंचाऊं, जो सीधे आर्यसमाज के सम्पर्क से अछूते अथवा विपरीत मति रखनेवाले हों। इस कार्य के लिये मैंने उन विषयों को चुना, जिन पर किसी ने भी किसी भी भाषा में मुख्यरूप से ग्रन्थ न लिखा हो। यथा—वैदिक-स्वर मीमांसा, वैदिक-छन्दोमीमांसा और संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास। इसी प्रकार व्याख्या लिखने के लिये भी उन ग्रन्थों को चुना, जो अपने विषय के सर्वमान्य ग्रन्थ हैं। यथा—पातञ्जल महाभाष्य, तथा मीमांसाशाबरभाष्य। सम्पादन में भी उन ग्रन्थों को प्राथमिकता दी, जो पाणिनीय क्रम से संस्कृत व्याकरण पढ़ने-पढ़ाने में सहायक थे। इससे भिन्न जिन ग्रन्थों का सम्पादन किया, उनका सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष वा परोक्षरूप से वेद के साथ था, जिनका सम्पादन वा प्रकाशन श्रीमती परोपकारिणी सभा के 'स्वीकार-पत्र' के सभा द्वारा क्रियमाण कर्मों की धारा १ के अन्तर्गत आये हैं। इनके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों के (ऋग्वेदभाष्य के मं० १ सूक्त १०५ तक के अतिरिक्त वेदभाष्य और वेदाङ्गप्रकाश को छोड़कर) शुद्ध सुन्दर टिप्पणियों एवं विविध परिशिष्टों से युक्त ऐसे संस्करण तैयार किये, जो दयानन्द के किसी भी ग्रन्थ पर शोध करनेवाले के लिये उपयोगी वा मार्गदर्शक होवें। मैंने जो लेखन-कार्य किया है, उसकी पृष्ठ-संख्या १३ सहस्र से अधिक है।

नीचे हम संक्षेप से इन ग्रन्थों की पृष्ठसंख्या का निर्देश करते हैं, जिससे पाठकों को मेरे लेखन-कार्य का कुछ परिचय होवे।

१. मीमांसाशाबर-भाष्य-व्याख्या, ८वें अध्याय तक ६ खण्डों में। छः खण्डों के आद्यन्त में लिखित लेखों की पृष्ठ-संख्या ३१०+प्रथम भाग से षष्ठ भाग तक व्याख्या की क्रमिक पृष्ठसंख्या २३०८। कुल मिलाकर	२६१८
२. मीमांसाशाबरभाष्य (मूल) के आद्यन्त भागों के लेखों की पृष्ठसंख्या १६+२२४+१२+२२४ कुल मिलाकर	४७६
३. महाभाष्य-हिन्दी-व्याख्या, ३ भागों की आद्यन्त की मिला कर कुल पृष्ठसंख्या	१९१०
४. संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास, ३ भाग (चतुर्थ संस्करण) सम्पूर्ण पृष्ठसंख्या	१५९१
५. वैदिक-स्वर-मीमांसा (आद्य के मिलाकर)।	२५०
६. वैदिक-छन्दोमीमांसा ,, ,,	३००
७. काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नडटीका का रूपान्तर। आदि के ८६+आगे की २५४ कुल मिलाकर	३४०
८. श्रौत-यज्ञ-मीमांसा (संस्कृत-हिन्दी)	२६०
९. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, भाग १, आद्यन्त के मिलाकर पृष्ठसंख्या	४२०
१०. वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, भाग २ ,, ,,	५३४
११. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास (आदि के मिलाकर)	४४०
१२. मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य (आदि के मिलाकर)	२५४
१३. दयानन्द-प्रवचन-संग्रह—पूना प्रवचन—मराठी से हिन्दी अनुवाद, बम्बई प्रवचन—गुजराती से हिन्दी अनुवाद (आदि के मिलाकर)	३२०
	९७१३

पिछला योग	९७१३
१४. आत्मपरिचय (द्वि० सं०), (आदि के मिलाकर)	५३५
१५. सत्यार्थप्रकाश (शताब्दी सं० २), (आद्यन्त मात्र के)	३१०
१६. संस्कारविधि (शताब्दी सं० २), (आद्यन्त मात्र के)	१३२
१७. दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह (शताब्दी सं० २), (आद्यन्त मात्र के)	१६६
१८. ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन (४ भागों के आद्यन्त मात्र के)	२८८
१९. ऋग्वेदभाष्य, भाग १ (आद्यन्त मात्र के)	२९७
२०. ऋग्वेदभाष्य, भाग २ (आद्यन्त मात्र के)	७३
२१. ऋग्वेदभाष्य, भाग ३ (आद्यन्त मात्र के)	४५
(क) ऋषि दयानन्द के सम्पादित सभी ग्रन्थों की तीन सहस्रों से अधिक टिप्पणियों की अनुमानित पृष्ठसंख्या	५००
(ख) वैदिक वाङ्मय के सभी सम्पादित ग्रन्थों के आद्यन्त के पृष्ठ, तथा सहस्रों टिप्पणियों के पृष्ठ	५००
	१२५५९

इनके अतिरिक्त 'वेदवाणी' लगभग ३० वर्ष के और 'टंकारा पत्रिका' के सम्पादकीय की एवं आलोचन-टिप्पणियों की पृष्ठसंख्या तथा 'वै०सि० मी०' के दो भागों में अमुद्रित पृष्ठों की संख्या लगभग ५०० कम से कम और होगी। इस प्रकार मेरे द्वारा लिखे गये समस्त पृष्ठों की संख्या लगभग १३ तेरह हजार होती है।

कार्य में सहायक—'वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा' द्वितीय भाग में जो लेख छपते-छपते लिखे गये हैं, उनकी प्रतिलिपि आदि कार्य में प्रिय अवनीन्द्र वत्स ने विशेष सहायता की है। इसी प्रकार प्रेस कापी में रही-सही लेखन-सम्बन्धी भूलों के परिमार्जन और मुद्रणपत्र के दुरूह कार्य को पं० चन्द्रदत्त जी ने बड़े परिश्रम से किया है। इसके लिये दोनों के उत्तरोत्तर सुख और समृद्धि की कामना करता हूं।

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२८	वलीब	क्लीब
७	५	वशेष	विशेष
३७	१५	उसने	उन्होंने
४५	अन्तिम	१३-१४	१३-४२
४७	३	रूत्रों	सूत्रों
५०	१०	संस्थान०	सस्थान०
५१	२	जग्ध्नु	जग्ध्नुः
५१	७	संस्थान०	सस्थान०
५२	२६	क्वचिल्लखित०	क्वचिल्लिखित०
५६	१७	स्वमीषतस्पृष्ट०	स्वमीषत्स्पृष्ट०
६३	५	तैतिरीय०	तैत्तिरीय०
६४	१६	अश्वमेघ	अश्वमेध
७६	१०	उत्पति	उत्पत्ति
८६	१८	कम	कर्म
८७	१३	०दिशोऽर्द्ध	०दिशोर्द्ध
९२	३०	हाव	हवि
१३४	२१	ठीका	टीका
१३५	१४	चजो	चजोः
१४५	२१	ठिप्पणी	टिप्पणी
१५७	१	क्विव्	क्विब्
१७३	३	र्संकलिताः	सङ्कलिताः
१७३	९	०दृष्टचार्थ=	०दृष्टार्थ-
१७३	१९	व्यासो	व्यासो
१७६	२६	तर्कण	तर्केण
१९३	१०	०मासाण्यच्च	०मासाण्यच्च
२०५	३	०विशेषण	०विशेषेण
२१२	२	०सघे०	०संघे०
२१३	१७	म र	ओर

२१४	८	'गार्ड्.०	गाड्.०
२१६	१	व्यत्यय	व्यत्यय नहीं
२१७-२२५ फोलियो		व्यत्यय	व्यत्यय नहीं
२२०	१८	विभाषा०	विभाषो०
२४७	२४	घटना	घटना
२५८	११	ठहता	ठहरता
२५२	१६	नहीं सकते	नहीं कह सकते
२५४	३०	वह:	वहां
२५५	७	रचौ	रची
२८१-२८५ फोलियो		निरुक्तशास्त्र का त्रेधा प्रवचन	निरुक्त के लघु, वृद्ध तथा सस्वर पाठ
३०५	२४	भूलभूत	मूलभूत
३४७	१८	भवेयात्	भवेयम्
३२३	१८	पैठकर	बैठकर
३४६	६	वर्नत	वर्तते
३४८	७	सवाणि	सर्वाणि
३६६	नीचे	१.	३.
३६४	१६	निदोष	निर्दोष
३६८	१२	उशस्	उषस्
३६८	१८	उसष्	उषस्
३६८	२४	इसका	इस
४०१	२४	यद	पद
४०५	२२	चाये	चाहिये
४१७	२८	शुष्का:	शुष्का:
४५०	४	शब्दान	शब्दानां
४६०	१	पूव	पूर्व
४६५	१३	साधारणा।	साधारणा

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा (द्वितीय भाग) के
लेखों की सूची

वेदाङ्गप्रकरण १

शिक्षा (१) ४

१. मूल पाणिनीय शिक्षा १३
२. सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा के दो पाठ ४३
३. यमानां स्वरूपम्, संख्याः, लेखनप्रकारश्च (संस्कृत) ५१
४. ऽ ँ चिह्नयोः स्वरूपं तदुच्चारणं च (संस्कृत) ५४
५. यकारषकारयोर्जकारखकारोच्चारणयोर्विवेचनम् (संस्कृत) ५७

कल्प (२) ६१

६. श्रौतयज्ञों का स्थान-भेद से त्रिविधत्व ६५
७. दर्शपूर्णमास ७६
८. सोमयागे वृष्टिविज्ञानम् (संस्कृत) ८४
९. सोमयाग में वृष्टि-विज्ञान ९०
१०. सुपर्णचितेस्त्रिभिः प्रयोगैः कल्पादौ आदित्यस्य विभिन्नस्थितीनां निरूपणम् ९७

व्याकरण (३) १०१

११. काशकृत्स्न-व्याकरण तथा उसके उपलब्ध सूत्र १०२
१२. विलुप्तानां परःसहस्राणां संस्कृत-शब्दानां समुद्धारे अष्टाध्याय्याः साहाय्यम् (संस्कृत) १५८
१३. अपाणिनीय-प्रयोग-साधुत्व-मीमांसा (संस्कृत) १७१
१४. महाभाष्य से प्राचीन अष्टाध्यायी की सूत्र-वृत्तियों का स्वरूप २०८
१५. वेद में किसी प्रकार का व्यत्यय नहीं २१६
१६. वेदार्थ में स्वर-ज्ञान की अनिवार्यता २२७
१७. जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ २३९

निरुक्त (४) २६५

१८. वेदार्थ की प्रक्रिया के भेद से निरुक्तशास्त्र का त्रैधा प्रवचन २७०

१९. निरुक्त के लघु,वृद्ध तथा सस्वर-पाठ २८०
२०. निरुक्त के विषय में पाश्चात्यों के मानस-पुत्रों की अनधिकार चेष्टा २८६
२१. निरुक्तकार यास्क और उसके निर्वचन काल्पनिक नहीं ३२३
२२. किं यास्कीयं-निर्वचनानि उन्मत्तगीतानि (संस्कृत) ३३७
२३. निरुक्ते निर्दिष्टो विश्वकर्मणो भौवनस्येतिहासः (संस्कृत) ३४६
२४. भारतीयं भाषाविज्ञानम् (संस्कृत) ३५०
२५. तस्या (उर्वश्याः) दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द ३७१

छन्दःशास्त्र (५) ३७७

२६. मन्त्राणाम् आधिदैविकार्थ-विज्ञाने छन्दसां साहाय्यम् (संस्कृत) ३८२
२७. मन्त्रों के आधिदैविकार्थ-विज्ञान में छन्दों की सहायता ३९३

ज्योतिष (६) ४०३

२८. हमारे सौरमण्डल में भूमि से अन्यत्र जैवी-सृष्टि नहीं है ४०४

मीमांसाशास्त्र ४०७

२९. रथकाराधिकरणम् (संस्कृत) ४१०

कल्पविषयक अवशिष्ट दो लेख

३०. अश्वमेधस्य आधिदैविकं स्वरूपं [राष्ट्रियं स्वरूपं च] (संस्कृत) ४२१
३१. सर्वमेध ४४१

व्याकरणविषयक अवशिष्ट लेख

३२. असाधुत्वेनाभिमतानां संस्कृत-वाङ्मये प्रयुक्तानां शब्दानां साधुत्वा-साधुत्वविवेचनम् (संस्कृत) ४४५

विविधविषयक अवशिष्ट लेख

३३. वेद के अनुक्रमणीसंज्ञक ग्रन्थ तथा तत्प्रतिपादित ऋषि, देवता तथा छन्दों पर विचार ४५१
३४. चतुर्वेद-विषयानुक्रमणी ४७५
३५. वेदार्थ की त्रिविध वा चतुर्विध प्रक्रिया ४८०
३६. संस्कृतभाषाया राष्ट्रभाषात्वम् ४९१
३७. भारतीय वाङ्मय में नारी का इतिहास ५०१

'श्रीमती सावित्रीदेवी बागड़िया ट्रस्ट' संस्था द्वारा

पन्द्रह वर्ष के अल्प समय में प्रकाशित

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१. **गोपथ-ब्राह्मण**—(मूलमात्र)—शुद्धतम संस्करण। सम्पादक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८२।

२. **ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**—इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के कुछ शास्त्रार्थ और प्रवचन संगृहीत हैं। मुद्रणकाल—सन् १९८२।

३. **निरुक्त-श्लोकवार्तिकम्**—नीलकण्ठगार्ग्यविरचित। इसका एकमात्र कोश अत्यन्त जीर्ण अवस्था में तालपत्र पर लिखित है। सम्पादक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८२।

४. **ध्यानयोगप्रकाश**—(हिन्दी)—योगिराज स्वामी लक्ष्मणानन्दलिखित पातञ्जल योगशास्त्र के अनुसार योगविषयक सुगम पुस्तक। मुद्रणकाल १९८३।

५. ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS—लेखक—स्वामी भूमानन्द सरस्वती। वेदविषयक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ। मुद्रणकाल—सन् १९८४।

६. **कात्यायनीय-ऋक्सर्वानुक्रमणी**—षड्गुरुशिष्यविरचित सम्पूर्ण वृत्ति सहित। सम्पादक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८५।

७. **वैदिक-जीवन** (हिन्दी)—लेखक—विश्वनाथ विद्यालङ्कार। अथर्ववेद के अनुसार लिखा गया वैदिक-जीवन-निदर्शक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ। मुद्रणकाल—सन् १९८५।

८. **सूर्य-सिद्धान्त**—पं० उदयनारायणसिंह विरचित हिन्दी-व्याख्या तथा विस्तृत भूमिका सहित। मुद्रणकाल—सन् १९८६।

९. **वैदिक-गृहस्थाश्रम** (हिन्दी)—लेखक—विश्वनाथ विद्यालङ्कार। अथर्ववेद के अनुसार लिखा गया वैदिक-गृहस्थाश्रम सम्बन्धी श्रेष्ठतम ग्रन्थ। मुद्रण-काल—सन् १९८६।

१०. **उणादिकोश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा विरचित वृत्ति एवं अनेक प्रकार के परिशिष्टों से युक्त। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। मुद्रणकाल —सन् १९८७।

११. **श्रौत-यज्ञ-मीमांसा**—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ में श्रौतयज्ञों का विस्तार से परिचय तथा उनका इतिहास और प्रयोजन इत्यादि विषयों पर विस्तार से विचार किया है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद भी साथ ही संलग्न है। मुद्रणकाल—सन् १९८७।

१२. **पिङ्गलछन्दःसूत्रम्**—यादवप्रकाश द्वारा विरचित पिङ्गलछन्दोविचितिभाष्य से युक्त वैदिक और लौकिक छन्दों के ज्ञान के लिये सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। इसमें दिये उदाहरण अश्लीलता के दोष से रहित हैं। सम्पादक—डा० विजयपाल। मुद्रणकाल—सन् १९८८।

१३. **पुरुषार्थ-प्रकाश**—स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा ब्रह्मचारी नित्यानन्द द्वारा विरचित गृहस्थोपयोगी सर्वोत्तम ग्रन्थ। मुद्रणकाल—सन् १९८८।

१४. **गणरत्नावली**—भट्टयज्ञेश्वर प्रणीत पाणिनि मुनि के गणपाठ की दुर्लभ महत्त्वपूर्ण व्याख्या। अन्त में शब्दसूची भी है। सम्पादक—चन्द्रदत्त शर्मा। मुद्रणकाल—सन् १९८९।

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा

द्वितीय भाग

वेदांग-प्रकरण

वेद के छह अङ्ग माने जाते हैं। इन्हें षडङ्ग भी कहते हैं। इनके नाम हैं—**शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः** और **ज्योतिष**[1]। ये नाम ६ विद्यास्थानों अर्थात् विद्या के क्षेत्रों के हैं, ग्रन्थविशेषों के नाम नहीं हैं। विभिन्न काल में इन विद्याओं के कौन-कौन से अथवा किस-किस आचार्य द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ वेदाङ्ग नाम से विशेषित होते थे, यह सम्प्रति अज्ञात है।[2] यतः भारत-युद्ध से पूर्व का कोई ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। विक्रम से लगभग ३००० तीन सहस्र[3] वर्ष पूर्व से जो इन विषयों के ग्रन्थ शिष्टजनों द्वारा परिगृहीत हैं, उनके क्रमशः नाम हैं—पाणिनीय शिक्षा, कात्यायन आपस्तम्ब प्रभृति के कल्पसूत्र, पाणिनीय अष्टाध्यायी, यास्कीय निघण्टु-निरुक्त, पिङ्गल की छन्दोविचिति (छन्दःसूत्र), और लगध का ज्योतिष-ग्रन्थ।

'वेदाङ्ग' शब्द में अङ्ग शब्द लक्षणा से **'अङ्गमिव अङ्गम्'** अर्थात् जो हस्त पाद आदि अङ्ग के समान वेद का उपकारक हो, वह अभिप्रेत है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में चक्षु, नासिका, श्रोत्र, मुख, हाथ, पांव आदि शरीर के साक्षात् अवयव हैं, और वे शरीरधारी के अपनी-अपनी क्रियाओं के द्वारा उपकारक होते हैं, इसी प्रकार शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष भी वेदरूपी

---

१. दुर्गाचार्य ने निरुक्तवृत्ति के आरम्भ में इन वेदाङ्गों का शिक्षा, छन्दः, कल्प, ज्योतिष, व्याकरण, निरुक्त के क्रम से संक्षिप्त परिचय वा प्रयोजन का उल्लेख किया है।

२. सम्प्रति उपलब्ध वेदाङ्गों तथा तद्विषयक अन्य ग्रन्थों में तत्तद्विषय के अनेक पूर्वाचार्यों के नाम निर्दिष्ट उपलब्ध होते हैं।

३. यह सामान्य निर्देश है। सौ दो सौ वर्ष न्यून भी हो सकते हैं। हमने पाणिनि का काल विक्रम से २९ सौ वर्ष पूर्व 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में स्थापित किया है।

शरीर के उपकारक होने से वेदाङ्ग कहे जाते हैं। कौनसा वेदाङ्ग शरीर के किस अङ्ग के समान वेद का उपकारक होता है, इसका निर्देश प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार किया है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव, ब्रह्म लोके महीयते।

पाणिनीयशिक्षा (श्लोकात्मिका)

अर्थात् **छन्दःशास्त्र** पैरों के समान उपकारक है। जिस प्रकार प्राणी का शरीर पैरों पर ही आधृत रहता है, उसी प्रकार वेद के पद्यात्मक और गद्यात्मक मन्त्रों का स्वरूप भी गायत्री आदि छन्दों पर ही आधृत है। इन छन्दों का स्वरूप और वेदार्थ में उनकी उपयोगिता[1] छन्दःशास्त्र में ही जानी जाती है। **कल्पशास्त्र** वेद का हस्तस्थानीय है। जैसे शरीरधारी हाथों से स्व अभिप्रेत विविध कार्य करता है, उसी प्रकार कल्पसूत्र भी वेद के याज्ञिक प्रयोग में 'किस मन्त्र से कौनसा कार्य किया जाये और किस प्रकार किया जाये, इसके व्यवस्थापक होते हैं। **ज्योतिषशास्त्र** वेद का चक्षुस्थानीय है। जैसे शरीरधारी के चक्षु मार्गदर्शक होते हैं उसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र वेद की याज्ञिक प्रक्रिया में मास पक्ष तिथि नक्षत्र आदि के निर्देश द्वारा मार्ग-निदर्शक होता है और आधिदैविक प्रक्रिया में तत्तत् लोक-लोकान्तरों, तत्रस्थ ग्रहोपग्रहों के निर्देश द्वारा वेदार्थ में सहायक होता है। **निरुक्तशास्त्र** वेद का श्रोत्रस्थानीय है। जैसे मनुष्य श्रोत्र द्वारा शब्द को ग्रहण करके उसके अर्थ को जानने में समर्थ होता है उसी प्रकार निरुक्तशास्त्र वेद के शब्दों के निर्वचन द्वारा उनके यथावत् अर्थों का बोधक होता है। जैसे शरीर में नासिका सुगन्ध और दुर्गन्ध को ग्रहण करके उनके ग्राह्य-अग्राह्य स्वरूप को प्रकट करती है, ऐसे ही **शिक्षाशास्त्र** वेद के शब्दों के यथार्थ उच्चारण का निर्देश करके शब्द के साधु वा असाधु स्वरूप को प्रकट करता है। जैसे मनुष्य मुख के द्वारा अपने हृदयगत भावों को अन्य मनुष्य तक पहुंचाता है, वैसे ही **व्याकरणशास्त्र** वैदिक शब्दों के प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग का ज्ञान कराकर उनके गूढ़ अर्थों तक पहुंचने में सहायक होता है। इसलिये साङ्ग वेद का अध्ययन करके ही मनुष्य ब्रह्मलोक अर्थात् अमृतत्व को प्राप्त करने में समर्थ

---

१. वेदार्थ में छन्दःशास्त्र भी अन्य वेदाङ्गों के समान उपयोगी है। इसका प्रतिपादन हम छन्दःप्रकरण के लेख में दर्शाएंगे।

होता है। दूसरे शब्दों में वेदाङ्गों की सहायता से ही कोई मनुष्य ब्रह्म=वेद के यथावत् अर्थ के परिज्ञान में समर्थ होता है।

शिक्षा आदि अङ्गों की प्राचीनता

शिक्षा आदि छह वेदाङ्ग प्रायः षडङ्ग शब्द से भी व्यवहृत होते हैं। षडङ्ग शब्द का प्रयोग गोपथब्राह्मण,[1] बौधायन आदि धर्मशास्त्र[2] और रामायण[3] आदि प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः मिलता है। पतञ्जलि मुनि ने भी "**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**"[4] यह आगम[5] वचन उद्धृत किया है। इन प्रमाणों से शिक्षादि षडङ्गों की प्राचीनता स्वतः सिद्ध है।

शिक्षा आदि वेदाङ्गों का आदि प्रवक्ता

शिक्षा आदि वेदाङ्गों का आदिप्रवक्ता कौन था, इस विषय में निर्णीत रूप में कुछ कहना कठिन है। सामान्यरूप से इतना ही कहा जा सकता है कि शिक्षादि छहों वेदाङ्गों का आदिप्रवचन देवाधिदेव शिव ने सर्वप्रथम किया था। यह महाभारतस्थ **शिवसहस्रनाम** में पठित **वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य** (शान्ति० २८४।१६३) वचन से जाना जाता है।

व्याकरणशास्त्र में जैसे ऐन्द्र (माहेन्द्र) और माहेश्वर (शैव) दो सम्प्रदाय हैं और इन सम्प्रदायों के आदि प्रवक्ता इन्द्र और महेश्वर (शिव) हैं। तद्वत् क्या शिक्षा वेदाङ्ग में भी सम्प्रदायभेद रहा है अथवा नहीं, यह हमें ज्ञात नहीं। हां, इतना कह सकते हैं कि वर्तमानकाल में शिक्षा के जिस पाणिनीय ग्रन्थ को वेदाङ्ग के रूप में स्वीकार किया जाता है, वह निश्चय ही माहेश्वर सम्प्रदाय का है, क्योंकि पाणिनीय व्याकरण का माहेश्वर सम्प्रदाय से सम्बन्ध सर्वलोकविदित है।

---

१. षडङ्गविदस्तत् तथाधीमहे। गो० ब्रा० पू० १।२७॥

२. बौधा० धर्म० २।१४।२। गौतमधर्म० १५।२८॥

३. नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः। रामा० बाल० १४।२१॥

४. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥

५. आगमो वेद इति वैयाकरणाः. द्र०—शिवरामेन्द्रकृत महाभाष्य की रत्नप्रकाश पत्रा ५, सरस्वतीभवन काशी का हस्तलेख, पाण्डिचेरी से मुद्रित भाग १, पृष्ठ ३५॥ स्मृतिरिति मीमांसकाः। तन्त्रवार्तिक पूनासंस्करण पृष्ठ २६५, प० १२। न्यायसुधा पृष्ठ २८४, प० ६॥

शिक्षा (१)

शिक्षा शब्द **'शिक्ष विद्योपादाने'** धातु से भाव में **'गुरोश्च हलः'** (अष्टा० ३।३।१०३) सूत्र से **'अ'** प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। यद्यपि इसका सामान्य अर्थ 'विद्याध्ययन' है, किन्तु षडङ्गों में समाविष्ट 'शिक्षा' शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। लोक में शिक्षा शब्द 'दण्ड' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

शिक्षा शब्द के दो रूप—सामान्यतया शिक्षा शब्द में ह्रस्व इकार का ही प्रयोग होता है, परन्तु तैत्तिरीय उपनिषद् की **'शीक्षावल्ली'** में यह शब्द दीर्घ ईकारवान् **'शीक्षा'** के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में दीर्घ ईकारवान् 'शीक्ष' स्वतन्त्र धातु भी प्रयुक्त होती थी।

शिक्षा का लक्षण—सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका के वेदाङ्ग-प्रकरण में शिक्षा के विषय में लिखा है—**वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र उपदिश्यते सा शिक्षा**। अर्थात् वर्ण स्वरादि का उच्चारणप्रकार जिसमें उपदिष्ट है, वह शिक्षा कहाती है। शिक्षा का यही प्रयोजन तैत्तिरीय उपनिषद् में भी दर्शाया है—

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। शीक्षावल्ली, अनुवाक २।

अर्थात्—शीक्षा का व्याख्यान करेंगे। वर्ण=व्यञ्जन, स्वर=अकारादि स्वर, मात्रा=एकमात्रिक द्विमात्रिक त्रिमात्रिक ह्रस्व दीर्घ प्लुत, बल=प्रयत्न, साम=समवृत्ति से उच्चारण, सन्तान=संहिता (सन्धि)। इनका परिज्ञान शिक्षाशास्त्र का प्रयोजन है।

उपनिषद् के उक्त वचन को वर्णों के यथावत् उच्चारण में जो-जो स्थान प्रयत्न आदि ज्ञातव्य विषय है, उन सबका उपलक्षक जानना चाहिये।

शिक्षाशास्त्र का अन्य महत्त्वपूर्ण प्रयोजन—शिक्षाशास्त्र का प्रयोजन इतना ही नहीं है कि किस वर्ण का किस स्थान वा प्रयत्न (आभ्यन्तर-बाह्य) आदि से उच्चारण करना चाहिये। यद्यपि वर्णों के यथावत् उच्चारण-प्रकार का ज्ञान होने से असाधु उच्चारण की निवृत्ति संभव है, तथापि वर्णों का उच्चारण किन कारणों से होता है, इसका साक्षात् ज्ञान होने से मनुष्य उच्चारण में अधिक सावधान हो जाता है। अतः

शिक्षाशास्त्रकारों ने कतिपय उच्चारण-दोषों का भी वर्णन किया है। यहां महाभाष्यकार ने प्रथम पस्पशाह्निक के अन्त में **आकृत्युपदेशात् सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधः** के व्याख्यान में लिखा है—**के पुनः संवृतादयः ? संवृतः कलो ध्मात एणीकृतोऽम्बूकृतोऽर्धको ग्रस्तो निरस्तः प्रगीत उपगीतः क्षिप्तो रोमश इति।**

इसके अनन्तर **अपर आह** लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है—

ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।
सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः॥

इस प्रकार महाभाष्य के दोनों पाठों में उच्चारण में होनेवाले निम्न दोषों का परिगणन किया गया है—

गद्यपाठ	पद्यपाठ
संवृत	* ग्रस्त
कल	* निरस्त
* ध्मात	अविलम्बित
* एणीकृत	निर्हत
* अम्बूकृत	* अम्बूकृत
* अर्धक	* ध्मात
* ग्रस्त	विकम्पित
* निरस्त	सन्दष्ट
प्रगीत	* एणीकृत
उपगीत	* अर्धक
क्षिप्त	द्रुत
रोमश	विकीर्ण

यद्यपि प्रत्येक वर्ग में १२-१२ दोष गिनायें हैं, परन्तु इन दोनों में समानरूप से पठित दोषों (जिनके पूर्व * चिह्न लगा है) की एक बार ही गणना करें तो सब मिला कर इनकी १२ संख्या होती है।

इनके अतिरिक्त चरकसंहिता में अध्ययन में स्वर अथवा उच्चारण के ९ दोष गिनाये हैं—

अतिमात्र	अनवस्थितपद	अति वलीव
तान्त	अतिद्रुत	अति उच्च
विस्वर	विलम्बित	अति नीच

ऋक्प्रातिशाख्य के १४वें पटल में भी उच्चारण-दोष दर्शाये हैं।

इन दोषों के स्वरूप का ज्ञान तत्तद्ग्रन्थों की व्याख्याओं से जानना चाहिये। यहां विस्तारभय से नहीं लिखते हैं।

इन दोषों के अतिरिक्त प्रमाद अशक्ति सरलीकरण आदि कुछ अन्य दोष भी हैं, जिनका शब्दस्वरूप पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

अपभ्रंशों में सहायक—उच्चारण में उक्त दोषों से विशेषरूप से बचने का उपदेश शास्त्रकारों ने इसलिये दिया है कि इन दोषों से शुद्ध वर्ण वर्णान्तर में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार के अपभ्रंशों से ही अपभ्रष्ट भाषाएं उत्पन्न होती हैं। हम यहां केवल दो उच्चारण-दोषों से ही कैसे वर्णान्तर उच्चरित होकर अपभ्रंश को जन्म देते हैं, का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

चवर्गीय जकार का स्थान तालु और प्रयत्न स्पृष्ट है। यकार का स्थान भी तालु है और प्रयत्न है ईषत्स्पृष्ट। **इचुयशास्तालव्याः। स्पृष्टप्रयत्नाः स्पर्शाः, ईषत्स्पृष्टप्रयत्ना अन्तःस्थाः**। इस प्रकार जकार और यकार का समानस्थान होते हुए प्रयत्न में किञ्चित् भेद है। इसलिये कोई वक्ता यकार के उच्चारण में 'ईषत्' प्रयत्न के स्थान में 'अधिक' प्रयत्न से उच्चारण करे तो ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न स्पृष्ट प्रयत्न में परिणत होकर यकार को जकाररूप में परिणत कर देता है। इसी दोष से यमुना शब्द जमुनारूप में परिवर्तित हुआ है। यजमान जजमान, यज्ञ जग्य आदि भी इसी प्रकार जानने चाहियें। अब यदि राजा के जकार के स्पृष्ट प्रयत्न में अर्धक दोष का योग हो जाये तो 'ज' 'य' में परिणत हो जायेगा। यथा राजा—राया, राजा साहब—रायसाहब, राजबहादुर—रायबहादुर।

अर्थ-दोष—श ष स के उच्चारण में प्रमाद से वर्णान्तर का प्रयोग कोई करेगा तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। संपूर्णवाचक सकल का 'शकल' उच्चारण करने पर अर्थ होगा—टुकड़ा। स्वजन का 'श्वजन' उच्चारण करने पर अर्थ होगा—कुत्ते का संबन्धी। शास्त्री का उच्चारण यदि सास्त्री कर दिया जाये तो अर्थ होगा वह स्त्री। **अश्वमानय** (घोड़ों को लाओ) के स्थान में कोई यात्रा पर जानेवाला व्यक्ति **अस्वमानय** बोले और सुननेवाला तदनुसार उस समय धनरहित व्यक्ति को लाकर उपस्थित कर दे तो क्या उच्चारयिता परिहास का पात्र न बनेगा?

शिक्षाशास्त्र के तीन भेद—शिक्षाविषयक जितने भी ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध होते हैं, वे तीन भागों में विभक्त हैं। प्रथम वे शिक्षाग्रन्थ हैं जिनका सम्बन्ध वेद की किसी शाखा के साथ प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से है। यथा—याज्ञवल्क्यशिक्षा, भारद्वाजी शिक्षा आदि। दूसरे शिक्षाग्रन्थ वे हैं जो लोकमात्र से सम्बन्ध रखते

हैं। यथा—कातन्त्रशिक्षासूत्र[1], जैनेन्द्रशिक्षासूत्र[2] आदि। इनका सम्बन्ध लोक-भाषामात्र के कातन्त्र और जैनेन्द्र व्याकरण के साथ है। तीसरे ग्रन्थ वे हैं जो लोक-वेद दोनों के साथ सामान्यरूप से सम्बन्ध रखते हैं। यथा—**आपिशलशिक्षा पाणिनीयशिक्षा** (सूत्रात्मक और श्लोकात्मक दोनों)। इन तीन प्रकार के शिक्षा-ग्रन्थों में वैदिक शाखा विशेष के साथ सम्बन्ध रखनेवाले शिक्षाग्रन्थों का ही बाहुल्य है। इसका कारण वेदों की विभिन्न शाखाओं में कुछ-कुछ उच्चारणगत भिन्नता है।

वेदाङ्गरूप से परिगृहीत शिक्षाग्रन्थ—जिन शिक्षाग्रन्थों का सम्बन्ध केवल लोक-भाषा के साथ है, उनके वेदाङ्गत्व का अभाव तो वेद के साथ सम्बन्ध न होने से स्वतः सिद्ध है। जिन शिक्षाग्रन्थों का सम्बन्ध वेद की विभिन्न शाखाओं वा चरणों के साथ ही है, उनको भी मुख्यरूप से वेदाङ्ग नहीं माना जा सकता; क्योंकि तत्तत् शाखा वा चरण से सम्बद्ध शिक्षाग्रन्थ अन्य शाखाओं वा चरणों के अध्येताओं के उपकारक नहीं होते। शौनकप्रोक्त ऋक्प्रातिशाख्य के १३-१४वें पटल **'शिक्षापटल'** कहाते हैं। इनमें वर्णोच्चारणविषयक सभी विषयों का विस्तार से वर्णन मिलता है। इस शिक्षाप्रकरण, जिसे 'शौनकीयशिक्षा'[3] कहा जा सकता है, का सम्बन्ध ऋग्वेद के शाकल चरण के साथ होने पर भी प्रातिशाख्यकार ने इसे वेदाङ्ग कहा है—**कृत्स्नं च वेदाङ्गमनिन्द्यमार्षम्** (१४वें पटल के अन्त में)। यहां गौणरूप से वेदाङ्गत्व जानना चाहिए। जिन शिक्षाग्रन्थों का सम्बन्ध लोक और वेद दोनों के साथ है वे ही वेदाङ्गरूप से स्वीकृत किये जाते हैं, ऐसी शिष्ट परम्परा ही प्रायः देखी जाती है। तदनुसार वेदाङ्ग शिक्षा के रूप में पाणिनीय शिक्षा ही शिष्ट जनों द्वारा परिगृहीत है, चाहे वह सूत्रात्मक हो, चाहे श्लोकात्मक। सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा के चिरकाल से दुष्प्राप्य होने से सम्प्रति श्लोकात्मक शिक्षा को ही षडङ्ग अध्येता वेदाङ्ग रूप में पढ़ते हैं।

यह स्थिति व्याकरण और छन्दःशास्त्र की भी है। व्याकरण में वैदिक शाखा वा चरणों से सम्बद्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थ वेदाङ्ग शब्द से परिगृहीत नहीं होते। लौकिक शब्दव्युत्पादक कातन्त्र, जैनेन्द्र आदि के ग्रन्थ भी वेदाङ्गरूप से परिगृहीत नहीं होते। व्याकरणशास्त्र में लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का साधुत्व-

---

१. कातन्त्रशिक्षासूत्र 'कातन्त्रव्याकरणविमर्श' ग्रन्थ के पृष्ठ ५४-५५ पर उद्धृत हैं।

२. जैनेन्द्रशिक्षासूत्र जैनेन्द्रव्याकरण की 'महावृत्ति' १।१।२ में उद्धृत हैं। वहां ४० सूत्र पठित हैं। जैनेन्द्रशिक्षा में इतने ही सूत्र थे वा इनसे अधिक, यह हमें ज्ञात नहीं।

३. वया काशिका ४।३।१०६ में इसे ही 'शौनकीयशिक्षा' कहा है।

प्रतिपादक पाणिनीय व्याकरण ही वेदाङ्गरूप से वैदिकों द्वारा परिगृहीत है। छन्दः-शास्त्रों में भी इसी प्रकार शाखाविशेषों से सम्बद्ध छन्दोग्रन्थ वेदाङ्ग की परिधि में नहीं आते। लौकिक छन्दःशास्त्रों का तो वेदाङ्गत्व स्वीकार करना दूर की बात है। यहां भी लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रतिपादक पिङ्गलछन्दःसूत्र अथवा पिङ्गलछन्दोविचिति ही वेदाङ्गरूप से परिगृहीत हैं। तात्पर्य यह है कि जिन शिक्षा, व्याकरण, छन्द आदि विषय के ग्रन्थों का लोक-वेद दोनों के साथ सम्बन्ध है, वे ही वेदाङ्गरूप से परिगृहीत होते हैं।[1]

शिक्षाग्रन्थों का बाहुल्य—सम्प्रति लगभग सौ-सवा-सौ शिक्षाग्रन्थ विभिन्न पुस्तकालयों में हस्तलिखित रूप में उपलब्ध होते हैं। सम्भव है इनकी संख्या इससे अधिक हो। उनमें से **निम्न शिक्षाग्रन्थ छप चुके हैं**—

१. **आपिशलशिक्षा**।

२. **पाणिनीयशिक्षा** (सूत्रात्मक) के वृद्ध और लघु पाठ।

---

१. यतः शाखाविशेषों से सम्बद्ध छन्दोग्रन्थ प्रायः यज्ञप्रक्रिया को लक्ष्य में रखकर लिखे गए हैं, अतः उनका सामान्यरूप से वेदार्थ में कोई उपयोग नहीं होता। इसीलिए स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य में दो-तीन स्थानों पर कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी के आधार पर सायण, मैक्समूलर, विल्सन प्रभृति द्वारा निर्दिष्ट छन्दों के प्रत्याख्यान में लिखा है—

छन्दःशास्त्रस्याभिप्रायमविदित्वा अन्यथा व्याख्याता इति।

अर्थात् इन लोगों ने छन्दःशास्त्र का अभिप्राय न जानकर अन्यथा व्याख्यान किया है।

कात्यायनसर्वानुक्रमणीनिर्दिष्ट छन्द, जो कि केवल यज्ञप्रक्रिया में उपयोगी थे, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अर्थनिर्देशकाल में उनका निर्देश करने वाले व्याख्याकारों की आलोचना की है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य में वेदाङ्गरूप में परिगृहीत पिङ्गलछन्दःशास्त्र से प्रतिपादित छन्दों का ही सर्वत्र उल्लेख किया है। तात्पर्य यह है कि यज्ञप्रक्रिया मात्र में उपयोगी छन्दों का, जो मन्त्रार्थ में उपयोगी नहीं हैं, का निर्देश करनेवाले सायण आदि की स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आलोचना की है, कात्यायन की आलोचना नहीं की है, क्योंकि उसके द्वारा निर्दिष्ट छन्दों का तो क्षेत्र यज्ञप्रक्रिया तक सीमित है। इस विषय में हमने "**वैदिकछन्दोमीमांसा**" ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय में विस्तार से लिखा है।

३. चान्द्रशिक्षासूत्र ।

इन तीनों को हमने 'शिक्षासूत्राणि' नाम से मुद्रित किया है ।

निम्न शिक्षाग्रन्थ काशी से प्रकाशित "शिक्षा-संग्रह" में ५०-६० वर्ष पूर्व प्रकाशित हुए थे । इसी संग्रह का नया संस्करण "सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय" से सं० २०४६ में प्रकाशित हुआ है ।[1] इस संग्रह में निम्न शिक्षाएं प्रकाशित हुई हैं—

(४) याज्ञवल्क्य शिक्षा
(५) वाशिष्ठी शिक्षा
(६) कात्यायनी शिक्षा
(७) पाराशरी शिक्षा
(८) माण्डव्यमहर्षिप्रणीता शिक्षा
(९) अमोघानन्दिनी शिक्षा
(१०) लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा
(११) माध्यन्दिनीय शिक्षा
(१२) लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा
(१३) वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा
(१४) केशवी शिक्षा
(१५) पद्यात्मिका केशवी शिक्षा
(१६) मल्लशर्मकृता शिक्षा
(१७) स्वराङ्कुश शिक्षा
(१८) षोडशश्लोकी शिक्षा
(१९) अवसाननिर्णय शिक्षा
(२०) स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शिक्षा
(२१) क्रमसन्धान शिक्षा
(२२) गलदुक् शिक्षा
(२३) मनःस्वार शिक्षा
(२४) प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा
(२५) विसर्गाङ्कुलिप्रदर्शनप्रकारः
(२६) यजुर्विधान शिक्षा
(२७) स्वराष्टक शिक्षा
(२८) क्रमकारिका शिक्षा
(२९) पाणिनीय शिक्षा (श्लोकात्मक)
(३०) शिक्षाप्रकाशः
(३१) नारदी शिक्षा
(३२) सामवेदीया गौतमी शिक्षा
(३३) सामवेदीया लोमशी शिक्षा
(३४) अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा
अन्त में—अथर्वपरिशिष्ट

शिक्षा-संग्रह में मुद्रित ३१ शिक्षाओं में से २९ संख्या पर पाणिनीयशिक्षा छपी

---

१. इसके सम्पादक हैं—रामप्रसाद जी त्रिपाठी । यद्यपि मुद्रणादि श्रेष्ठ है, परन्तु सम्पादन में कुछ परिश्रम नहीं किया गया है । इतना ही नहीं, काशी से पूर्व प्रकाशित शिक्षा-संग्रहस्थ शिक्षाओं को यथावत् प्रकाशित कर दिया । परन्तु अपने नाम से पूर्व 'संकलयिता' विशेषण (जो धोखा देनेवाला है) जोड़ने के लोभ से प्राचीन मुद्रित 'शिक्षा-संग्रह' का उल्लेख भी नहीं किया ।

है। इस श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा के दो पाठ हैं—**आर्च**(ऋग्वेदीय) और **याजुष** (यजुर्वेदीय)। आर्च पाठ में न्यूनाधिक रूप से पचास से साठ तक श्लोक हैं। याजुष पाठ में लगभग ३० से ३५ तक श्लोक हैं। २९ संख्या पर पाणिनीयशिक्षा का जो पाठ छापा गया है वह आर्च पाठ है। याजुष पाठ के मुद्रण की उपेक्षा क्यों की गई, यह समझ में नहीं आया। आर्च पाठ भी यथावत् प्राचीन परम्परा के अनुसार नहीं है। प्राचीन परम्परा में आर्च पाठ ११ वर्गों वा खण्डों में विभक्त है।

पाणिनीय शिक्षा को श्लोकात्मक रूप पाणिनि के अनुज पिङ्गलाचार्य ने दिया था, यह प्रकृत पाणिनीय शिक्षा की '**शिक्षाप्रकाश**' नामक टीका के रचयिता का मत है। परन्तु शिक्षाप्रकाश टीका में और दूसरी '**शिक्षापञ्जिका**'·····टीका में लगभग २५ श्लोक ही व्याख्यात मिलते हैं। इसलिए यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि पिङ्गलाचार्य द्वारा श्लोकरूप में परिणमित पाणिनीयशिक्षा का आर्च पाठ था,अथवा याजुष। श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा में कुछ ऐसे अंश भी हैं जो अष्टाध्यायी से विपरीत हैं। इनका निर्देश आगे मुद्रित किये जा रहे' **'मूलपाणिनीय-शिक्षा'**' शीर्षक लेख में देखें। संख्या ३० पर मुद्रित 'शिक्षा-प्रकाश' उक्त पाणिनीय-शिक्षा की टीका है। उस पर पृथक् संख्या देने से आपाततः भ्रम होता है कि यह भी कोई शिक्षाग्रन्थ है।

शिक्षासंग्रह में शिक्षा नाम से मुद्रित कई शिक्षाएं वस्तुतः शिक्षाएं नहीं हैं। जैसे संख्या ५ पर मुद्रित **वाशिष्ठी शिक्षा**। इसमें माध्यन्दिनसंहिता में कौन-से मन्त्र ऋक्संज्ञक हैं और कौन-से यजुःसंज्ञक, इसी की विवेचना की है। यह शिक्षा वेदाङ्ग के प्रयोजन से बहिर्भूत है। इसी प्रकार १९ संख्या पर **अवसाननिर्णय शिक्षा** में माध्यन्दिनसंहिता के याजुष मन्त्रों में कहां पर अवसान करना चाहिए, इसका ही निर्देश है। २२ संख्या पर मुद्रित **गलदृक् शिक्षा** में माध्यन्दिनसंहिता में पुनः पठित कौन-सी ऋचा पुनः नहीं पढ़ी जाती, इसका निर्देश है। इसी प्रकार संख्या २४ पर निर्दिष्ट **प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा** में कात्यायनप्रातिशाख्य के कतिपय सूत्रों को प्रक्रियानुसार रखकर उनकी व्याख्या मात्र है।

इस प्रकार यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो शिक्षाशास्त्र के प्रयोजन का व्याख्यान करनेवाली बहुत थोड़ी ही प्राचीन या अर्वाचीन शिक्षाएं इस संग्रह में उपलब्ध होती हैं। **याज्ञवल्क्यशिक्षा** जैसी महत्त्वपूर्ण शिक्षा का भी प्राचीन परम्परानुसार जैसा पाठ है उसके अनुसार नहीं छापा गया। वस्तुतः श्री पं० रामप्रसाद त्रिपाठी जी ने पूर्वमुद्रित शिक्षासंग्रह को ही यथावत् छाप दिया है। केवल मुद्रण में श्लोकों

अथवा सन्दर्भों को पृथक्-पृथक् सुन्दर रूप में छापने के अतिरिक्त कुछ कार्य नहीं किया।

(३५) **शैशिरीय शिक्षा** (३६) **कोहली शिक्षा**

इन दो प्राचीन शिक्षाओं का मुद्रण डा० रघुवीर जी ने लाहौर से प्रकाशित होनेवाले "वैदिक स्टडीज" नामक पत्र में किया था, ऐसा मुझे स्मरण पड़ता है। निश्चय रूप से कहां छपी, यह मैं नहीं कह सकता।

(३७) **शौनकीया शिक्षा**—इसका उल्लेख काशिकाकार ने **शौनकादिभ्यश्छन्दसि** (४।३।१०६) की व्याख्या में "छन्दसि" पद के प्रत्युदाहरण रूप में किया है—**शौनकीया शिक्षा**। ऋक्प्रातिशाख्य के १३-१४वें पटल को "शिक्षा-पटल" कहते हैं। यदि काशिकाकार का इस शिक्षा की ओर संकेत हो, तो मानना होगा कि शौनकीया शिक्षा भी उव्वट के भाष्यसहित मुद्रित उपलब्ध होती है। अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में 'शौनकीया शिक्षा' का एक हस्तलेख भी है। द्र०—सूचीपत्र, भाग २, सन् १९२८, परिशिष्ट, पृष्ठ २१। उसका अवलोकन करना चाहिये। क्या वह ऋक्प्रातिशाख्य के १३-१४ पटल का ही हस्तलेख है वा उससे भिन्न किसी शौनकीया शिक्षा का।

(३८) **भारद्वाजी शिक्षा (व्याख्यासहित)**—यह शिक्षा नागेश्वरकृत व्याख्या सहित पुणे नगर स्थित भाण्डारकर प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित हुई है।

(३९) **व्यासशिक्षा (व्याख्यासहित)**—इसका सम्पादन श्री पण्डित पट्टाभिराम जी शास्त्री मीमांसकाचार्य (वाराणसी) ने किया है। वेदवेदाङ्गानुसंधान केन्द्र ४।७ हनुमान् घाट वाराणसी से प्रकाशित हुई है।

(४०) **कातन्त्रशिक्षासूत्र**—ये शिक्षासूत्र 'कातन्त्रव्याकरणविमर्श' नामक शोध-ग्रन्थ के पृष्ठ ५४-५५ पर मुद्रित हैं।

(४१) **जैनेन्द्रशिक्षासूत्र**—ये शिक्षासूत्र जैनेन्द्रव्याकरण की महावृत्ति में १।१।२ पर उद्धृत हैं।

हमारी दृष्टि में अभी तक इतनी ही शिक्षाएं मुद्रितरूप में आई हैं। शेष शताधिक शिक्षाएं अभी तक अमुद्रित अवस्था में हस्तलेखों के रूप में विभिन्न पुस्तकालयों में संगृहीत हैं। जबतक उनका प्रकाशन न हो जाये तबतक शिक्षाशास्त्र का क्रमिक ऐतिहासिक अध्ययन कठिन है।

बहुत वर्ष पूर्व हमने शिक्षा-शास्त्र का इतिहास लिखने का प्रयास किया था।

मुद्रित शिक्षाओं के सम्बन्ध में कुछ अंश पाण्डुलिपि के रूप में लिखा भी था, परन्तु कार्याधिक्य से विभिन्न पुस्तकालयों में हस्तलिखित रूप में विद्यमान शिक्षाओं से सम्बद्ध ऐतिहासिक सामग्री का सकलन नहीं कर सके। अतः शिक्षाशास्त्र का इतिहास का लेखन हम नहीं कर सके। मुद्रित शिक्षाओं के सम्बन्ध में लिखी गई सामग्री भी यतः पाण्डुलिपि के रूप में है,अतः उसका संशोधन भी शारीरिक स्वास्थ्य की वर्तमान शोचनीय स्थिति में करना असम्भव है। अतः हम उसे भी उपस्थित नहीं कर रहे हैं।

सूत्रात्मक पाणिनीयशिक्षा के सम्बन्ध में हमारे दो लेख पूर्व छपे थे, उन्हें हम आगे छाप रहे हैं—

★

मूल पाणिनीय शिक्षा

सूत्रात्मक अथवा श्लोकात्मक ?

[यह लेख 'पटना' से प्रकाशित होनेवाली 'साहित्य' पत्रिका के वर्ष ७, अंक ४ (सन् १९५७) में प्रकाशित हुआ था। इस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा हिन्दी व्याख्या सहित 'वर्णोच्चारणशिक्षा' के नाम से प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा के आधार पर लिखा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती को पाणिनीय शिक्षा का जो हस्तलेख मिला था वह स्थान-स्थान पर खण्डित था। अष्टम प्रकरण तो सारा ही त्रुटित था। लेख उसी रूप में छापा है जैसा साहित्य पत्रिका में छपा था। टिप्पणियों में कुछ अंश [ ] कोष्ठक में बढ़ाया है। यु० मी०]

दो प्रकार की पाणिनीय शिक्षा—पाणिनीय शिक्षा के दो प्रकार के ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं। एक है श्लोकात्मक और दूसरा सूत्रात्मक। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा ही चिरकाल से पठन-पाठन में व्यवहृत हो रही है। सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का पठन-पाठन न होने से यह प्रायः उत्सन्न हो चुकी है। इस सूत्रात्मक शिक्षा का एकमात्र खण्डित हस्तलेख स्वामी दयानन्द को प्राप्त हुआ था, जिसे उन्होंने हिन्दीव्याख्यासहित **वर्णोच्चारण-शिक्षा** के नाम से सं० १९३९ में प्रकाशित किया था।[1]

प्रो० मनोमोहन घोष ने श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा को उसके विभिन्न पाठों और उसकी दो टीकाओं के साथ सम्पादित किया है और कलकत्ता-विश्वविद्यालय से, सन् १९३९ ई० में प्रकाशित कराया है[2]। ग्रन्थ के आरम्भ में घोष जी ने **पाणिनीय शिक्षा** शीर्षक एक अंग्रेजी-भाषा-निबद्ध लेख लिखा है।

---

१. इस सूत्रात्मक पाणिनीय वर्णोच्चारण-शिक्षा और इसकी व्याख्या के विशेष परिचय के लिए देखिए मेरा 'स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास'।

२. इस ग्रन्थ में घोष जी ने प्रथम पाणिनीय शिक्षा का स्वयं-ऊहित मूल पाठ छापा है। उसमें केवल १८ श्लोक हैं। तदनन्तर अग्निपुराणान्तर्गत शिक्षा-श्लोक मुद्रित हैं। ये संख्या में २१ हैं। इसके पीछे पञ्जिका-व्याख्या और उसके आधार पर ऊहित मूल पाठ दिया है। इसमें २३ श्लोक हैं। तत्पश्चात् शिक्षा-प्रकाश टीका और

घोष जी की दो स्थापनाएं—घोष जी के उपर्युक्त विवेचन में दो भाग हैं। पूर्व भाग में घोष जी ने श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा को पाणिनि-विरचित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, और उत्तर भाग में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा को स्वामी दयानन्द द्वारा कल्पित सिद्ध करने की चेष्टा की है।

हम इस लेख में घोष जी की उक्त दोनों स्थापनाओं की सप्रमाण समालोचना करेंगे, जिससे पाठकों को वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाये।

श्लोकात्मक शिक्षा का प्रथम श्लोक—घोष जी के लेख की समालोचना करने के पूर्व हम श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के प्रथम श्लोक के पूर्वार्द्ध की ओर विचारशील पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं। वह पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—

'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।'

अर्थात्—अब मैं शिक्षा को कहूंगा, पाणिनीय मत के अनुसार।

इस वचन से स्पष्ट है कि जिस श्लोकात्मक शिक्षा का यह प्रथम वचन है, वह शिक्षा पाणिनि द्वारा साक्षात् कही हुई नहीं है। पाणिनि से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति ने पाणिनि मतानुसार इस शिक्षा की रचना की है।

प्रकाश-टीकाकार का मत—इस श्लोकात्मक शिक्षा पर एक 'शिक्षा-प्रकाश' नाम की टीका (जिसका प्रकाशन घोष जी ने इसी ग्रन्थ में किया है) के रचयिता का नाम अज्ञात है, परन्तु घोष जी के मतानुसार यह 'प्रकाश' टीका सन् १३०० ई० से अर्वाचीन नहीं है।[1] इस टीका में उक्त श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

'ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणे अनुजस्तत्र भवान् पिङ्गलाचार्यः
तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते—अथ शिक्षामिति।'

उसके आधार पर ऊहित मूल पाठ प्रकाशित किया है। तदनन्तर पाणिनीय शिक्षा का ३५ श्लोकात्मक यजुःशाखीय और ६० श्लोकात्मक ऋक्शाखीय पाठ दिया है। सबसे अन्त में चान्द्रवर्ण सूत्र छापे हैं।

१. हमारे विचार में इस टीका के रचयिता का नाम यादवप्रकाश है। उसने छन्दःसूत्र की भी व्याख्या रची है (इसके हस्तलेख उपलब्ध हैं)। इस टीका के प्रारम्भिक श्लोक में भी इस बात का संकेत है। अतः इसका काल सन् ११००-

अर्थात्, ज्येष्ठ भाई पाणिनि द्वारा व्याकरण में कथित मत को जानकर उसका अनुज पिङ्गलाचार्य शिक्षा कहने की प्रतिज्ञा करता है—**अथ शिक्षामिति** ।

इस वचन से स्पष्ट है कि शिक्षा-प्रकाश के टीकाकार के मत में इस पाणिनीय शिक्षा का रचयिता आचार्य पिङ्गल है, पाणिनि नहीं ।

अब पाठक स्वयं इस बात का निर्णय करें कि जब उक्त श्लोकात्मक शिक्षा का लेखक और उसका प्राचीन टीकाकार ही इसे पाणिनि-विरचित नहीं कहते हैं, तब घोष जी का इसको पाणिनि-विरचित सिद्ध करने के लिए हाथ-पैर मारना 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त' आभाणक को स्मरण कराता है ।

घोष जी का दुस्साहस—इस श्लोकात्मक शिक्षा के यजुःशाखीय और ऋक्-शाखीय लघु तथा वृहत् पाठ और इसकी जो दो टीकाएं उपलब्ध होती हैं, उनके सभी लेखों में उक्त प्रथम श्लोक असन्दिग्ध रूप से पठित है । इतना होने पर भी घोष जी ने इस शिक्षा का जो **स्वकल्पित मूलपाठ** सर्वप्रथम छापा है, उसमें इस श्लोक को स्थान नहीं दिया । वे जानते थे कि इस श्लोक के रहते हुए इस शिक्षा को किसी भी प्रकार पाणिनीय सिद्ध नहीं किया जा सकता । अतः, उन्होंने इस श्लोक का बहिष्कार करना ही श्रेयस्कर समझा । घोष जी की इस अनधिकार चेष्टा को दुःसाहस अथवा दुराग्रह के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?

घोष जी के पाणिनीय साधक हेतुओं की समीक्षा

अब हम घोष जी के उन हेतुओं को उपस्थित करते हैं, जिनके बल पर घोष जी ने इस कल्पित ग्रन्थ को पाणिनि-रचित सिद्ध करने की चेष्टा की है ।

प्रथम हेतु—'यह निश्चय है कि शिक्षा के छन्द बृहद्देवता के छन्द (४०० ईसा-पूर्व) से कम पुराने नहीं हैं ।'

समीक्षा—यह केवल प्रतिज्ञा है, हेतु नहीं । हेतु वह होता है जो वक्ता के पक्ष का पोषक हो । विना हेतु और उदाहरण के प्रतिज्ञामात्र से किसी पक्ष की सिद्धि नहीं होती । इतना ही नहीं, केवल छन्दोरचना के आधार पर किसी ग्रन्थ के काल के निर्णय का प्रयत्न करना अवैज्ञानिक मार्ग है । इस प्रकार अवैज्ञानिक मार्ग का अनुसरण वे ही किया करते हैं, जिन्हें अपनी कल्पनाओं की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं मिलता और जो अपनी असत्य कल्पनाओं को संसार के मत्थे मढ़ना चाहते हैं ।

११५० ई० के मध्य में है । [अब यह पिङ्गलछन्दःसूत्र की व्याख्या 'पिङ्गलछन्दो-विचिति' के नाम से छप चुकी है और 'रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (पिन० १३१०२१)' सोनीपत-हरयाणा से उपलब्ध है ।]

इसी अवैज्ञानिक मार्ग पर चलकर योरोपी विद्वानों ने पाणिनि-विरचित **'पाताल-विजय'** अपर नाम **'जाम्बवती-विजय'** को अपाणिनीय सिद्ध करने का दुःसाहस किया है।[1]

इतना ही नहीं, घोष जी ने उक्त लेख में तीन भयंकर भूलें की हैं। उनसे विदित होता है कि घोष जी को भारतीय प्राचीन इतिहास का कुछ भी ज्ञान नहीं है। यथा—

पहली भूल—बृहद्देवता का रचयिता वही बह्वृचसिंह कुलपति शौनक है, जो अथर्व शौनकसंहिता, ऐतरेयारण्यक के पञ्चम आरण्यक और ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवक्ता तथा ऐतरेयब्राह्मण का प्रतिसंस्कर्त्ता है। यह कुलपति शौनक भारत-युद्ध का समकालिक है। उसका काल किसी भी अवस्था में २९०० विक्रम पूर्व से अर्वाचीन नहीं है।[2] उस शौनक के बृहद्देवता को केवल मैकडानल्ड के प्रमाण से ४०० ईसा-पूर्व मान लेना[3] सर्वथा चिन्त्य है।

पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा भारतीय प्राचीन इतिहास का नाश—मैक्समूलर तथा मैकडानल्ड प्रभृति योरोपियन विद्वानों ने सहस्रों वर्ष पूर्व प्राचीन अनवच्छिन्न भारतीय इतिहास को ईसाइयत के पक्षपात तथा राजनीतिक कारणों से जान-बूझ कर तोड़-मरोड़ कर अधिक से अधिक २००० ईसा-पूर्व के अन्तर्गत लाने की दुश्चेष्टा की है।[4] घोष जी भारतीय हैं। वे यत्न करने पर भारतीय परम्परा को भले प्रकार समझ सकते थे, परन्तु उन्होंने उसे समझने की चेष्टा न कर बलात् प्रवर्तित योरोपियन मिथ्या विचारों का अनुसरण ही श्रेयस्कर समझा।

दूसरी भूल—घोष जी ने जोश में आकर जिस कारण इस कल्पित पाणिनीय शिक्षा को शौनक-विरचित बृहद्देवता से प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा की, उसे लिखते समय वे भूल गये कि स्वयं पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी ४।३।१०६ में उस

---

१. देखें मेरा 'संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास', प्रथम भाग। ['जाम्बवती विजय' के उपलब्ध सभी श्लोक हमने उक्त इतिहास के तृतीय भाग में प्रकाशित कर दिये हैं।]

२. देखें 'संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास', प्रथम भाग।

३. बृहद्देवता, मैकडानल्ड-संस्करण की भूमिका, पृष्ठ २२-२३।

४. पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १। भारतीय इतिहास की विकृति के कारण, अध्याय ३, पृष्ठ ३५-४२ (प्र० सं०) तथा उन्हीं की पुस्तक Western Indologists.

कुलपति शौनक को स्मरण करता है, जिसने बृहद्देवता का प्रवचन किया है। जब बृहद्देवता का रचयिता पाणिनि से पूर्वभावी है, तब भला पाणिनीय शिक्षा शौनक-विरचित बृहद्देवता से प्राचीन कैसे हो सकती है ?

तीसरी भूल—यदि यह भी मान लिया जाय कि 'इस शिक्षा के छन्द बृहद्-देवता के छन्द से कम पुराने नहीं हैं, तो इससे यह कैसे सिद्ध होगा कि यह श्लोकात्मक शिक्षा पाणिनि-रचित है। यदि यह व्याप्ति होती कि 'जो-जो ग्रन्थ बृहद्देवता से प्राचीन हैं वे-वे पाणिनि-रचित हैं' तभी घोष जी उक्त कथन से श्लोकात्मक शिक्षा को पाणिनि-रचित सिद्ध कर सकते थे।

द्वितीय हेतु—'शबर (मीमांसा १।१।२२) और भर्तृहरि (१।४७) को शिक्षा ज्ञात थी।'

समीक्षा—यदि घोष जी का अभिप्राय शिक्षा-सामान्य से है, अर्थात् शबर और भर्तृहरि शिक्षा-शास्त्र से परिचित थे, तो इस लेख से लेखक का अभिप्राय (श्लोकात्मक शिक्षा पाणिनि-रचित है) किञ्चिन्मात्र भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि शबर और भर्तृहरि के शिक्षाशास्त्र से परिचित होने मात्र से यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि यह श्लोकात्मक शिक्षा पाणिनि-रचित है ? शिक्षा-सामान्य का निर्देश तो शबर और भर्तृहरि के सहस्रों वर्ष पूर्वभावी गोपथब्राह्मण और तैत्तिरीयारण्यकान्तर्गत उपनिषद् में भी विद्यमान है।

यदि उक्त वाक्य में घोष जी का अभिप्राय श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा से है, अर्थात् शबर और भर्तृहरि इस श्लोकात्मक शिक्षा को पाणिनि-विरचित मानते थे, तो कहना पड़ेगा कि घोष जी ने दोनों आचार्यों का मिथ्या साक्ष्य उपस्थित किया। मीमांसाभाष्य १।१।२२ में शबरस्वामी का वचन इस प्रकार है—

'शिक्षाकारा आहु—वायुरापद्यते शब्दतामिति।'

इस प्रसङ्ग में शबरस्वामी ने किसी व्यक्तिविशेष के नाम का निर्देश नहीं किया, केवल **'शिक्षाकाराः'** ऐसा सामान्य निर्देश किया है। शबरस्वामी-निर्दिष्ट वचन इस श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के किसी पाठ में उपलब्ध नहीं होता। यदि उक्त वचन इस श्लोकात्मक शिक्षा में मिल जाता, तब भी कुछ कल्पना की जा सकती थी।

दूसरा नाम घोष जी ने भर्तृहरि का लिखा है; उन्होंने पादटिप्पणी में वाक्यपदीय (१-४७) का जो श्लोक उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

'वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ॥'[1]

इस श्लोक में शिक्षा का कोई प्रसङ्ग नहीं है, न शिक्षा शब्द का ही निर्देश है। हां, पाणिनीय शिक्षा के 'आत्मा बुद्धया' श्लोक का अभिप्राय इससे कुछ मिलता है। इस किञ्चित् अर्थसाम्य से यह नहीं कहा जा सकता कि भर्तृहरि इस श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा से परिचित थे।

अब हम भर्तृहरि का वह स्थल उपस्थित करते हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि भर्तृहरि इस श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा से परिचित थे।

वाक्यपदीय १।११६ की स्वोपज्ञ व्याख्या में भर्तृहरि ने 'आचार्यः खल्वप्याह' कहकर 'आत्मा बुद्धया' श्लोक उद्धृत किया है। यह श्लोक श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा तथा अग्निपुराणान्तर्गत शिक्षा-प्रकरण में उपलब्ध होता है। इस प्रसङ्ग में भर्तृहरि ने अनेक शिक्षाकारों के मत उद्धृत किये हैं। 'आत्मा बुद्धया' श्लोक को उद्धृत करते समय भर्तृहरि ने किसी व्यक्ति का नाम नहीं लिखा, अतः यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि यहां भर्तृहरि को आचार्य शब्द से कौन व्यक्ति अभिप्रेत है। पुनरपि, इससे इतनी कल्पना कथंचित् अवश्य की जा सकती है कि यह श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा भर्तृहरि से प्राचीन है और भर्तृहरि उससे परिचित था।

तृतीय हेतु—'मधुसूदन सरस्वती और पराशर-शिक्षा के लेखक इसे पाणिनिकृत मानते हैं।'

समीक्षा—मधुसूदन सरस्वती अभी १७वीं शती पूर्वार्द्ध के हैं; उनकी अपेक्षा तो इस शिक्षा के दोनों अज्ञातनामा टीकाकार कहीं अधिक प्राचीन हैं। अतः मधुसूदन सरस्वती द्वारा इस शिक्षा का उल्लेख होना कोई महत्त्व नहीं रखता।

अब रहा पराशर-शिक्षा का प्रमाण। पराशर-शिक्षा के विषय में अभी यह साध्य है कि वह किस काल की रचना है। घोष जी ने भी इसके रचनाकाल का कोई निर्देश नहीं किया। वह पराशर-शिक्षा कृष्ण द्वैपायन के पिता महर्षि पराशर की कृति नहीं है। यह निश्चित है, क्योंकि इस शिक्षा में पराशर से बहुत उत्तर-काल में होनेवाले याज्ञवल्क्य, पाणिनि, कात्यायन और माध्यन्दिन आदि का उल्लेख है। यदि इतना मान भी लें कि यह पराशर-शिक्षा पराशर मुनि-प्रोक्त ही है, तब भी

---

१. वाक्यपदीय, स्वोपज्ञव्याख्या-सहित, लाहौर-संस्करण में यह श्लोक १।४८ पर मिलता है।

इतना ही सिद्ध होगा कि पराशर-शिक्षा के प्रवचन-काल में पाणिनि की कोई शिक्षा प्रसिद्ध थी। यह श्लोकात्मक पाणिनि-शिक्षा पराशर-शिक्षा से पुरानी है, यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि पराशर-शिक्षा में इस श्लोकात्मक पाणिनि-शिक्षा का कोई श्लोक अथवा श्लोकांश उद्धृत नहीं। इस प्रकार घोष जी का यह तीसरा हेतु भी उनके पक्ष का पोषण नहीं करता।

चतुर्थ हेतु—'शुक्रनीतिकार भी इसे जानता था।'

इसके प्रमाण में घोष जी ने पाद-टिप्पणी में शुक्रनीति का निम्न मुद्रित श्लोक उद्धृत किया है—

"स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः।
सवनाद्यैश्च सा शिक्षा वर्णानां पाठशिक्षणात्॥"

समीक्षा—उक्त श्लोक शुक्रनीति में कहां आया है, इसका निर्देश घोष जी ने नहीं किया। अस्तु, यह पद्य शुक्रनीति के चतुर्थाध्याय के तृतीय प्रकरण में शिक्षा-अङ्ग के वर्णन में (सं० ४१) मिलता है। शुक्रनीति में यहां शिक्षा नामक अङ्ग का सामान्य वर्णन है। इस पद्य का पूर्वार्द्ध श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में उपलब्ध होता है। इसी बल पर घोष जी ने इस शिक्षा को शुक्रनीति से प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा की है। ध्यान रहे कि यह पद्यांश अग्निपुराणान्तर्गत शिक्षा-प्रकरण में भी विद्यमान है। अतः केवल अर्ध श्लोक के तीनों स्थानों पर उपलब्ध हो जाने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा शुक्रनीति से प्राचीन है।

पंचम हेतु—'पाणिनीय शिक्षा और अष्टाध्यायी दोनों एक की कृतियां हैं, यह सिद्ध किया जा सकता है।'

समीक्षा—यह केवल प्रतिज्ञा है, प्रतिज्ञामात्र से किसी पक्ष की सिद्धि नहीं होती। घोष जी ने श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा और अष्टाध्यायी को एक व्यक्ति की सिद्ध करने के लिए दोनों ग्रन्थों की कोई तुलना प्रदर्शित नहीं की।

श्लोकात्मक शिक्षा और अष्टाध्यायी एक की कृति नहीं

घोष जी की प्रतिज्ञा के विपरीत हमारा मत है कि इस श्लोकात्मक शिक्षा के उच्चारण-सम्बन्धी मत अष्टाध्यायी से बहुत विरोध रखते हैं। उदाहरण के लिए हम कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) घोष जी ने इस पाणिनीय शिक्षा के विभिन्न पाठों के आधार पर जो स्वकल्पित मूलपाठ उपस्थित किया है, उसमें एक श्लोक इस प्रकार है—

"अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषत् तेमस्पृष्टा शलस्तथा ।
शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता निबोधानुप्रदानतः ॥"

अर्थात्, अचों (स्वरों) का अस्पृष्ट आभ्यन्तर-प्रयत्न है । यणों (=अन्तस्थों) का ईषत्स्पृष्ट, शलों (ऊष्मों) का अर्धस्पृष्ट और शेष हलों (=व्यञ्जनों) का स्पृष्ट-प्रयत्न है ।

इस श्लोक के अनुसार अचों का अस्पृष्ट और शलों का अर्धस्पृष्ट-प्रयत्न होने से अचों और उष्मों की परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती । सवर्ण संज्ञा के लिए उच्चारण-स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न का सामान्य होना आवश्यक है ।[1]

इस शिक्षा के अनुसार अचों और ऊष्मों के आभ्यन्तर प्रयत्न में भिन्नता होने के कारण जब दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती, तब ह की अ के साथ, श की इ के साथ, ष की ऋ के साथ और स की ऌ के साथ परस्पर सवर्ण संज्ञा के निषेध के लिए पाणिनि का **'नाज्झलौ'** (अ० १।१।१०) सूत्र बनाना ही व्यर्थ है । **'नाज्झलौ'** सूत्र के निर्माण से स्पष्ट ही है कि पाणिनि के मत में ऊष्मों और अचों के आभ्यन्तर प्रयत्न समान हैं । इससे यह व्यक्त है कि श्लोकात्मक शिक्षा पाणिनि-रचित नहीं है ।

इस पाणिनीय शिक्षा के ऋक्शाखीय और यजुःशाखीय पाठ में एक श्लोक और मिलता है (शिक्षाप्रकाश-टीका में वह व्याख्यात है) । वह है—

"स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावैङौ ताभ्यामैचौ तथैव च ॥"

इस श्लोक के अनुसार स्वरों और ऊष्मों का विवृत प्रयत्न है । दोनों का विवृत-प्रयत्न मानने पर यद्यपि अष्टाध्यायी का **'नाज्झलौ'** सूत्र संगत हो जाता है, परन्तु यह श्लोक वस्तुतः इस शिक्षा का अंग है, यही अभी साध्य है । इस श्लोक के प्रक्षिप्त होने के निम्नांकित कारण हैं—

(१) यह श्लोक इस शिक्षा के सम्पूर्ण पाठों में उपलब्ध नहीं होता । पञ्जिका नामक व्याख्या के रचयिता ने भी इस श्लोक की व्याख्या नहीं की । इन्हीं कारणों से स्वयं घोष जी ने भी अपने मूलपाठ में इस श्लोक को स्थान नहीं दिया ।

(२) इस शिक्षा के ऋक्पाठ में **'स्वराणामूष्मणां चैव'** (२१) और **'अचोऽस्पृष्टाः'** (३८) इन दोनों आभ्यन्तर प्रयत्नप्रतिपादक श्लोकों के मध्य में १६ श्लोक ऐसे हैं

---

१. इस सम्बन्ध में 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (अ० १।१।९) पाणिनीय सूत्र तथा इसके व्याख्यान-ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं ।

जो अप्रासङ्गिक हैं। अप्रासङ्गिक श्लोकों के व्यवधान से शिक्षा का पाठ ही सन्दिग्ध है। पाठ के सन्दिग्ध होने से कोई निस्सन्दिग्ध परिणाम नहीं निकाला जा सकता।

(३) इस शिक्षा के यजुःशाखीय पाठ तथा प्रकाश टीका में यद्यपि दोनों **'स्वराणामूष्मणां'** तथा **'अचोऽस्पृष्टा.'** श्लोक साथ-साथ पढ़े हैं,पुनरपि दोनों श्लोकों की उपस्थिति में एक सन्देह और होता है कि **स्वरों और ऊष्मों का प्रयत्न विवृत है अथवा अस्पृष्ट और नेमस्पृष्ट**। यदि 'अचोऽस्पृष्टाः' पदों को अस्पृष्ट-प्रयत्न का विधायक न मानकर 'अच स्पृष्ट-प्रयत्नवाले नहीं होते' इस प्रकार पूर्व श्लोकप्रतिपादक अर्थ का अनुवाद मानें, तब भी एक सन्देह तो रह ही जाता है कि ऊष्मों का **विवृत-प्रयत्न** माना जाय अथवा **नेमस्पृष्ट=अर्धस्पृष्ट**। स्वरों का विवृत और ऊष्मों का नेम-स्पृष्ट-प्रयत्न होने पर दोनों की सवर्ण संज्ञा नहीं होगी, पुनः **'नाज्झलौ'** सूत्र की व्यर्थता तदवस्थ ही है।

(ख) इस शिक्षा के मतानुसार ह्रस्व अ' का अस्पृष्ट अथवा विवृत-प्रयत्न है [देखें पूर्वोद्धृत दोनों श्लोक]। परन्तु, पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पातञ्जल महा-भाष्य से स्पष्ट है कि पाणिनि ह्रस्व 'अ' का मूलतः संवृत-प्रयत्न मानता है। संवृत प्रयत्न होने पर दीर्घ और प्लुत अवर्ण के साथ ह्रस्व अ को सवर्ण संज्ञा प्राप्त नहीं होती, अतः पाणिनि ने स्वशास्त्रीय कार्य निर्वाहार्थ **'अइउण्'** सूत्र में उसका विवृत-उपदेश किया है और शास्त्र के अन्त में **'अ-अ'** सूत्र द्वारा प्रथम विवृत-उपदिष्ट ह्रस्व **अ को पुनः संवृत किया है।**[1] यदि पाणिनि के मत में ह्रस्व अ स्वभावतः विवृत होता तो पाणिनि प्रथम सूत्र में उसका विवृत-उपदेश और अन्तिम सूत्र में पुनः उसका संवृत-विधान न करता।

यदि यह कहा जाय कि शिक्षा में व्याकरणशास्त्र के कार्यनिर्वाहार्थ ही ह्रस्व अ को विवृत कहा है, तो भी अयुक्त है। क्योंकि, शिक्षा स्वतन्त्र वेदाङ्ग है। वह स्व-तन्त्र रूप से वर्णों के उच्चारण की शिक्षा देता है। शिक्षा के लोकवेदसाधारण होने से उसमें ह्रस्व अ का संवृत प्रयत्न ही कहना चाहिए। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी स्पष्ट लिखा है—

'नैव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोऽस्ति। कस्तर्हि ? संवृतः।' (अइउण् सूत्र)

हां, अधिक-से-अधिक शिक्षा में यह कहा जा सकता था कि ह्रस्व अ का स्वा-भाविक प्रयत्न संवृत है, परन्तु पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में कार्यनिर्वाहार्थ इसे विवृत माना है। किन्तु, सम्पूर्ण **पाणिनीय शिक्षा में ह्रस्व 'अ' का वास्तविक संवृत-प्रयत्न**

---

१. 'अइउण्' सूत्र का महाभाष्य।

का उल्लेख ही नहीं किया गया। इससे इस शिक्षा के किसी शिक्षा-शास्त्रज्ञ द्वारा रचित होने में भी सन्देह है।

(ग) इस शिक्षा के ऋक्शाखीय पाठ में एक श्लोक इस प्रकार है—

"संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु द्विमात्रिकम्।
घोषा वा संवृताः सर्वे अघोषा विवृताः स्मृताः॥"

अर्थात्, एक मात्रावाले वर्ण संवृत-प्रयत्नवाले होते हैं और द्विमात्रिक विवृत-प्रयत्नवाले।

यदि इस श्लोक में ह्रस्व अकार के संवृत-प्रयत्न का विधान माना जाये तो इसमें निम्नांकित आपत्तियां हैं—

(१) यह श्लोक ऋक्शाखीय पाठ के अतिरिक्त अन्य पाठों में उपलब्ध नहीं होता। दोनों टीकाकारों ने भी इसकी व्याख्या नहीं की है। अतः, इस श्लोक का मूलपाठान्तर्गत होना ही सन्दिग्ध है।

(२) यदि इस श्लोक को मूलपाठ का अंग मान भी लें, तब भी इसमें दो अपरिहार्य दोष आते हैं। यथा—

प्रथम—इस श्लोक के अनुसार समस्त एकमात्रिक (=ह्रस्व) स्वरों (अ इ उ ऋ ऌ) का संवृत-प्रयत्न होगा। उस अवस्था में ह्रस्व इ उ ऋ ऌ वर्णों का अपने दीर्घ और प्लुतों के साथ सवर्ण संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि ह्रस्वों का संवृत-प्रयत्न कहा है और दीर्घों का विवृत। ऐसी अवस्था में पाणिनि का समस्त व्याकरण अव्यवस्थित हो जायेगा तथा पाणिनि को ह्रस्व अ के समान ह्रस्व इ उ ऋ ऌ के संवृत-प्रयत्न का भी शास्त्रीय-कार्य-निर्वाहार्थ विवृत उपदेश करना होगा (जो कि नहीं किया) और शास्त्रान्त में पुनः संवृतप्रत्यापत्ति करनी होगी (जो कि नहीं की)।

द्वितीय—इस श्लोक में एकमात्रिक और द्विमात्रिक स्वरों के ही प्रयत्नों का विधान किया है, प्लुतों का निर्देश ही नहीं किया। यदि कहना ही था, तो इसे इस प्रकार पढ़ना चाहिए था—

'संवृतं मात्रिकं ज्ञेयं विवृतं तु ततः परम्।'

इससे स्पष्ट है कि इस श्लोक के आधार पर ह्रस्व अ के संवृत-प्रयत्न का विधान नहीं माना जा सकता। इस श्लोक को अप्रामाणिक ही मानना होगा।

(घ) ऊपर इस श्लोकात्मक शिक्षा के जो दो श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें शल् (श ष स ह) वर्णों का विवृत अथवा नेमस्पृष्ट (अर्धस्पृष्ट)-प्रयत्न कहा है। परन्तु, **'नाज्झलौ'** (अ० १।१।१०) सूत्र के महाभाष्य में पतञ्जलि ने लिखा है—

'स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् ।
विवृतमूष्मणाम्, ईषदित्यनुवर्त्तते स्वराणां च, ईषद् इति निवृत्तम् ।'

अर्थात्, स्पर्श-वर्णों का स्पृष्ट-प्रयत्न है, अन्तःस्थों का ईषत्-स्पृष्ट, ऊष्मों का ईषद् विवृत, स्वरों का विवृत ।

पतञ्जलि ने प्राचीन शिक्षा-सूत्रों के आधार पर ऊष्मों का जो ईषद्विवृत-प्रयत्न दर्शाया है, उसका इस शिक्षा में कहीं भी निर्देश नहीं मिलता ।

उपर्युक्त हेतुओं से स्पष्ट है कि घोष जी की प्रतिज्ञा के ठीक विपरीत इस श्लोकात्मक शिक्षा तथा अष्टाध्यायी में स्वीकृत शिक्षा-मतों में विरोध होने से ये दोनों ग्रन्थ एककर्तृक नहीं हो सकते ।

घोष जी की भूल का कारण—घोष जी ने श्लोकात्मक शिक्षा और अष्टाध्यायी का ऊपर-ऊपर से ही अवलोकन किया, इन दोनों ग्रन्थों के शिक्षाविषयक मतों की सूक्ष्म विवेचना नहीं की । इसलिए, उन्हें दोनों ग्रन्थों के शिक्षाविषयक मतभेद ज्ञात नहीं हुए, केवल अष्टाध्यायीस्थ कतिपय प्रत्याहारों का श्लोकात्मक शिक्षा में उल्लेख देखकर दोनों के एककर्तृक होने की असम्भव प्रतिज्ञा कर बैठे ।

इस प्रकार, घोष जी के लेख के प्रथम भाग की विवेचना से स्पष्ट है कि यह श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा वैयाकरण पाणिनि मुनि-विरचित नहीं है । अब हम उनके लेख के द्वितीय भाग की विवेचना करते हैं, जिसमें उन्होंने **स्वामी दयानन्द सरस्वती पर सूत्रात्मक शिक्षा को पाणिनि के नाम पर प्रसिद्ध करने का दोषारोपण किया ।**

सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा और स्वामी दयानन्द सरस्वती—हम पहले लिख चुके हैं कि पठन-पाठन में श्लोकात्मक शिक्षा के अधिक प्रवृत्त हो जाने से मूल सूत्रात्मक शिक्षा-ग्रन्थ लुप्तप्राय हो चुका था । चिरकाल के प्रयत्न के पश्चात् सं० १९३६ के पूर्वार्द्ध में, स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्रयाग के एक वृद्ध ब्राह्मण के घर से पाणिनीय शिक्षा-सूत्र का एक हस्तलेख प्राप्त हुआ । यह हस्तलेख त्रुटि-बहुल और अन्त में खण्डित था । उन्होंने उसी त्रुटि-बहुल और खण्डित ग्रन्थ को हिन्दी व्याख्यासहित, सं० १९३६ के अन्त में, अपने वैदिक यन्त्रालय (काशी) में छापकर 'वर्णोच्चारण-शिक्षा' के नाम से प्रकाशित किया । इसकी भूमिका में प्रथम बार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चिरकाल से प्रसिद्ध श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा को पाणिनि मुनि-विरचित मानने की भ्रान्ति का निवारण किया ।[1]

---

१. इसके विषय में देखें हमारे 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' पृष्ठ २१९-२२०, संस्क० २ ।

इस सूत्रात्मक शिक्षा के प्रकाशित होने के लगभग ५३ वर्ष पश्चात् डा० रघुवीर जी ने 'पाणिनि के लुप्त शिक्षा-सूत्रों की खोज' नामक लेख में सिद्ध किया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा वर्णोच्चारण-शिक्षा के नाम से प्रकाशित शिक्षासूत्र ही मूल पाणिनीय शिक्षा है।

डा० रघुवीर जी की इस स्थापना पर घोष जी लिखते हैं—

"डा० रघुवीर 'पाणिनि के लुप्त शिक्षा-सूत्रों की खोज' नामक लेख में पाणिनि के लुप्त शिक्षा-सूत्रों को ढूंढ लेने का दावा करता है। अनेक युक्तियों से, जो वे जोश में उपस्थित करते हैं, यह प्रतीत होता है कि उनके खोजे सूत्र (दयानन्द के शिक्षा-सूत्र) वेदाङ्ग शिक्षा हैं। परन्तु, सूक्ष्म परीक्षा से हमें ज्ञात होता है कि वे युक्तियां इतनी गम्भीर नहीं, जितनी डा० रघुवीर सोचते हैं।"

समीक्षा—यदि घोष जी डा० रघुवीर की युक्तियों को, जिन्हें उन्होंने स्वामी दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों की प्रामाणिकता और वेदाङ्गत्व में दी हैं, क्रमशः उद्धृत करके प्रत्याख्यान करते तो उन्हें ज्ञात होता कि डा० रघुवीर की युक्तियां गम्भीर हैं या नहीं। घोष जी ने उसका स्पर्श किये बिना ही 'वे युक्तियां उतनी गम्भीर नहीं' लिख कर छोड़ दिया।

घोषजी न तो अपने पक्ष की पुष्टि में ही कोई हेतु देते हैं (केवल प्रतिज्ञा करके छोड़ देते हैं, जैसा कि हमने ऊपर दिखाया है) और न विरुद्ध पक्ष की युक्तियों को उद्धृत करके प्रमाण-पुरस्सर उनका प्रत्याख्यान ही करते हैं। क्या विरोधी पक्ष की युक्तियों का निराकरण किये बिना केवल प्रतिज्ञामात्र से कोई पक्ष पुष्ट हो सकता है?

यहां यह भी ध्यान रहे कि घोष जी पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों को 'दयानन्द शिक्षा-सूत्र' लिखकर आरम्भ में ही अपनी मनोवृत्ति का परिचय स्वयं दे रहे हैं।

घोष जी पुनः लिखते हैं—

'वे (डा० रघुवीर) यह मानकर चलते हैं कि दयानन्दीय शिक्षा-सूत्र पाणिनि के लुप्त शिक्षा-सूत्र हैं। यद्यपि कोई स्वतन्त्र प्रमाण उनके अस्तित्व का नहीं है और न-ही उनके खोजने की कोई कहानी है।'

समीक्षा—डा० रघुवीर का मूल लेख इस समय हमारे सामने नहीं है। इसलिए, हम नहीं कह सकते कि उन्होंने शिक्षा-सूत्रों को पाणिनीय सिद्ध करने में क्या प्रमाण दिये थे।

हमें घोष जी के लेख पर आश्चर्य है कि जो दोष वे डा० रघुवीर पर आरोपित

करते हैं उनसे वे स्वयं भी मुक्त नहीं है। वे आरम्भ से ही विना परीक्षा किये स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों को **दयानन्द-शिक्षा-सूत्र** के नाम से लिखते हैं। चाहिए तो यह था कि वे पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों के पाणिनीयत्व-अपाणिनीयत्व की विवेचना करते और उनका अपाणिनीयत्व सिद्ध हो जाने पर उनको 'दयानन्द-शिक्षा-सूत्र' की संज्ञा देते। अस्तु;

अब हम वे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनसे स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय हैं या नहीं।

घोषजी उपर्युक्त उद्धरण में बड़े बल से कहते हैं, कि इन शिक्षासूत्रों के अस्तित्व का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं। हम न केवल उनके स्वतन्त्र अस्तित्व का, अपितु उनके पाणिनीयत्व का भी प्रमाण उपस्थित करते हैं।

सूत्रात्मक शिक्षा के पाणिनीयत्व में प्रमाण—

१—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के 'त्रिरत्न-भाष्य'[1] नामक व्याख्या के रचयिता सोमयार्य लिखते हैं—

'सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति पाणिनीयेऽपि'।[2]

यहां स्पष्ट ही सोमयार्य 'सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति' वचन को पाणिनीय मानकर उद्धृत कर रहे हैं। यह वचन पाणिनीय सूत्रात्मक शिक्षा के षष्ठ प्रकरण में उपलब्ध होता है।

क्या अब भी घोषजी 'कोई स्वतन्त्र प्रमाण उनके अस्तित्व का नहीं' ऐसी घोषणा करने का साहस करेंगे ? यदि घोषजी ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का उक्त 'त्रिरत्न-भाष्य' देखा होता, तो वे इस प्रकार लिखने का दुस्साहस न करते।

प्रकृत विषय में यह कहा जा सकता है कि त्रिरत्न-भाष्यकार सोमयार्य ने उक्त सूत्र आपिशल शिक्षा से लिया होगा और भूल से पाणिनि के नाम से उद्धृत कर दिया, क्योंकि यह सूत्र आपिशलशिक्षा में भी इसी प्रकरण पर उपलब्ध होता है।

यदि इस कल्पना को स्वीकार कर लें तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि कि त्रिरत्न-भाष्यकार सोमयार्य को सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का भी ज्ञान था।

ऐसी अवस्था में सोमयार्य आपिशल सूत्र को पाणिनि के नाम से कैसे उद्धृत

---

१. यह ग्रन्थकार न्यूनातिन्यून ४०० वर्ष पुराना है।

२. मैसूर सं०, पृ० ४५०।

कर सकते थे ? हां, सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा की प्रसिद्धि होने पर इस प्रकार की भूल होना सम्भव है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सोमयार्य ने चाहे पाणिनीय शिक्षा-सूत्र को उद्धृत किया हो, चाहे पाणिनि के नाम से आपिशल शिक्षा-सूत्र को, दोनों ही अवस्थाओं में यह मानना पड़ेगा कि सोमयार्य को किसी सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का ज्ञान था।

आपिशल और पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों का पार्थक्य—यद्यपि आपिशल और पाणिनीय शिक्षा के सूत्रों में अत्यन्त सादृश्य है, कोई भी व्यक्ति इनका गहरा अनुशीलन किये विना इनके विलक्षण सादृश्य से मोहित हो सकता है, तथापि इन दोनों शिक्षा-सूत्रों में अनेक स्थानों पर जो सूत्रों की न्यूनाधिकता और पाठभेद उपलब्ध होते हैं वे इन दोनों ग्रन्थों के पृथक्-पृथक् प्रवचन की सिद्धि में पर्याप्त प्रमाण हैं।[1]

पुनरपि, हम यहां एक ऐसा अकाट्य और नवीन प्रमाण उपस्थित करते हैं, जो न केवल इन दोनों शिक्षा-सूत्रों की भिन्नता ही व्यक्त करता है, अपितु स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों का पाणिनीयत्व भी सिद्ध करता है। यथा—

(२) आपिशल और पाणिनीय शिक्षा के तृतीय प्रकरण के अन्त के सूत्र हैं—

आपिशलपाठ	पाणिनीयपाठ
ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।	ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।
विवृतकरणाः स्वराः।	विवृतकरणा वा।
	विवृतकरणाः स्वराः।

इन दोनों पाठों की वर्णानुपूर्वी एक होते हुए भी पाणिनीय शिक्षा में एक सूत्र अधिक है। वह है—'विवृतकरणा वा'। इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'ऊष्माणः' पद की अनुवृत्ति है। तदनुसार किन्हीं आचार्यों के मत में ऊष्म (श ष स ह) वर्णों का आभ्यन्तर-प्रयत्न विवृत है (आपिशल शिक्षा में यह सूत्र नहीं है)। ऊष्म वर्णों का विवृत प्रयत्न मानने पर ही ऊष्मों की अचों (इ ऋ ऌ अ) के साथ स्थान और आभ्यन्तर

---

१. कृपया देखें, मेरे द्वारा सम्पादित तथा प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, ४६४३, रेगरपुरा, गली नं० ४०, करोलबाग, दिल्ली से प्राप्य 'शिक्षा-सूत्राणि' की भूमिका। [अब इसका जो संस्करण उपलब्ध है उसमें पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों का भी वृद्ध और लघुपाठ छपा है।]

प्रयत्न का साम्य होने से इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है।[1] सवर्ण संज्ञा होने पर 'दधिशीतम्', 'दण्डहस्तः' आदि में क्रमशः सवर्णदीर्घत्व की प्राप्ति होती है।[2] इसीलिये, पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'नाज्झलौ' सूत्र द्वारा अचों और हलों की सवर्णसंज्ञा का निषेध किया है। आपिशलशिक्षा में 'विवृतकरणा वा' सूत्र नहीं है। अतः, उसके अनुसार अचों-हलों की परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित सूत्रात्मक शिक्षा पाणिनीय ही है, और वह पाणिनीयशिक्षा आपिशलशिक्षा से भिन्न है।

यह भी ध्यान रहे कि घोषजी जिस श्लोकात्मक शिक्षा के पाणिनीयत्व की प्रतिज्ञा करते हैं, और उन्होंने अपनी दृष्टि के अनुसार उसका जो मूलपाठ सम्पादित किया है, तदनुसार अचों का अस्पृष्ट-प्रयत्न है और ऊष्मों का नेमस्पृष्ट। अतः, दोनों के आभ्यन्तर-प्रयत्नों में भेद होने के कारण इस श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के मत में दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं, फिर पाणिनि ने सवर्णसंज्ञा के निषेध के लिए 'नाज्झलौ' सूत्र क्यों रचा ?

(३) स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों की प्रामाणिकता तथा पाणिनीयत्व में एक नई युक्ति हम उपस्थित करते हैं—

इंडियन रिसर्च इंस्टीट्यूट (कलकत्ता) से सन् १९३९ ई० में श्री अमूल्यचरण विद्याभूषण ने आपिशल शिक्षा के नाम से एक शिक्षा-ग्रन्थ प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ एक त्रुटिबहुल अशुद्धिपूर्ण हस्तलेख से छपा है। मुद्रित पाठ को देखने से स्पष्ट है कि प्रकाशक को जैसा भी हस्तलेख प्राप्त हुआ था उसको उसने वैसा ही छाप दिया। यह शिक्षा-ग्रन्थ वस्तुतः आपिशलि का नहीं है। इसमें निम्न हेतु हैं—

(क) प्रकाशक ने इसकी भूमिका में कहीं भी नहीं लिखा कि इसके हस्तलेख के आद्यन्त में कहीं भी आपिशलि का नाम निर्दिष्ट है।

(ख) यदि इसके हस्तलेख के आद्यन्त में कहीं आपिशलि का नाम निर्दिष्ट भी हो, तब भी यह हस्तलेख आपिशल-शिक्षा का नहीं हो सकता, क्योंकि इस शिक्षा के अष्टम प्रकरण में एक सूत्र है—

'स एवमापिशलेः पञ्चदश भेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति।' पृष्ठ ३

अर्थात् इस प्रकार आपिशलि के मत में पन्द्रह भेदवाले वर्णधर्म होते हैं।

---

१. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। अष्टा० १।१।९॥

२. अकः सवर्णे दीर्घः। अष्टा० ६।१।१०१॥

इस प्रकार का वचन स्वयं आपिशलि अपने ग्रन्थ में नहीं लिख सकता। यह आर्षशैली के विपरीत है। इससे यह निश्चित है कि यह हस्तलेख आपिशल शिक्षा का नहीं है।

श्री अमूल्यचरणजी द्वारा प्रकाशित शिक्षा के उपर्युक्त सूत्रों में जिस प्रकार से आपिशलि को स्मरण किया गया है, ठीक उसी रूप में पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के **'वा सुप्यापिशलेः'** (६।१।९२) सूत्र में आपिशलि को स्मरण किया है। अतः स्पष्ट है, श्री अमूल्यचरणजी द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनि के हैं।

सम्भव है, इस हस्तलेख के लेखक अथवा प्रकाशक ने शिक्षा के उक्त सूत्र में आपिशलि का नाम देखकर इसे आपिशलि-कृत मान लिया होगा।

(ग) हम पहले लिख चुके हैं कि आपिशल और पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों में अत्यन्त सादृश्य होने पर भी दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। जहां-जहां आपिशल और पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों में भिन्नता है वहां श्री अमूल्यचरणजी का पाठ प्रायः पाणिनीय शिक्षा के पाठ का अनुसरण करता है।[1] यथा—

आपिशलपाठ	पाणिनीयपाठ	अमूल्यचरणपाठ
(१) ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च।	ञमङणनमाः स्वस्थान- नासिकास्थानाः।	ञमङणनम[2] नासिकास्थानाः
(२) ईशद्विवृतकरणा ऊष्माणः।	ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः। विवृतकरणा वा।	ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणो विवृतकरणा वा।
विवृतकरणाः स्वराः।	विवृतकरणाः स्वराः।	विवृतकरणाः स्वराः।

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ भी त्रुटिबहुल तथा अन्त में खण्डित हस्तलेख के आधार पर छपा है। उसमें अष्टम प्रकरण का प्रथम सूत्र ही अधूरा है, अतः अमूल्यचरण के संस्करण से उद्धृत **'स एवमापिशलेः'** पंक्ति की तुलना हम नहीं कर सकते। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षा-सूत्र का सप्तम प्रकरण भी बहुत अव्यवस्थित है। इनकी वास्तविक तुलना तो तभी हो सकती है जब इनके अन्य हस्तलेखों के आधार पर पूर्ण प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हो जायें।

---

१. पाणिनीय शिक्षा का सप्तम प्रकरण कुछ सन्दिग्ध प्रतीत होता है। उसका पाठ सर्वथा भिन्न है।

२. निश्चय ही यहां 'म' से आगे 'ः स्वस्थान' इतना पाठ त्रुटित हो गया है।

इतना होने पर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि श्री अमूल्यचरणजी द्वारा प्रकाशित शिक्षा का पाठ पाणिनीय शिक्षापाठ से अधिक मिलता है।

(४) श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में वर्णों की संख्या **त्रिषष्टि** अथवा **चतुष्षष्टि** मानी गई है। श्री अमूल्यचरणजी द्वारा प्रकाशित शिक्षा-पाठ में भी **'स्थानकरण-प्रयत्नपरेभ्यो वर्णा त्रिषष्टिः, चतुष्षष्टिरित्येके'** सूत्र द्वारा वर्णों की संख्या तिरसठ और किन्हीं आचार्यों के मत में चौसठ है। दो हस्तलेखों के आधार पर डा० रघुवीर ने आपिशल शिक्षा का जो पाठ प्रकाशित किया है, उसमें **तत्र स्थानकरणप्रयत्नेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः'** इतना ही पाठ है, अर्थात् आपिशलि केवल तिरसठ अक्षर मानता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो पाणिनीय शिक्षा-सूत्र छापा है, उसमें **'त्रिषष्टिः'** इतना ही पाठ है। पूर्वोक्त दोनों पाठों की तुलना से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाठ में सूत्र के आदि और अन्त दोनों ओर का पाठ टूट गया है।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा में वर्णों की तिरसठ और चौसठ दोनों संख्याओं का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि श्री अमूल्यचरणजी द्वारा प्रकाशित शिक्षा-सूत्र भी पाणिनीय शिक्षा-सूत्र ही हैं। उन पर आपिशलि का नाम लेखक अथवा प्रकाशक की भ्रान्ति से लिखा गया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो शिक्षा-सूत्र पाणिनि के नाम से प्रकाशित किये थे, वे वस्तुतः पाणिनीय ही हैं। इसकी पुष्टि श्री अमूल्य-चरणजी द्वारा प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों से भी होती है।

घोषजी डा० रघुवीर के लेख की समालोचना करते हुए आगे लिखते हैं—

"डा० रघुवीर की मान्यता कि पतञ्जलि और अन्य वैयाकरणों ने इस सूत्र-ग्रन्थ (दयानन्द शिक्षा-सूत्र) से अंश अथवा भाव लिये, नितान्त अशुद्ध है, क्योंकि यह ग्रहण बिल्कुल उल्टे प्रकार से भी हो सकता था; अर्थात् द० शि० सू० के लेखक ने अपनी सामग्री अनेक स्रोतों से, यथा—महाभाष्य, चन्द्रगोमी के वर्ण-सूत्रों से, ली हो। इस तथ्य के प्रकाश में कि इसका कोई प्राचीन तथा नवीन हस्तलेख अथवा कोई उद्धरण नहीं मिलता, इस प्रकार का विचार (जैसा कि हमारा है) बनाना उचित है।"

समीक्षा—डा० रघुवीर के सीधे और स्पष्ट प्रमाण कि 'दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा के अनेक सूत्र व्याकरण के महाभाष्य, काशिका, न्यास और पदमञ्जरी आदि अनेक ग्रन्थों में कहीं अक्षरशः, कहीं अंशतः और कहीं भावमात्रतः उद्धृत हैं और चन्द्रगोमी ने जैसे पाणिनि अष्टाध्यायी के आधार पर अपना व्याकरण लिखा,[1] उसी

१. यह विषय दोनों व्याकरणों की तुलना से स्पष्ट है।

प्रकार उसने पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के आधार पर अपने वर्ण-सूत्र रचे' को घोषजी ने पलटने की चेष्टा की है। क्या घोषजी स्वामी दयानन्द-प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा के समस्त सूत्रों को व्याकरणादि शास्त्रों के प्राचीन अथवा नवीन ग्रन्थों में अंशतः अथवा भावतः उद्धृत बता सकते हैं। यदि नहीं, तो दयानन्द-शिक्षा के लेखक ने उन सूत्रों की रचना, जो न किन्हीं प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत हैं, और न जिनका विषय चान्द्र वर्ण-सूत्रों में विद्यमान है, कहां से संगृहीत किये ?

घोषजी के कथन में एक और दोष—व्याकरण के न्यास और पदमञ्जरी आदि ग्रन्थों में शिक्षा के अनेक ऐसे सूत्र उद्धृत हैं, जो दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों में नहीं मिलते। न्यास और हैम बृहद्वृत्ति में अष्टम प्रकरण के २३ सूत्र आनुपूर्वी से उद्धृत[1] हैं। दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों में उनमें से केवल '**नाभिप्रदेशात्**·····' आदि प्रथम सूत्र और वह भी अधूरा मिलता है, शेष २२ सूत्र हैं ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अन्य ग्रन्थों से इन सूत्रों का संकलन नहीं किया, अन्यथा अष्टम प्रकरण का '**नाभि-प्रदेशात्**·····' सूत्र खण्डित न रहता और अगले २२ सूत्र भी न छूटते।

सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा के संग्राहक अथवा रचयिता स्वामी दयानन्द ही हैं ऐसा मान भी लें (जैसा घोषजी आगे चलकर स्वयं लिखेंगे), तब भी घोषजी को स्वामीजी का अगाध पाण्डित्य तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, उनकी बुद्धि की स्तुति करनी ही पड़ेगी कि उन्होंने किसी प्राचीन सूत्रात्मक शिक्षा के शतशः ग्रन्थों में बिखरे हुए वचनों को संकलित करके और कुछ वचन अपनी ओर से जोड़कर उन्हें ऐसे सुन्दर ढंग से प्रकरणानुसार सुव्यवस्थित कर दिया, जो संकलनमात्र न रहकर स्वतन्त्र ग्रन्थ-रूप में परिणत हो गये और उसके ५० वर्ष पश्चात् उपलब्ध आपिशल शिक्षा से उसकी आनुपूर्वी भी अद्भुत साम्य के साथ मिल गई। इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के विलक्षण पाण्डित्य की स्तुति की जाय अथवा घोषजी की विलक्षण ऊहा की ? पाठक इस पर स्वयं विचार करें।

यदि घोषजी उक्त कल्पना के स्थान पर यह कल्पना करते कि 'स्वामी दयानन्द-प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनि के नहीं हैं, अपितु आपिशलि के हैं। स्वामी दयानन्द ने उन्हें झूठ-मूठ ही पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध कर दिया' तब भी उनकी कल्पना कुछ सीमा तक युक्तियुक्त कही जा सकती थी। परन्तु, घोषजी जानते थे कि यदि एकबार भी आपिशलि के शिक्षा-सूत्रों को (जो उनके ग्रन्थ-प्रकाशन से पूर्व छप चुके थे)

---

१ देखें मेरा आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी के शिक्षा-सूत्रों का संस्करण—'शिक्षासूत्राणि', पृष्ठ ७-१० तक टिप्पणीस्थ पाठान्तर।

आपिशलि-कृत मान लिया तो दयानन्द-प्रकाशित शिक्षासूत्रों को पाणिनीय-विरचित मानना ही पड़ेगा। इस कारण घोषजी ने आपिशल शिक्षासूत्रों की चर्चा तक नहीं की। घोष जी का कर्त्तव्य था कि दयानन्द-प्रकाशित शिक्षासूत्रों की समालोचना करते हुए उन्हीं जैसे आपिशल शिक्षा-सूत्रों का निर्देश अवश्य करते। यदि यह माना जाये कि घोषजी को डा० रघुवीर द्वारा प्रकाशित आपिशल शिक्षा का ज्ञान ही नहीं था, तो यह भी बड़े आश्चर्य की बात है कि घोषजी शिक्षा पर कार्य करें और उनके ग्रन्थ से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आपिशल शिक्षा का उन्हें ज्ञान ही न हो। ऐसे अधूरे ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति को ग्रन्थ-लेखन अथवा सम्पादन का क्या अधिकार है? कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने भी ऐसे त्रुटिपूर्ण ग्रन्थ को कैसे प्रकाशित कर दिया!

अब रही हस्तलेख की बात। संस्कृत-वाङ्मय में अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनके पुराकाल में अत्यन्त प्रसिद्ध रहने पर भी चिरकाल तक उनके हस्तलेख प्राप्त नहीं हुए। अत्यन्त प्रयत्न करने पर उनके एक-एक, दो-दो त्रुटित हस्तलेख मिले हैं। आज भी अनेक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों के हस्तलेख मिल रहे हैं। अभी ४-५ वर्ष हुए, एक ऐसा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आया, वह है 'काशकृत्स्न धातुपाठ'[1]। इसी प्रकार शर्ववर्मकृत[2] कातन्त्र धातुपाठ का मूल संस्कृतपाठ अनुपलब्ध था। जर्मन-प्रोफेसर लिबिश ने इसका तिब्बती अनुवाद प्रकाशित किया था। उसका एकमात्र त्रुटिबहुल हस्तलेख अभी-अभी प्राप्त हुआ है।[3] इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा-सूत्र का भी एक त्रुटित हस्तलेख स्वामी दयानन्द को प्राप्त हो सकता था। इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? उसकी दूसरी प्रति के उपलब्ध न होने[4] मात्र से वह ग्रन्थ कल्पित नहीं कहा जा सकता।

---

१. यह धातुपाठ चन्नवीर कविकृत-कन्नड टीकासहित कन्नड-लिपि में सन् १९५२ ई० में प्रकाशित है। इसके विषय में 'संस्कृत-रत्नाकर', फाल्गुन २०१२ वि० सं० के अंक में मेरा 'काशकृत्स्नीयो धातुपाठः' लेख द्रष्टव्य है।

२. कई शर्ववर्मा को कातन्त्र-वृत्तिकार मानते हैं। देखें मेरा 'संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास', पृष्ठ ४०४, ४०५।

३. इसको उपलब्ध करने का श्रेय हमारे मित्र कपिलदेव जी, एम० ए० को है। उन्हीं के द्वारा मुझे इसकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई है।

४. हम पहले लिख चुके हैं कि इण्डियन रिसर्च-इंस्टीट्यूट (कलकत्ता) से प्रकाशित 'आपिशल शिक्षा' भी वस्तुतः पाणिनीय शिक्षा है। अतः, पाणिनीय शिक्षा का द्वितीय हस्तलेख भी प्राप्त हो गया, यह मानना ही पड़ेगा।

वस्तुत: घोषजी अपनी इस युक्ति से स्वयं असन्तुष्ट थे। अत: वे ससंभ्रम आगे लिखते हैं—

"इस प्रकार हम देखते हैं कि दयानन्द के शिक्षा-सूत्र १९वीं सदी के प्रारम्भ में प्रकाश में आने के लिए लगभग २५०० वर्ष तक अन्धकार में पड़े रहे। ऐसा अन्वेषण नितान्त असम्भव न भी हो, ऐसे विषयों में बड़ा सावधान रहना चाहिए। कौटिल्य और भास के ग्रन्थों का उदाहरण यहां नहीं लिया जा सकता, क्योंकि इनके उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हो चुके हैं।"

घोषजी यहां जिन कौटिल्य अर्थशास्त्र और भास के नाटकों का उल्लेख कर रहे हैं, वे जिस समय प्रकाश में आये उस समय पाश्चात्य विद्वानों ने इन ग्रन्थों को कल्पित और जाली सिद्ध करने के लिए यही प्रधान युक्ति दी थी, जिसे आज घोषजी पाणिनीय शिक्षासूत्रों के विषय में दे रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने कौटिल्य अर्थ-शास्त्र और भास के नाटकों को अप्रामाणिक और जाली सिद्ध करने के लिए कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा था। यह तो शाम शास्त्री, गणपति शास्त्री का महान् प्रयत्न था कि पाश्चात्य विद्वानों की एक-एक युक्ति का मुंहतोड़ उत्तर मिला, उन्हें चुप होना पड़ा और उन्हें इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता स्वीकार करनी पड़ी। इसीलिए, घोषजी भी आज इन्हें प्रामाणिक मानने का साहस कर रहे हैं।

प्राय: सभी पाश्चात्य विद्वान् इस विषय में सचेष्ट रहते हैं कि भारतीय इतिहास किसी प्रकार अधिक प्राचीन सिद्ध न हो जाय। जब कभी ऐसा कोई प्राचीन लेख अथवा ग्रन्थ उपलब्ध हो जाता है जो उनकी अप्रामाणिक स्थापनाओं को समूल नष्ट करता हो तो उनमें खलबली पैदा हो जाती है और वे तत्काल उसे कल्पित और जाली सिद्ध करने के लिए तत्पर हो जाते हैं अथवा उससे प्रकट होनेवाले तथ्य को ऐसे तोड़-मरोड़ कर लिखते हैं, जिससे संसार में सच्चाई प्रकट ही न हो[1]।

---

१. बोघाज कोई (प्तेरिया—पितर देश) स्थान से संवत् १९६४ में ह्यूगोविलङ्कर को कीलाक्षरों में लिखी कुछ मुद्राएं प्राप्त हुई थीं। इनका काल पाश्चात्य विद्वानों द्वारा १४०० ईसा-पूर्व माना गया है। इनमें मितन्नीराज मत्तिवज की हित्तितिराज सुब्बी लुल्युम से की गई सन्धि का उल्लेख है। इनमें **इन्द्र, मित्र वरुण और नासत्य** देवों का वर्णन है, अन्य मुद्राओं पर एकवर्तन्न और तेरवर्तन्न, पञ्जवर्तन्न तथा शहोतवर्तन्न रथों का वर्णन है। ये देव और रथ निश्चय ही वैदिक हैं। ऋग्वेद में इन्द्र के शतचक्र, नासत्य के त्रिचक्र तथा एकचक्र आदि रथों का स्पष्ट वर्णन है। इन मुद्राओं के प्राप्त होने पर योरोपीय विद्वानों की मान्यता को भारी धक्का पहुंचा, क्योंकि उन्होंने वेद की रचना १००० से १५०० ई० पू० मात्र में स्वीकार की थी

घोषजी कौटिल्य अर्थशास्त्र और भास के नाटकों को इसलिए प्रामाणिक मानने को तैयार हो गये कि उनके उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हो गये हैं। घोषजी की युक्ति उनके ही विपरीत पड़ती है। यदि अर्थशास्त्र और भास के नाटकों के कतिपय उद्धरणों के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाने से वे प्रामाणिक माने जा सकते हैं, तो दयानन्द-प्रकाशित शिक्षासूत्र जिसके आधे से अधिक सूत्र महाभाष्य, काशिका, न्यास और पदमञ्जरी आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत हैं, प्रमाण क्यों नहीं ? यदि यह कहा जाय कि इन ग्रन्थों में ये सूत्र पाणिनि के नाम से कहीं उद्धृत नहीं, तो इसका भी उत्तर हम पहले लिख चुके हैं कि तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के त्रिरत्न-भाष्य के कर्त्ता सोमयार्य इस पाणिनीय शिक्षा के छठे प्रकरण के 'सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति' इस सूत्र को पाणिनि के नाम से ही उद्धृत करते हैं।[1]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि घोषजी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती-प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए जो युक्तियां उपस्थित की हैं, वे न केवल सारहीन ही हैं, अपितु उनके पक्ष का व्याघात भी करती हैं।

इसके आगे घोषजी यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि स्वामी दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्र स्वामी दयानन्द का ही रचा है। वे लिखते हैं—

१४०० ई० पू० वैदिक देव और रथ भारत से इतनी दूर कैसे पहुंच सकते थे ! अतः, उन्होंने झट नया मार्ग निकाला कि आर्य इस देश में ठहरकर भारत की ओर अग्रसर हुए थे और इसी काल में आर्यों को इन देवों का ज्ञान हो गया था। (देखें 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', पृष्ठ २५०-२५२, संस्क० १)।

इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वान् कहा करते थे कि भारतीय आर्यों की सभ्यता के अतिरिक्त प्राचीन अवशेष उपलब्ध नहीं होते। इसलिए, भारत में आर्यों का आगमन १५०० ई० पू० से अधिक प्राचीन नहीं है। जब मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से पाश्चात्यमतानुसार ही ५००० सहस्र वर्ष प्राचीन उन्नत सभ्यता के चिह्न उपलब्ध हुए तो पाश्चात्य विद्वानों ने इस सभ्यता को अनार्यों की सिद्ध करने के लिए प्रयत्न किया, परन्तु **आर्यों के बाहर से भारत में आने और यहां के अनार्यों पर विजय पाने का उल्लेख किसी भी संस्कृत-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता**। यदि वस्तुतः आर्यों ने यह महान् विजय प्राप्त की होती, तो वे उसका साभिमान उल्लेख अपने ग्रन्थों में अवश्य करते। इसके विपरीत प्राचीन-संस्कृत-वाङ्मय आर्यों को यहीं का आदिवासी मानता है। इन दृष्टान्तों से पाश्चात्य विद्वानों की मनोवृत्ति का परिचय स्पष्ट लक्षित होता है।

१. देखें मैसूर-संस्करण, पृ० ४५०।

"जिस सामग्री को डा० रघुवीर ने बड़ी योग्यता से अपने लेख में संगृहीत किया है उससे यह जाना जा सकता है कि दयानन्द-शिक्षा-सूत्र कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। आर्यसमाज के प्रकाशक, वैदिक यन्त्रालय (अजमेर) के साम्प्रतिक सूचीपत्र को देखने से पता चलता है कि दयानन्द-शिक्षा-सूत्र वेदाङ्ग-प्रकाश के १४ भागों में पहला है, जिन्हें स्वामी दयानन्द ने वैदिक विद्यार्थियों के लिए संगृहीत किया है। संभवतः, ध्यान न रहने से डा० रघुवीर ने इसका उल्लेख अपने लेख में नहीं किया। ये वेदाङ्ग-प्रकाश के भाग पृथक्-पृथक् भी छपे हैं। इनमें प्रथम भाग पर 'पाणिनि-कृत वर्णोच्चारण-शिक्षा' लिखा है। जैसा कि डा० रघुवीर ने बताया है, यह सूत्र-ग्रन्थ चन्द्रगोमी के वर्णसूत्रों से मिलता है, जो ५०० ईसवी का बौद्ध वैयाकरण था।"

यद्यपि घोषजी का यह लेख उत्तर लेख की भूमिका है, इसलिए इस पर विशेष लिखना आवश्यक नहीं, तथापि इस लेख में घोषजी ने जो भूल की है, उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना समीचीन होगा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कृत के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए 'वेदाङ्ग-प्रकाश' नामक एक ग्रन्थमाला प्रकाशित की थी, जिसमें वे विविध वेदाङ्गों के ग्रन्थों की हिन्दी में व्याख्या का अथवा छात्रोपयोगी मूल ग्रन्थों का प्रकाशन करना चाहते थे। अपने परलोक-गमन तक वे इस ग्रन्थ-माला के १४ भाग ही प्रकाशित कर पाये। इन भागों में वर्णोच्चारण-शिक्षा पाणिनि मुनि-प्रोक्त शिक्षा-ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में व्याख्यात्मक भाग है। धातुपाठ पाणिनि के मूलग्रन्थ का निघण्टु यास्क-विरचित[1] (अथवा अन्य विरचित) मूल ग्रन्थ का वर्णानुक्रम-सूची-युक्त छात्रोपयोगी संस्करण है। क्या वेदाङ्गप्रकाश के १४ भागों में मुद्रित होने से पाणिनीय मूल धातुपाठ और यास्कीय निघण्टु भी स्वामी दयानन्द-संगृहीत हो जायेंगे? इसी प्रकार उणादिकोश जिसमें प्राचीन पञ्चपादी सूत्रों की व्याख्या है, वे मूल उणादि स्वामी दयानन्द-संगृहीत माने जायेंगे? यदि नहीं, तो वर्णोच्चारण नामक भाग में पाणिनि मुनि-कृत प्राचीन शिक्षा-सूत्रों की व्याख्या होने से शिक्षा-सूत्र दयानन्द-संगृहीत कैसे हो गये?

इसी लेख में घोषजी ने चन्द्रगोमी को ५०० ईसवी का माना है, यह भी सर्वथा मिथ्या है। चन्द्रगोमी को उद्धृत करनेवाले महाभाष्य के व्याख्याता और वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि ही ५०० ईसवी से बहुत पूर्व के हैं[2], इसलिए चन्द्रगोमी तो

---

१. भगवद्दत्तजी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (वेदों के भाष्यकार) पृष्ठ १९२—१९४।

२. इसी प्रकरण में हमने 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास', पृ० २६१ (प्रथम

निश्चय ही उनसे पर्याप्त प्राचीन हैं।[1]

इतनी भूमिका के अनन्तर घोषजी जो कहना चाहते हैं, उसे उनके ही शब्दों में पढ़िए—

This sutra work, as has been shown by Dr. Raghuvira (loc. cit.) resembles the Varna-sutra of Candragomin, the Buddist grammarian, who flourished in about 500 A. D. Considering the great influence which Candragomin exercised on the grammarians of Panini's school (the Kasika and the Vakyapadiya showing traces of such influence) it is quite possible that some late grammarian re-edited and amplified the Varna-sutras of Candragomin and fathered this upon Panini, evidently for imparting to it a superior authority. Though there is no sufficient material to prove this, we are inclined to suggest that this late grammarian was Svami Dayananda himself, who among other things was a very close student of Sanskrit Grammars as his Vedangaprakasa and the edition of Panini's Astadhyayi show. But whatever may be the actual fact about the authorship of the DPS., it is sure that the work is neither from the hands of Panini nor an old one. (Introduction, 48)

अर्थात्, "चन्द्रगोमी के पाणिनि-सम्प्रदाय पर भारी प्रभाव को देखते हुए (काशिका तथा वाक्यपदीय इस प्रभाव के संकेत रखते हैं) यह सम्भव है कि किसी परवर्त्ती वैयाकरण ने उन्हें श्रेष्ठ प्रमाण देने के लिए उन्हें पुनः सम्पादित तथा परिवर्द्धित किया और उन्हें पाणिनि के मत्थे मढ़ दिया, यद्यपि यह प्रमाणित करने

सं०) पर लिखा है कि 'अष्टाङ्ग-संग्रहकार वाग्भट्ट चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालिक है, उससे उत्तरवर्त्ती नहीं। पं० श्री गुरुपद हालदार ने वृद्धत्रयी के पृ० २८३, २९१ पर लिखा है कि 'युधिष्ठिर मीमांसक ने चन्द्रगुप्त द्वितीय को वाग्भट्ट-वर्णित शकनृपति माना है' यह ठीक नहीं। सम्भव है, श्री हालदार जी, हिन्दी भाषा का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण, मेरे लेख का ठीक अभिप्राय न समझ सके हों।

१. देखें मेरा 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास'—भर्तृहरि के लिए पृ० ५८-२६४ चन्द्रगोमी के लिए पृ० २४३-२४५। [यह प्रथम संस्करण की पृष्ठ-संख्या है]।

के लिए पूरे प्रमाण नहीं हैं, फिर भी हमें लगता है कि **स्वामी दयानन्द ही स्वयं वह परवर्त्ती वैयाकरण थे**, जो अन्य बातों के साथ संस्कृत-व्याकरण के बड़े सूक्ष्म अध्येता थे, जैसा कि उनके वेदाङ्ग-प्रकाश तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी के संस्करण से स्पष्ट है। दयानन्द-शिक्षा-सूत्र के बारे में वस्तुस्थिति कुछ भी हो, यह निश्चित है कि यह ग्रन्थ पाणिनि या किसी प्राचीन व्यक्ति का नहीं है।"

इतनी लम्बी-चौड़ी भूमिका बांधने के बाद घोषजी ने अपने मन के भाव को कुछ स्पष्ट करने का यत्न किया। इस लेख में घोषजी ने तीन स्थापनाएं की हैं—

१. दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्र चन्द्रगोमी के वर्णसूत्रों का ही पुनः सम्पादित तथा परिवर्धित रूप है।

२. इस रूप को देनेवाले स्वयं स्वामी दयानन्द थे।

३. इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ पाणिनि अथवा किसी प्राचीन व्यक्ति का बनाया नहीं है।

अब हम घोषजी की इन तीनों स्थापनाओं की क्रमशः आलोचना करते हैं—

घोषजी ने पहले लिखा है कि द० शि० सूत्र के लेखक ने अपनी सामग्री अनेक स्रोतों से ली है और यहां इनका मुख्य आधार चान्द्र वर्णसूत्रों को लिखा है। यह वदतोव्याघात दोष है। हम पहले भी लिख चुके हैं कि यदि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन शिक्षा-सूत्रों का संकलन महाभाष्य, काशिका, न्यास तथा पदमञ्जरी आदि ग्रन्थों के आधार पर किया होता तो यह ग्रन्थ आज जिस रूप में स्थान-स्थान पर त्रुटित और अन्त में खण्डित उपलब्ध होता है, वैसा न होता। हम यहां कुछ विस्तार से तुलना करके उक्त कथन को पुष्ट करते हैं—

	द० पाणिनीय शिक्षा	अन्यत्र उद्धृत शिक्षा-सूत्र
(क)	विवृतकरणाः स्वराः। संवृतस्त्वकारः।	विवृतकरणाः स्वराः। तेभ्य ए ओ विवृततरौ। ताभ्यामपि ऐ औ। ताभ्यामप्याकारः। संवृतस्त्वकारः। (न्यास, भाग १, पृष्ठ ८; पदमञ्जरी, भाग १, पृ० १८)
(ख)	वर्गाणां तृतीय···घोषवन्तः। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः।	वर्गाणां तृतीय···घोषवन्तः। वर्ग्यमानां तृतीया अन्तःस्थाश्चाल्पप्राणाः, इतरे सर्वे महाप्राणाः। यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः। (न्यास,

भाग १, पृ० ७५; महाभाष्य १।१।१० में अंशतः)

(ग) नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरित··· ···प्रयत्नेन विधीयते ।

नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः····· प्रयत्नेन विधार्यते । सविधार्यमाणः स्थानममिहन्ति । ततः स्थानाभिघातात् ध्वनिरुत्पद्यते। सवर्णश्रुतिः। सवर्णस्यात्मलाभः। तत्र ध्वनावुत्पद्यमाने·····। (इसके आगे न्यास, भाग १, पृष्ठ ५६, ५७ पर २१ सूत्र और उद्धृत हैं)।

इस तुलना से स्पष्ट है कि प्रथम स्थान में तीन सूत्र और द्वितीय स्थान में एक सूत्र खण्डित है। तृतीय स्थल में 'प्रयत्नेन विधीयते (विधार्यते)' से आगे न केवल प्रकृत सूत्र ही खण्डित है, अपितु उसके आगे लगभग २५ सूत्रात्मक ग्रन्थ त्रुटित हैं।

इस तुलना से यह भी स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस ग्रन्थ को न तो इधर-उधर के ग्रन्थों से संकलित ही किया और न उसने मूल उपलब्ध हस्तलेख के त्रुटित अंश को ही पूरा करने का प्रयत्न किया। उन्हें जैसा हस्तलेख प्राप्त हुआ उसे उसी रूप में हिन्दी-व्याख्या-सहित प्रकाशित कर दिया। यदि स्वामी दयानन्द इस ग्रन्थ के सूत्रों को इधर-उधर से संकलित करते अथवा अपने त्रुटित हस्तलेख की ही न्यासादि ग्रन्थों में उद्धृत सूत्रों से पूर्त्ति करते तो यह ग्रन्थ इतना त्रुटित न रहता, विशेषकर इसका अष्टम प्रकरण।

यदि कहा जाय कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चान्द्र वर्ण-सूत्रों का ही पुनः सम्पादन और परिवर्धन किया, तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि—

(क) चान्द्र वर्ण-सूत्र पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के समान आठ प्रकरणों में विभक्त नहीं हैं। उनमें केवल वे ही पांच प्रकरण हैं जिनका चान्द्र व्याकरण से साक्षात् सम्बन्ध है। पञ्चम, सप्तम और अष्टम प्रकरण उसमें नहीं हैं। आपिशल और पाणिनीय शिक्षा स्वतन्त्र विद्या-ग्रन्थ हैं, इसलिए इनमें वर्णोच्चारण-शिक्षा-सम्बन्धी उन नियमों का भी वर्णन है, जिनका उनके व्याकरण से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

(ख) दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा में अनेक ऐसे सूत्र हैं जो अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते और न उनके मतों का ही कहीं संकेत है।

(ग) दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्र का जो चार सूत्रात्मक (द० संस्करण में

एक ही सूत्र माना है) पञ्चम प्रकरण है, उसका एक भी सूत्र अभी तक किसी ग्रन्थ में उद्धृत नहीं मिला।

(घ) चान्द्र वर्ण-सूत्र के अन्तिम प्रकरण में **'एकमात्रिको ह्रस्वः, द्विमात्रिको दीर्घः, त्रिमात्रिको प्लुतः उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः, स्वस्थानानुनासिका निरनुनासिकाश्च'** सूत्र पढ़े हैं। यदि स्वामी दयानन्द ने चान्द्र वर्ण-सूत्रों का ही सम्पादन तथा परिवर्धन किया होता, तो जैसे अन्य परिवर्तन-परिवर्धन यथाप्रकरण किये (घोषजी के मतानुसार) उसी प्रकार इन सूत्रों का अथवा इनके समानार्थक वचनों का निवेश भी इसी प्रकरण में किया जाता। परन्तु स्वामी दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा में प्रथम तीन सूत्रों के स्थान में अष्टाध्यायी के **'ह्रस्वं लघु संयोगे गुरु दीर्घं च'** सूत्र और अगले तीन सूत्रों पर अष्टाध्यायी के पते लिखे हैं और इन सूत्रों को स्थान-प्रकरण से पूर्व स्वयमुद्धृत वचनों के अन्तर्गत पढ़ा है, न कि पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के अन्तर्गत।[1] चान्द्र का अन्तिम सूत्र दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों में मिलता ही नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्र चान्द्र वर्ण-सूत्रों का परिवर्धित संस्करण नहीं है।

इसका उत्तर भी प्रथम स्थापना की समीक्षा के अन्तर्गत ही आ गया, अर्थात् यदि इन शिक्षा-सूत्रों का सकलन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया होता तो यह ग्रन्थ जिस त्रुटित अवस्था में उपलब्ध होता है, वैसा न होता।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय शिक्षा के हस्तलेखस्थ सूत्रों की व्याख्या करते हुए शिक्षा-शास्त्र से सामान्य सम्बन्ध रखनेवाले अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि के अनेक वचनों की भी व्याख्या की है। ऐसे वचन प्रथम स्थान-प्रकरण से पूर्व भूमिकात्मक पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के साथ उपलब्ध होते हैं। स्वामी दयानन्द द्वारा उद्धृत वचनों और पाणिनि के मूल शिक्षा-सूत्रों में किसी को भ्रम न हो, इसके लिए स्वामी दयानन्द ने स्वप्रकाशित ग्रन्थ में दो संकेत किये थे—

(क) सम्पूर्ण व्याख्यात संस्कृत-वचनों (उद्धृत तथा मूलसूत्र) के आरम्भ में (बाईं ओर) एक क्रमिक संख्या देकर अन्त में भी प्रति-प्रकरण एक क्रमिक संख्या दी है। यह अन्त की क्रमिक संख्या केवल पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों पर ही दी गई है, अन्य ग्रन्थों से उद्धृत वचनों पर नहीं दी गई। यथा—

---

१. दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा में कौन-से वचन स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा अन्य ग्रन्थों से उद्धृत अथवा संकलित हैं और कौन-से वचन पाणिनीय शिक्षा के हैं, इसकी विवेचना अनुपद की जायेगी।—ले०

१—अक्षरं नक्षरं·····॥
२—वर्णज्ञान·····॥
३—आकाशवायु·····॥१॥
४—आत्मा बुद्ध्या·····॥
५—तमअर·····॥२॥
६—श्रोत्रोपलब्धि·····॥
७—त्रिषष्टिः ॥३॥
८—अन्तोऽन्ये व्यञ्जन·····॥
२१—स्थानमिदं·····॥४॥
२२—अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः ॥५॥

इनमें आदि की क्रम-संख्या ३, ५, ७, २१, २२ के पाठ के अन्त में जो १, २, ३, ४, ५ क्रमिक संख्या है, वह पाणिनीय शिक्षा-सूत्र के क्रम का बोध कराने के लिए है। प्रारम्भ की क्रमिक संख्या सभी व्याख्यात संस्कृत-पाठों पर है, चाहे वे उद्धृत वचन हों, चाहे मूल शिक्षा-सूत्र।

(ख) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा के मूल सूत्रों को बड़े (मोटे) टाइप में छपवाया था और ग्रन्थों से संगृहीत वचनों को मध्यम टाइप में तथा अपनी हिन्दी व्याख्या को बारीक टाइप में।[1]

इस बात का संकेत स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वर्णोच्चारण-शिक्षा की भूमिका में स्वयं किया है—

'इस ग्रन्थ में जो-जो बड़े अक्षरों में पाठ है, वह-वह पाणिनि मुनि-कृत (शिक्षा का) और मध्यम अक्षरों में अष्टाध्यायी और महाभाष्य का पाठ और जो-जो छोटे अक्षरों में छपा है वह मेरा बनाया हुआ है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए।'[2]

पाणिनीय शिक्षा के मूल सूत्रों तथा अन्य ग्रन्थों से संगृहीत वचनों का भेद दिखाने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो टाइप-भेद की व्यवस्था की थी वह मुद्रकों के अज्ञानवश उत्तर संस्करणों में स्थिर न रह सकी। अगले संस्करणों में मूल शिक्षा-सूत्र तथा अन्यतः संगृहीत वचन एक ही टाइप में छापे गये। इससे साधारण व्यक्तियों को भ्रम होना स्वाभाविक है। उत्तर संस्करणों के मुद्रक और प्रकाशक इतने असावधान रहे कि कतिपय संस्करणों में स्वामी दयानन्द की लिखी भूमिका भी उड़ गई। यथा सं० १७७० का दशम संस्करण। अतः स्वामी दयानन्द के द्वारा निर्धारित टाइप भेद को मिटाने और भूमिका को उड़ाने से होनेवाले भ्रम के दोषी परोपकारिणी सभा के कार्यकर्त्ता हैं, स्वामी दयानन्द सरस्वती नहीं। उन्होंने अपनी स्थिति सर्वथा स्पष्ट रखी थी।

---

१. द्र०—वर्णोच्चारण-शिक्षा का सं० १९३६ का प्रथम संस्करण।

२. भूमिका के अन्त में।

इसका उत्तर हम विस्तारपूर्वक पहले लिख चुके हैं और सप्रमाण बता चुके हैं कि न केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती से कई शती पूर्व के ग्रन्थकार इस सूत्रात्मक शिक्षा से परिचित थे, अपितु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के व्याख्याता सोमयार्य ने तो पाणिनि के नाम से इसका सूत्र भी उद्धृत किया है।

अतः, यह निश्चित है कि सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा संकलित नहीं है। दयानन्द से सैकड़ों वर्ष पूर्वभावी आचार्य इस शिक्षा से परिचित थे। इस लिए यह सूत्रात्मक शिक्षा न केवल दयानन्द से प्राचीन है, अपितु पाणिनीय भी है।

इस सारी विवेचना से स्पष्ट है कि प्रो० मनोमोहन घोषजी ने स्वामी दयानन्द सरस्वती पर इस सूत्रात्मक शिक्षा को संकलित करके पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध करने का **जो गम्भीर आरोप लगाया है, वह सर्वथा निराधार है।**

अब हम घोषजी के पाणिनीय शिक्षा के सम्पादन-कार्य के सम्बन्ध में दो-चार बातें कह कर इस लेख को समाप्त करते हैं।

छोटी-सी श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा तथा उसकी दो व्याख्याओं के सम्पादन में घोषजी की कितनी ही अक्षम्य न्यूनताएं हैं। उदाहरण के लिये, कतिपय न्यूनताएं नीचे निर्दिष्ट हैं—

(१) पाणिनीय शिक्षा की पञ्जिका-व्याख्या में प्राचीन-शिक्षा के दो वचन उदधृत हैं—

लृकारस्य दीर्घादयो न सन्ति इति स्मरणात्। (पृष्ठ ६, १२)

सन्ध्यक्षराणामपि ह्रस्वा न सन्ति इति स्मरणात्। (पृष्ठ ६)

इनमें से प्रथम वचन प्रकाश-व्याख्या में इस प्रकार उद्धृत है—

लृवर्णो न दीर्घ इति स्मरणात्। (पृष्ठ २५)

इन वचनों के साथ **'इति स्मरणात्'** पदों का निर्देश होने से स्पष्ट है कि व्याख्याकार ने इन्हें किसी ग्रन्थविशेष से उद्धृत किया है।

ये दोनों वचन सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा तथा आपिशल शिक्षा के षष्ठ प्रकरण में स्वल्प भेद से उपलब्ध होते हैं। घोषजी ने इन वचनों के आकर-स्थान का कुछ भी निर्देश नहीं किया। घोषजी को चाहिए था कि इन सूत्रों के आगे पाणिनीय शिक्षा का न सही (उनके मत में कल्पित होने से), आपिशल शिक्षा का तो तुलनार्थ संकेत करते, क्योंकि आपिशल शिक्षा उनके ग्रन्थ के प्रकाशित होने से कई वर्ष पूर्व मुद्रित हो चुकी थी। प्रतीत होता है, पाणिनीय शिक्षा का सम्पादन करते

समय घोषजी को शिक्षा-शास्त्र से सम्बद्ध मुद्रित ग्रन्थों का ही पूरा परिचय नहीं था, अमुद्रित ग्रन्थों के अनुशीलन की तो उनसे आशा करना ही व्यर्थ है। इसीलिए, उक्त वचनों के आगे उन्होंने तुलनारूप में भी आपिशल शिक्षा-सूत्रों का निर्देश नहीं किया।

(२) घोषजी द्वारा सम्पादित शिक्षा की दोनों व्याख्याओं में **औदव्रजि** के नाम से कई शिक्षा-वचन उद्धृत हैं। ये वचन ऋक्तन्त्र-व्याकरणान्तर्गत शिक्षा-प्रकरण के हैं। घोषजी ने न तो इन सूत्रों के आकर-स्थान का निर्देश किया और न इन्हें अनुपलब्ध मूल ही लिखा।

(३) शिक्षा की पञ्जिका-व्याख्या में भाष्यकार के नाम से एक वचन उद्धृत है—

तथा च भाष्यकारः—य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव तेषामर्था इति। (पृष्ठ ८)

यही वचन प्रकाश-व्याख्या (पृष्ठ २४) में महाभाष्य के नाम से उद्धृत है।

घोषजी से यह आशा करना कि वे इस वचन के मूल स्थान शाबर भाष्य (१।३) का निर्देश करते, अनुचित है, क्योंकि उन्हें इस शास्त्र का बोध ही नहीं है। हां, यदि वे परिश्रम करते तो इतना तो अवश्य लिख सकते थे कि यह वचन पातञ्जल महाभाष्य में कहीं उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य की पदसूची तो उनके ग्रन्थ-प्रकाशन से बहुत वर्ष पूर्व छप चुकी थी।

(४) इसी प्रकार प्रकाश-व्याख्या के प्रारम्भ (पृष्ठ २४) में '**बृहद्देवतायां शौनकः**' लिखकर निम्नमुद्रित वचन उद्धृत है—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगार्थमेव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥

यह श्लोक शौनकीय बृहद्देवता की मुद्रित शाखा[1] में उपलब्ध नहीं होता। घोषजी को चाहिए था कि वह फुटनोट में इस बात की सूचना देते, परन्तु उन्होंने इस पर कुछ नहीं लिखा।

(५) पाणिनीय शिक्षा की दोनों व्याख्याओं में '**शीर्ष्ण्यं**' पद की सिद्धि के लिए '**शीर्षश्छन्दसि**' (अष्टा० ६।१।६०) सूत्र से 'शीर्षन्' भाव का विधान किया है (पञ्जिका, पृष्ठ १३; प्रकाश, पृष्ठ २६)। यह सर्वथा अशुद्ध है। यहां '**ये च तद्धिते**' (अष्टा० ६।१।६१) सूत्र से शीर्षन् आदेश का विधान करना चाहिए। घोषजी ने दोनों व्याख्याकारों की इस भयङ्कर भूल की ओर कुछ भी निर्देश नहीं किया।

(६) घोषजी ने ग्रन्थ के अन्त में चान्द्र वर्ण-सूत्र भी छापे हैं। उनका पाठ अत्यन्त अष्ट है। आश्चर्य की बात तो यह है कि घोषजी के ग्रन्थ से २० वर्ष पूर्व सन् १९१८ में डा० ब्रूनो लिविच ने चान्द्र व्याकरण के अन्त में चान्द्र वर्ण-सूत्र प्रकाशित किये थे। उनका पाठ अत्यन्त शुद्ध है। शुद्ध पाठ के २० वर्ष पूर्व प्रकाशित हो जाने पर भी घोषजी का अशुद्ध पाठ मुद्रण करना बताता है कि उन्हें डा० ब्रूनो के द्वारा प्रकाशित चान्द्र वर्ण-सूत्र का ज्ञान ही नहीं था। किसी ग्रन्थ का सम्पादन करते हुए उसके २० वर्ष पूर्व प्रकाशित संस्करण से परिचित न होना सम्पादक का अक्षम्य प्रमाद है। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि सम्पादक ने इस ग्रन्थ के सम्पादन में कुछ भी श्रम नहीं किया है।

आशा है, घोषजी पाणिनीय शिक्षा के द्वितीय संस्करण में पूर्व-लिखित सभी भूलों का परिमार्जन करेंगे और स्वामी दयानन्द-प्रकाशित शिक्षा-सूत्रों के विषय में उन्होंने जो भ्रम उत्पन्न किया है उसका स्वयं निराकरण करेंगे।

★

सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा के दो पाठ

[यह लेख हमारे द्वारा प्रकाशित **शिक्षा-सूत्राणि** की भूमिका का पाणिनीय शिक्षा से सम्बद्ध भाग है। इसे यहां इसलिये छापा जा रहा है कि पूर्व प्रकाशित 'मूल-पाणिनीय शिक्षा' लेख इसके बिना अधूरा रहता। यु० मी०]

पाणिनीय शिक्षा के सम्प्रति दो प्रकार के पाठ मिलते हैं—एक सूत्रात्मक और दूसरा श्लोकात्मक। सूत्रात्मक और श्लोकात्मक पाठ के भी लघु और वृद्ध दो प्रकार के पाठ हैं।

आधुनिक पाणिनीय वैयाकरणों में पाणिनीय शिक्षा का श्लोकात्मक पाठ ही प्रसिद्ध है और वैदिक भी वेदाङ्ग अन्तर्गत श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का ही पाठ करते हैं। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के लघुपाठ में ३५ श्लोक और वृद्धपाठ में ६० श्लोक हैं। लघुपाठ याजुष पाठ कहाता है और वृद्धपाठ ऋक्पाठ।

सूत्रात्मक शिक्षा के भी लघु और वृद्ध दो पाठ हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९३६ के मध्य में प्रयाग से पाणिनीय शिक्षासूत्रों का जो हस्तलेख प्राप्त किया था वह पाठ लघुपाठ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त शिक्षासूत्र का हस्तलेख अन्त में त्रुटित था। अतः उसमें अष्टम प्रकरण का प्रथम सूत्र भी अपूर्ण ही है। मध्य में भी कहीं-कहीं पर लेखक प्रमाद से कुछ सूत्र छूटे हुए प्रतीत होते हैं। पाणिनीय शिक्षासूत्रों का जो पूर्ण पाठ हम छाप रहे हैं वह वृद्धपाठ है। यह बात दोनों पाठों की तुलना से स्पष्ट हो जाती है।

मूलपाठ—पाणिनीय शिक्षा के श्लोकात्मक और सूत्रात्मक जो दो प्रकार के पाठ मिलते हैं; उनमें पाणिनि-प्रोक्त मूलपाठ कौन-सा है, इसका अति संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा का प्रथम श्लोक है—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।

इस वचन से स्पष्ट है कि श्लोकात्मिका शिक्षा मूलतः पाणिनि-प्रोक्त नहीं है। वह तो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पाणिनीय मत के अनुसार बनाई गई है। श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के प्रकाशनाम्नी टीका के रचयिता के मत में इसका प्रवक्ता

पाणिनि का अनुज आचार्य पिङ्गल है।[1] इस प्रकार ग्रन्थ की अन्तःसाक्ष्य और टीकाकार के साक्ष्य से सर्वथा स्पष्ट है कि श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा चाहे उसका लघु याजुष पाठ हो, चाहे वृद्ध आर्च पाठ, दोनों ही मूलतः पाणिनि प्रोक्त नहीं हैं। श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा का पाणिनि प्रोक्त मूल ग्रन्थ इनसे भिन्न है। हमारा मत है कि पाणिनीय श्लोकात्मिका शिक्षा का मूल पाणिनीय सूत्रात्मिका शिक्षा है।[2]

श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के पठन-पाठन में अधिक प्रयुक्त होने के कारण सूत्रात्मक पाठ लुप्त हो गया, हस्तलेख भी अप्राप्य हो गए। श्लोकात्मिका शिक्षा मूलतः पाणिनि प्रोक्त नहीं है, इस तथ्य की ओर सबसे पूर्व इस युग में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का ध्यान गया। उन्होंने मूलभूत पाणिनीय शिक्षा की प्राप्ति के लिए महान् प्रयत्न किया। अन्ततः वि० सं० १९३६ के मध्य में प्रयाग के एक ब्राह्मण के गृह से पाणिनीय शिक्षासूत्र का एक हस्तलेख मिला। यद्यपि वह हस्तलेख भी अधूरा था, अन्त के एक या दो पत्र नष्ट हो चुके थे, पुनरपि स्वामी दयानन्द की यह उपलब्धि शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण थी। उन्होंने उपलब्ध शिक्षा-सूत्रों को आर्यभाषा व्याख्या सहित सं० १९३६ के अन्त में वर्णोच्चारणशिक्षा के नाम से प्रकाशित किया।[3]

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त हुए शिक्षासूत्रों का दूसरा हस्तलेख चिरकाल तक विद्वानों को उपलब्ध नहीं हुआ। इस कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के पाणिनीयत्व में विद्वानों को शङ्का बनी ही रही। दैव योग से श्री डा० रघुवीरजी को अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय से आपिशल शिक्षासूत्रों के दो हस्तलेख उपलब्ध हो गए। उन्होंने उनके साथ स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों की तुलना करके स्वामी दयानन्द सरस्वती

---

१. ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो व्याकरणेऽनुजस्तत्र भवान् पिङ्गलाचार्यः, तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते—अथ शिक्षामिति।

२. आपिशल शिक्षा का भी एक श्लोकात्मक पाठ है। उसका आरम्भ का वचन है—अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि मतमापिशलेर्मुनेः।

इस श्लोकात्मिका शिक्षा के १९ श्लोक उपलब्ध हुए थे। इन्हें भी डा० रघुवीर जी ने आपिशल शिक्षा-सूत्रों के पश्चात् छापा था।

३. इस विषय में जो अधिक जानना चाहें वे हमारे 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में देखें।

द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के पाणिनीयत्व की स्थापना की। इस विषय में उन्होंने कुछ लेख लिखे।

इसके पश्चात् सन् १९३८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से मनोमोहन घोष एम० ए० सम्पादित 'पाणिनीय शिक्षा' नाम का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसकी बृहद्-भूमिका में मनोमोहन घोष ने सारा प्रयत्न इस बात की सिद्धि के लिए लगाया कि पाणिनीय शिक्षा का श्लोकात्मक पाठ ही पाणिनि द्वारा प्रोक्त है, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित सूत्रपाठ पाणिनीय नहीं है। इस प्रसङ्ग में आपने डा० रघुवीर के लेख की आलोचना के साथ-साथ सूत्रात्मक पाठ को दयानन्द द्वारा कल्पित पाठ सिद्ध करने की भरपूर चेष्टा की।

मनोमोहन घोष के उक्त भूमिकास्थ लेख की विस्तृत आलोचना हमने **मूल पाणिनीय शिक्षा** इस शीर्षक से पटना की 'साहित्य' नाम्नी पत्रिका के जनवरी सन् १९५७, वर्ष ७ अङ्क ४ में प्रकाशित की। उसमें मनोमोहन घोष के सभी हेत्वाभासों का सप्रमाण निराकरण किया है और श्लोकात्मिका शिक्षा को पाणिनीय मानने पर अष्टाध्यायी के साथ जो विरोध होते हैं उनका उल्लेख करके सूत्रात्मक पाठ का पाणिनीयत्व सिद्ध किया है। जो पाठक इस विषय में रुचि रखते हैं, वे हमारा उक्त लेख पढ़ें।[1]

आपिशल और पाणिनीय शिक्षा

पाणिनीय शिक्षा के सूत्र आपिशल शिक्षा के सूत्रों के साथ बहुत साम्य रखते हैं अतः आपिशल शिक्षासूत्रों की उपलब्धि पर यह विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय हैं अथवा आपिशल। दोनों के सूत्रपाठों की तुलना से इतना तो स्पष्ट है कि दोनों का पाठ प्रायः समान है, परन्तु जहां परस्पर में वैषम्य है वह प्रवक्तृभेद के कारण है अथवा पाठान्तरमूलक है। यद्यपि कुछ वैषम्य पाठान्तरमूलक कहे जा सकते हैं, पुनरपि कुछ पाठ ऐसे अवश्य हैं जो प्रवक्तृभेद के कारण ही हैं। यथा—

आपिशलपाठ	पाणिनीयपाठ
ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।	ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।
विवृतकरणाः स्वराः।	विवृतकरणा वा।
	विवृतकरणाः स्वराः।

---

१. यह लेख इस संग्रह में पूर्व (पृष्ठ १३-१४) छापा गया है।

पाणिनीय पाठ में ऊष्म वर्णों का पक्षान्तर में विवृतकरण प्रयत्न कहा है, वह आपिशल पाठ में नहीं हैं। पाणिनीय अष्टाध्यायी में एक सूत्र है **नाज्झलौ** (१।१।१०)। इस सूत्र द्वारा पूर्व **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** (१।१।९) सूत्र से प्राप्त अचों और हलों की (अ इ ऋ ऌ की क्रमशः ह श ष स के साथ) सवर्ण संज्ञा का निषेध किया है। उक्त हलों और अचों की सवर्ण संज्ञा तभी हो सकती है जब स्वरों के और ऊष्मों के आभ्यन्तर प्रयत्न समान हों। दोनों के आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता विवृतकरण का इस पाणिनीय सूत्र से ही सिद्ध है। आपिशल शिक्षा में उक्त सूत्र न होने से अज्झलों की सवर्ण संज्ञा ही प्राप्त नहीं होती।

इसके अतिरिक्त दोनों शिक्षा सूत्रों के निम्न पाठ भी द्रष्टव्य हैं—

आपिशलपाठ	पाणिनीयपाठ
अमडणनाः स्वस्थाना	**ङञणनमाः स्वस्थान-**
नासिकास्थानाः। (१।१९)	**नासिकास्थानाः** (१।२१)
स्पर्शयमवर्णकारो·····(५।१)	**स्पर्शवर्णकरो**·····।
अन्तस्थवर्णकारो ·· (५।२)	**अन्तस्थवर्णकरो**·····।
ऊष्मस्वरवर्णकारो·····(५।३)	**ऊष्मस्वरवर्णकरो**·····।

इनमें से प्रथम उद्धरण में '**अमडणनाः**' निर्देश उणादि **अमन्ताड्डः** (१।११४) सूत्र में प्रयुक्त अम् प्रत्याहार के अनुरूप **अमडणनम्** प्रत्याहारसूत्रानुसारी है। हमने अपने '**संस्कृत-व्याकरणशास्त्र के इतिहास**' में सप्रमाण दर्शाया है कि पञ्चपादी उणादि आपिशल प्रोक्त है और उसमें प्रयुक्त 'अम्' प्रत्याहार की दृष्टि से प्रत्याहार-सूत्र में निर्दिष्ट **अमडणन** क्रम आपिशलि द्वारा उपज्ञात है और यही क्रम उसके शिक्षा-सूत्र में भी है। पाणिनीय सूत्र में वर्गक्रम से पाठ है।

अगले उद्धरणों में **कार** और **कर** का भेद है।[1] पाणिनीय **कर** पाठ पाणिनि के **कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु** (३।२।२०) सूत्र के अनुसार है और **कार** पाठ में औत्सर्गिक **अण्** की कल्पना करनी पड़ती है।

इन भेदों के अतिरिक्त पाणिनीय शिक्षा में आपिशल शिक्षा की अपेक्षा निम्न सूत्र अधिक हैं—

कण्ठ्यान् आस्यमात्रान् इत्येके।१।७॥

---

१. पाणिनि के शिक्षासूत्र के वृद्धपाठ में 'कार' पाठ मिलता है।

दन्तमूलस्तु तवर्गः ।१।११।।

विवृतकरणा वा ।३।८।।

तीन सूत्रों का आधिक्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित लघुपाठ से दर्शाया है। हम पूर्व कह चुके हैं कि उक्त हस्तलेख में मध्य-मध्य में लेखकप्रमाद से कुछ सूत्र नष्ट हुए हैं। इनके अतिरिक्त सप्तम प्रकरण में चार सूत्र ऐसे हैं जो आपिशलीय शिक्षा में नहीं है (हमारे द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा के वृद्ध पाठ में भी नहीं हैं)। वृद्धपाठ में तो ऊपर उद्धृत तीन सूत्रों के अतिरिक्त ७-८ सूत्र और ऐसे हैं जो आपिशल शिक्षा में नहीं हैं।

इस संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय ही हैं।

अब हम एक ऐसा प्रमाण भी उपस्थित करते हैं जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि ये सूत्र प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा पाणिनि के नाम से स्मृत भी हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के 'त्रिरत्न-भाष्य' नामक व्याख्या का रचयिता सोमयार्य लिखता है—**सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति पाणिनीयेऽपि**। मैसूर संस्क० पृष्ठ ४५०।

इस प्रमाण की उपस्थिति में पाणिनीय शिक्षासूत्रों के सम्बन्ध में कोई विवाद उठ ही नहीं सकता। अब हम उसके वृद्धपाठ के विषय में लिखते हैं—

पाणिनीय शिक्षासूत्र का वृद्धपाठ—पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों का जो वृद्ध पाठ हमने 'शिक्षा-सूत्राणि' में प्रकाशित किया है, उसकी उपलब्धि की कथा भी विचित्र है। वह इस प्रकार है—

सन् १९३९ में 'दि इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट' कलकत्ता से आपिशली शिक्षा के नाम से एक शिक्षा प्रकाशित हुई। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर 'अध्यापक अमूल्यचरण विद्याभूषण कर्तृक सम्पादित और अनूदित' शब्द छपे हुए हैं। इसमें बंगला अनुवाद तो अवश्य है परन्तु सम्पादन के नाम पर किया जानेवाला कोई भी प्रयत्न इसमें नहीं है। हां, तीन स्थानों पर (?) इस प्रकार कोष्ठक में प्रश्नचिह्न अवश्य उपलब्ध होते हैं। अस्तु, हमारे लिए तो यह प्रयत्नाभाव भी वरदानरूप सिद्ध हुआ। उक्त ग्रन्थ को देखने से विदित होता है कि मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध हस्तलेख की अक्षरशः प्रतिलिपि मात्र है और वह लेखकप्रमाद से बहुत भ्रष्ट हो गया है, पाठ स्थान-स्थान पर खण्डित और आगे पीछे हो रहा है।

हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ सन् १९५३ में आया। इस पर 'आपिशली शिक्षा' नाम छपा होने से चिरकाल तक हमने इस पर ध्यान नहीं दिया। एक दिन विचार उत्पन्न हुआ कि इसको आपिशल शिक्षासूत्र से मिलाया जाय। तब हमने सन्

१९४९ में स्वयं मुद्रापित आपिशल शिक्षासूत्रों से मिलान करना आरम्भ किया। उस तुलना में **ङञणनमा नासिकास्थानाः** पाठ ने हमारा ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट किया, क्योंकि यह वर्णानुक्रम पाणिनीय शिक्षासूत्र में है। आपिशल शिक्षा में **ञमङणनाः** पाठ है। इसके पश्चात् तृतीय प्रकरण के **विवृतकरणा वा** सूत्र ने यह बोध कराया कि सम्भव है यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा ही हो, आपिशल शिक्षा न हो। इस दृष्टि से सम्पूर्ण सूत्रों की तुलना स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के साथ की, तब यह निश्चय हो गया कि जहां-जहां भी अमूल्यचरण विद्याभूषण द्वारा प्रकाशित शिक्षा का पाठ **आपिशल शिक्षा से भिन्न है वहां वह सर्वत्र स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों से मिलता है**। इस तुलना से इतना निश्चय हो गया कि यह पाठ पाणिनीय शिक्षा का ही है, आपिशल शिक्षा का नहीं।

इस पर विचार उत्पन्न हुआ कि श्री अमूल्यचरण जी ने इस ग्रन्थ के ऊपर **आपिशली शिक्षा** शीर्षक किस आधार पर छापा। इसके लिए हमने उनकी भूमिका पढ़ी। उसमें उन्होंने इस हस्तलेख के सम्बन्ध में कहीं पर भी नहीं लिखा कि कोश के आदि वा अन्त में 'आपिशली शिक्षा' नाम का उल्लेख है। प्रतीत होता है अमूल्यचरण जी ने अष्टम प्रकरण के—

स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति ॥८॥

सूत्र में आपिशलि नाम देखकर ही ग्रन्थ के आद्यन्त में आपिशली शिक्षा का नाम जोड़ दिया।

अमूल्यचरण जी द्वारा प्रकाशित पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। केवल उसी के आधार पर उस ग्रन्थ का सम्पादन कठिन है। सम्भवतः इसी कारण अमूल्यचरण जी ने हस्तलेख के अनुरूप ही उसे यथातथरूप में छाप दिया। इससे यह भी प्रतीत होता है कि उन्हें डा० रघुवीर जी द्वारा प्रकाशित आपिशल शिक्षा और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षा का ज्ञान नहीं था, अन्यथा वे उनकी सहायता से ग्रन्थ का सम्पादन कर सकते थे।

हमने उक्त दोनों शिक्षा सूत्रों के आधार पर तथा विविध ग्रन्थों में उद्धृत सूत्रों के साहाय्य से इस अमूल्य निधि का सम्पादन किया है। जब इस ग्रन्थ के पाठ का सम्पादन कर लिया, तब इस पाठ और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाठ की तुलना से विदित हुआ कि हमारे द्वारा सम्पादित शिक्षा पाठ वृद्धपाठ है और स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित पाठ लघुपाठ है। अनेक प्राचीन ग्रन्थों के वृद्ध और लघु पाठ उपलब्ध होते हैं। पाणिनि के सूत्रपाठ धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ

सभी के लघु और वृद्धपाठ हैं।[1] इसी प्रकार उसकी सूत्रात्मिका शिक्षा के भी वृद्ध लघु पाठ हों तो आश्चर्य ही क्या है। प्राचीन परम्परा के अनुसार वृद्ध और लघु दोनों प्रकार के पाठ एक ही आचार्य द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रवचन[2] के कारण उत्पन्न हुए हैं।

अब हम पाणिनीय शिक्षा के दोनों पाठों की कुछ तुलना उपस्थित करते हैं—

लघुपाठ	वृद्धपाठ
[वर्णास्] त्रिषष्टिः	स्थानकरणप्रयत्नेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः ।४॥ चतुःषष्टिरित्येके ।५॥ [इति] संयुक्ता वर्णाः ।१।२४॥
आभ्यन्तरस्तावत्	स्वस्थान आभ्यन्तरस्तावत् ।३।४॥ तेभ्य ए ओ विवृततरौ ।३।९॥ ताभ्यामं औ ।३।१०॥ ताभ्यामाकारः ।।३।११॥ कादयो मावसानाः स्पर्शाः ।४।८॥ यादयोऽन्तस्थाः ।४।९॥
अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्य-भेदाच्च संख्यातोष्टादशात्मकः।	एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति—अष्टादशप्रभेदमवर्णकुलमिति। तत्कथमुक्तम्— ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च। आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः ।६।१२॥ उत्साहः प्रयत्नः ।७।६॥ स्पृष्टतादिर्वर्णगुणः ।७।७॥

इन उद्धरणों के विपरीत लघुपाठ में ऐसे पाठ भी हैं, जो वृद्धपाठ में लघुरूप में हैं अथवा नहीं हैं। यथा—

---

१. इन पाठों के विषय में हमारे 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के तत्तत् प्रकरण देखिए।

२. प्राचीन आचार्य शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा नहीं करते थे, अपितु पढ़ाया करते थे, अतः वे प्रोक्त कहाते थे।

लघुपाठ	वृद्धपाठ
द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणा- मारम्भके भवत इति ।	द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि ।

सप्तम प्रकरण के निम्न २-५ सूत्र वृद्धपाठ में नहीं हैं—

तत्रैते कौशिकीया: श्लोका:—
सर्वान्तेऽप्योगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टक: ।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ।।
⌒क⌒पयो: कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वत: ।
पलक्ष्नी चक्ष्नतुर्जंग्मिर्जंग्घ्नुरित्यत्र यद् वपु: ।।
नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमेऽयमा: । तेषामुकार: संस्थानवर्गीयलक्षक: ।।

लघुपाठ में यह सर्वत्र आवश्यक नहीं कि उस पाठ में वृद्धपाठ की अपेक्षा लघुत्व ही हो। समूहावलम्बन से लघुत्व और वृद्धत्व देखा जाता है। लघुपाठ के सप्तम प्रकरण के जो सूत्र उद्धृत किए हैं, उनमें यह भी सम्भावना हो सकती है कि लघुपाठ के किसी हस्तलेख में ये श्लोक किसी पाठक ने ग्रन्थान्तर से ग्रन्थ के प्रान्त (हाशिये) पर लिखे हों और उत्तरकाल के प्रतिलिपिकर्ता ने उन्हें छूटा हुआ पाठ मानकर मूल में सन्निविष्ट कर दिया हो।

यमानां स्वरूपम्, संख्याः, लेखन-प्रकारश्च

वैदिकेषु पलक्क्नी चक्रुनतुः जग्मिमः, जग्घ्नुः इत्यादिषु अनुनासिके पञ्चमे वर्णे परतः सवर्गीयादुत्तरस्य मध्यस्थस्य नासिक्यत्वेनोच्चारितस्य वर्णस्य यमत्वं प्रसिद्धम्। तथा चोक्तं कौशिकशिक्षायाम्—

पलक्क्नी चक्रुनतुर्जग्मिर्जग्घ्नुरित्यत्र यद् वपुः।
नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमे यमाः।
तेषामुकारः संस्थानवर्गीयत्वलक्षकः॥[1] इति।

औदव्रजिराचार्योऽप्याह—**अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः** इति (ऋक्तन्त्र-व्याकरण प्रपा० १)।

नारदीयशिक्षायां (२।२।८) यमलक्षणम्—

अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वोऽन्त्यश्च परतो यदि।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः॥ इति।

एवमेवान्यासु शिक्षासु यमस्वरूपत्वमुपलभ्यते। ऋक्प्रातिशाख्ये (६।२९)-ऽप्युक्तम्—

स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान् परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु॥ इति।

व्याख्यातं चोव्वटेन—**अननुनासिकाः स्पर्शाः स्वान् यमानापद्यन्तेऽनुनासिकेषु स्पर्शेषु परेषु** इति।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्ये (२१।१२)ऽपि—**स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान् नासिक्याः॥** इति।

शुक्लयजुःप्रातिशाख्येऽपि—**कुं खुं गुं घुं इति यमाः** (८।२४) इत्येवं यमा निर्दिष्टाः।

---

१. उद्धृतं वर्णोच्चारणशिक्षायाम् अजमेरमुद्रितायां सप्तमप्रकरणे। तत्र 'चक्रुनतुः जग्घ्नुः' इत्यपपाठौ। एवमेव 'त इमेऽयमाः' इत्येवम् 'अयमाः' छेदोऽपि वैदिकमतविरुद्धो ज्ञेयः।

यमसंज्ञका वर्णा अनुनासिका इत्यापिशलिः पाणिनिश्चापि स्वकीयलोकवेद-साधारण्योः शिक्षयोः प्रतिजानते। तथाहि—**अनुस्वारयमा नासिक्याः**[1] ॥ इति ॥

तत्र कति यमा इत्यत्र विवदन्ते व्याख्यातारः। चत्वारो यमा इत्येके संगिरन्ते, विंशतिर्यमा इत्यपरे। तथाहि—**चत्वारो यमाः कुँ खुँ गुँ घुँ** इति याज्ञवल्क्यशिक्षाय मुं (२१२, काशीमुद्रिते शिक्षासंग्रहे) उच्यते।

उव्वटस्तु शुक्लयजुःप्रातिशाख्यस्य **कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः** सूत्रस्य व्याख्याने सूत्रोक्तान् **कुँ खुँ गुँ घुँ** इत्येतानुपलक्षणं मन्यमानः **यमसंज्ञका वर्णा विंशतिसंख्याका भवन्ति** इत्येवं विंशतिसंख्याकान् यमान् आह।

याज्ञवल्क्यशिक्षायां चतुष्ट्वमुल्लिख्यापि यथोत्तरश्लोके तन्निदर्शनान्युक्तानि तथा विंशतिरेव यमास्तन्मतेऽपीति ज्ञायते। तथाहि तन्निदर्शकः श्लोकः—

रुक्मेति प्रथमो ज्ञेयः सक्त्थ्ना इत्यपरो भवेत्।
विद्द्मा ते तु तृतीयश्च जम्भे दद्ध्मश्चतुर्थकः ॥[2] इति।

अस्मिन् श्लोके स्पष्टमेव **सक्त्थ्ना** पदे चतुर्थवर्गस्य द्वितीयो वर्णस्थकारः, **विद्द्मा** पदे चतुर्थवर्गस्य तृतीयो वर्णः, **दद्ध्मः** पदे तस्यैव वर्गस्य चतुर्थो वर्णो यमत्वेनोदाहृतः। एतेन ज्ञायते यत् पूर्वत्रोक्ते **चत्वारो यमाः** पाठे चतुष्ट्वसंख्या प्रथमवर्गस्थानामेव चतुर्णां वर्णानां द्योतिका नास्ति, अपितु प्रतिवर्गं प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थवर्णानां सस्थानत्वेन पिण्डीकृत्योक्ताः। तेन वर्गभेदेन विंशतिः सन्तोऽपि यमाः सस्थानत्वेन पिण्डीकृत्य चतुर्धा एव।

अत एव याज्ञवल्क्यशिक्षाया व्याख्यात्राऽमरनाथशास्त्रिणाऽप्युक्तम्—**चत्वार इति। उकारः सादृश्यार्थः** इति।

अयमेवार्थः पूर्वोद्धृतकौशिकशिक्षासूत्रेषु **तेषामुकारः सस्थानवर्गीयलक्षकः** इत्येवं स्पष्टमुक्तः।

एतेन चत्वार एव यमा इति मतं प्रयुक्तं वेदितव्यम्।

अथेदानीं विचार्यते द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमवर्गस्थानां यमानां निर्देशः लिप्यां कथं कर्तव्य इति। कुतः संदेह इति चेत्? माध्यन्दिनसंहिताया आधुनिकेषु मुद्रितग्रन्थेषु क्वचिल्लखितग्रन्थेषु च **'पत्नी'** इत्येवमादिषु केषुचित् पदेषु **'पत्क्नी'** इत्येवं

---

१. आपिशलशिक्षा १।१४॥ पाणिनीयशिक्षा १।१६ ॥ द्र०—अस्मत्सम्पादितानि शिक्षासूत्राणि (द्वि० संस्क०)।

२. मुद्रितपाठे पूर्वयोरुदाहरणयोर्मुद्रणे द्वित्वाभावरूपा या अशुद्धिः तां परिमृज्यात्र पाठो निर्दिष्टः।

पाठदर्शनात् । आश्चर्यकरं त्वेतद् यत्तेष्वेव ग्रन्थेषु **आत्मा विद्दम: दद्दम: गृह्णामि** इत्यादिषु न प्रथमवर्गीया: क ग घ वर्णा निर्दिश्यन्ते । एतेन ज्ञायते **पत्न्यावहोरात्रे** (३१।२२) मन्त्रे **पत्नावहोरात्रे** लेखनमाहोपुरुषिकामात्रम् । अमरनाथशास्त्रिणा याज्ञवल्क्यशिक्षाव्याख्यायाष्टिप्पण्यां (पृष्ठ १५५ टि० ३) **'ननु तकारस्य द्विर्भावे द्वितीयतकारस्यैव** (शु० य० प्रा० १।१६१) **यमत्वे ककारलेखनमसंगतमिति चेत् इत्येवमाशङ्क्य न, नासामूलेन करणेन यमोच्चारणे प्रवृत्तो यत्न: जिह्वामूलीयसदृशीं श्रुतिमुत्पादयेत् इति तथैव संभवाभिप्रायेण लिखनात्'** इत्येवं ककारलेखनस्य समुत्पत्ति-र्दर्शिता, सा **गतानुगतिको लोको न लोक: पारमार्थिक:** इत्यामणकमनुसरति । अपि च वर्गीयप्रथमस्य यमस्य जिह्वामूलीयसदृशी ध्वनिरभिप्रेता, तर्हि वर्गीयतृतीयचतुर्थ-योर्यमयो: कीदृशी ध्वनिरुत्पादनीयेति न तेन महानुभावेन स्पष्टीकृतम् । एतेन 'पत्क्नी' इत्येवं ककारलेखनं तादृशोच्चारणं च शास्त्रविरुद्धमिति स्पष्टम् ।

ँ ँ चिह्नयोः स्वरूपं तदुच्चारणञ्च

वैदिकासु कासुचित् संहितासु ँ इत्येवं ँ इत्येवं वैकप्रकारकं चिह्नमुपलभ्यते। माध्यन्दिनसंहितायां तु ँ ँ इत्युभौ चिह्नौ स्थितिभेदेन व्यवस्थितावुपलभ्येते। ँ ँ इत्येतौ कस्य वर्णस्य द्विविधव्यवस्थितोच्चारणस्य चिह्नाविति विचार्यते।

इमौ चिह्नौ सदा तत्रैवोपलभ्येते यत्र रशषसहेषु परतोऽनुस्वारस्य परसवर्णं न भवति। माध्यन्दिनसंहितायाम् अनुस्वारस्य रशषसहवर्णान् विहाय सर्वत्रैव नित्यं परसवर्णत्वं भवति। रशषसहानां सवर्णी सानुस्वारं वर्णान्तरं नास्ति इति वैयाकरणा वैदिकाश्च मन्वते। तेन रशषसहेषु परतोऽनुस्वारस्य परसर्वणत्वं न भवति, अनुस्वारः स्वेनैव रूपेणावतिष्ठते। माध्यन्दिना यथा यवयोर्गुरुलघुतरभेदेन त्रिविधं विशिष्टमुच्चारणं विदधते, तथैवानुस्वारस्यापि ह्रस्वदीर्घभेदेन द्विविधं विशिष्टमुच्चारणं कुर्वते।

पुरा कालेऽनुस्वारस्य यवयोरिव त्रिविधमुच्चारणमभूदिति प्रातिशाख्यपरिशिष्टभूतात् प्रतिज्ञापरिशिष्टाज्ज्ञायते। तथाहि तत्सूत्रम्—

तस्य त्रैविध्यमाख्यातं ह्रस्वदीर्घगुरुभेदैः।
दीर्घात् परो ह्रस्वो ह्रस्वात् परो दीर्घो गुरौ परे गुरुः ॥३।२॥

एषु प्राचीनाचार्यैरुक्तस्तृतीयो भेद इदानीं लुप्तः। तथा चोक्तमस्य सूत्रस्य व्याख्यानेऽनन्तभट्टेन—

वस्तुतस्तु गुरुदीर्घयोर्भेदो नास्ति तथात्युपाधिभेदाद् भेदो मन्तव्यः। अस्ति चात्रोपाधिः—संज्ञाभेदो लिपिभेदश्च। तृतीयस्त्विदानीं प्रायशः परिभ्रष्टः, तथापि प्राचीनसंप्रदायानुरोधाज्ज्ञायते।

नायं वर्णविशेषः—यथा चास्माभिः पूर्वमुपपादितं तथा ँ ँ इत्येताभ्यां चिह्नाभ्यां निर्दिष्टं नानुस्वाराद् वर्णान्तरं किञ्चित्। अत एव प्रातिशाख्ये वर्णप्रकरणेऽस्य निर्देशो नोपलभ्यते। यदि चास्य वर्णान्तरत्वं स्वीक्रियेत तर्हि प्रातिशाख्येन विरोध उत्पद्यते। प्रातिशाख्ये **अं इत्यनुस्वारः** (८।२१) सूत्रेण अनुस्वारस्य सद्भावः सूचितः। माध्यन्दिनसंहितायाम् अनुस्वारस्य नित्यं परसवर्णत्वं भवतीत्युक्तं पुरस्तात्, अत एव

क्वचिदपि वैदिकपाठे[1]ऽनुस्वारो नोपलभ्यते। सति चानुस्वारामावे तथा प्रातिशाख्य-प्रवक्ता माध्यन्दिनपाठेऽदृश्यमाणानां वर्णान्तराणां **तस्मिन् ळहळोजिह्वामूलीयोपध्मानी-यनासिक्या**[2] **न सन्ति माध्यन्दिनानाम्, लृकारो दीर्घः, प्लुतश्चोक्तवर्जम्** (८।३५) इति सूत्रेण प्रतिषेध उक्तस्तथाऽनुस्वारस्यापि प्रतिषेधो व्यधास्यत्। न च तेनानु-स्वारस्य प्रतिषेधो विहितः। तेन ज्ञायतेऽस्त्यनुस्वारस्य माध्यन्दिनसंहितायां सद्भावः। स च रशषसहपर एव सम्भवति यत्रानुस्वारस्य परसवर्णत्वं न प्राप्नोति। एतेन ज्ञायते यन्माध्यन्दिनसंहिताया ः ँ इत्येवं भूतौ यौ द्वौ लिपिचिह्नावुपलभ्येते तावनुस्वारस्यैव द्विविधोच्चारणाय कल्पितौ, न वर्णान्तरस्य कस्यचिद् द्विविधस्य। एतेनान्यसंहितास्वपि यत्र ः ँ इत्येवं वैकविधमेव चिह्नमुपलभ्यते तदप्यनुस्वारस्यैव ज्ञेयः।

यत्तु प्रतिज्ञासूत्रे—**अथानुस्वारस्य** ँ **इत्यादेशः शषसहरेफेषु** इत्यत्रादेशरूपेण निर्देशः कृतः, सोऽपि लिपिचिह्नरूपादेशपर एव व्याख्यातव्यः, न तु वर्णान्तरादेशरूपः। अन्यथा पूर्वमुक्तः प्रातिशाख्यविरोध आपद्येत।

अनुस्वारस्य लिपिचिह्नभेदे कारणम्—यदि ः ँ चिह्नाभ्यां निर्दिष्टोऽनुस्वार एव तर्हि वर्णान्तरवल्लिपिभेदः कुत इति चेद्, उच्यते—माध्यन्दिनसंहितायाम् अनुस्वारस्य द्विविधोच्चारणस्य(प्राचीनमते त्रिविधस्य) विहितत्वाद् द्विविधोच्चारण-भेदनिदर्शनाय लिप्यां द्विविधं चिह्नमावश्यकम्, तच्च द्विविधं चिह्नं यथानुस्वारचिह्नं वर्णोपरि निर्दिश्यते तथोपरि सुकरतया न संभवति, अतस्तस्य द्विविधं चिह्नं वर्णा-नन्तरं ः ँ रूपेण निर्दिश्यते।

ः ँ **निर्दिष्टयोरुच्चारणप्रकारः**—साम्प्रतिका वैदिका आम्यां चिह्नाभ्यां निर्दिष्टस्यानुस्वारस्य ग्वङ् गुङ् इत्येवमुच्चारणं विदधति। एतादृशमुच्चारणं प्रत्यक्ष-मेव दोषग्रस्तम्, नह्यर्धमात्रिकस्य वर्णस्य सार्धद्विमात्रिकं ग्वङ् द्विमात्रिकं गुङ् इत्येवं वोच्चारणं साधु शक्यते वक्तुम्।

याज्ञवल्क्यशिक्षाव्याख्यात्राऽमरनाथशास्त्रिणा ग्वङ् इत्येवमुच्चारणस्य स्पष्टम-

---

१. माध्यन्दिनसंहिताया येषु मुद्रितग्रन्थेषु अनुस्वार उपलभ्यते ते सर्वे वैबर-मुद्रितग्रन्थानुसारमेव मुद्रिताः सन्ति। न तादृशो वैदिकानां पाठः, अतस्तान् दृष्ट्वा न भ्रमितव्यम्।

२. नासिक्यः = अनुनासिकस्वरः। सत्यपि नासिक्यस्य निषेधे 'सँस्कृत' इत्ये-वमादिषु क्वचिद् नासिक्यः स्वरः कथं दृश्यते इति विचारार्हम्।

शास्त्रीयत्वमुक्तम्—ये च 'गणपतिग्वङ्हवामहे' इत्येवमुच्चारयन्ति तेऽनधीतविद्या प्रातिशाख्याद्यनभिज्ञाश्च । पृष्ठ १०६ ।

ह्रस्वदीर्घसंज्ञयोरभिप्रायः—न च दीर्घात् परस्य ह्रस्वसंज्ञायाः ह्रस्वात् परस्य च दीर्घसंज्ञाया विधानात् मात्रिकद्विमात्रिककालिकेन भवितव्यम् । मह्यत्र ह्रस्वदीर्घशब्दौ अचां ह्रस्वदीर्घसंज्ञावत् द्विमात्रैकमात्राकालविधायकौ, अपितु द्विविधस्यानुस्वारस्योच्चारणे प्रयत्नस्य गुरुलघुभावस्यैव द्योतकौ ।[1]

एतेन ँ ँ चिह्नाभ्यां संकेतितस्य द्विविधस्यानुस्वारस्य गुरुलघुप्रयत्नाभ्यामेवोच्चारणं कर्तव्यम्, न तु ग्वङ् गुङ् इत्येवं रूपेण इति सम्यक् व्यवस्थापितम् ।

१. अमरनाथशास्त्रिणाऽपि पूर्वोद्धृतप्रतिज्ञापरिशिष्टसूत्रस्य आदेशशब्द एवं व्याख्यातः—तत्रादेशश्च द्विमात्रिकाद्युपलक्षितवर्णविशेषोच्चारणस्वरूप एव ।

यकारषकारयोर्जकारखकारोच्चारणयोर्विवेचनम्

साम्प्रतिका माध्यन्दिना यथालक्षणं गुरुसंज्ञकस्य[1] यकारस्य जकारोच्चारणं षकारस्य टवर्गसंयोगं ककारादिसंयोगं च विहाय खकारोच्चारणं कुर्वन्ति। तद्विषये विचार्यते—किमनयोर्जकारखकारोच्चारणं शास्त्रसम्मतमुताशास्त्रीयम्। तत्र तावत् यथाक्रममनयोर्जकारखकारोच्चारणविधायकानि वचनानि प्रस्तूयन्ते संक्षेपेण—

जकारोच्चारणविधायकानि वचनानि याज्ञवल्क्यशिक्षायामेवं विधीयन्ते—

पादादौ च पदादौ च संयोगावग्रहेषु च।
जशब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः ॥१५०॥

प्रातिशाखीय-प्रतिज्ञा-परिशिष्टेऽपि—

'अथान्तस्थानामाद्यस्य पदादिस्थस्यान्यहलसंयुक्तस्य, संयुक्तस्यापि रेफोष्मान्त्या-मृकारेण चाविशेषेणादिमध्यावसानेषूच्चारणे जकारोच्चारणम्' ।२।१॥

एवमेव माध्यन्दिनशिक्षायां लघुमाध्यन्दिनशिक्षायां च विहितम्।

तत्र जकारोच्चारणं किम्मूलकमिति तावत् प्रस्तूयते—माध्यन्दिना यकारवकार-योस्त्रैविध्यं प्रतिजानते गुरुलघुलघुतरभेदेन। तदुक्तं याज्ञवल्क्यशिक्षायाम्—

वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः।
आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः॥
यवर्णस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः।
.....॥ १५५-१६१ ॥

अत्र स्मृतयोर्गुरुसंज्ञकयोर्यकारवकारयोरुच्चारणं केन प्रयत्नेन भवतीति तावद् विवेचनीयम्। अन्तस्थानां वर्णानां शिक्षाकारैः **ईषत्स्पृष्टः** प्रयत्न ऐकमत्येन प्रति-पाद्यते। तेन यदा ईषत्स्पृष्टप्रयत्नजौ यकारवकारौ ईषत्स्पृष्टप्रयत्नात् किंचिदधिकेन प्रयत्नेनोच्चार्येते तदेमौ गुरू भवतः। एतच्च पदान्तयोर्यकारवकारयोर्विधायके **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** (अ० ८।३।१८) इति पाणिनीये सूत्रे प्रयत्नशब्द-

---

१. क्व यकारो गुरुसंज्ञो भवतीत्यस्य निदर्शनं याज्ञवल्क्यशिक्षायां विस्तरेणोक्तम्। तदनुसृत्यास्माभिः सोदाहरणनिर्देशो माध्यन्दिनसंहितायाः पदपाठे 'यकारवकारयो-र्विशिष्टा लेखनपद्धतिः' इत्यस्मिन् प्रकरणे (पृष्ठ ३५-३६) यथाशास्त्रं विहितस्तत्र द्रष्टव्यः।

निर्देशेन विज्ञातुं शक्यते। अयमेवार्थः **सुस्पृष्टं तं विजानीयात्** (१६१) इति याज्ञवल्क्यशिक्षावचनेनोच्यते। अत्र सुस्पृष्टमित्यस्य न स्पृष्टप्रयत्नेनोच्चारणे विवक्षा। तेन यथा पदान्तीयौ यकारवकारावीषत्प्रयत्नौ सन्तावपि लघुप्रयत्नेनोच्चार्येते, तथैव गुरुसंज्ञकौ यकारवकारावपि ईषत्प्रयत्नावेव गुरुप्रयत्नेनोच्चारणीयौ इत्याचार्याणामभिप्रायो ज्ञेयः। यथा पदान्तीयौ लघुतरौ यकारवकारौ लघुप्रयत्नेनाविस्पष्टरूपेणोच्चार्येते, तथैव गुरू यकारवकारौ गुरुप्रयत्नेन सुस्पष्टमुच्चारणीयौ। तेन गुरू यकारवकारौ सुस्पष्टौ, लघू यकारवकारौ स्पष्टौ लघुतरौ यकारवकारावीषत्स्पष्टावुच्चारणीयाविति भावो विस्पष्ट एव।

एतेन विवेचनेदं सुव्यक्तं भवति यथा लघुतरौ यकारवकारौ ईषत्स्पृष्टलघुतरप्रयत्नेनोच्चार्यमाणौ न वर्णान्तररूपेण विक्रियेते, तथैव ईषत्स्पृष्टगुरुप्रयत्नजावपि नोच्चारणे वर्णान्तरं भजेते इति। अत एव गुरुवकारो सर्वकोशेषु **व्व** इत्येवं लिख्यते, वकाररूपेणैव चोच्चार्यतेऽद्ययावत्। तथैव गुरुयकारस्यापि प्राचीनकाले **य्य** इत्येव प्रचार आसीत् (द्र०—अस्मदीयो १४७१ वैक्रमाब्दे लिखितः 'क' कोशः)। इयमेव च यकारद्वित्वलेखनपद्धतिरुत्तरकाले य इत्येवं लेखने मध्येबिन्दुनिर्देशने च परिवर्तिता।

उत्तरकाले यदा शास्त्रतात्पर्यानभिज्ञैरीषत्स्पृष्टप्रयत्नजस्य यकारस्य स्पृष्टप्रयत्नेनोच्चारणमारब्धं, तदाऽयं यकारः समानस्थानीये स्पृष्टप्रयत्नजे जकारे परिवर्तितः। यदाऽयं दोषो देशविशेषजेन करणदोषेण वैदिकपाठेऽप्युत्पन्नः। यथा बाङ्गा स्वकरणदोषेणान्तस्थं वकारं बहोः कालात् बकाररूपेणैवोच्चरन्ति। तेषां बवयोः समोच्चारणदोषेण लेखनेऽपि दोषोऽयमुपलभ्यते। बाङ्गा महान्तो वैयाकरणा अप्यनेन दोषेण ग्रस्ता अन्तस्थवकारवता धातुना व्युत्पद्यमानान् शब्दान् बकारवता धातुना निष्पादयन्ति[1]। बाङ्गेषु यकारस्य जकारोच्चारणेऽप्ययमेव हेतुः।

वाजसनेयिसंहितायाः प्रवक्तुरपि मिथिलादेशे स्थितिरितिहासग्रन्थैर्विज्ञायते। मैथिलेष्वपि बाङ्गानामिव बकारवकारयोर्जकारयकारयोः समानोच्चारणदोष उपलभ्यते।

ईषत्स्पृष्टस्य स्पृष्टप्रयत्नेनोच्चारणं शिक्षाशास्त्रे परिगणितेषूच्चारणदोषेषु पीडनं **घ्मातः निहंतम्** इत्यादिनामभिरभिधीयते। अनेनैव दोषेण यदाऽन्तस्थो यकारो दुष्टः सन् स्पृष्टप्रयत्नेनोच्चार्यते, तदा सस्थानीये स्पृष्टप्रयत्नजे जकारे विपरिणमते। यदा

---

१. अत एव पुरुषोत्तमदेवो भाषावृत्तेरादौ **जबगडदश्** सूत्रे 'वश्' प्रत्याहारं निदर्श्य **'पुनर्बंश्'** इत्युक्तवान्। पुनः पदप्रयोगोऽत्र अन्तस्थपवर्गीययोः समानोच्चारणनिमित्तज एव।

च स्पृष्टप्रयत्नजो जकारो **लेशेन** (शिथिलेन) **अर्धकेन** वा दोषेण ग्रस्तो भवति, तदा स समानस्थानीये ईषत्स्पृष्टप्रयत्नजे यकारे विपरिणमते। अत एवापभ्रंशासु पालि-प्राकृतादिभाषासु **यमुनाया जमुनारूपे, जानाति** इत्यस्य **याणादि** इत्येवं यकारजकारयोः परस्परं व्यापत्तिरुपलभ्यते।

यद्येवं तर्हि जकारोच्चारणनिदर्शकवचनानां कोऽभिप्राय इति चेत्? उच्यते—न तेषां चवर्गीयजकारोच्चारणे तात्पर्यम्, अपितु तत्सदृशसुस्पष्टोच्चारण एव तात्पर्यं व्याख्येयम्। अत एव प्रतिज्ञा-परिशिष्टव्याख्यात्रा स्पष्टमुक्तम्—**'अत एव सम्प्रदाय-विद एवंविधे यकारे स्पृष्टप्रयत्नज्ञापनाय मध्ये बिन्दुं प्रक्षिपन्ति। स्पष्टप्रयत्नं स्थानै-क्याच्चवर्गतृतीयसदृशं यकारं पठन्ति'** ।२।२॥

अत्र सदृशशब्दप्रयोगात् सुस्पष्टं भवति, यत्स जकारपाठं न शास्त्रानुमतं मन्यते। अन्यथा स **चवर्गतृतीयं जकारं पठन्ति** इत्येवावक्ष्यत् सुस्पष्टतायै। एतेन याज्ञवल्कीय-शिक्षाया **'जशब्दः'** इत्यस्यापि **'जसदृशः'** शब्द इत्येवाभिप्रायो व्याख्येयः। अयमेवा-भिप्राय उत्तरे १६१ तमे श्लोके सुस्पृष्टशब्दस्यापि ज्ञेयः। व्याख्यातं चामरनाथ-शास्त्रिणा—**सुस्पृष्टम्=कालविलम्बेन गुरुभूतम्।** (पृष्ठ १११)

इदं चात्रावधेयम्—अनन्तव्याख्याने **'स्पृष्टप्रयत्नज्ञापनाय'** इति यदुक्तं तन्न साधु। यतो हि लघुयकारो यथा लघुतरप्रयत्नेनोच्चार्यमाणो न स्वमीषत्स्पृष्टप्रयत्नं विजहाति, तथा गुरुयकारोऽपि न गुरुप्रयत्नेनोच्चार्यमाणः स्वमीषत्स्पृष्टप्रयत्नं विहाय स्पृष्टप्रयत्नं भजितुं समर्थः। एतेन याज्ञवल्क्यशिक्षायां **सुस्पृष्टं तं विजानीयात्** इत्यत्र सुस्पृष्टस्थाने सुस्पृष्टपाठः प्रामादिक इति विज्ञायते। स्पृष्टप्रयत्नविवक्षायां—**स्पृष्टं च तं विजानीयात्** इत्येव वचनं साधीयः स्यात्। तदा सुस्पृष्टस्य सुस्पष्ट-मित्येवाभिप्रायो मन्तव्यः। अमरनाथशास्त्रिव्याख्याने **कालविलम्बेन गुरुभूतम्** इत्यत्र कालविलम्बेनेति वचनं प्रामादिकम्। नह्यत्र यकारवकारोच्चारणयोर्गुरुलघुलघुतर-शब्दैः कालभेदो विवक्षितोऽपि तु प्रयत्नभेदः, एतच्च **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** (अ० ८।३।१८) इति पाणिनीये सूत्रे प्रयत्नपदनिक्षेपेण ज्ञायते, इत्युपपादितमस्माभिः प्राक्।

षकारस्य खकारोच्चारणम्—याज्ञवल्क्यशिक्षायां षकारस्य खकारोच्चारणविधायकं वचनं नोपलभ्यते। तथापि प्रतिज्ञापरिशिष्टे माध्यन्दिनलघुमाध्यन्दिनशिक्षयोः खकारो-च्चारणविधिः श्रूयते। तथाहि—

अथो मूर्धन्योष्मणोऽसंयुक्तस्य दुःस्पृष्टे संयुक्तस्य च खकारोच्चारणम् ।२।७।[1]

---

१. मुद्रिते ग्रन्थे सूत्रसंख्या १२ निर्दिश्यते, स मुद्रणप्रमादो ज्ञेयः, पूर्वत्र ६ संख्या दर्शनात्।

अत्र लघुमाध्यन्दिनशिक्षायामयं विशेष उपलभ्यते—षकारस्य खकारः स्याद्दु-कयोगे तु नो भवेत् ।

अत्र कयोगे खकारोच्चारणनिषेधस्य ककारस्यादौ संयोगे तात्पर्यम्, न कान्त-संयोगे । तेन **'क्ष'** इत्येवं संयोगे षकार एवोच्चार्यते, **शुष्कयाय** इत्यत्र च खकारः ।

अत्रापि न षकारस्य खकारोच्चारणे तात्पर्यमपि तु खकारसदृशकण्ठमूर्धान्तराल-स्थानेन (मूर्ध्न उपरितनभागेन) खकारवत् सुस्पष्टरूपेणोच्चारणे तात्पर्यम् । अत एवानन्तभट्टोऽप्यस्य सूत्रस्य व्याख्यान आह—**'षटौ मूर्धनीति सूत्रात् षकारो मूर्धन्यः स्थानकरणपरित्यागेनार्धस्पृष्टषकारस्थाने कवर्गीयप्रतिरूपकं खकारोच्चारणं कर्तव्यम् ।**

अत्र प्रतिरूपकशब्दः स्पष्टमेव द्योतयति यन्न षकारस्य खकारोच्चारणे तात्पर्यम्, अन्यथा **कवर्गीयखकारोच्चारणं कर्तव्यम्** इत्येवावक्ष्यत् । अनन्तस्य षकारस्यार्धस्पृष्ट-प्रयत्नलेखनं शिक्षान्तरानुरोधेन स्यात् ।

वकारस्य बकारोच्चारणम्—केचन वैदिका गुरुवकारस्य बकारोच्चारणं विद-धति । तादृशोच्चारणस्य क्वचिदप्यविधानाद् बकारोच्चारणं दोष एव ज्ञेयः ।

एतेन शास्त्रतात्पर्यपर्यालोचनेन स्पष्टं प्रतीयते—यद् यकारस्य जकारोच्चारणं षकारस्य खकारोच्चारणं च न केवलं शिक्षाशास्त्रविरुद्धमपि तु माध्यन्दिनसम्मत-योर्याज्ञवल्क्यशिक्षाप्रतिज्ञापरिशिष्टयोरपि तत्तात्पर्याज्ञानमूलकमेव ।

कल्प (२)

दूसरा वेदाङ्ग "**कल्प**" नामा है। कल्प का अर्थ है **कल्पते समर्थो भवति यज्ञ-कर्मणि येन यज्ञकर्ता स कल्पः**। अर्थात्, जिस शास्त्र के द्वारा यज्ञकर्ता याग के प्रयोग में समर्थ होता है, वह कल्प कहलाता है। सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में षडङ्गप्रकरण में कल्प शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाई है—**कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगो अत्र इति कल्पः** अर्थात्, जिस शास्त्र में याग का प्रयोग समर्थित किया जाता है, उसे कल्प कहते हैं। **कृपू सामर्थ्ये** धातु से **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (अष्टा० ३।३।१९) सूत्र से घञ् प्रत्यय और गुण होने पर 'र' को 'ल' होकर कल्प शब्द निष्पन्न होता है। पूर्व व्युत्पत्ति के अनुसार घञ् प्रत्यय करण कारक में और द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार अधिकरण में घञ् प्रत्यय जानना चाहिए।

कल्पशास्त्र के तीन भाग हैं—**श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, और धर्मसूत्र**। **श्रौतसूत्रों** में उन यागों का विधान है जिनका श्रुतिवाक्यों के द्वारा संहिता (शाखा) और ब्राह्मणों में साक्षात् विधान है। **गृह्यसूत्रों** में दैनिक पञ्चमहायज्ञ, गर्भाधानादि विविध संस्कार तथा अन्य नित्य, नैमित्तिक कर्मों का विधान है। इन कर्मों का विधान यतः संहिता और ब्राह्मणों में साक्षात् उपलब्ध नहीं होता, ऋषि लोग किन्हीं मन्त्रों और ब्राह्मणवचनों के आधार पर इनकी कल्पना करते हैं, इसलिए मीमांसकों के मत में गृह्यकर्म भी स्मार्तकर्म माने जाते हैं (द्रष्टव्य—मीमांसाभाष्य पा० ३, अधि० २)। **धर्मसूत्रों** में चातुर्वर्ण्य[1] और चातुराश्रम्य[1] के दैनिक नित्य-नैमित्तिक कर्मों का विधान है। चार वर्णों में क्षत्रिय वर्ण प्रधान वर्ण है, जिसके ऊपर देश-जाति और धर्म-मर्यादा के रक्षण का भार होता है। अतः मनुस्मृति आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों में राजधर्मप्रकरण का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। उत्तरकाल में प्रोक्त धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में उत्तरोत्तर राजधर्म का प्रकरण स्वल्प, स्वल्पतर, स्वल्पतम होता गया। इसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि राजनीति के लिए अर्थशास्त्रों की रचना पृथक् रूप से होने लगी।

वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञप्रक्रिया का यद्यपि यथावत् वर्णन उपलब्ध होता है, परन्तु अर्थवादादि के अन्तराल के कारण और यथावत् क्रमशः

---

१. इन दोनों शब्दों में 'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्' (द्र०—काशिका ५।१।१२४) से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होता है।

निर्देश न होने से उनके द्वारा किसी यज्ञ का अनुष्ठान करना-कराना सम्भव नहीं। इसलिए ऋषियों ने यज्ञप्रक्रिया को सरल बनाने की दृष्टि से श्रौतसूत्रों का निर्माण किया। परन्तु उत्तरकाल में अल्पबुद्धि याज्ञिकों के लिए केवल श्रौतसूत्रों के आधार पर भी कर्म कराने में जब कठिनाई अनुभव होने लगी तो पद्धतिग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

कल्पसूत्र एक ही वेद के शाखाभेद से अनेक हैं। वर्तमान में कतिपय ऐसे कल्पसूत्र भी उपलब्ध होते हैं, जिनकी शाखा और ब्राह्मण लुप्त हो चुके हैं। आधुनिक पाश्चात्यमतानुयायी शोधकर्ता उक्त शाखाओं का लोप न मानकर उन शाखाओं का जहां नाम उपलब्ध होता है, उन्हें **श्रौत शाखाएं** मान लेते हैं। कालान्तर में वैदिकों के प्रमाद के कारण कुछ शाखाओं और कतिपय कल्पसूत्रों का लोप हो गया तो कर्मकाण्ड में कुछ अव्यवस्था उत्पन्न हुई; क्योंकि किसी संहिता का कल्पसूत्र नष्ट हो गया था, तो किन्हीं कल्पसूत्रों की शाखाएं नष्ट हो गई थीं। अतः तत्कालीन विद्वानों ने **नष्टाश्वदग्धरथन्याय**[1] से विलुप्तशाखीय कल्पसूत्रों का और विलुप्तकल्पशास्त्रीय शाखाओं का परस्पर संयोग कर कर्मकाण्ड की व्यवस्था की। यथा ऋग्वेदीय शाकल शाखा का कल्पसूत्र नष्ट हो गया, दूसरी ओर आश्वलायन कल्पसूत्र की आश्वलायन शाखा नष्ट हो गई, तो आश्वलायन श्रौतसूत्र का सम्बन्ध शाकलशाखा के साथ जोड़ दिया। कल्पसूत्रों में ऐसी उत्तरकालीन व्यवस्था प्रायः देखी जाती है।

प्रतिशाखा कर्मभेद है अथवा सब शाखाओं में एक कर्म है?

एक ही कर्म में शाखाभेद और कल्पसूत्रों के भेद से पर्याप्त भेद उपलब्ध होता है। इस भेद के कारण प्रतिशाखा वा प्रतिकल्पसूत्र का कर्म भिन्न-भिन्न है अथवा न्यूनाधिकता होने पर भी सब शाखाओं में कथित कर्म एक ही है। इस पर विचार करने के लिये भगवान् जैमिनि ने मीमांसा (२।४।८-३३) में एक अधिकरण रचा, जिसका नाम है—**सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मताधिकरण**। अर्थात् सब शाखाओं में पठित कर्म एक ही हैं। भगवान् जैमिनि का तो मन्तव्य है कि यदि कोई समर्थ व्यक्ति विभिन्न शाखाओं में कथित अधिक कर्मों को करने में समर्थ है, तो वह सब शाखाओं में कथित कर्मान्तरों का उपसंहार कर सकता है—**असमर्थानामेकस्मिन्नपि वेदे विहितकृत्स्नमङ्गजातमुपसंहर्त्तुमशक्तिः। समर्थानां तु सर्वशाखाभ्योऽप्यागमितमधिकं विधिमुपसंहर्त्तुं शक्तिरस्ति** (मी० शाबरभाष्य २।४।२०)।

---

१. दो साथी रथ पर सवार होकर जा रहे थे। मार्ग में एक का घोड़ा मर गया, दूसरे का रथ जल गया, तो दोनों अपने अवशिष्ट रथ और अश्व का प्रयोग करके यात्रा पूरी की। 'नष्टाश्वदग्धरथवत् संप्रयोगो भवति। तद्यथा—तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्धः, उभौ सम्प्रयुज्यावहै।' महाभाष्य १।१।५०॥

इस दृष्टि से आवश्यकता पड़ने पर किसी शाखा का अध्येता अन्य शाखा के अनुसार कर्म करके कृतार्थी हो सकता है।

जैमिनीय न्याय का प्रत्यक्ष फल

हम चार पांच व्यक्ति सन् १९७८ में शोलापुर (महाराष्ट्र) में सम्पन्न होनेवाले सोमयाग को देखने गये। इस कर्म के समाहर्ता तैत्तिरीयशाखाध्येता थे और प्रधान यागसंचालक भी तैत्तिरीयशाखीय आपस्तम्बश्रौतानुयायी थे। सोमयाग में सामान्य रूप से जो पशुयाग विहित है, वह इस कर्म में नहीं होना था। प्रधान यागसंचालक श्री वेदमूर्ति पं० विश्वनाथजी श्रौती बहुत काल पूर्व से पशुयागविरहित सोमयागादि कराने में प्रवृत्त हो चुके थे।

इसी अवसर पर यज्ञमूर्ति श्री रंगनाथ कृष्ण सेलूकर महोदय पधारे। उन्होंने वार्तालाप में मुझे बताया कि मैं शुक्लयजुर्वेदी हूं। सोमयाग करना चाहता हूं, परन्तु हमारी शाखा के याज्ञिक पशुयागरहित सोमयाग कराने को तैयार हो नहीं होते। नासिक, वाराणसी आदि स्थानों के प्रायः सभी याज्ञिकों से मिल चुका हूं। ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिये ?

मैंने उन्हें कहा कि शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार तो सभी शाखाओं में कुछ न्यूनाधिक होने पर भी कर्म एक ही है। भगवान् जैमिनि ने यह व्यवस्था दी है। यदि आपके शुक्लयजुर्वेदी याज्ञिक पशुयागरहित सोमयाग कराने को तैयार नहीं होते, तो आप श्री पं० विश्वनाथजी से तैत्तिरीयशाखानुसार सोमयाग करा लेवें। इसमें कोई प्रत्यवाय नहीं है। श्री सेलूकर जी को मेरी शास्त्रीय व्यवस्था जानकर प्रसन्नता हुई और वे सन् १९७९ से श्री वेदमूर्ति पं० विश्वनाथजी श्रौती के निर्देशन में आज तक अनेक विविध सोमयागों का अनुष्ठान कर चुके हैं। मैं सन् १९८६ तक उनके प्रत्येक याग में सम्मिलित होता रहा हूं।

यज्ञकर्मों में अग्निहोत्र में एक आध्वर्यव वेद का ही प्रयोग होता है। दर्शपौर्णमासादि इष्टियों में ऋग्वेद और यजुर्वेद दो का प्रयोग होता है। सोमयाग में ऋग्, यजुः, साम तीनों वेदों का प्रयोग होता है। अथर्ववेद का यज्ञकर्म में पहले प्रयोग नहीं होता था। उसको राज्यव्यवस्था में प्रमुखता दी जाती थी। परन्तु यज्ञकर्म की अतिव्यापकता के साथ अथर्ववेदियों ने भी अपना सम्बन्ध यज्ञकर्म के साथ जोड़ लिया और उसके भी ब्राह्मण और कल्पसूत्रों में यज्ञकर्मों का विधान किया गया।

यज्ञों की उत्पत्ति कब और किसलिये हुई, इनका आदिकाल में क्या स्वरूप था,

उत्तरकाल में यज्ञों में किस प्रकार विस्तार हुआ और विस्तार के अनुरूप तत्तद् देवता वाले मन्त्र और तत्तत् छन्दोंवाले मन्त्रों की अनुपलब्धि में गौण देवता और छन्दों-वाले मन्त्रों का विनियोग होने लगा। इसी प्रकार कालान्तर में पद, अक्षर मात्र के सादृश्य से भी यज्ञों में मन्त्रों के विनियोग की प्रथा आरम्भ हुई। इसके साथ ही यज्ञों में आरम्भ में जो सात्त्विकता थी उसके स्थान पर बाह्य आडम्बर और पशुयाग सदृश घिनौने कर्म भी यज्ञों में प्रविष्ट हो गए। इन सब विषयों के यथावत् ज्ञान के लिए हमारी "**श्रौतयज्ञ-मीमांसा**" पुस्तक देखनी चाहिए। यह संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में इकट्ठी प्रकाशित हुई है। इसलिए यहां केवल उन लेखों को ही मुद्रित किया जा रहा है, जिनका उस पुस्तक में किसी प्रकरण में समावेश नहीं हुआ है। "**श्रौतयज्ञ-मीमांसा**" में 'अग्न्याधान', और 'अश्वमेघ' का आधिदैविक व्याख्यान किया जा चुका है।[1]

---

१. अग्न्याधान के वेदिनिर्माण कर्म द्वारा पृथिवी की सलिलमयी अवस्था से लेकर उस पर ओषधि वनस्पति उत्पत्ति पर्यन्त अवस्था तथा अरणिमन्थन क्रिया द्वारा अग्नि को उत्पन्न करना रूप क्रिया से पृथिवी तल पर सर्वप्रथम अग्नि की उत्पत्ति अरण्यस्थ वृक्षों की शाखाओं के घर्षण से हुई थी, का व्याख्यान किया है। अश्वमेघ में अश्व को छोड़ने से लेकर १ वर्ष में वापस लौटने तक की जितनी क्रियाएं हैं, वे सूर्यरूप अश्व के सालभर के भ्रमण के पश्चात् स्वस्थान में लौटने तक के विविध कर्मों का व्याख्यान करती हैं।

श्रौतयज्ञों का स्थान-भेद से त्रिविधत्व

श्रौतयज्ञमीमांसा में हमने विस्तार से प्रमाणित किया है कि श्रौतयज्ञों की उत्पत्ति सृष्टियज्ञ के गूढ़ रहस्यों के समझाने के लिए नाटकीय धर्मानुसार हुई है। इस विषय में अग्न्याधानान्तर्गत वेदिनिर्माण द्वारा महदण्ड से पृथिवी के प्रकट होने के पश्चात् सलिलमयी अवस्था से लेकर उस पर औषधि, वनस्पति आदि की उत्पत्ति पर्यन्त पृथिवी में क्रमशः जो परिवर्तन हुए उनकी व्याख्या की गई है। ओषधि, वनस्पति की उत्पत्ति के अनन्तर पृथिवी पर प्रथमतः अग्नि का प्रादुर्भाव वायु द्वारा अरण्यस्थ वृक्षों की शाखाओं के संघर्षण से हुआ था, जैसे आजकल भी अरण्यों में शाखाओं के संघर्ष से दावानल प्रकट होता है। अतः यज्ञ के लिए जो अग्नि उत्पन्न की जाती है, वह काष्ठमय अरणियों के मन्थन से ही प्रकट की जाती है। अग्न्याधान के इस रहस्य का यथावत् वर्णन भी हमने श्रौतयज्ञ-मीमांसा में किया है।

पृथिवीस्थ प्राणियों की दृष्टि से अपने सौरमण्डल के तीन मुख्य विभाग करके उनकी विविध स्थितियों, क्रियाओं वा परिवर्तनों की व्याख्या प्राचीन ऋषियों ने विविध यज्ञों के द्वारा की है। वे तीन विभाग हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक।

ऋग्वेद के **इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः** (ऋ० १।१६४।३५) द्वारा यज्ञीय वेदि और पृथिवी का सम्बन्ध दर्शाया है। अन्तरिक्ष और द्युलोक के लिए भी पृथिवी शब्द का प्रयोग ऋग्वेद (१।१०८।९,१०) में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः।
यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमे स्यामुत स्थः॥[1]

अतएव नैरुक्तों ने पृथिवी शब्द का पाठ पृथिवी-स्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय देवों के समाम्नायों में तीन बार किया है।

त्रिस्थानीय प्राकृतिक यज्ञों का निरूपण करने के लिए ऋषियों ने अल्पा, महती

---

१. नवम मन्त्र में तीनों पृथिवीयों का निर्देश मानव-दृष्टि से क्रमशः 'अवमा' (हमारी पृथिवी) 'मध्यमा' (अन्तरिक्षस्था) 'परमा' (द्युलोकरूपका) का नीचे से ऊपर की ओर किया है। दशम मन्त्र में 'परमा' (परममहत्प्रमाणा द्युलोक पृथिवी) से नीचे की ओर अल्पा अल्पतरा पृथिवी का निर्देश है।

और परम महती त्रिविध वेदियों की रचना करके तत्तत्स्थानीय विशेष यज्ञतत्त्व का व्याख्यान दर्शाया है। पृथिवीस्थानीय इष्टियों की वेदि अल्प परिमाणवाली होती है। अन्तरिक्षस्थानीय सोमयाग की वेदि उससे बड़ी होती है। उसे महावेदि कहते हैं। इसका उत्तरा नाम भी है, क्योंकि इसका स्थान पृथिवी से उत्तर अर्थात् ऊर्ध्व है। इसीलिए पार्थिव समुद्र से अन्तरिक्ष-लोकस्थ समुद्र को वेद में उत्तर समुद्र कहा है—**स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि** (ऋ० १०।९८।५)। (तै० ब्रा० १।५।१०।१) में जिस उत्तर समुद्र का वर्णन है, वह आदित्य है।[1] निघण्टु ५।६ में द्युस्थानीय देवगणों में 'समुद्र' का पाठ भी है। इसके व्याख्यान में निरुक्त १२।३२ में ऋ० ९।७३।३ का मन्त्र उद्धृत किया है। द्युस्थानीय वेदि अन्तरिक्षस्थानीय वेदि से भी परिमाण में महती होती है।

दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य इष्टियों का सम्बन्ध पृथिवी के साथ है। इनकी वेदि अल्पप्रमाणा होती है। बैठा हुआ मनुष्य अधोमुख होकर जितने भूभाग को साधारण रूप में देखता है, उतनी इन इष्टियों की वेदि होती है। चातुर्मास्य के वरुणप्रघास पर्व का सम्बन्ध वर्षा ऋतु के साथ है और वर्षा का अन्तरिक्ष के साथ। अतः वरुणप्रघास पर्व में प्राकृत लघ्वी वेदि के उत्तर में एक और वेदि बनाई जाती है, जो परिमाण में प्राकृत वेदि से बड़ी होती है।

अग्निष्टोम आदि सोमयागों का सम्बन्ध अन्तरिक्ष के साथ है। अतः इनकी वेदि प्राकृत इष्टियों की वेदि से आकार-प्रकार में महती होती है।

अग्निचयन का सम्बन्ध द्युलोक के साथ है। द्युलोक का परिमाण साधारण अन्तरिक्ष (जहां मेघादि के निर्माण एवं बरसने की क्रिया होती है) से अधिक विस्तृत है। अतः अग्निचयन की वेदि सोमयागीय वेदि से भी अधिक बड़ी होती है। अग्निचयन की विविध प्रकार की वेदियां आदित्य के विविध प्रकार के स्वरूप या कर्मादि का व्याख्यान करती हैं।

वेद के जो दो मन्त्र त्रिविध पृथिवी के ज्ञापन के लिये उद्धृत किये हैं, उन

---

१. सायणाचार्य ने इस प्रकरण की जो व्याख्या की है, वह हमारे मत में युक्त नहीं है। इस उत्तर समुद्र का पृथिवी पर्यन्त जलने का जो उल्लेख है, वह सूर्य से तीसरी बार मलरूप आवरण के हटने पर जो उसका तेज प्रकट हुआ, उसका उल्लेख है। उससे पृथिवीस्थ संपूर्ण जल वाष्प बनकर उड़ गया। पृथिवी कूर्मपृष्ठ के समान ऊबड़-खाबड़ दृष्टिगोचर हुई। इस अवस्था में जो निम्न भाग पृथिवी के उच्च प्रदेश के अन्त में था, वही वेदि का चात्वाल प्रदेश है। यही उक्त ब्राह्मण का तात्पर्य है।

दोनों का उत्तरार्ध इस प्रकार है—**अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य**। (ऋ० १।१०८।९,१०)।

इससे स्पष्ट है कि सोम का सम्बन्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तीनों के साथ है। और तीनों प्रकार के अभिषुत सोमों के पान के लिए इन्द्राग्नी का गमन= प्राप्ति का निर्देश यहां किया है। यद्यपि मन्त्र में तीनों पृथिवियों में विद्यमान सोम का सामान्यरूप से वर्णन किया है, परन्तु स्थानभेद से सोम भी त्रिविध है।

ऋग्वेद में सोम का स्थान द्युलोक कहा गया है—**दिवि सोमो अधिश्रितः** (ऋ० (१०।८५।१)। यही निर्देश **सोमो गौरी**[1] **अधिश्रितः** (ऋ० ९।१२।३) प्रकारान्तर से किया है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी सोम को द्युलोकस्थ ही मानकर उसका पृथिवी तक पहुंचने का निर्देश निम्न वचन में उपलब्ध होता है—

दिवि वै सोम आसीत्। तं गायत्री श्येनो भूत्वा आहरत्।[2]

अर्थात् सोम द्युलोक में था। उसको गायत्री संज्ञक तीव्र गतिवाली सूर्य-किरणों ने पृथिवी लोक तक पहुंचाया। आलंकारिक भाषा में कही गई इस घटना को समझने के लिए सोम की उत्पत्ति और उसकी पृथिवी पर वापसी की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। बिना उसको समझे त्रिलोकस्थ सोम का समझना कठिन है।

सोम की उत्पत्ति—पृथिवी पर नदी नाले और समुद्र आदि में जो जल है, उसे सूर्य की किरणें वाष्परूप में परिवर्तित करती रहती हैं। यह वाष्पीकरण इतनी अदृश्य प्रक्रिया से होता है कि समीपस्थ मानव इसे अपनी आंखों से नहीं देख पाता। इसीलिये गोपालसहस्रनाम में गौओं=किरणों के पालक सूर्य को **चोरजारशिखामणिः**

---

१. गौर का प्रयोग चमकते हुए सूर्य के लिये होता है। गौरी में महत् अर्थ में '**षिद्गौरादिभ्यश्च**' (अष्टा० ४।१।४१) से ङीष् प्रत्यय होता है। सूर्यमण्डल के परम चमकीले भाग को यहां गौरी कहा गया है। वैयाकरणों ने गौरी में सप्तमी विभक्ति का लुक् माना है। द्र०—'**ईदूतौ च सप्तम्यर्थे**' (अष्टा० १।१।१८) सूत्र की व्याख्यायें।

२. यह लेख 'फरीदाबाद' में बैठकर मैं लिख रहा हूं, यहां मेरे पास विशेष ग्रन्थराशि नहीं है। अतः स्मृति से अनेक वचन इसमें उद्धृत किये हैं। इसलिए अनेक स्थानों के न मूलस्थान का निर्देश ही कर सका, और न उद्धियमाण पाठ को मूल पाठ से मिला सका। हां, इतना अवश्य है कि मेरे द्वारा उद्धृत पाठ यथावत् उपलब्ध न होने पर भी भाव में कहीं अन्तर नहीं होगा।

नाम से स्मरण किया है।[1] जलों की इस वाष्पीकरण प्रक्रिया के समय जल दो विभागों में विभक्त हो जाता है। इन्हें वेद में **यम यमी** कहा गया है।[2] आधुनिक वैज्ञानिकों ने इनको **आक्सीजन** और **हाईड्रोजन** गैस कहा है। यत: यम यमी की उत्पत्ति एक जलतत्त्व से होती है, अत: वेद में इन्हें लौकिक सहोदर भाई-बहन के रूप में भाई बहन भी कहा है।[3]

यमी तत्त्व (आक्सीजन) यम तत्त्व (हाईड्रोजन) से भारी=स्थूल होने के कारण सूर्यकिरणों के साथ, दोनों सा -साथ ऊपर को गति करते हुए भी,

---

१. स्तोत्र-नामों की एक महती शृङ्खला संस्कृतवाङ्मय में उपलब्ध होती है। परन्तु आजतक किसी विद्वान् ने इनका न सूक्ष्म अध्ययन किया है और न इनका वर्गीकरण ही किया है। मैंने इनका स्वल्प अंश ही देखा है। उससे मैं इस विचार पर पहुंचा हूं कि कतिपय स्तोत्रनाम विशुद्ध अध्यात्मपरक हैं, कतिपय विशुद्ध आधिदैविक हैं, कतिपय उभयात्मक हैं और कतिपय विशुद्ध ऐतिहासिक व्यक्तिविषयक हैं। यथा 'गोपालसहस्रनाम' स्तोत्र आधिदैविक सूर्यविषयक है। 'विष्णुसहस्रनाम' उभयात्मक अर्थात् सूर्यपरक एवं ब्रह्मपरक है। 'शिवसहस्रनाम' विशुद्ध आदियुगीन शिवनामक ऐतिहासिक परमविशिष्ट व्यक्ति के जीवन की विशेष घटनाओं का वर्णन करता है। 'याज्ञवल्क्यसहस्रनाम' अथवा 'अष्टोत्तरशतनाम' भी ऐतिहासिक स्तोत्र है। जो अपने काल के परम ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य के विविध चरित को उजागर करता है। इस प्रकार के ऐतिहासिक स्तोत्रों का आधुनिक इतिहासज्ञों ने इतिहास-लेखन में उपयोग ही नहीं किया। साम्प्रदायिक लोगों ने इन स्तोत्रों का अस्थान में प्रयोग किया है। गोपालसहस्रनाम जो अधिदेवविषयक है, उसका सम्बन्ध गोपाल नामक ऐतिहासिक परमविशिष्ट व्यक्ति श्रीकृष्ण के साथ जोड़कर महती भूल की है। **चोर-जारशिखामणि** नाम की आड़ में उनके उदात्त निष्कलङ्क चरित को लाञ्छित किया है।

२. ऋग्वेद १०।१०।। आधुनिक युग के परम वेदज्ञ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निरुक्तकार के **प्रकरणश एव मन्त्रा निर्वक्तव्या:** नियम के अनुसार ऋग्वेद के **यम-यमी** सूक्त का विषय अपनी **चतुर्वेदविषयसूची** नामक संकलन में **जलपदार्थविद्या** लिखा है। यह संकलन उन्होंने वेदभाष्य की रचना में प्रवृत्त होने से पूर्व चारों वेदों का गहन चिन्तन करके किया था। लगभग ७५ वर्ष तक इस ग्रन्थ के प्रकाशित न होने से वेदज्ञों की दृष्टि से यह **चतुर्वेदविषयसूची** ओझल ही रही। (द्र०—मेरी दृष्टि में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य, पृष्ठ—१२७, १२८)।

३. ऋ० १०।१०। मन्त्र ५, ६, ११ आदि।

अन्तरिक्ष लोक तक पहुंचकर रुक जाती है, परन्तु यम तत्त्व सूक्ष्म होने से द्युलोक तक पहुंचता है। अतएव निघण्टु में अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में यम का निर्देश ५।४ में तथा यमी का निर्देश ५।५ में किया है। तदनन्तर यम का पुनः निर्देश निघण्टु के द्युस्थानीय देवताओं के साथ छठे खण्ड में किया है। अतः स्पष्ट है कि सहोदर यम-यमियों में से यमी की ऊर्ध्वगति अन्तरिक्ष स्थान तक है और यम द्युलोक तक पहुंचता है।

यह यम सूर्य की किरणों के साथ निरन्तर ऊर्ध्वगति करता हुआ उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता हुआ अत्यन्त ज्वलनशील सूक्ष्मरूप में परिणत होकर द्युलोक तक पहुंचता है।[1] इसी अत्यन्त ज्वलनशील यम तत्त्व को वेद में सोम कहा है। यही सोम सूर्य को सदा प्रज्वलित रखता है।

यम=सोम की वापसी—यही सोम सूर्य में प्रज्वलित होकर और परम सूक्ष्म भाव को प्राप्त होकर सूर्य की किरणों के साथ वापस पृथिवी तक पहुंचता है।[2] मार्ग में अन्तरिक्ष में स्थित यमी के साथ संयुक्त[3] होकर वर्षा के रूप में परिणत होकर पृथिवी तक पहुंचता है।[4] इसी कारण (=सोम के संसर्ग के कारण) वर्षा का जल पृथिवीस्थानीय जल की अपेक्षा अधिक सोमप्रधान होता है। अतएव वर्षा ऋतु में इस सोमप्रधान जल के संसर्ग से विविध ओषधि-वनस्पतियों एवं विभिन्न कीट पतङ्गों की बाहुल्येन उत्पत्ति होती है।

सूर्य की जिन रश्मियों के द्वारा द्युलोकस्थ सोम पृथिवी तक पहुंचता है, उनका नाम **गायत्री** है। यद्यपि गायत्री, उष्णिक् आदि सप्तविध विशिष्टसंख्याक अक्षरों वाले छन्दों के नाम छन्दःशास्त्र में प्रसिद्ध हैं तथापि गायत्री आदि संज्ञाएं विभिन्न

---

१. कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। ऋ० १।१६४।४७ पूर्वार्ध॥

२. 'त आ वक्षन्न् सदनादृतस्य घृतेन पृथिवी व्युद्यते।' ऋ० १।१६४।४७॥ इसी मन्त्र की व्याख्या में निरुक्त ७।२४ में कहा है—'अमुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते सह स्थानाद् उदकस्य आदित्यात्।'

३. आ घा ता गच्छान् उत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि। ऋ० १०।१०।१०॥

४. घृतेन पृथिवी व्युद्यते। ऋ० १।१६४।४७॥ अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते। घृतमित्युदकनाम। निरुक्त ७।२४॥

उच्चनीच तरङ्गोंवाली किरणों के भी नाम हैं।[1] बड़ी तरङ्गोंवाली जगतीसंज्ञक किरणें स्वल्प दूरी तक जाती हैं। उनसे क्रमशः छोटी तरङ्गोंवाली अधिक दूरी तक जाती हैं। इस प्रकार सबसे छोटी तरङ्गोंवाली गायत्रीसंज्ञक किरणें पृथिवीलोक तक पहुंचती हैं। पृथिवीलोक से आगे जानेवाली किरणें और भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम तरङ्गोंवाली होती हैं। इनकी गणना प्राञ्चि छन्दों में जाननी चाहिये।[2]

यतः गायत्रीसंज्ञक सूर्यरश्मियां ही पृथिवीलोक तक पहुंचती हैं, अतः इनके द्वारा ही सोम पृथिवीलोक तक पहुंचता है। इसी तत्त्व का वर्णन **दिवि वै सोम आसीत्। तं गायत्री श्येनो भूत्वा आहरत्** वचन द्वारा आलंकारिक भाषा में किया है।

यहां यह ध्यान रहे कि अन्तरिक्ष में जो रुका हुआ यमी तत्त्व विद्यमान था उसके साथ उस यम (सोम) का सम्बन्ध नहीं होता जो गायत्रीसंज्ञक सूक्ष्मतम रश्मियों के साथ आता है।

अब हम त्रिलोकस्थ सोम का वर्णन करते हैं क्योंकि सृष्टिगत त्रिस्थानीय यज्ञों में त्रिविध सोम ही आहुत होता है।

पृथिवीस्थानीय सोम—पृथिवीस्थानीय सोम है सोमलता। आयुर्वेदीय चरक-संहिता में इस सोमवल्ली का स्वरूप तथा उसके अनेक भेदों का वर्णन मिलता है। इसका प्रयोग जीर्णशीर्ण शरीर के कायाकल्प में उपलब्ध होता है। परन्तु यह लगभग ४-५ सहस्र वर्ष पूर्व ही दुर्लभ हो गया था। अतः ब्राह्मणग्रन्थों में **यदि सोमं न विन्देत् पूतिकानभिषुणुयात्** (द्र०—ताण्ड्य ब्रा० ६।५।३; काठक सं० ३४।३) सोम की

---

१. **छन्दोभिरश्वरूपैः**। वायुपु० ५२।४५। इसी प्रकार मत्स्य १२५।४२; विष्णु २।८।७ में भी सूर्य के अश्वों=वाजिनों=हयों को छन्द कहा है।

सूर्य के सप्त अश्वों=रश्मियों के लिए सप्त छन्दोनाम—

सप्ताश्वरूपाश्छन्दांसि वहन्ते नामतो धुरम्।
गायत्री चैव त्रिष्टुप् च अनुष्टुब्जगती तथा।
पंक्तिश्च बृहती चैव उष्णिक् चैव सप्तमम्॥

—वायु पु० ५१।६४, ६५॥

विशेष हमारी "वैदिक छन्दोमीमांसा" पुस्तक के प्रथमाध्याय में देखें।

२. हम मानवों का सम्बन्ध पृथिवी तक ही है। अतः भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध विवरण गायत्री तक ही सीमित मिलता है। इसीलिये प्राञ्चि छन्दों (२०, १६, १२, ८, ४ अक्षरोंवाले) के सम्बन्ध में हमको सूर्यरश्मिविषयक उल्लेख नहीं मिला।

अनुपलब्धि की अवस्था में प्रतिनिधि के रूप में पूतीकसंज्ञक घास के अभिषव का विधान मिलता है। यजुर्वेद के **सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा** (६।४०) वचन के आधार पर यज्ञों में सोम के भक्षण का अधिकारी ब्राह्मण ही माना गया है। इसलिए यदि राजन्य वा वैश्य सोमयाग करे और वह यज्ञशेष के रूप में सोम का भक्षण करना चाहे तो उसे बड़ की कोपलें पीसकर दही में मिलाकर भक्षण के लिए दी जाती हैं।[1] इस वचन से बड़ (न्यग्रोध) भी सोमप्रधान है, यह जाना जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा गया है कि गायत्री द्वारा सोम का आहरण करते समय उसके जो बिन्दु पृथिवी पर पड़े उनसे पलाश वृक्ष उत्पन्न हुआ। इस अर्थवाद से पलाश की भी सोमप्रधानता विदित होती है। सम्भवतः इसी कारण उपनयन संस्कार के समय ब्राह्मण वटु को पलाश का दण्ड देने का विधान है।

सृष्टियज्ञ में पृथिवी पर जिस सोम की आहुतियां पड़ती हैं, वह गायत्रीसंज्ञक सूर्यरश्मियों से आहृत सोम है। इस कारण यदि ओषधि-वनस्पतियों को सूर्य की किरणें वा उनकी ऊष्मा प्राप्त न होवे तो वे प्रायः मुरझा जाती हैं। इतना ही नहीं, कमरे में रखे गये पौधे, कमरे में जिस दिशा से सूर्य की किरणें वा उसकी ऊष्मा पहुंचती है, उस ओर प्रायः झुक जाते हैं। इसीलिए वेद में सोम को ओषधियों का राजा कहा गया है— **सोमो वीरुधामधिपतिः** (अथर्व ५।२४।७)। प्राणी जगत् पर भी किरणों द्वारा प्राप्त सोम की प्राप्ति वा अप्राप्ति का प्रभाव देखा जाता है। जब वर्षा ऋतु में कई-कई दिन बादल घिरे रहते हैं तो शरीर में आलस्य वा अनुत्साह की प्रतीति होती है।

इस सृष्टि में मानव ही सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। इसका प्रधान कारण उसका मेधावी होना है। अन्य प्राणी तो सृष्टि के आदि में जिस प्रकार जीवनयापन करते थे, उसी प्रकार आज भी करते हैं। परन्तु मानव अपनी बुद्धि के बल पर प्राकृत रहन-सहन, खान-पान आदि में बहुविध कृत्रिमता उत्पन्न कर चुका है। और निरन्तर प्राकृत जीवन से दूर होता जा रहा है।

आदिकाल में मानव अपने शरीर का पोषण किस प्रकार करता था, इसी की व्याख्या अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य इष्टियों के द्वारा दर्शाई है। अतः पृथिवीस्थानीय यज्ञों के पदार्थ भी सोमप्रधान गोदुग्ध वा उससे निष्पन्न दधि, आमिक्षा (छेना) घृत तथा सोमप्रधान व्रीहि और यव तथा उनसे निष्पन्न पदार्थ ही हैं।

---

१. यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत, स यदि सोमं बिभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिमीराहृत्य ताः संपिश्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्, न सोमम्। द्र०—आप० श्रौत० १२।२४।५ (स्वल्पपाठभेदेन)।

अन्तरिक्षस्थानीय सोम है—मेघों से उत्पन्न जल। इनकी उत्पत्ति कैसे होती है, यह दर्शाना ही सोमयाग का प्रयोजन है। अचानक महती वृष्टि जिसे लोक में 'बादल का फटना' कहा जाता है, से होनेवाली हानि के निवारण का उपाय भी इसी से व्याख्यात हो जाता है।[1] वैदिकग्रन्थों में उच्चनीचस्थानीय सात प्रकार के मेघों का वर्णन उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में इन्द्रदेवताक बारहवें सूक्त के बारहवें मन्त्र में सप्तविध मेघों का सप्तसिन्धु के रूप में उल्लेख मिलता है। सायणाचार्य ने इस मन्त्र के भाष्य में तैत्तिरीय आरण्यक १।९।४-५ पठित सप्तविध मेघों का निर्देश किया है। उनके नाम हैं—**वराहवः, स्वतपसः, विद्युतः, महसः, धूपयः, शवायः**।[2] इन उच्चनीचस्थानीय मेघों से उत्पन्न होनेवाले विभिन्न मात्रा में सोम से संयुक्त सप्तविध जलों की व्याख्या के लिए ऋषियों ने सोमयाग के अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और आप्तोर्याम संज्ञक सात संस्थाओं का विधान किया है।[3]

---

१. द्र०—आगे मुद्रित 'सोमयागे वृष्टिविज्ञानम्' लेख।

२. तैत्तिरीय आरण्यक १।९।४-५ में ये 'वराहवः' आदि सप्तविध मरुतों के नाम हैं। यहां सायणाचार्य ने 'विद्युन्महसः' समस्त पद को एक नाम मानकर लिखा है—**अत्र वराहव इत्यारभ्य गृहमेधा इत्यन्तैः षड्भिः पदैः पर्जन्यप्रवर्तका वायुविशेषा उच्यन्ते**। यह व्याख्या जहां ऋ० २।१२।१२ की स्वीय व्याख्या के विरुद्ध है, वहां तै० आ० के अगले मन्त्र **पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति** से भी विपरीत है। इतना ही नहीं, इसी मन्त्र के अगले **सप्तभिर्वातैरुदीरिताः** भाग में भी सप्तविध मेघों का स्पष्ट निर्देश है। अतः सप्तविध मरुतों और उनसे उत्पन्न **विद्युन्महसः** समस्त पद है। इसमें **विद्युतः** और **महसः** दो मरुतों का निर्देश है।

वराहवः आदि बहुवचनान्त शब्द हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी निरुक्त ५।४ में लिखा है—**अथाप्येते माध्यमिका देवगणा वराहव उच्यन्ते**। ये **वराहवः** आदि मरुतों के ७ प्रधान गणों के नाम हैं। इन्हें ही सप्तपरिवह कहा जाता है। यजुर्वेद के पुरुषाध्याय के १५वें मन्त्र में इन्हें ही **सप्तपरिधयः** कहा है। एक-एक गण में सात-सात मरुतों का समुदाय है। इसीलिए ब्राह्मणग्रन्थों में **सप्त सप्त मरुतः** कहा है। इस प्रकार ७×७=४९ मरुत पृथिवी से द्युपर्यन्त हैं।

३. आश्विन मास में जो उच्चतम मेघों से जल बरसता है उसे सुश्रुतसंहिता में **गाङ्ग** जल कहा है। इस काल में निम्न मेघों से भी वर्षा होती है। अतः भगवान् सुश्रुत ने लिखा है—तत्र [धारं जलं] पुनर्द्विविधम्—गाङ्गं सामुद्रं चेति। तत्र गाङ्गम् आश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति (सूत्रस्थान जलवर्ग ४५।३)। यह विशेषरूप से

द्युलोकस्थ सोम—पृथिवीस्थानीय जल वाष्पीकरण के समय यम यमी (हाई-ड्रोजन आक्सीजन) के रूप में विभक्त होकर द्युलोक तक पहुंचनेवाला परमसूक्ष्म यम रूप तत्त्व ही सोमसंज्ञक है। यह हम पूर्व (पृष्ठ ६८-६९) विस्तार से लिख चुके हैं।

प्रसङ्ग से हम **यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे** उक्ति के अनुसार शरीरस्थ सोम का भी वर्णन करते हैं। शरीर में पृथिवीस्थानीय सोम है वीर्य। यह वीर्य सुषुम्णा नाड़ी के साथ ऊर्ध्वगमन करता हुआ और उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता हुआ द्युलोक मस्तिष्क तक पहुंचता है। इसे आयुर्वेदज्ञ ओज नाम की अष्टम धातु मानते हैं। यह मस्तिष्क के दोनों भागों के मध्य त्रिकोणस्थ स्थान में पीत वर्ण का द्रवरूप है। समस्त ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के सूक्ष्म तन्तु इसी से सम्बद्ध हैं। ये चक्षु आदि इन्द्रियां ही द्युलोकस्थ देवगण हैं। इसी ओजरूप सोम का पान करके ये बलवती होती हैं। समस्त शरीर में व्याप्त जो ज्ञानतन्तु और कर्मतन्तु हैं वे सारे शरीर में ओजरूप सोम को पहुंचाते हैं। इसी से शरीर ओजस्वी बलवान् बनता है। वीर्यक्षय से ओज की उत्पत्ति न्यून होने से तथा ओज के क्षय से शरीर म्लान एवं उत्साहरहित होता है। यही ओज मध्यस्थान में वर्तमान यकृत् को बलवान् बनाकर खाये हुए अन्न को रक्तरूप में परिणत करता है।

आदित्य के विविध कर्म वा स्थितियों के निदर्शन के लिए अग्निचयन का विभिन्न चितियों के भेद से अनेक रूप से शास्त्रकारों ने वर्णन किया है।

सामान्यतया अग्निचयन क्रतु[1] की जो वेदिका बनाई जाती है, वह सोमयाग की वेदि से परिमाण में बड़ी होती है। इतना ही नहीं, वेदि निर्माण से पूर्व वेदि के लिए स्थान रेखाङ्कित किया जाता है। तत्पश्चात् सूर्य की किरणों द्वारा प्राप्त सोम, किरणों की ऊष्मा आदि पृथिवीस्थ चराचर जगत् के जिन-जिन पदार्थों की उत्पत्ति में निमित्त बनते हैं, उन सबका वेदि के लिए रेखाङ्कित भूमि पर निदर्शन किया जाता है। यथा—

सोमप्रधान होने से न स्वयं दूषित होता है, न उसमें स्थापित वस्तु। गङ्गा का जल इसी गुण से युक्त होने के कारण चिरकाल तक विकृत नहीं होता। वायुपुराण में तो स्पष्टरूप में गङ्गा को सोमधारा कहा है—

सोमधारा नदी गङ्गा पवित्रा विमलोदका। ५१।२२॥ विशेष द्रष्टव्य—मीमांसा शाबरभाष्य (मूल) प्रथम भाग के अन्त में परिशिष्ट, पृष्ठ २८-३१॥

१. प्रायः यज्ञ और क्रतु शब्द सामान्यरूप से सभी प्रकार के यागों के लिए प्रयुक्त होता है। परन्तु क्रतु शब्द से सोमयागों का ही ग्रहण होता है। इसीलिए

रेखाङ्कित भूमि पर हल चलाकर हल से जो भूमि पर लेखन होता है, उसमें सप्त ग्राम्य ओषधियों का वपन होता है। पुनः जल-सिंचन किया जाता है (यह विधि कृष्टपच्य धान्यों की उत्पत्ति का प्रतीक है)।[1] जिस स्थान पर हल नहीं चला, उस स्थान पर जंगली सप्तविध ओषधियों के बीज बिखेरे जाते हैं और जलसेचन किया जाता है (यह विधि वर्षा ऋतु में जो जंगली धान अपने आप उत्पन्न होते हैं; उनका प्रतीक है)। भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति के पश्चात् उनका उपयोग करनेहारे पशु-पक्षियों की उत्पत्ति होती है। वैदिक त्रैमय में पुरुष की गणना भी पशुओं में विशिष्ट पशु के रूप में ही की जाती है।[2]

आधान पुनराधान—यद्यपि यज्ञीय अग्न्याधान प्रक्रिया के विषय में श्रौतयज्ञ-मीमांसा में विस्तार से लिख चुके हैं। परन्तु दैवी यज्ञों और मानुष यज्ञों को ध्यान में रखकर अग्न्याधान और पुनराधान के विषय में यहां संक्षेप से लिखा जाता है।

सृष्टियज्ञ में तीनों पृथिवियों पर दैवी प्रक्रियानुसार आरम्भ में जिन अग्नियों

पाणिनि ने भी "**ऋतुयज्ञेभ्यश्च**" (अष्टाध्यायी ४।३।६८) में दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है। वैदिक ग्रन्थों में बहुधा यज्ञ और ऋतु दोनों का सह निर्देश भी मिलता है। यथा—'दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः' (तै० ब्रा० २।३।६।२), 'चातुर्मास्यानां यज्ञक्रतूनां पञ्च ऋत्विजः' (तै० ब्रा० २।३।६।२,३) आदि में ऋतु शब्द किसी यागविशेष का सूचक नहीं है। अपितु यौगिक "कर्म" अर्थ को कहता है—दर्शपूर्णमास यज्ञकर्म के, चातुर्मास्य यज्ञकर्म के। इसीलिए पाणिनि ने **ऋतुयज्ञेभ्यः** पढ़ा। **यज्ञक्रतुभ्यः** पढ़ने पर "यज्ञकर्मवाचकों से" यह अर्थान्तर भी प्रतीत हो सकता था।

१. यह ध्यान रहे कि जिन्हें हम ग्राम्य ओषधियां (अन्न) कहते हैं वे सृष्टि के आदि में भूमि की उर्वरा शक्ति के आधिक्य के कारण बिना बोए उत्पन्न होती थीं। भूमि की यह स्थिति सहस्रों वर्षों तक रही। जब भूमि की उर्वरा शक्ति कम हुई तब मानवों ने कृषिकर्म अपनाया।

२. अथर्ववेद में सद्योविवाहिता वधू का एक आशीर्मन्त्र है—"**वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।**" (अथर्व १४।२।२५)। लौकिक साहित्य में भी साहित्य, संगीत, कलाविहीन पुरुष को पुच्छ-सींग रहित पशु कहा है—"**साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।**" (भर्तृहरि नीति-शतक)।

का आधान[1] होता है वे सृष्टि के पूरे समय तक अर्थात् प्रलय के पूर्व तक यथावत् बनी रहती हैं। परन्तु जब ऋषियों ने दैवी यज्ञों के अनुकरणरूप में द्रव्यमय यज्ञों का प्रचलन आरम्भ किया, तो पृथिवी पर अग्नि के प्रथम प्रादुर्भाव के अनुरूप अरणियों के मन्थन द्वारा अग्नि को उत्पन्न करके लोक य के प्रतिनिधिरूप गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्निसंज्ञक कुण्डों में स्थापन किया।

पुनराधान की आवश्यकता—तीनों कुण्डों में स्थापित अग्नियों को प्रयत्नपूर्वक सदा प्रज्वलित रखने का विधान है। परन्तु किसी कारणवश एक वा दो वा तीनों अग्नियां बुझ जायें, तो संकल्पित अग्निहोत्रादि कर्मों को करने के लिए पुनराधान का विधान किया है।

मनुष्यशरीर में जो गर्भकाल के अग्न्याधान स्वरूप वीर्य, प्लीहा और ओज के रूप में तीनों अग्नियों का स्थापन होता है, उसे भी प्रयत्नपूर्वक यथावत् प्रज्वलित रखना होता है। बाल्यकाल में माता की असावधानता वा उत्तरकाल में उस व्यक्ति की असावधानता अधिक भोजन आदि के रूप में यकृत् रूप अग्नि वा अतिमैथुन आदि के कारण वीर्यरूप अग्नि क्षीण हो जाये अथवा वीर्यनाश से ओज की यथावत् मात्रा में उत्पत्ति न होवे वा किसी रोगादि के कारण ओजक्षय हो जाये तो चिकित्सक ओषधियों का सेवन कराकर शरीरस्थ अग्नियों को पुनः प्रदीप्त कर मनुष्य को स्वस्थता प्रदान करते हैं। इस प्रकार शरीरस्थ अग्नियों का भी पुनराधान किया जाता है। यज्ञीय पुनराधान में ऋत्विजों को दक्षिणा के रूप में **पुनरुत्स्यूत** (जर्जर हुए वस्त्र को नया रूप प्रदान किया वस्त्र), **पुनर्णव रथ** (पुराने रथ को मरम्मत द्वारा नवीन रूप दिया गया रथ) आदि दिये जाते हैं। यज्ञीय पुनराधान में तो पूर्व नष्ट अग्नियों को हटाकर पुनः अरणिमन्थन द्वारा उत्पन्न करके अग्नियों का स्थापन किया जाता है। अतः इनकी दक्षिणा का कर्मानुकूल यथावत् स्वरूप उपपन्न नहीं होता। परन्तु शरीरस्थ अग्नियों के पुनराधान में दक्षिणा में दिये गये वस्त्र रथ के स्वरूप की उपपत्ति यथावत् होती है। यतः चिकित्सक शरीर में विद्यमान क्षीण अग्नियों को ही चिकित्सा द्वारा यथावत् रूप प्रदान करता है। इस कारण शरीरस्थ अग्नियों के पुनराधान में दिये गये पुराने वस्त्र और रथ को नवीन रूप प्रदान कर देना यथावत् उपपन्न होता है।

त्रिस्थानीय श्रौतयज्ञों में से प्रतिस्थान एक-एक याग की सृष्टियज्ञ की दृष्टि से संक्षिप्त व्याख्या आगे प्रस्तुत करते हैं।

---

१. स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥ (ऋ०१०।८८।१०)
तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। (निरुक्त ७।२८)

दर्शपूर्णमास

दर्शपूर्णमास आदि इष्टियों का सम्बन्ध पृथिवीस्थानीय सृष्टियज्ञों के साथ है। अतः पृथिवी की रचना से लेकर उस पर उत्पन्न ओषधि व वनस्पतियों एवं पशु-पक्षी आदि प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और जीवित रहने के साधनों के साथ भी उनका सम्बन्ध है। पृथिवी पर ओषधि वनस्पतियों की तथा अग्नि की प्रथम उत्पत्ति की व्याख्या वेदिनिर्माण तथा अरणियों से अग्नि का उत्पादन करके अग्निस्थापन द्वारा दर्शायी है। प्राणियों की उत्पत्ति कैसे हुई इसकी व्याख्या किसी यज्ञ वा यज्ञीय अवान्तर विधियों में हमें उपलब्ध नहीं हुई। सम्भवतः इसका कारण ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति से ही व्याख्यात समझा गया होगा।[1]

ओषधि वनस्पति आदि अचर जगत् की उत्पति जैसे और जिन सृष्टिगत नियमों के अनुसार हुई वा होती है, उसी प्रकार उनके जीवनयापन की सामग्री भी सृष्टियज्ञ स्वयं प्रदान करता है। हां, इतना अवश्य है कि जिन पौधों, वृक्षों तथा अन्नों की स्वाभाविक उत्पत्ति में मानव ने दखल देकर इन्हें अपने नियन्त्रण में ले लिया, उनके जीवनयापन का उत्तरदायित्व भी मानवों पर आ गया। यही स्थिति मानवों द्वारा अपनाये गये पशु-पक्षियों पर भी लागू होती है।

प्राणिजगत् में मनुष्य से इतर अन्य पशु-पक्षियों की उत्पत्ति एवं पालन सृष्टियज्ञ के नियमों के अनुसार होता है। परन्तु मानव प्राणियों में बुद्धितत्त्व की विशेषता के कारण अन्य सभी से श्रेष्ठ है। जहां अन्य प्राणी सृष्टि के आरम्भ में जिस प्रकार अपना जीवनयापन करते थे, उसी प्रकार आज भी करते हैं। परन्तु मानव ने अपनी बुद्धि के बल पर प्राकृत जीवन का शनैः-शनैः परित्याग करके अपनी जीवनयापन पद्धति को बदला है, और बदल रहा है। उसका अन्त कहां होगा इस विषय में अनुमान लगाना भी कठिन है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि मानव अपने जीवनयापन पद्धति में जैसे बदलाव ला रहा है, वह सम्भवतः अपने अस्तित्व पर ही कुठाराघात कर रहा है। यदि इसे मानव ने न रोका तो यही उसके अन्त का कारण बन सकता है।

आधुनिक वैज्ञानिक विकासवाद के जिस सोपान पर खड़े होकर मानव की

---

१. इस पर विचार ज्योतिषशास्त्र के प्रकरण में "पृथिवी के अतिरिक्त किसी ग्रह-उपग्रह पर जैविक सृष्टि नहीं" शीर्षक लेख में करेंगे।

उत्पत्ति और उसके आदि जीवनयापन पद्धति का बखान कर रहे हैं, वह नितान्त अवैज्ञानिक है। यहां उसकी आलोचना करने का प्रसङ्ग नहीं है।[1] प्रकृत में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि प्राणिजगत् में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जो यह सिद्ध कर सके कि आदि मानव आखेट द्वारा वन्य पशुओं को मारकर उनके मांस का भक्षण करके जीवनयापन करता था। जितने भी निरामिषभोजी वानर आदि प्राणी हैं, वे फल मूल आदि न मिलने पर मर जायेंगे, परन्तु मांस का भक्षण नहीं करेंगे। आधुनिक वैज्ञानिकों के मतानुसार आदि मानव की स्थिति निरामिषभोजी पशु से भिन्न नहीं थी। अतः पशुओं के सदृश व्यवहार करनेहारा मानव कभी मांस खाने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, जब भी मानव स्थिति में आया, उस समय पृथिवी पर उसका स्वाभाविक भोजन कन्द मूल फल आदि पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। अतः उसकी अस्वाभाविक भोज्य मांस की ओर प्रवृत्ति क्योंकर हो सकती थी ?

आदिमानव के मांसाहारी होने के प्रमाणरूप में उत्खनन से प्राप्त आखेट के पाषाणादि के उपकरणों को उपस्थित किया जाता है, परन्तु उत्खनन में प्राप्त वस्तुएं पुरातत्त्वविदों के मत में भी कुछ हजार वर्ष ही पुरानी हैं। इसके विपरीत मानव जाति का जो इतिहास भारतीय वाङ्मय में सुरक्षित है, वह लाखों वर्ष पुराना है। इस सुदीर्घकाल में मानवजाति पर क्या-क्या और कब-कब ऐसी भीषण आपदाएं

---

१. आधुनिक वैज्ञानिकों का यह सर्वसम्मत मत है कि उत्तरोत्तर विकसित हो रहे प्राणियों का जो अङ्ग अनुपयोगी हो जाता है, वह धीरे-धीरे क्षीण होकर लुप्त हो जाता है। इस नियम के परिप्रेक्ष्य में स्तनपायी पशुओं में नर के शरीर में विद्यमान स्तन अनुपयोगी होने पर जब घोड़े तक पहुंचते-पहुंचते लुप्त हो गया (नर घोड़े में स्तनचिह्न नहीं होता है) तो उससे उत्तर विकसित प्राणियों के नरों में स्तनचिह्न दुबारा क्योंकर उत्पन्न हो गये ? इसका उत्तर आजतक वैज्ञानिकों को नहीं सूझा। इसलिये **"विकासवाद में घोड़ा बड़ा रोड़ा"** कहावत प्रचलित हो गई है। भारतीय सृष्टिविज्ञान के अनुसार सभी प्राणियों के शरीरों की स्वतन्त्र उत्पत्ति मानी जाती है। एक जाति से दूसरी जाति का विकास नहीं माना जाता है। अतः उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता।

विकासवाद में एक दोष और है। समानजातीय प्राणियों में कुछ का तो आगे विकास होता गया और कुछ का विकास क्यों रुक गया ? यदि सभी का समानरूप से विकास होता रहता तो पूर्वशरीरधारी जो पशु-पक्षी सम्प्रति उपलब्ध होते हैं, वे दृष्टिगोचर नहीं होते।

आईं, जिनके कारण एक सुसभ्य मानववर्ग को स्वदेश घर-बार आदि छोड़कर सुदूर भागना पड़ा और खानाबदोश स्थिति में निर्वाह करना पड़ा। इस स्थिति में उन्हें अपनी संस्कृति तथा ज्ञान से भी हाथ धोना पड़ा और उन्हें जंगली जीवनयापन करना पड़ा। प्रायः उत्खनन में प्राप्त वस्तुएं जो आदिवासियों की कही जाती हैं ऐसे ही वर्गविशेष से सम्बद्ध हो सकती हैं। अतः इन उत्खननों से प्राप्त आखेट के पत्थर आदि के उपकरणों के आधार पर आदिमानव को मांसाहारी नहीं माना जा सकता।

यहां मैं अपने ही देश की लगभग एक हजार वर्ष पूर्व की घटना की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं (जिस पर से रहस्य का परदा कुछ वर्ष पूर्व ही दूर हुआ)। उससे स्पष्ट हो जायेगा कि एक सुसंस्कृत और विविध ज्ञानों का आगार मानववर्ग कैसे परिस्थितियों के कारण तथाकथित आदिवासियों की तरह जीवन-यापन कर रहा है।

भारतीय इतिहास से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में कश्मीर विद्या के क्षेत्र में समस्त भारत का सिरमौर था[1]। यह स्थिति न्यूनाधिकरूप में विक्रम की ११-१२ वीं सदी तक रही। यहां अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का विशेष प्रचार था।[2] जब कश्मीर पर नृशंस विदेशी मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए तब कश्मीर के ब्राह्मणों के एक वर्ग को स्वधर्म और प्राण बचाने के लिए भागकर सुदूर पूर्व उड़ीसा के पर्वतीय क्षेत्रों का आश्रय लेना पड़ा। वे अपनी पैप्पलाद शाखा को भी साथ लेते गये। परन्तु यह विद्या में अग्रणी समाज भी सुदूर प्रदेश में जाकर अपनी विद्या वा संस्कृति को स्थिर नहीं रख सके। इस रहस्य पर से परदा तब दूर हुआ जब पैप्पलादशाखा के सम्पादक दुर्गामोहन भट्टाचार्य पैप्पलाद शाखा के हस्तलेखों की उपलब्धि के लिए इस प्रदेश में गये। उन्हें किसी प्रकार यह ज्ञात हुआ था कि इस प्रदेश में पैप्पलादशाखी ब्राह्मण रहते हैं। उड़ीसा के भुवनेश्वर नगर के एक पुस्तकालय में भी पैप्पलादशाखा के तीन हस्तलेख हैं।[3]

---

१. जैसे सम्प्रति उपनयनकाल में काशीगमन का निर्देश मिलता है, वैसा ही अति प्राचीन ग्रन्थों में कश्मीरगमन का निर्देश उपलब्ध होता है।

२. अध्यापक रुडल्फ रॉथ को कश्मीर से पैप्पलाद शाखा का एक त्रुटित हस्तलेख मिला था। यह शारदालिपि में है। इसकी फोटोकापियां अनेक स्थानों में हैं। डा० रघुवीर ने इसी त्रुटित हस्तलेख के आधार पर लाहौर से इसका एक नागराक्षर संस्करण तीन भागों में प्रकाशित किया था।

३. मुझे इसकी सूचना मई १९७६ में भुवनेश्वर जाने पर डा० दुखिया श्याम पटनायक ने दी, जो उस समय राजकीय सांस्कृतिक व्यापार विभाग में कार्यरत

इन कश्मीरी ब्राह्मणों की सम्प्रति जो जीवनपद्धति है, वह उस प्रान्त में तथा अन्य प्रान्तों में रहनेवाले तथाकथित आदिवासियों से विशेष भिन्न नहीं है।

हम पुरातत्त्वविदों द्वारा उत्खनन में प्राप्त वस्तुओं का अपलाप नहीं करते, किन्तु जिस दृष्टि से इनकी जो व्याख्या ये पुरातत्त्ववित् करते हैं, वह दृष्टि मिथ्या है। उदाहरण के लिए हम इनका एक मत उद्धृत करते हैं।

किसी प्राचीन ऐतिहासिक स्थान को पुरातत्त्वविद् खोदते हैं तो प्रायः लोहे के उपकरण ऊपरी स्तर वा मध्यम स्तर में उपलब्ध होते हैं। निचले स्तरों में लोहे की वस्तुएं नहीं मिलतीं। वहां प्रायः तांबे के उपकरण वा वस्तुएं प्राप्त होती हैं। इस आधार पर पुरातत्त्वविदों ने यह निर्णय किया है कि इन स्थानों पर रहनेवाले प्राचीन निवासियों को तांबे का ज्ञान पहले हुआ,लोहे का ज्ञान उत्तरकाल, में क्योंकि लोहा ऊपरी स्तरों पर ही पाया जाता है। अतः ये लोहकाल से ताम्रकाल को प्राचीन स्वीकार करके उत्खनन में प्राप्त सामग्री का काल-निर्धारण करते हैं।

यदि इस पर थोड़ासा भी विचार किया जाये तो इस कालक्रम की अवैज्ञानिकता स्पष्ट हो जाती है। यह बात एक गंवार आदमी भी जानता है कि लोहे की वस्तुएं जल और मिट्टी का संयोग पाकर जंग लगकर कालान्तर में नष्ट हो जाती हैं, परन्तु ताम्बा कितने ही समय तक भूमि में दबा रहे उस पर जल और मिट्टी का प्रभाव नहीं होता, इसलिये उससे निर्मित वस्तुएं सहस्रों वर्षों तक यथावत् विद्यमान रहती हैं। यही प्रधान कारण है कि उत्खनन में निचले स्तरों में लोहे के उपकरण उपलब्ध नहीं होते, तांबे की वस्तुएं उपलब्ध होती हैं। अतएव प्राचीन आर्य दानपत्रों और मुद्राओं में तांबे का ही प्रयोग करते थे।

इतना ही नहीं,लोहा प्रायः पृथिवी के ऊपरी स्तर पर पाया जाता है,जबकि तांबा पृथिवी के भीतर गहराई में उपलब्ध होता है। इस अवस्था में प्राचीन मानवों को ऊपरी स्तर पर प्राप्त लोहे का तो ज्ञान नहीं हुआ और पृथिवी के भीतर गहराई में

थे। मेरे अनुरोध पर इन्होंने इसका सम्पादन आरम्भ किया था। मैंने सम्पादन के लिए अनेक बहुमूल्य पुस्तकें दीं और उड़िया से नागरी लिपि में प्रतिलिपि करने लिए ३०० रु० मासिक भेजता रहा। परन्तु कुछ काल पश्चात् इन्होंने पत्र-व्यवहार बन्द कर दिया। मेरे रजिस्टर्ड पत्रों का उत्तर भी नहीं दिया। इस प्रकार इन महाशय ने मुझे लगभग ३ हजार रुपये का चूना लगाया। लौकिक किंवदन्ती है—'ब्राह्मण के समान न कोई धूर्त वा दुष्ट होता है और न कोई सज्जन वा सहृदय।'

उपलब्ध तांबे का ज्ञान पहले क्योंकर हो गया ? क्या इसका समाधान है आधुनिक पुरातत्त्वविदों के पास ?

मानव में तथा अन्य प्राणियों में कतिपय विषयों में नैसर्गिक भेद है। यथा गवादि पशुओं के बच्चे को यदि पानी में छोड़ दिया जाय तो वह डूबता नहीं, परन्तु मनुष्य को तैरने की कला प्रयत्नपूर्वक सीखनी पड़ती है। इसी प्रकार गवादि पशुओं को भूकम्प आदि अनेक अनागत आपदाओं का समय से पूर्व ज्ञान हो जाता है (यह सर्वसम्मत बात है)। चींटी जैसे क्षुद्र प्राणियों को आसन्न वर्षा वा गर्मी का परिज्ञान समय से पूर्व हो जाता है। अतः वे वर्षा होने का ज्ञान होने पर अपने अण्डों को नीचे स्थान से ऊंचे स्थान पर ले जाती हैं, गरमी पड़ने का ज्ञान होने पर अपने अण्डों को नीचे स्थान में ले जाती हैं। यह भारतीय दार्शनिकों में **पिपीलिकाण्ड-संचार** प्रसिद्ध है। मानव ने यद्यपि विज्ञान में महती उन्नति कर ली परन्तु वह आज भी भूकम्प के पूर्वज्ञान के विषय में पशुओं के बराबर नहीं है। यहां यह भी ध्यान रहे कि पाश्चात्य वैज्ञानिकों का अधिकतर विज्ञान प्राकृतिक पर्यावरण को प्रदूषित कर प्राणिजगत् का उत्साद करनेवाला है तथा यही विविध युद्धोपकरणों की स्थिति है। सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन किया जाये तो जितने भी भीमकाय यन्त्र निर्मित हुए हैं और हो रहे हैं वे मनुष्यों में दरिद्रता, बेरोजगारी तथा विविध रोगों के कारण बने हैं और बन रहे हैं। इस स्थिति से निपटने का एकमात्र उपाय है ग्रामोद्योग (जैसे भारत में पूर्वप्रचलित थे और वे स्वीय जीवनयापन में समर्थ थे)। भारतीय समाज-शास्त्र के आदि प्रवक्ता ने तो महायन्त्र-प्रवर्तन को उपपातकों में गिना है। इसी प्रकार महासंहारक अस्त्रों पर भी परमजितेन्द्रिय सांसारिक विषयवासना वा लोभादि से दूर तपस्वी ब्राह्मणों का एकाधिकार रहा है। वे लोग सूक्ष्म परीक्षण करके ही किसी क्षत्रिय आदि को इसका ज्ञान देते थे। कोई निरङ्कुश शासन चाहे राजाओं का हो अथवा वर्त्तमान तथाकथित लोकतन्त्र का, उन विज्ञानविद् ब्राह्मणों से बलात् भीषण अस्त्रों का रहस्य पाने में वे असमर्थ थे।

इतनी भूमिका के पश्चात् हम प्रकृत विषय दर्शपूर्णमास याग पर आते हैं।

मानवसृष्टि होने पर मानव ने पहले अपने खाद्य कन्दमूल फलों को अपनाया। तत्पश्चात् कुछ समय बीतने पर वह दुधारू पशुओं के दूध वा उनसे उत्पन्न पदार्थों का सेवन करने लगा। इन दुधारू पशुओं में उसने गाय को महत्ता प्रदान की; क्योंकि अन्य पशुओं की अपेक्षा गाय का दूध अधिक सौम्य था। तदनन्तर उसने अन्नों को अपनाया। ग्राम्य सप्तविध अन्नों में उसने व्रीहि और यव को प्रमुखता दी, क्योंकि ये अन्य अन्नों की अपेक्षा अधिक सौम्य हैं। अथर्ववेद में दांतों को उद्देश्य करके कहा है—**व्रीहिमत्तं यवमत्तं** (६।१४०।२)। इससे स्पष्ट है कि आर्यों का प्रथम

भक्ष्य अन्न व्रीहि और यव रहा है। ये अन्न आदिकाल में पृथिवी पर स्वतः उत्पन्न होते थे। उत्तर काल में जब शनैः-शनैः भूमि की उर्वराशक्ति क्षीण हुई,तब मानवों ने अन्नों को उपजाने के लिए कृषि को अपनाया।

व्रीहि और यव जिस रूप में उपलब्ध होते हैं, उस रूप में वे भक्षणयोग्य नहीं होते। इसलिए मानव ने इन्हें किस प्रकार भक्षणयोग्य बनाया, उस आदिकालीन प्रक्रिया का निदर्शन दर्शपूर्णमास आदि इष्टियों में पुरोडाश चरु(बिना मांड निकाले पकाया गया भात), यवागू, सक्तू, पयस्या आदि के रूप में उसी प्रकार किया जाता है। जैसे अग्नि की प्रथम उत्पत्ति पृथिवी पर कैसे हुई थी उसे दर्शाने के लिए काष्ठमयी अरणियों के मन्थन द्वारा उत्पन्न अग्नि का यज्ञार्थ आधान किया जाता है।

पुरोडाश बनाने की विधि संक्षेप में इस प्रकार है—

पौर्णमास आदि यज्ञों में पुराडाश बनाने के लिए जितने व्रीहि वा यव की आवश्यकता होती है[1], उतनी मात्रा में उन्हें लेकर प्रथम उन पर जल छिड़का जाता है। इससे व्रीहि और यवों के तुष नमी पाकर आसानी से पृथक् होने योग्य हो जाते हैं। तत्पश्चात् उन्हें ऊखल में डालकर मूसल द्वारा कूटा जाता है। इससे ऊपर के तुष पृथक् हो जाते हैं। तदनन्तर सूप में डालकर उन्हें फटका जाता है। इससे तुष अलग हो जाते हैं। फिर शेष रहे तण्डुलों (चावलों) को शिला पर डालकर लोढ़ी से पीसा जाता है, जिससे ये चूर्ण (आटे) के रूप में परिणत हो जाते हैं। तदनन्तर कोसे पानी से उसको गूंदकर यज्ञ में जितने पुरोडाश अभीष्ट हों, उतने पिण्ड बनाकर उन्हें हथेली के अग्रभाग से दबाकर कुछ फैलाया जाता है। तदनन्तर अंगारों पर मिट्टी से निर्मित कपालों[2] को रख पुरोडाश रखे जाते हैं। कुछ पकने पर उन्हें गरम राख में दबा दिया जाता है, जिससे वह भलीभांति पक जाता है।

यह सारी विधि आदिकालीन वह विधि है, जिसके द्वारा मानव ने व्रीहि और यवों को भक्षणयोग्य बनाया था। उत्तरकाल में इस विधि में कुछ परिवर्तन हुआ।

---

१. पौर्णमासेष्टि में तीन प्रधान यागों में दो आग्नेय वा अग्नीषोमीय यागों में पुराडाशों की आहुतियां दी जाती हैं। प्रति आहुति चार-चार मुट्ठी व्रीहि वा यव ग्रहण करना होता है।

२. सम्प्रति ये मिट्टी की पकी छोटी-छोटी ठीकरियों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। देवताभेद से इनकी संख्या में भेद होता है।

व्रीहि और यवों को पीसने के लिए शिला और लोढ़ी के स्थान में हाथ की घट्टी का प्रयोग हुआ। इससे पेषण क्रिया में जहां सुगमता हुई कहां काल की बचत भी हुई। पुरोडाश के फैलाव ने धीरे-धीरे बढ़कर वर्तमान रोटी का रूप धारण कर लिया। इसीलिए भारत के किसी प्रदेश में रोटी के लिए पुरोडाश शब्द का भी प्रयोग होता था।[1] छोटे-छोटे मिट्टी के कई कपालों का स्थान मिट्टी के तवे ने ले लिया।[2] परन्तु बाटी बनाने की प्रक्रिया आज भी प्रायः वही है, जो पुरोडाश की है।

प्राचीन आर्यों ने भोजन पकाने वा दूध आदि गरम करने के लिए मिट्टी के पात्रों का ही प्रयोग किया था और राजस्थान में इनका प्रयोग कुछ वर्ष पूर्व तक होता रहा (यही स्थिति न्यूनाधिकरूप में अन्य प्रान्तों में भी रही होगी)। इससे हल्के ताप से जहां अन्न आदि के विशिष्ट तत्त्व (विटामिन) नष्ट नहीं होते हैं वहां पके पदार्थ विशेष स्वादिष्ट भी होते हैं। इसी प्रकार पेड़ों को काटने से बचाने के लिए अरणों (जंगली कण्डों) तथा घर में थापे गए कण्डों का प्रयोग होता था। इनके हलके ताप से बने पदार्थों में मूलतत्त्व सुरक्षित रहते थे।

पृथिवीस्थानीय जितने याग (अपरनाम इष्टियां) हैं, उन सबका सम्बन्ध पृथिवी-स्थानीय मानव के आहार-विहार तथा लौकिक व्यवहारों के साथ है। पृथिवीस्थानीय यागों (इष्टियों) में दर्शपूर्णमास प्रमुख एवं प्रथमकर्त्तव्य है। अतः वेद की शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में दर्शपूर्णमास की समस्त विधियों का उल्लेख किया गया है। दर्शपूर्णमास प्रकरण में उपदिष्ट विधियां ही प्रायः न्यूनाधिक रूप में तत्तत् प्रधान याग की विधि के साथ प्रयुक्त होती हैं। अतः दर्शपूर्णमास प्रकृतियाग कहाता है और चातुर्मास्यादि विकृतियाग।

पिण्डपितृयज्ञ

अमावास्या के दिन तीसरे पहर पिण्डपितृयज्ञसंज्ञक कर्म होता है। इसका उत्तरकालीन मृतक श्राद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक सामाजिक कर्तव्य का द्योतक है।

---

१. द्र०—"पुरोडाशेन मे माता प्रहेलकं ददाति।" मीमांसाशाबरभाष्य १।४।१४॥

२. राजगढ़ (अलवर के पास) के मिट्टी के तवे प्रसिद्ध रहे हैं। हमने भी एक-बार राजगढ़ स्टेशन पर मिट्टी का तवा खरीदा था। राजस्थान में मिट्टी के तवे के स्थान में घड़े को दो भागों में तोड़कर नीचे के भाग का प्रयोग होता रहा है। इसे स्थानीय भाषा में "केलड़ी" कहा जाता था।

प्राचीनकाल में आर्यों में आश्रममर्यादा का परिपालन विशेषरूप से होता था। मानवीय समाजशास्त्र के अनुसार अपत्य का अपत्य होने पर पितृजन सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर आत्मचिन्तन के लिए वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे।[1] यद्यपि इनके खानपान की व्यवस्था का उत्तरदायित्व पुत्र पर नहीं होता था तथापि पुत्र अपना कर्त्तव्य समझकर इन वनस्थ पितृजनों के खानपान, वस्त्र आदि की व्यवस्था करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। अमावस चान्द्रमास की अन्तिम तिथि है (जैसे सम्प्रति दक्षिण भारत में माना जाता है)। अतः इस दिन पुत्रादि अपने वनस्थ पितृजनों के अगले महीने के आवश्यक पदार्थ उन्हें पहुंचाते थे। इसी सामाजिक व्यवस्था का निदर्शन **पिण्डपितृयज्ञ** है। यतः किसी व्यक्ति के आयुष्य में अधिक से अधिक परदादा जीवित रहते थे अतः यह कर्म पिता, पितामह, प्रपितामह तीन के उद्देश्य से किया जाता है।

इस कर्म का समय अमावास्या के दिन अपराह्ण है—**अपराह्णः पितृणाम्**। इसका कारण यह है कि जिन पिता-पितामह के लिए यह कर्म किया जाता है उनके जीवन का काल अपराह्ण के समान जीवन का उत्तरार्ध ही होता है। पहले पिता, पितामह, प्रपितामह के उद्देश्य से भात की तीन आहुतियां दक्षिणाग्नि में दी जाती हैं। तदनन्तर वेदि के आग्नेय कोण में एक अंगारा रखकर उसके चारों ओर तीन उदकाञ्जलियां छोड़ी जाती हैं। तदनन्तर आटे के तीन पिण्डों को रखकर उनपर अञ्जन, अभ्यञ्जन और वस्त्र रखा जाता है। यह सारी प्रक्रिया यह दर्शाती है कि वनस्थ पिता आदि के लिए प्रतिमास अन्तिम तिथि (अमावास्या) आहार-विहार की सामग्री पहुंचाने का प्रतीकात्मक कर्म है।

श्रौतसूत्रादि में जीवितपितृक के लिए पिण्डपितृयज्ञ का निषेध है, वह पुत्र के साथ गृहस्थाश्रम में ही निरत पितादि की दृष्टि से है। वनस्थ पिता आदि तो गृहसम्बन्ध-परित्यक्त होने से मृतसमान ही होता है।

वस्तुतः पिण्डपितृयज्ञ में "पितृ" शब्द उपलक्षण है। इस अवस्था में पहुंचे हुए सभी गुरुजनों के प्रति शिष्यादि का भी कर्त्तव्य है। सम्भवतः पिण्डपितृयज्ञ के इसी रहस्य को आत्मसात् करके मेरे गुरुभाई श्री सत्यदेवजी वाशिष्ठ भिषगाचार्य अपने सामवेद के अध्यापक (नाम स्मरण नहीं) काशी निवासी को उनके जीवन के तृतीय चरण में १५० रु० मासिक प्रतिमास २५ तारीख को आजीवन भेजते रहे। २५ तारीख का नियम इसलिये बनाया था कि उन्हें प्रतिमास महीने के आरम्भ में रुपये प्राप्त हो जावें।

---

१. यह नियम रघुवंशी राजाओं में सहस्रों वर्ष पूर्व तक प्रचलित रहा है। इसीलिए कालिदास ने लिखा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (रघुवंश, १।८)

सोमयागे वृष्टिविज्ञानम्

[यह लेख सन् १९८६ के फरवरी मास में पुणेनगरस्थ वैदिक संशोधन मण्डल में में आयोजित यज्ञचर्चा (गोष्ठी) के लिये लिखा था और उसमें उपस्थित होकर मैंने इसे पढ़ा था। यु० मी०]

वैदिकवाङ्मयस्य सूक्ष्मदृष्ट्यावलोकनेनैतद् रहस्यमतितरां विस्पष्टं भवति यत् तत्र विहिता अग्न्याधानादारभ्य सहस्रसंवत्सरसाध्यान्ता नैत्यिका यज्ञक्रतवः सर्गादारभ्य सहस्रचतुर्युगपरिमिते ब्राह्मेऽहनि परब्रह्मणा संपद्यमानानां तत्सान्निध्येन वा प्रवर्त्यमानानाम् आधिदैविकानां यज्ञक्रतूनां दृष्टादृष्टरहस्यानां निगमयितारः सन्ति। यथाऽग्न्याधाने वेदिनिर्माणे ये अब्वराहविहृतमृद्वल्मीकवपोषसिकताशर्करेष्टकाहिरण्यौषधिवनस्पतिरूपा संभाराः संभ्रियन्ते, ते पृथिवीरूपाया वेद्याः सलिमय्यवस्थात आरभ्य तत्र क्रमशो मृदादीनां प्रादुर्भावान् लक्षयन्ति।

तदुक्तम्—'**स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत·····स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करा अश्मानमयोहिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नव सृष्टयः**' (शत० ब्रा० ६।१।१।१३)[1]। पृथिव्या वेद्याश्च साम्यम्—'**इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः**' (ऋ० १।१६४।३५) इत्यस्यामृच्युक्तम्। ओषधिवनस्पतीनां प्रादुर्भावानन्तरं तासां शाखानां प्रचण्डवायुना परस्परं संघर्षणेन यथा पृथिव्याः पृष्ठे प्रथममग्नेः प्रादुर्भावः समजनि तस्यैव निदर्शनम् आधानेऽरण्योः संघर्षणेन अग्न्युत्पादनप्रक्रियया क्रियते। इत्थमेव अहोरात्रयोः शुक्लकृष्णपक्षयोः चातुर्मासिकर्तुषु दक्षिणोत्तरायणयोः सृष्टौ यद्यत् परिवर्तनं लक्ष्यते तस्य तस्य व्याख्यानम् अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यगवामयनयागैर्विधीयते। तदनन्तरं **सोमयागेन सांवत्सरिकं वृष्टिविज्ञानं व्याख्यायते**। एवं द्वादश-षट्त्रिंशत् षष्टि-शतवर्षेषु सहस्रचतुर्युगेषु यदाधिदैविके जगति परिवर्तनं भवति, तस्य व्याख्यानं द्वादशाहादारभ्य सहस्रसंवत्सरसाध्यानि सत्राणि कुर्वन्ति।[2]

---

१. मैत्रायणीयसंहितायाम् (१।६।३) अस्याः सृष्टिप्रक्रियाया विस्तरेण व्याख्यानमुपलभ्यते।

२. "**वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्**" (ऋ० १०।७१।५) इति ऋक्चरणं

अस्मिन् निबन्धे सोमयागप्रक्रियया यथा वृष्टिविज्ञानं व्याख्यायते तस्य निदर्शनं संक्षेपतः प्रस्तूयते —

प्राथमिकोऽग्निष्टोमकः सोमयागः साङ्गोपाङ्गः षडहःसाध्यः। तत्र प्रथमेऽहनि दीक्षणीयेष्ट्या यजमानस्य तत्पत्न्याश्च दीक्षारूपं प्रधानं कर्म संपाद्यते। उत्तरेषु त्रिष्वहःसु उपसदिष्टयः प्रवर्ग्यश्च क्रियते। पञ्चमेऽहनि प्रातःसवनमाध्यन्दिनसवनतृतीयसवनरूपेण त्रिधा विभज्य सोमाभिषवपूर्वकः सोमयागो भवति। षष्ठेऽहनि उपसहाररूपमवभृथसंज्ञकं कर्म निष्पाद्यते। अत्र त्रयः पशवोऽप्यालभ्यन्ते। सुत्यादिनात् पूर्वदिनेऽग्नीषोमीयः, सुत्यादिने सवनीयः, षष्ठेऽहनि मैत्रावारुणी वशा गौरनुबन्ध्या।

इदमत्रावधेयम्—ये खलु अस्मिन् ब्रह्माण्डे यज्ञक्रतवः अहर्निशमनुष्ठीयन्ते तेषामेके पृथिवीस्थानीयाः, अन्येऽन्तरिक्षस्थानीयाः, अपरे च द्युस्थानीयाः सन्ति। तत्र पूर्वोक्ता वेदिरूपा पृथिव्यपि त्रिस्थानीया, यस्मिन् अग्नौ हूयन्ते, सोऽग्निरपि त्रिस्थानीयः। पृथिव्याः त्रिस्थानीयत्वम्, **'यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः'** (ऋ० १।१०८।१०) इत्यृचि प्रतिपाद्यते। वैदिकनिघण्टावपि पृथिवीपदं त्रिस्थानीयासु देवतासु त्रिः पठ्यते। तत्र अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यानां वेदिरेतल्लोकप्रतिरूपा, सोमयागानाम् अन्तरिक्षरूपा, अग्निचयनानां च द्युप्रतिरूपा। यथैतेषां लोकानां परिमाणभेदः, तथैतेषां यागानां या वेदयः तासामपि परिमाणभेदो विधीयते।

एवं च अग्निष्टोमादीनां सोमयागानां या महावेदिरुत्तरवेदिर्वा सा अन्तरिक्षरूपा प्राकृतवेद्यपेक्षया महती भवति, प्राकृतवेदेश्च पृथङ् निर्मीयते। यद्यपि आधिदैविके सोमयागे अन्तरिक्षरूपैकैव वेदिः, तथापि इह लौकिके सोमयागे सौकर्याय सदोमण्डप-हविर्धानमण्डप-उत्तरवेदिरूपेण त्रिधा विभज्य कर्म संपाद्यते।

अस्मिन् सोमयागे प्रवर्ग्यसंज्ञकं कर्म, अरुणया एकहायन्या गवा सोमक्रयणम्, हविर्धानमण्डपे द्वयोः हविर्धानसंज्ञकयोः शकटयोः स्थापनम्, सोमाभिषवप्रक्रिया,

---

व्याख्यायता यास्केनोक्तम्—"**अथ वाचः पुष्पफलमाह— याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा**" (निरुक्त १०।२०)। अनेन यज्ञप्रक्रियाज्ञानपुरःसराधिदैविकविज्ञानं भवति। आधिदैविकविज्ञानपुरःसरं च अध्यात्मविज्ञानं जायत इत्युक्तं भवति। अत्र **'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'** इत्युक्तिरप्यनुसन्धेया। इदं च तदैव संभवति यदधियज्ञमधिदैवतमध्यात्मं च साम्यं स्यात्। अत एव ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्र यज्ञप्रक्रियां व्याख्याय, **'इत्यधियज्ञम्, अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्'** इति श्रूयते।

यथा—भूमावुपरवाणां खननम्, तदुपरि अभिषवफलकयोः स्थापनम्, तदुपरि (मृगचर्म निधाय) शिलाया निधानम्, तत्र सोमांशून् निक्षिप्य तेषां ग्रावभिः कुट्टनम्, प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-तृतीयसवनेषु सोमपरिमाणस्योत्तरोत्तरमपचय इत्येवमादीनि विशेषतो विवेचनीयानि सन्ति।

पूर्वोक्ताः त्रयः पशवोऽपि अत्र महत्त्वपूर्णां भूमिकां निर्वहन्ति। तत्र तावद् आधिदैविकपक्षे क एते पशव इति जिज्ञासायाम्—**'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त, वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त, सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त'** इति याजुषी श्रुतिः (माध्य० २३।१७) क्रमशः त्रिलोकस्थान् अग्निवायुसूर्यान् पशून् निर्दिशति। इममेवार्थतत्त्वं निरुक्ते (निरु० १२।४१) उद्धियमाणम् **'अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त'** इति ब्राह्मणवचनं परिपोषयति। सोमयागोऽन्तरिक्षस्थानीय इत्युक्तं प्राक्। तेन सोमयागे निर्दिष्टाः त्रयः पशवो मध्यमस्थानीया एव। मध्यमस्थानीयो वायुरेवावस्थाभेदेन त्रिधा विभक्तः पशुत्रयरूपेण निर्दिश्यते।

अथोपरि परिगणितानां विशिष्टकर्मणां विवेचनं क्रियते—

प्रवर्ग्यः—प्रवर्ग्यसंज्ञके कर्मणि महावीराभिधेये मृन्मयपात्रे घृतं निधाय नितरामुत्तप्यते। अस्मिन् काले यज्ञशालाया द्वाराणि पिधीयन्ते। बाहुपरिमितेषु काष्ठेषु मृगचर्म निबद्धच तैः व्यजनवत् प्रतिमन्त्रं वायुरूर्ध्वं प्रेर्यते। उत्तप्ते घृते गवाजपयः प्रक्षिप्यते। तत्प्रक्षेपेण उत्पन्नया ज्वालया महोष्मा उत्पद्यते। एतेन कर्मणा वृष्टौ सहायीभूतस्य ग्रीष्मर्तोः कर्म व्याख्यातं भवति। ग्रीष्मर्तौ हि महता तापेन भूमिष्ठा आप उत्तप्य वाष्पीभूयाविक्येनान्तरिक्षं प्रयान्ति।

सोमक्रयः—अरुणया एकहायन्या गवा सोमः क्रीयते। अत्र अरुणा एकहायनी एकहायनानन्तरं वर्षर्तौ प्रकटीभूता गौःशब्दात्मिका विद्युत्। विद्युतो गोत्वं शब्दकर्म च—**'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता'** (ऋ० १।१६४।२९) इत्यस्यामृचि स्पष्टं वर्ण्यते। (अत्र यास्कीयं निरुक्तं २।९ द्रष्टव्यम्)। सोमश्च सोमयागस्य हविः। सोमोऽन्तरिक्षस्थानीयो देवः, स च वाष्पीभूतानां जलानां संघातरूपः। हविःपदमपि निघण्टौ मेघनाम्नां समाम्नानानन्तरं पठितेषु जलनामसु पठ्यते। सोमरूपं हविर्मेघरूपेण वृत्रेण अवरुद्धय विद्युद्रूपस्य वज्रस्य प्रहारेण अभिषवनं प्राप्य अर्थात् तरलरूपमासाद्य भूमौ पतति। तथा च पर्जन्यसूक्ते मन्त्रवर्णः—**'अर्वाङेतेन स्तनयित्नुने ह्यपो निषिञ्चन्'** (ऋ० ५।८३।६) इति। अरुणा विद्युदेव वर्षकर्मणि निमित्तं भवति। अन्यवर्णास्तु उत्पातान् जनयन्ति। तथा चोक्तम्—

"वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥"

अग्नीषोमीय पशुः—अयं सुत्यादिनात् पूर्वदिन आलभ्यते। अग्नीषोमौ देवते अस्य, तादृशोभयधर्मयुक्तो वर्षर्तोरादौ दक्षिणपश्चिमदिशः प्रवर्तमान आर्द्रवायुः (मानसून) एव पशुः (वायोः पशुत्वं पुरा निर्दर्शितम्)। तस्य प्राप्तिरेवालभनम्।

हविर्धानमण्डपम्—हविः धीयते निधीयते स्थाप्यतेऽत्रेति हविर्धानम्। सोमरूपं हविः यस्मिन् मण्डपे स्थाप्यतेऽभिषूयते च तन्मण्डपं हविर्धानमण्डपमित्युच्यते। एतच्च अस्मिन्नाधिदैविके जगति अन्तरिक्षस्य स प्रदेशो यत्रेतो गता वाष्पीभूता आपः सन्तिष्ठन्ते।

द्वे हविर्धानशकटे—हविर्धानस्य पूर्वोक्तयैव व्युत्तरया ययोः शकटयोरुपरि सोमरूपं हविर्निधीयते, ते शकटे अपि हविर्धाने इत्युच्यते। सोमोऽन्तरिक्षस्थानीयो देवो हविरिति जलनामेत्युक्तं प्राक्। एतत् हविरूपं जलं मेघेषु निहित भवतीति कृत्वा मेघा एव हविर्धानानि। मेघानां संघर्षणेनैव तेषु विद्युद् उत्पद्यते। संघर्षणं च द्वयोः मेघयोः मेघावयवयोर्वा परस्परं भवतीति कृत्वा सोमयागे हविर्धानमण्डपे दक्षिणोत्तरयोः विपरीतदिशोर्द्वे हविर्धानशकटे स्थाप्येते। मेघानां घर्षणं गत्या विना न संभवतीति कृत्वा अत्र सोमयागे गतिसमर्थे शकटे हविर्धानरूपेण स्थाप्येते।

सोमाभिषवः—ग्रावभिः सोमलताया अंशूनामभिषवार्थं कुट्टनं क्रियते। सोमाभिषवार्थमेको ग्रावा हविर्धानशकटस्याधस्तान्निधीयते, अपरं हस्ते गृहीत्वा कुट्टनं क्रियते। निघण्टौ ग्रावापदं मेघनामसु पठ्यते। तेनात्रत्या ग्रावाण आधिदैविके यज्ञे अन्तरिक्षस्था मेघाः। सोमाभिषवे ग्रावभिः कुट्टने शब्द उत्पद्यते, अन्तरिक्षस्थानां ग्रावणां मेघानामपि संघर्षे तादृशो भयंकरः शब्द उत्पद्यते, येन प्राणिन आत्मत्राणार्थम् इतस्ततः पलायन्ते। तथा च भवति पर्जन्यसूक्ते मन्त्रवर्णाः—**'विश्व बिभाय भुवनं महावधात्'** (ऋ० ५।८३।२) इति। यथा सोमलताया रसः ग्रावभिः कुट्टनेन निःस्रवति, तथैव मेघानां संघर्षणेन उत्पद्यमानाया विद्युतः प्रहारेण मेघे निरुद्धा आपः द्रवीभूय पृथिवीमाप्नुवन्ति। तदुक्तम्—

"दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वां अप तद् ववार॥"
(ऋ० १।३२।११)

यास्काचार्यं इदं मन्त्रं **अहिगोपा अहिना** (मेघेन) **गुप्तः**। (**इन्द्रः विद्युत्**) (**वृत्रं**) **मेघं जघ्निवान्। अपववार तद्** (निरु० २।१७) इति व्याचख्यौ। अहिवृत्रनामनी मेघनामसु पठ्येते।

अधिषवणफलकयोः स्थापनम्—यस्याः शिलायाः उपरि अंशून् निधाय अभिषुण्वन्ति तस्या अधस्ताद् उपरवाणां चोपरिष्टाद् द्वे काष्ठफलके निधीयेते। ते

'अधिषूयतेऽस्मिन्' इति व्युत्पत्त्या अधिषवणनाम्नाभिधीयेते। तयोः प्रयोजनं सोमाभिषवे यद्यधस्तना शिला कथंचिद् भिद्येत, तर्हि सोमांशूनां भूमौ पतनं मा भूदिति। एवम् अन्तरिक्षेऽपि मेघानां संघर्षणेन यन्महज्जलमभिषूयते, तत् सहसा पृथिवीं नाप्नुयात् एतदर्थं विविधपरमाणूनां तादृश्येका पट्टिका वर्तते, ययोत्पन्नजलं विकीर्णीभूय भूमिं प्राप्नोति। अन्यथा सहसा समग्रस्य जलस्य निपाते प्राणिनां महती हानिः स्यात्। एतस्याधिदैविकतत्त्वस्य निदर्शनायैव सोमाभिषवकाले शिलाया अधस्ताद् अधिषवणफलके निधीयेते।

उपरवाणां खननम्—उपरवनामानः चत्वारो गर्तविशेषाः। हविर्धानशकटस्य अधस्तात् ते च तथा खन्यन्ते, यथा तेषां मुखानि परस्परमसंस्पृष्टानि भवन्ति, परं तु अधस्तात् ते परस्परं मिलन्ति। एषामुपरवाणाम् उपरिष्टाद् अधिषवणफलके निधीयेते इत्युक्तं प्राक्। एषां किं प्रयोजनमिति चिन्तायामुच्यते—

पार्वत्यप्रदेशेषु बहुधा मेघानां विस्फोटो भवति। यं लौकिकाः 'बादल का फटना' इत्युपचरन्ति। एतादृश्याकस्मिके विस्फोटे मेघस्थं सर्वं जलं सहसा निपतति। तदुत्पन्नेन जलप्रवाहेण बहुसंख्यकाः प्राणिनः प्रवहन्ति, म्रियन्ते च। सोमयाग उपरवाणां खननेन इदमुपदिश्यते—यस्मिन् प्रदेशे प्रायेण मेघानां विस्फोटा जायन्ते, तत्र बहवो गर्ताः परस्परं संमिलिता अमितः खननीयाः। येन सहसा समुत्पन्नं जलं तेषु गर्तेषु संगृहीतं स्यात्। तथा सति प्राणिनां प्राणहानिर्नियन्त्रयितुं शक्यते।

प्रतिसवनं सोमस्य परिमाणभेदः—अभिषवनीयं सोमं द्विधा विभज्य तस्य भूयान् भागः प्रातःसवने अभिषूयते, माध्यन्दिने सवने तस्य अवशिष्टोऽल्पीयान् भागोऽभिषूयते। तृतीयसवने च पूर्वयोः सवनयोरभिषुतस्य सोमस्य य ऋजीषरूपो भागोऽवशिष्यते, स एवाभिषूयते। एतेन प्रतिसवनमभिसेचनीयस्य सोमस्य परिमाणभेदेन चातुर्मासिकेषु त्रिषु वर्षाशीतग्रीष्मर्तुषु या भूयसी अल्पा अल्पतरा च वृष्टिर्भवति, सा व्याख्याता भवति।

सवनीयः पशुः—सुत्याहनि एकः पशुरालभ्यते। स सवनीयः पशुरित्युच्यते। तस्य वपया प्रातःसवनं प्रचरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने, अङ्गैस्तृतीयसवने[1] इत्येषा याज्ञिकी प्रक्रिया। यज्ञेषु पश्वालम्भनं भवतु मा वा भवत्विति विचारस्य नायमवसरः। सोमयागस्य आधिदैविकप्रक्रियायाम् अन्तरिक्षस्थानं तत्रस्थश्च पशुर्वायुरित्युक्तं प्राक्। स चायं पशुर्वाष्पीभूतजलेन संयुक्तो मेघभावं प्राप्तः सवनीयः सवनार्हः। तादृशस्य सवनीयपशोर्यद् वपारूपं स्निग्धं सारभूतं तस्य प्रातःसवनस्थानीये वर्षर्तौ होमो भवति। तेन सर्वे प्राणिनः अनुप्राणन्ति, ओषधिवनस्पतयः प्ररोहन्ति। माध्यन्दिनसवनस्थानीये शीतर्तौ पुरोडाशस्येव कठोरा ये करकाः तेषां होमो भवति। अर्थात् शीतर्तौ करकाणां हिमस्य च वृष्टिर्जायते। तृतीयसवने

१. द्र०—मै० सं० ३।६।५॥

तस्याङ्गानि हूयन्ते, अर्थाद् ग्रीष्मर्तौ मेघेषु जलानां योऽल्पतमो भागो यत्रकुत्र चिदवस्थितः स एव वर्षति ।

वशा गौरनुबन्ध्या—षष्ठेऽहनि वशा गौरालभ्यते । यतो यज्ञस्यानु पश्चाद् बध्यते, अतः तस्या अनूबन्ध्या नाम । इयं गौर्वशा अर्थाद् बन्ध्या भवति या न प्रसूते । आधिदैविकेऽपि वर्षकर्मरूपे सोमयागे निष्पन्ने ग्रीष्मर्तोः अन्त्यचरणे अति-स्वल्पजलवत्सु मेघेषु या विद्युद्रूपा गौर्हिङ्करोति सा शब्दरूपेणैव आलभ्यते प्राप्यते श्रूयते, न जलं वर्षति ।

एवं चास्मिन् निबन्धे ब्राह्मणादिवाङ्मये अधियज्ञमधिदैवतमध्यात्मं च यत् साम्यं स्थाने-स्थाने निदर्शितं तमवलम्ब्य द्रव्यमयसोमयागेन यद् वार्षिकवृष्टिविज्ञानं व्याख्यातं भवति[1], तस्य यथामति निदर्शनं प्रस्तुतम् । अत्र वेदविज्ञानशिरोमणयः वेदविज्ञानविचक्षणा विद्वांस एव प्रमाणम् ।

अन्ते च तत्र भवतां वेदोद्धारकाणां भट्टकुमारिलपादानाम्—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेऽवज्ञयोद्यते ॥

इति वचनमुल्लिख्य विरमामि ।

---

१. इतश्चापि सोमयागस्य वृष्ट्या सह संबन्धो ज्ञापितो भवति । मैत्रायणी-संहितायां (३।८।२) सदोनिर्माणप्रसंगे श्रूयते—**यदि कामयेत वर्षेत पर्जन्यो नीचैः सदो मिनुयात्, यदि कामयेत न वर्षेत पर्जन्य उच्चैः सदो मिनुयात्** । उच्चनीचयोर्या मध्यस्था रेखा (स्थितिः)साऽन्तरिक्षे वर्षर्तौ मेघोत्पत्तिस्थानमभिलक्ष्यति । यदा मेघा वर्षन्ति तदा ते तस्मात् स्थानाद् नीचैः सन्तो वर्षन्ते इति सार्वजनीनं ज्ञानम् । अत एवोक्तम्—**यदि कामयेत वर्षेत पर्जन्यो नीचैः सदो मिनुयात्** । यदा स्वोत्पत्तिस्थानं उत्पन्ना मेघा वाय्वादिकरणैः उपरि क्रामन्ति तदा तेतापस्याधिक्यान्न वर्षन्ते । अत एवोक्तम्—**यदि कामयेत न वर्षेत पर्जन्य उच्चैः सदो मिनुयाद् इति** ।

अयमंश उत्तरकालं वृद्धावागतम्, अतो लेखं यथारूपं मुद्रयित्वा टिप्पण्यामयमंशः संगृहीतः ।

सोमयाग में वृष्टि-विज्ञान

वैदिक-वाङ्मय का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने से यह रहस्य अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि वहां अग्न्याधान से लेकर सहस्रसंवत्सर-साध्य पर्यन्त विहित यज्ञ, सृष्टि से लेकर सहस्रचतुर्युगी परिमाणवाले ब्राह्म दिन में परब्रह्म के द्वारा संपद्यमान अथवा उसके सान्निध्य से प्रवर्त्यमान आधिदैविक यज्ञों के दृष्ट अथवा अदृष्ट रहस्यों के परिचायक हैं। जिस प्रकार अग्न्याधान में वेदिनिर्माण के समय जो क्रमशः जल, वराहविहृत (=सुअर से खोदी गई) मिट्टी, दीमक की बांबी की मिट्टी, ऊषर भूमि की मिट्टी, शर्करा (=रोड़ी), ईटें, सुवर्ण तथा समिधायें रखी जाती हैं, वे पृथिवी-रूपी वेदि की जलमयी अवस्था से लेकर वहां मिट्टी आदि की उत्पत्ति-पर्यन्त प्रक्रिया को परिलक्षित करती हैं। यथा—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत····· स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करा अश्मानमयोहिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा नव सृष्टयः' (शत० ब्रा० ६।१।१।१३)[1]। पृथिवी और वेदि का साम्य **'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः'** (ऋ० १।१६४।३५) इस ऋचा में कहा है। औषधि और वनस्पतियों की उत्पत्ति के पश्चात् प्रबल वायु से उनकी शाखाओं के परस्पर संघर्षण से जैसे पृथिवी पर प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई, उसी का निदर्शन अग्न्याधान में अरणियों (=दो काष्ठों) को मथकर अग्नि उत्पन्न करने की प्रक्रिया से किया जाता है। इसी प्रकार दिन-रात में, शुक्ल-कृष्ण पक्ष में, चातुर्मासिक ऋतुओं में, दक्षिणायन तथा उत्तरायण में सृष्टि में जो-जो परिवर्तन दिखाई देता है, उस-उस का व्याख्यान अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य तथा गवामयन यागों के द्वारा किया जाता है। तत्पश्चात् **सोमयाग के द्वारा वार्षिक वृष्टि-विज्ञान की व्याख्या की जाती** है। इस प्रकार १२, ३६, ६० एवं १०० वर्षों में तथा हजार चतुर्युगियों में आधिदैविक जगत् में जो भी परिवर्तन होता है, उसका व्याख्यान द्वादशाह से लेकर **सहस्रसंवत्सरसाध्य** यागों के द्वारा किया जाता है।[2]

---

१. मैत्रायणी संहिता (१।६।३) में इस सृष्टि-प्रक्रिया का व्याख्यान विस्तार से उपलब्ध होता है।

२. **"वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्"** (ऋ० १०।७१।५) इस ऋक्चरण का व्याख्यान करते हुए यास्क ने कहा—**"अथैं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले**

इस निबन्ध में सोमयाग की प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार वृष्टि-विज्ञान की व्याख्या की गयी है, उसका संक्षेप से निदर्शन प्रस्तुत किया जाता है—

सर्वप्रथम अग्निष्टोम नामक साङ्गोपाङ्ग सोमयाग छः दिन में पूरा किया जाता है। प्रथम दिन में दीक्षणीयेष्टि के द्वारा यजमान तथा उसकी पत्नी का दीक्षारूप प्रधान कर्म सम्पन्न होता है। आगे के तीन दिनों में उपसद् इष्टियां और प्रवर्ग्य किया जाता है। पांचवें दिन सोम का अभिषव करके प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन द्वारा तीन बार में सोमयाग किया जाता है। छठे दिन उपसंहार के रूप में अवभृथ नामक कर्म निष्पन्न होता है। इस याग में तीनों पशुओं का आलम्भन किया जाता है। सुत्या-दिन से प्रथम दिन अग्नीषोमीय, सुत्या के दिन सवनीय और छठे दिन मैत्रावारुणी वशा अनुबन्ध्या गौ का आलम्भन किया जाता है।

यहां यह विचारना चाहिये कि इस ब्रह्माण्ड में रात-दिन जो यज्ञ हो रहे हैं, उनमें कुछ पृथिवीस्थानीय हैं, कुछ अन्तरिक्षस्थानीय हैं और कुछ द्युस्थानीय हैं। पूर्वोक्त वेदिरूपा पृथिवी भी त्रिस्थानीय है। जिस अग्नि में हवन किया जाता है, वह अग्नि भी त्रिस्थानीय है। पृथिवी के त्रिस्थानीयत्व का वर्णन **'यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः'** (ऋ० १।१०८।१०) इस ऋचा में किया गया है। वैदिक-निघण्टु में भी 'पृथिवी' पद त्रिस्थानीय देवताओं में तीन बार पढ़ा गया है। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्यों की वेदि इस लोक की प्रतिरूपक है। सोमयागों की वेदि अन्तरिक्ष की प्रतिरूपक है, तथा अग्नि-चयनों की वेदि द्युलोक की प्रतिरूपक है। जिस प्रकार इन तीनों लोकों के परिमाण में भेद है, उसी प्रकार इन यागों की जो वेदियां बनाई जाती हैं उनके परिमाण में भी भेद रखा जाता है।

इस प्रकार अग्निष्टोम इत्यादि सोमयागों की जो महावेदि अथवा उत्तरवेदि बनाई जाती है, वह प्राकृत वेदि की अपेक्षा बड़ी होती है तथा प्राकृत वेदि से अलग बनाई जाती है। यद्यपि आधिदैविक सोमयाग में अन्तरिक्षरूपा एक ही वेदि है, फिर भी यहां लौकिक सोमयाग में सुविधा के लिए सदोमण्डप, हविर्धानमण्डप तथा उत्तरवेदि बनाकर तीन भाग करके कार्य सम्पन्न किया जाता है।

देवताध्यात्मे वा" (निरुक्त १०।२०)। इससे यह स्पष्ट होता है कि यज्ञप्रक्रिया के ज्ञान से आधिदैविक-विज्ञान उत्पन्न होता है, तथा आधिदैविकविज्ञान से अध्यात्म-विज्ञान उत्पन्न होता है। इसी सन्दर्भ में **'यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'** यह उक्ति भी अनुसन्धेय है। यह तभी संभव है जबकि अधियज्ञ, अधिदैवत एवं अध्यात्म की समानता हो। इसीलिये ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर यज्ञप्रक्रिया की व्याख्या के पश्चात् **'इत्यधियज्ञम्, अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्'** ऐसा उल्लेख देखा जाता है।

इस सोमयाग में प्रवर्ग्य संज्ञक कर्म, अरुणा एकहायनी गौ से सोम का खरीदना हविर्धानमण्डप में दो हविर्धाननामक गाड़ियों की स्थापना, सोम का अभिषव, जैसे—भूमि पर उपरव खोदना, उसके ऊपर दो अभिषवफलक=काष्ठनिर्मित फलक रखना, उसके ऊपर (मृगचर्म रखकर) शिला रखना, उसके ऊपर सोम के टुकड़ों को रखकर ग्रावा=पत्थर से कूटना, प्रातःसवन माध्यन्दिनसवन तृतीयसवन में क्रमशः सोम का परिमाण उत्तरोत्तर घटते जाना इत्यादि कार्य विशेषरूप से विवेचनार्ह हैं।

पूर्वोक्त तीन पशु भी यहां महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधिदैविक पक्ष में ये तीन पशु कौन हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर—**अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त, वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त, सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त**'(माध्य० २३।१७)यह याजुष मन्त्र तीनों लोकों में स्थित क्रमशः अग्नि,वायु और सूर्य पशुओं का निर्देश करता है। इसी रहस्य की पुष्टि निरुक्त में उद्धृत **'अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त'** (निरु० १२।४१) ब्राह्मण-वचन से होती है। सोमयाग अन्तरिक्षस्थानीय हैं ऐसा पूर्व कह दिया है। इसलिये सोमयाग में निर्दिष्ट तीनों पशु भी मध्यस्थानीय ही हैं। मध्यमस्थानीय वायु ही अवस्था-भेद से तीन प्रकार से विभक्त हुआ तीनों पशुओं के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है।

अब हम ऊपर गिनाये गये विशिष्ट कर्मों का विवेचन करते हैं—

प्रवर्ग्य—प्रवर्ग्य नामक कर्म में मिट्टी से बने हुए महावीर नामक पात्र में घृत रखकर तपाया जाता है। इस विधि को करते समय यज्ञशाला के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं। एकबाहु बराबर लम्बे काष्ठों में मृगचर्म बांधकर उनसे पंखे के समान प्रत्येक मन्त्र पर वायु को ऊपर प्रेरित किया जाता है। तपे हुए घी में गाय और बकरी का दूध डाला जाता है। ऐसा करने से जो लपटें उत्पन्न होती हैं उनसे अत्यन्त ताप उत्पन्न होता है। इस कर्म से वृष्टि में सहायक ग्रीष्म ऋतु का कार्य व्याख्यात हो जाता है। ग्रीष्म ऋतु में महान् ताप से भूमि पर स्थित जल उष्ण होकर वाष्प बन जाता है और अन्तरिक्ष में चला जाता है।

सोमक्रय—एकहायनी अरुणा गौ से सोम खरीदा जाता है। यहां जो अरुणा एकहायनी गौ है, वह एक हायन (=वर्ष) पश्चात् वर्षा ऋतु में प्रकट होनेवाली गो अर्थात् शब्दात्मिका विद्युत् है। विद्युत् का गोत्व तथा शब्दकर्म का वर्णन **'अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनाधि श्रिता'** (ऋ० १।१६४।२९) इस मन्त्र में स्पष्टरूप से किया गया है। (यहां यास्कीय निरुक्त २।९ भी द्रष्टव्य है)। सोम सोमयाग की हवि है। सोम अन्तरिक्षस्थानीय देव है, और वह वाष्प बने हुए जलों का समूहरूप है। हविः पद भी निघण्टु में मेघ के नामों के पाठ के पश्चात् जल-नामों के अन्तर्गत पढ़ा गया है। सोमरूप हवि अर्थात् जल, मेघरूप वृत्र के द्वारा अवरुद्ध होने से विद्युद्रूपवज्र के प्रहार से अभिषवण को प्राप्त हो जाता है

अर्थात् तरल होकर भूमि पर गिर जाता है। जैसा कि पर्जन्यसूक्त में—**'अर्वाङेतेन स्तनयित्नुने हयपो निषिञ्चन्'** (ऋ० ५।८३।६) यह मन्त्र है। वर्षा कराने में अरुणा विद्युत् ही कारण बनती है। अन्य वर्णवाली विद्युत् तो उत्पातों को उत्पन्न करती है। जैसा कि कहा है—

"वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥"

अर्थात्—वात (=आंधी, तूफान) के लिये कपिला वर्णवाली विद्युत्, आतप (=गर्मी) के लिये अतिलोहिनी, सर्वविनाश के लिये कृष्णा तथा दुर्भिक्ष के लिये सिता वर्णवाली विद्युत् होती है।

अग्नीषोमीय पशु—इस पशु का सुत्यादिन से पूर्व दिन (आलभ्यते=) आलभन किया जाता है। अग्नि और सोम देवता वाला अर्थात् दोनों के धर्म से युक्त, वर्षा ऋतु के आदि में दक्षिण-पश्चिम दिशा से चलनेवाला आर्द्र वायु (=मानसून) ही अग्नीषोमीय पशु है (वायु का पशुत्व पूर्व कह दिया है)। उसकी प्राप्ति ही आलभन है।

हविर्धानमण्डप—जहां हवि रखी जाती है, स्थापित की जाती है उसे हविर्धान कहते हैं। तथा जहां उसका अभिषवन किया जाता है उसे हविर्धानमण्डप कहते हैं। यह हविर्धानमण्डप इस आधिदैविक जगत् में अन्तरिक्ष का वह स्थान है, जहां वाष्परूप में परिवर्तित जल ठहरते हैं।

दो हविर्धान शकट—हविर्धान की पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के अनुसार ही जिन दो शकटों (=गाड़ियों) के ऊपर सोमरूप हवि रखी जाती है, वे शकट भी हविर्धान नाम से ही कहे जाते हैं। सोम अन्तरिक्षस्थानीय देव है ऐसा पूर्व कह दिया है। इस प्रकार अन्तरिक्षस्थानीय जल ही सोमरूप हवि है। यह हविरूप जल वाष्प बनकर मेघों में रहता है, इसलिये आधिदैविक जगत् में मेघ ही हविर्धान शकट हैं। मेघों में परस्पर संघर्षण से ही उनमें विद्युत् की उत्पत्ति होती है। संघर्षण परस्पर दो मेघों अथवा मेघावयवों में ही होता है, इसलिये सोमयाग में हविर्धानमण्डप में दक्षिण और उत्तर दो विपरीत दिशाओं में दो हविर्धान शकट रखे जाते हैं। मेघों का घर्षण विना गति के संभव नहीं है, अतः सोमयाग में भी गति में समर्थ शकट ही हविर्धान के रूप में रखे जाते हैं।

सोम का अभिषव—सोम के अभिषव के लिये सोमलता के टुकड़ों को ग्रावाओं (=पत्थरों) से कूटा जाता है। अभिषव करते समय एक ग्रावा हविर्धानशकट के नीचे रखा जाता है और दूसरे को हाथ में लेकर उससे कूटते हैं। निघण्टु में ग्रावा शब्द मेघ के नामों में पढ़ा गया है। इसलिये यहां के ग्रावा आधिदैविक यज्ञ में अन्तरिक्ष में स्थित मेघ हैं। सोम के अभिषव में ग्रावाओं से कूटते समय शब्द

उत्पन्न होता है। अन्तरिक्ष में स्थित ग्रावारूपी मेघों के संघर्षण में भी इतना भयंकर शब्द उत्पन्न होता है कि जिससे सभी प्राणी आत्मरक्षा के लिये इधर-उधर भागते हैं। जैसाकि पर्जन्य-सूक्त में मन्त्र है—'**विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्**' (ऋ० ५। ८३।२)। जिस प्रकार सोमलता का रस ग्रावाओं से कूटते समय निकलता है, वैसे ही मेघों के परस्पर संघर्षण से उत्पन्न विद्युत् के प्रहार से मेघों में रुका हुआ जल द्रवीभूत होकर पृथिवी पर गिरता है। जैसा कि कहा है—

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार॥'

ऋ० १।३२।११॥

इसकी व्याख्या यास्क ने इस प्रकार की है—**अहिगोपा अहिना (मेघेन) गुप्ताः। (इन्द्रः विद्युत्) वृत्रं (मेघं) जघ्निवान्। अपववार तत्**(निरु० २।१७)। अहि और वृत्र के नाम मेघ के नामों में पढ़े गये हैं।

अधिषवणफलक का स्थापन—जिस शिला के ऊपर सोम के अंशुओं को रखकर अभिषवण किया जाता है, उसके नीचे और उपरवों (=लोलाकार चार गढ्ढों) के ऊपर दो काष्ठफलक रखे जाते हैं। वे काष्ठफलक '**अधिषूयतेऽस्मिन्**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अधिषवण नाम से कहे जाते हैं। उनका प्रयोजन यह है कि सोम का अभिषवण करते समय यदि नीचे की शिला किसी प्रकार टूट जाये, तो सोम के अंशु भूमि पर न गिर जायें। इसी प्रकार अन्तरिक्ष में भी मेघों के संघर्षण से जो अत्यधिक जल का अभिषवण होता है, वह जल सहसा पृथिवी पर न आ जाये, इसके लिये अनेक प्रकार के परमाणुओं से बनी हुई एक पर्त विद्यमान रहती है, जिससे कि उत्पन्न हुआ जल बिखरकर भूमि पर आता है। अन्यथा सम्पूर्ण जल के एक साथ अचानक गिर जाने से प्राणियों को बहुत हानि हो जावे। उस आधिदैविक रहस्य को दिखाने के लिये ही सोम के अभिषवण-काल में शिला के नीचे दो अधिषवणफलक रखे जाते हैं।

उपरवों का खनन—उपरव नाम के चार विशेष प्रकार के गढ्ढे होते हैं। हविर्धानशकट के नीचे वे इस प्रकार खोदे जाते हैं कि उनके मुख परस्पर पृथक्-पृथक् रहते हैं, परन्तु नीचे वे आपस में मिले रहते हैं। इन्हीं उपरवों के ऊपर दो अधिषवणफलक रखे जाते हैं, ऐसा पूर्व कह दिया है। इनका प्रयोजन क्या है, इस विषय में बताते हैं—

पर्वतीय प्रदेशों में प्रायः मेघों का विस्फोट होता रहता है। जिसको लोग 'बादल का फटना' कहते हैं। इस प्रकार के आकस्मिक विस्फोट में सारा मेघस्थ जल सहसा गिर जाता है। उस जल के प्रवाह से अनेक प्राणी बह जाते हैं और मर

जाते हैं। सोमयाग में उपरवों का खोदना उस बात की ओर निर्देश करता है कि जिस प्रदेश में प्रायः मेघों का विस्फोट होता है, वहां परस्पर में मिले हुए अनेक गर्त (=गढ्ढे) चारों ओर खोद देना चाहिये। जिससे अचानक उत्पन्न जल उन गर्तों में इकट्ठा हो जाये। इस प्रकार प्राणियों की जीवन-हानि को नियन्त्रित किया जा सकता है।

प्रत्येक सवन में सोम का परिमाणभेद—जितने सोम का अभिषवण करना होता है उसके छोटे बड़े दो भाग किये जाते हैं। बड़े भाग का प्रातः-सवन में अभिषवण होता है, तथा बचे हुए छोटे भाग का माध्यन्दिन-सवन में अभिषवण होता है। अब दोनों सवनों में अभिषुत (=निचोड़े हुए) सोम का जो ऋजीष (=खोजर) भाग बच जाता है, तृतीय-सवन में उसी का ही पुनः अभिषवण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सवन में अभिसेचनीय सोम के इस परिमाणभेद से तीनों (वर्षा, शीत, ग्रीष्म) ऋतुओं में जो क्रमशः अत्यधिक, अधिक तथा अल्प वर्षा होती है, वह व्याख्यात होती है।

सवनीय पशु—सुत्या के दिन एक पशु का आलम्भन किया जाता है। वह 'सवनीय पशु' कहा जाता है। उसकी वपा से प्रातःसवन में होम होता है, पुरोडाश से माध्यन्दिन-सवन में तथा अङ्गों से तृतीय-सवन में, यह याज्ञिकी प्रक्रिया है। यज्ञों में पशुओं का आलम्भन (=हिंसा) होना चाहिये या नहीं, यह विचार करने का इस समय अवसर नहीं है। सोमयाग की आधिदैविक प्रक्रिया में अन्तरिक्ष-स्थानीय पशु वायु है, ऐसा पूर्व कह आये हैं। वह वायुरूपी पशु वाष्पीभूत जल के साथ मिलकर, मेघभाव को प्राप्त होकर सवनीय हो जाता है। उस वायुरूपी सवनीय पशु का जो वपारूप स्निग्ध सारभूत जल है, उसका प्रात सवनस्थानीय वर्षा ऋतु में होम होता है। उससे सभी प्राणी जीवन पाते हैं और ओषधि-वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं। माध्यन्दिन-सवन-स्थानीय शीत ऋतु में पुरोडाश के समान जो करक (=ओले) होते हैं, उनका होम होता है। अर्थात् शीत ऋतु में करक तथा हिम की वृष्टि होती है। तृतीयसवन में उसके अङ्गों का होम होता है, अर्थात् तृतीय-सवनस्थानीय ग्रीष्म ऋतु में मेघों में जल का इधर-उधर जो अल्पतम भाग रह जाता है, वह ही बरसता है।

अनूबन्ध्या वशा गौ—छठे दिन वशा गौ का आलम्भन किया जाता है। वह यज्ञ के अनु=पश्चात् बांधी जाती है, अतः उसका नाम अनूबन्ध्या है। यह गौ वशा अर्थात् बन्ध्या (=जो प्रसव नहीं करती) होती है। आधिदैविक सोमयाग में भी वर्षा ऋतु के पश्चात् ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम चरण में बहुत थोड़े जलवाले मेघों में जो विद्युत् रूपी गौ शब्द करती है, वह केवल शब्दमात्र से ही जानी जाती है, सुनी जाती है, जल नहीं बरसाती है, अर्थात् प्रसव नहीं करती है।

इस प्रकार इस निबन्ध में, ब्राह्मणादि वैदिक-वाङ्मय में जो अधियज्ञ-अधिदैवत-अध्यात्म की स्थान-स्थान पर समानता दर्शाई है, उसके अनुसार द्रव्यमय सोमयाग द्वारा जो वार्षिक वृष्टि-विज्ञान व्याख्यात होता है[1], उसका यथाबुद्धि निदर्शन किया है। आगे इस विषय में वेदविज्ञान-शिरोमणि एवं वेद-विज्ञान-पारङ्गत विद्वज्जन प्रमाणार्ह हैं।

अन्त में महान् वेदोद्धारक श्री भट्टकुमारिल के—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्युपेक्षते ॥

इस वचन के साथ विराम लेता हूं।

---

१. इस लेख के पश्चात् मैं सोमयाग में निर्मीयमाण सदोमण्डपविषयक मैत्रायणी संहिता (३।८।२) के एक वचन की ओर आकृष्ट हुआ। वह वचन है—**यदि कामयेत वर्षेत पर्जन्यो नीचैः सदो मिनुयात्, यदि कामयेत न वर्षेत पर्जन्य उच्चैः सदो मिनुयात्**। इसका तात्पर्य यह है कि सदः की छदि सामान्यरूप से जितनी ऊंची स्थापित की जाती है वह अन्तरिक्ष की उस ऊंचाई को व्यक्त करती है, जहां बादल बनते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि जब मेघ बरसते हैं तो वे उस ऊंचाई से नीचे आकर बरसते हैं। अर्थात् मेघ नीचे झुक कर वर्षा करते हैं। इसलिये कहा है—**यदि कामयेत वर्षेत पर्जन्यो नीचैः सदो मिनुयात्**। ये ही बादल वाय्वादि किन्हीं निमित्तों से ऊपर खिसक जाते हैं तो वहां ताप की अधिकता होने से वे नहीं बरसते। अतः कहा है—**यदि कामयेत न वर्षेत पर्जन्य उच्चैः सदो मिनुयात्**। इन वचनों से भी स्पष्ट है कि सोमयाग का वृष्टिविज्ञान के साथ संबन्ध है।

सुपर्णचितेस्त्रिभिः प्रयोगैः कल्पादौ आदित्यस्य विभिन्नस्थितीनां निरूपणम्

वैदिकवाङ्मये श्रौतयज्ञानां विस्तरतरकेण विधानं समुपलभ्यते। ते च श्रौतयज्ञा नित्य-नैमित्तिक-काम्यभेदेन त्रिधा विभक्ताः। तेषु नित्या एव प्रथमकल्पाः। काम्य-नैमित्तिकयोः कामनया निमित्तेन च सह सम्बन्धात् ते द्वितीयकल्पाः। नैत्यका अपि श्रौतयागा हविर्याग-सोमयाग-अग्निचयनभेदेन त्रिविधाः। इमे नैत्यकाः श्रौतयागाः प्रत्यक्षेण सृष्टेरासर्गादाप्रलयं प्रवर्तमानानाम् आधिदैविकयागानां निरूपकाः परोक्षेण चाध्यात्मिकानाम्। अतएव भगवान् यास्कः **वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्** (ऋ० १०। ७१।५) इति ऋक्पादं विवृण्वान आह—**याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा** (निरुक्त १।२०)। आधिदैविकसृष्टिस्तु पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकभेदेन त्रिधा विभक्ता तेन नैत्य-कानां श्रौतयागानामपि पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकैः सह सम्बन्धो विज्ञेयः। अस्मिन् विषये-ऽस्माभिः श्रौतयज्ञमीमांसायां विस्तरेण निरूपणं कृतमिति नेह प्रपञ्च्यते।

तत्र आधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यादीनां पृथिवीलोकेन, अग्निष्टोमादि-सोमयागानाम् अन्तरिक्षलोकेन, अग्निचयनस्य च द्युलोकेन सह सम्बन्धः। **इय वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः** (ऋ० १।१६४।३५) इत्यस्मिन् मन्त्रे वेद्याः पृथिव्या सह सम्बन्ध उपवर्णितः। पृथिवीपदं यास्कीये निघण्टौ पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकस्थासु त्रिविधास्वपि देवतासु पठ्यते (१।१३,११।३६, १२।३०)। एतेन श्रौतयज्ञेषु या विविधप्रकारा वेदयो निर्मीयन्ते तासां तत्तल्लोकस्थया पृथिव्या सह सम्बन्ध ऊह्यः। अस्याः पृथिव्या अपेक्षया अन्तरिक्षाख्या पृथिवी विस्तृता द्युलोकस्था ततोऽपि विस्तृततरा अतोऽनया पृथिव्या सह सम्बद्धानां यागानां यावती प्रमाणा वेदिर्भवति, सोमयागानां ततो महती वेदिर्निर्मीयते। अत एवेयं महावेदिरित्युच्यते। अग्निचयनस्य वेदिः सोमयागापेक्षयाऽपि महती भवति। चातुर्मास्यान्तर्गतस्य वरुणप्रघासपर्वस्य वर्षर्तुना सम्बन्धाद् वर्षायाश्चान्तरिक्षेण सम्बन्धात् तत्र ऐष्टिकवेद्या उत्तरेण तदपेक्षयैका महती वेदिर्निर्मीयते। इयम् उत्तरवेदिनाम्ना व्यवह्रियते।

द्युलोकसम्बन्धिनोऽग्निचयनस्य सुपर्णचित्यादयोऽनेके भेदा वैदिकवाङ्मये समु-पलभ्यन्ते। अस्मिन् निबन्धे केवलं सुपर्णचितिमधिकृत्यैव किञ्चिद् वक्ष्यते। सुपर्ण-चितिर्लोके श्येनचितिनाम्नाऽपि प्रसिद्धा वर्तते।

सुपर्णचितिः क्रमश एक-द्वि-त्रि-सहस्रेष्टकाभिर्निर्मितासु वेदिषु त्रिभिः प्रयोगैः पूर्णतां लभते। प्रथमे प्रयोगे पञ्चप्रस्तारा भवन्ति, प्रतिप्रस्तारं च द्विशतेष्टका उपधीयन्ते। इयमेकसहस्रेष्टकाभिर्निर्मिता वेदिर् उरुदघ्ना भवति। द्वितीये प्रयोगे दश प्रस्तारा भवन्ति। प्रतिप्रस्तारं च पूर्ववद् द्विशतेष्टका उपधीयन्ते। इयं द्विसहस्रेष्टकाभिर्निर्मिता वेदिर् उरोदघ्ना भवति। तृतीये प्रयोगे पञ्चदश प्रस्तारा भवन्ति। प्रतिप्रस्तारं च पूर्ववद् द्विशतेष्टका उपधीयन्ते। एवमियं त्रिसहस्रेष्टकाभिर्निर्मिता वेदिरास्यदघ्ना शिरःप्रमाणा[1] वा भवति।

भारतीये वाङ्मये सृष्ट्युत्पत्तेर्यद् वर्णनं समुपलभ्यते, तदनुसारं यथा पक्षिशावकानामङ्गप्रत्यङ्गनिर्माणमण्डस्यान्तर्भवति, निर्माणप्रक्रियायाः समाप्तौ चाण्डे भिन्ने शावका बहिरायान्ति, तथैव प्रत्येकं सग्रहोपग्रहस्य सौरमण्डलस्य निर्णितिरपि हिरण्यगर्भाख्यस्य प्रजापतेरपरनाम्नो महदण्डस्यान्तरेव समपद्यत[2]। परिपूर्णायां च निर्मितिप्रक्रियायां महदण्डे भिन्ने यदा सग्रहोपग्रहं सौरमण्डलं बहिः स्थितिमलभत, तस्मिन् काले सौरमण्डलस्य सर्वेऽपि ग्रहोपग्रहाः परस्परं संश्लिष्टा इवाऽसन्। सग्रहोपग्रहस्य सौरमण्डलस्य एतस्याः स्थितेर्वर्णनं ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्रोपलभ्यते। तद्यथा—

इमे वै लोकाः सहासन्। तां० ब्रा० २।१।६॥

इमे वै लोकाः सह सन्तस्त्रेधाऽप्यायन्। जै० ब्रा० ३।७२॥

समन्तिकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका आसुः। श० ब्रा० १।४।१।२२॥

प्रकृते कर्मणि द्यावापृथिव्योरेव सम्बन्धः। अनयोः सहभावस्य निदर्शकान्यपि बहूनि वचनानि मन्त्रब्राह्मणेषूपलभ्यन्ते। तद्यथा—

ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी सयोनी मिथुना समोकसा इति द्यावापृथिवीसूक्ते मन्त्रवर्णः (ऋ० १।१५९।४)। समोकसौ सहस्थानावित्यर्थः।

सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः। श० ब्रा० ७।१।२।२३॥

इमौ वै लोकौ सहास्ताम्। तां० ब्रा० ७।१०।१॥

इमे वै सहास्ताम्। तै० सं० ३।४।३।१॥ काठक सं० १३।१२॥

इत्येवं ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि द्यावापृथिव्योः सहस्थितिर्बहुत्र निर्दिश्यते।

---

१. तुलना कार्या—'प्रमाणायां स्मृतौ स्पर्शनं व्यामोहः' (मीमांसा शाबरभाष्य १।३।३)।

२. तौ ह स्म प्रजापतावेवान्तस्समभवतः। जै० ब्रा० ३।३३४॥

कालान्तरे इमौ द्यावापृथिवीलोकौ अन्ये ग्रहोपग्रहाश्च परस्परं वियुता अभूवन्। एषां व्यवाये अग्नेर्वायोश्च सहभावः प्रधानकारणमभूत्। तदुक्तम्—

अग्न आ याहि वीतय इति। तद् वेति भवति वीतय इति। समन्तिकमिव ह वा इमे अग्रे लोका आसुरिति। उन्मृज्या हैव द्यौरास। श० ब्रा० १।४।१।२२॥

इमौ लोकौ व्येताम्। अग्न आ याहि वीतय इति, यदाहानयोर्लोकयोर्वीत्यै। तै० सं० ५।१।५।८॥

इमे वै सहास्ताम्। ते वायुर्व्यवात्। तै० सं० ३।४।३।१॥ काठक सं० १३।१२॥

इमे वै सहास्ताम्। ते यथा वेणू सन्धाव्येते एवं समधाव्येताम्। काठक सं० १३।१२॥

सर्गकाले सहस्थितयोर्द्यावापृथिव्योर्यद् दूरगमनं श्रूयते तन्नैकेनैव प्रयासेनाभूत्। तदर्थं त्रिः कृत्वा प्रयत्नः समजनि। तेन पृथिव्याः सकाशाद् आदित्यो यथाक्रमं दूरं दूरतरं दूरतमं च गत्वा स्थितिमलभत।

अस्या एव नैसर्गिकप्रक्रियाया निदर्शनं सुपर्णचितेः त्रिषु प्रयोगेषु एक-द्वि-त्रि-सहस्रेष्टकाभिः सम्पाद्यमानानाम् उच्चैः-उच्चैस्तरा-उच्चैस्तमाभिर्वेदिभिः क्रियते।

सर्गकाले यदायमादित्यः पृथिव्याः समीपमभूत् न तदानीं स इदानीमिव भाति स्म। यथा जायमानः शिशुर्गर्भस्थेन मलेनाप्लुतो भवति, तथैवादित्यस्योपरितने भागेऽपि मलस्यावरणमभूत्। इदं प्रकाशावरोधकं मलावरणमपि यथाक्रमं त्रिषु स्थानेषु त्रिःकृत्वा प्राकृताभिर्दैवीशक्तिभिर्दूरीकृतम्। एतस्य वर्णनमपि वैदिकग्रन्थेषूपलभ्यते। यथा—

स्वर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाऽविध्यत् तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्य यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् सा कृष्णादिरभवद् यद् द्वितीयं सा फल्गुनी, यत् तृतीयं सा वलक्षी .....। तै० सं० २।१।२।२॥

इदमेव तमोपनोदनं जैमिनीयब्राह्मणे उल्बापलोपनरूपेणोक्तः। तथाहि—

तस्य यत् प्रथममुल्बमपालुम्पंस्तत् कृष्णायस्समभवत्। यद् द्वितीयमुल्बमपालुम्पंस्तद् रजतमभवत्। यत् तृतीयशुल्बमपालुम्पंस्तद् धरितमभवत्। तस्मात् तत् त्विषिमत्तमम्। जै० ब्रा० ३।३३५॥

यद्यप्युभयत्र मलावरोधस्य अपनयनम् अपालुम्पनं चालङ्कारिकभाषया निगूढं तथापि उभयत्र त्रिष्कृत्वा मलावरोधदूरीकरणानन्तरमेवासावादित्यो त्विषिमत्तमोऽभूदिति विस्पष्टम्।

यथा लोके प्रत्येकस्मिन् देशचित्रे तस्यायतनविज्ञानाय मानम् (मैप) उट्टङ्क्यते तथैव सुपर्णचितेः प्रयोगेषु यद् एकद्वित्रिसहस्रेष्टकाभिर्वेदयो निर्मीयन्ते ता अपि आदित्यः प्रथमे द्वितीये तृतीये च प्रयासे पृथिव्याः सकाशात् कियत् कियद् दूरं गत इत्यस्य विज्ञापकाः। अस्माभिस्त्विह सुपर्णचितेरेकांशे या सम्भावना सम्भवति तद्विषये वेदविदां ध्यानमाकृष्टम्। यदि पारोवर्यविदोऽशेषशेमुषीसम्पन्ना वेदविदोऽत्र प्रयतेरंस्तर्हि सर्गकालिकस्यैकस्या महत्या घटनाया समुद्भावनं सम्भवति।

प्रसंगादिहाश्वमेधयागविषयेऽप्युच्यते। अश्वमेधयागोऽपि द्युलोकविषयक एव। यः खल्वादित्यवद् एकछत्रं राज्यं कामयते चक्रवर्तिराजा भवितुमिच्छति सोऽश्वमेधं तनोति। अश्वमेधयागस्य ये मुख्या अंशास्ते सर्वेऽप्यादित्यस्य वार्षिकगत्या यथावद् संदृश्यन्ते। एतस्मिन् विषयेऽस्माभिः श्रौतयज्ञमीमांसायां यथावन्मीमांसितम्।

व्याकरण (३)

व्याकरणशास्त्र का वेदाङ्गों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। महामुनि पतञ्जलि ने कहा है—**ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। षडङ्गेषु च व्याकरणं प्रधानं तत्र च कृतो यत्नः फलवान् भवति** (महाभाष्य १।१। आ० १)।

व्याकरणशास्त्र का साङ्गोपाङ्ग इतिहास मैं तीन भागों में प्रकाशित कर चुका हूं। (इसके चार संस्करण छप चुके हैं)। इसमें संस्कृत व्याकरणशास्त्र का आदिकाल से वि० सं० २००० तक के समस्त आर्ष-अनार्ष व्याकरणों, उन पर टीका-टिप्पणी लिखनेवाले प्रायः समस्त ज्ञात व्यक्तियों का वर्णन कर चुका हूं। पुनरपि व्याकरण-विषयक ऐसे कई लेख मैंने संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में लिखें हैं जिनका उक्त व्याकरणेतिहास में संकलन नहीं हुआ है। उनमें से कतिपय उपयोगी लेखों का प्रस्तुत संग्रह में आगे संकलन किया जा रहा है। दो तीन लेख ऐसे भी हैं जिनमें प्रतिपादित विषय की साम्यता है। भिन्न-भिन्न समय में इन लेखों का प्रकाशन होने से ऐसा होना स्वाभाविक है।

मेरे द्वारा सम्पादित कतिपय व्याकरणविषयक ग्रन्थों के आरम्भ में तत्तद्-विषयक लेख भूमिका वा उपोद्घात के रूप में छपे हैं, उन्हें यहां संकलित नहीं किया जा रहा है। जैनेन्द्र व्याकरण महावृत्ति सहित, जो 'भारतीय ज्ञानपीठ काशी' से प्रकाशित हुआ है, उसके आरम्भ में **'जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिलपाठ'** शीर्षक मेरा लेख छपा है। उसके बहुत उपयोगी होने से तथा पाणिनीय व्याकरण के अध्येताओं से ओझल रहने की सम्भावना से इस प्रकरण में आगे छापा जा रहा है।

काशकृत्स्न-व्याकरण तथा उसके उपलब्ध सूत्र[1]

[यह लेख काशकृत्स्न व्याकरण के धातुपाठ की कन्नड टीका की उपलब्धि के पश्चात् कन्नड टीका में यत्र तत्र व्याख्यात काशकृत्स्न व्याकरण के सूत्रों का संग्रह करके तथा पूर्व उपलब्ध ३-४ सूत्रों को जोड़कर १३८ काशकृत्स्नीय सूत्रों को व्याख्या सहित इस लेख में प्रकाशित किया था। यह लेख 'पटना' से प्रकाशित होने वाली 'साहित्य' नाम्नी त्रैमासिक पत्रिका के सन् १९६०-६१ में दो अकों में छपा था।]

यद्यपि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में आचार्य काशकृत्स्न का वैयाकरण के रूप में उल्लेख नहीं किया है, तथापि वैयाकरण-सम्प्रदाय में काशकृत्स्न-व्याकरण अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है।[2] काशकृत्स्न-व्याकरण का साक्षात् उल्लेख निम्नाङ्कित प्राचीन ग्रन्थकारों ने किया है—

१. वोपदेव[3] (वि० सं० १३००-१३४०)ने अपने कविकल्पद्रुम ग्रन्थ के आरम्भ में प्रसिद्ध आठ शाब्दिक आचार्यों में काशकृत्स्न का भी उल्लेख किया है—

---

१. इस लेख के प्रकाशित होने के लगभग पांच वर्ष पश्चात् सन् १९६५ में काशकृत्स्न धातुपाठ की चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीका का संस्कृतरूपान्तर प्रकाशित किया था। उसके आदि में इस लेख का संस्कृतरूपान्तर भी प्रकाशित किया है। जो व्यक्ति संस्कृत नहीं जानते उनके लाभार्थ यह हिन्दी में छपा लेख प्रकाशित किया है। जो महानुभाव संस्कृत जानते हैं उन्हें 'काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्' अवश्य देखना चाहिये।

२. हमने सं० २००७ वि० में प्रकाशित 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ (भाग १, पृ० ७८-८६) में काशकृत्स्न-व्याकरण का वर्णन किया था। उसके पश्चात् (सं० २००८ वि०) काशकृत्स्न-धातुपाठ तथा उसकी चन्नवीर कवि-कृत कन्नड-टीका में काशकृत्स्नव्याकरण के १३५ सूत्र उपलब्ध हो चुके हैं। इसी प्रकार, अन्य दिशा से भी काशकृत्स्नव्याकरण पर कुछ नया प्रकाश पड़ा हैं। हमने इस लेख में सभी नवीन तथा प्राचीन सामग्री का उपयोग किया है।

३. इस लेख में विना प्रमाण दिये जिन ग्रन्थों अथवा ग्रन्थकारों का काल-निर्देश

'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा[1] जयन्त्यष्टादि शाब्दिकाः ॥'

२. पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता क्षीरस्वामी (सं० ११०० वि०) अपनी क्षीरतरङ्गिणी में काशकृत्स्न-व्याकरण-सम्बन्धी एक मत उद्धृत करता है—

काशकृत्स्ना अस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः—आश्वस्तः, विश्वस्तः ।[2]

३. धातुवृत्तिकार सायण के निर्देशानुसार किसी काश्यप[3] नामक वैयाकरण ने भी काशकृत्स्न का 'आश्वस्त' पदविषयक मत उद्धृत किया था। सायण लिखता है—

'आश्वस्तः—निष्ठायामिटं नेच्छन्ति काशकृत्स्ना इति स्वामीकाश्यपौ'[4] ।

४. कैयट (सं० ११०० वि० से पूर्व) अपने महाभाष्य-प्रदीप में दो स्थानों पर काशकृत्स्न के सूत्र अथवा सूत्रांश उद्धृत करता है। यथा—

(क) **'काशकृत्स्नस्य 'प्रत्ययोत्तरपदयोः' सूत्रम्, तद्विचारयति'** (२।१।५०)।

(ख) **'आपिशलकाशकृत्स्नयोस्तु 'अग्रन्थे' इति वचनात्'** (५।१।२१)।

५. विक्रम-संवत् ४५० से पूर्ववर्ती[5] महावैयाकरण भर्तृहरि वाक्यपदीय आगम-काण्ड की स्वोपज्ञ-टीका में दो सूत्र उद्धृत करता है—

किया है, उसके लिए उपर्युक्त 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' का तत्तत् प्रकरण देखना चाहिए। काल-निर्देश सर्वत्र विक्रम-संवत् से किया गया है।

१. अभयनन्दी-कृत महावृत्तिसहित जैनेन्द्र-व्याकरण का सम्पूर्ण ग्रन्थ अभी-अभी भारतीय ज्ञानपीठ (काशी) से प्रकाशित हुआ है। उसके आरम्भ में प्रकाशित 'जैनेन्द्र शाब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ' नामक लेख में हमने जैनेन्द्र-व्याकरण-सम्बन्धी अनेक लुप्त ग्रन्थों का परिचय दिया है।

२. द्र०—हमारे द्वारा सम्पादित, रामलालकपूर-ट्रस्ट (अमृतसर) से प्रकाश्यमान संस्करण, पृ० १८५। तुलनीय—'चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः—आश्वस्तः।'—(काशिका, ७।२।१६)।

३. यह काश्यप क्षीरस्वामी से प्राचीन है अथवा अर्वाचीन, यह अभी अनिर्णीत है।

४. धातुवृत्ति, पृ० २६४, काशी, चौखम्बा-सीरीज।

५. द्र०—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास', भाग १, पृ० २५८-२६३, तथा प्रो० साधुरामजी, एम० ए०, का 'भर्तृहरीज् डेट' शीर्षक अंग्रेजी, लेख।

(क) 'धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्'[1] (पृ० ४०)[2]।

(ख) 'लिङ्गं किमिति विभक्तौ एतन्नाम' (पृ० ४०)।

वाक्यपदीय स्वोपज्ञ-टीका का व्याख्याता वृषभदेव इन सूत्रों के विषय में लिखता है—'धातुरिति काशकृत्स्नानां सूत्रम्···लिङ्ग इति'···(पृ० ४१)।

६. भर्तृहरि प्रकीर्णकाण्ड में पुनः लिखता है—

'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे।'[3]

इसकी व्याख्या करता हुआ हेलाराज लिखता है—

'आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते।'

अर्थात्, आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में (पाणिनि-प्रोक्त) 'तदर्हम्' (५।१।११७) सूत्र नहीं था।

७. भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम 'पस्पश' नामक आह्निक के अन्त में आपिशलि तथा पाणिनि-प्रोक्त व्याकरणों के साथ काशकृत्स्न-प्रोक्त व्याकरण का भी उल्लेख किया है। यथा—

'प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोत्पद्यन्ते। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम्। नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः। किन्तर्हि ? सूत्रम्।'

अर्थात्, (यदि व्याकरण-पद का अर्थ 'शब्द' है, तो) प्रोक्त आदि अर्थों में होने-वाले तद्धित-प्रत्यय उत्पन्न नहीं होंगे। (जैसे) पाणिनि से प्रोक्त पाणिनीय, आपि-शल, काशकृत्स्न। पाणिनि ने शब्दों का प्रवचन नहीं किया। तो किसका (किया)? सूत्रों का।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि पाणिनि और आपिशलि के समान काशकृत्स्न (काशकृत्स्नि) ने भी किसी शब्दानुशासन का प्रवचन किया था।

८. संवत् २००८ वि० (का अन्त, मार्च, १९५२ ई०) में चन्नवीर कवि-कृत कन्नड-टीका-सहित काशकृत्स्न-धातुपाठ के प्रकाश में आ जाने से काशकृत्स्न-

---

१. वाक्यपदीय स्वोपज्ञ-टीका में मुद्रित काशकृत्स्न-सूत्र का पाठ भ्रष्ट है। वृषभ-देव की व्याख्या भी अशुद्ध है। सूत्र का शुद्ध पाठ तथा शुद्ध व्याख्या आगे द्रष्टव्य है।

२. यह पृष्ठसंख्या रामलालकपूर-ट्रस्ट संस्करण की है।

३. वाक्यपदीय, तृतीय काण्ड, पृ० ७१४, काशी-संस्करण।

व्याकरण का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो गया। इस दुर्लभ ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री ए० एन्० नरसिंहिया को है।

६. काशकृत्स्न-धातुपाठ की उक्त कन्नड-टीका में काशकृत्स्न-व्याकरण के लगभग १४० सूत्रों के उपलब्ध हो जाने से उसके स्वरूप का ज्ञान भी सम्यक् रूप से हो गया है। (इन सूत्रों को हम अन्त में देंगे)।

परिचय, नाम—काशिका (५।१।५८) में एक उदाहरण है—**'त्रिकं काशकृत्स्नम्'**। जैन शाकटायन की अमोघा-वृत्ति (३।२।१६१) में इसका पाठ है—**'त्रिकं काशकृत्स्नीयम्'**। इन दोनों उदाहरणों की तुलना से इतना स्पष्ट है कि उक्त दोनों उदाहरणों में निश्चयपूर्वक किसी एक ही ग्रन्थ का संकेत है। परन्तु, काशकृत्स्न और काशकृत्स्नीय पदों में श्रूयमाण तद्धित-प्रत्यय से विदित होता है कि एक काशकृत्स्न-प्रोक्त है और दूसरा काशकृत्स्न-प्रोक्त। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिका के ४।३।१०१ के उदाहरण की व्याख्या में लिखता है—**"आपिशलं काशकृत्स्नमिति—आपिशलिकाशकृत्स्निशब्दाभ्याम् 'इञश्च' (४।२।११२) इत्यण्"**[1]। अर्थात्, आपिशल और काशकृत्स्न में (अपत्यार्थक इञ्प्रत्ययान्त) आपिशलि और काशकृत्स्नि शब्दों से प्रोक्त अर्थ में **'इञश्च'** सूत्र से अण् प्रत्यय होता है तथा काशकृत्स्नीय पद में अपत्यार्थक अण्प्रत्ययान्त काशकृत्स्न शब्द से प्रोक्त अर्थ में **'वृद्धाच्छः'** (४।२।११४) से छ (=ईय) प्रत्यय होता है।

काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न का एकत्व—यद्यपि काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न नामों में अपत्य-प्रत्यय का भेद है, तथापि दोनों नाम एक ही आचार्य के हैं। अकारान्त काशकृत्स्न शब्द से अपत्य अर्थ में **'अत इञ्'** (अष्टा० ४।१।९५) से इञ् होकर काशकृत्स्नि शब्द निष्पन्न होता है और उसी कशकृत्स्न से अपत्यार्थ में सामान्यविधायक **'तस्यापत्यम्'** (अष्टा० ४।१।९२) से अण् होकर काशकृत्स्न शब्द बनता है। यद्यपि **'अत इञ्'** सूत्र **'तस्यापत्यम्'** का अपवाद है, तथापि **'क्वचिदपवादविषयेऽपि उत्सर्गोऽभिनिविशते'**[2] (कहीं-कहीं अपवाद=विशेषविधायक सूत्र के

---

१. इसी प्रकार, पाणिनि शब्द से भी प्रोक्त अर्थ में अण् होकर 'पाणिन' शब्द निष्पन्न होगा। लोकप्रसिद्ध पाणिनीय पद पर्याय पाणिन से निष्पन्न होता है। द्र०—न्यास, ४।३।१०१। पूर्वनिर्दिष्ट भाष्यवचन 'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्' में अर्थ निदर्शनमात्र है, न कि विग्रह। पाणिनि शब्द आपिशलि और काशकृत्स्नि के समान गोत्रवाची है, उससे 'इञश्च' (४।२।११२) से अण् ही होगा।

२. सीरदेव-परिभाषावृत्ति, संख्या ३३; परिभाषेन्दुशेखर, सं० ५९। यही नियम स्कन्दस्वामी ने 'अपवादविषये क्वचिदुत्सर्गो दृश्यते' शब्द से उद्धृत किया है। द्र०—निरुक्त-टीका, भाग २, पृ० ८२।

विषय में उत्सर्ग = सामान्य सूत्र की भी प्रवृत्ति हो जाती है) नियम से सामान्य अण् प्रत्यय भी हो जाता है। इसी नियम के अनुसार भगवान् वाल्मीकि ने दाशरथि राम के लिए दाशरथ शब्द का भी प्रयोग किया है[1]। अतः जिस प्रकार एक ही दशरथ-पुत्र राम के लिए दाशरथि और दाशरथ दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार इञ्-प्रत्ययान्त काशकृत्स्नि और अण्-प्रत्ययान्त काशकृत्स्न दोनों शब्द निश्चय एक ही व्यक्ति के वाचक हैं[2]।

काशकृत्स्नि का अन्यत्र उल्लेख—काशकृत्स्नि आचार्य का नाम निम्नाङ्कित ग्रन्थों में उपलब्ध होता है—

१. पूर्वमहाभाष्य का एक वचन उद्धृत किया है। उसमें काशकृत्स्न-व्याकरण का उल्लेख है। पूर्वनिर्दिष्ट तद्धित-प्रत्यय की व्यवस्था के अनुसार स्पष्ट है कि पतञ्जलि काशकृत्स्न-व्याकरण के प्रवक्ता का नाम काशकृत्स्नि मानते थे।

२. पतञ्जलि ने महाभाष्य में काशकृत्स्नि-प्रोक्त मीमांसा का असकृत् उल्लेख किया है।[3]

३. महाकवि भास ने[4] यज्ञफलनाटक में भी काशकृत्स्नि-प्रोक्त मीमांसा का निर्देश किया है।[5]

४. आचार्य कात्यायन ने श्रौतसूत्र (४।३।१७) में काशकृत्स्नि का मत उद्धृत किया है[6]।

---

१. 'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली'—रामा०, युद्ध०, १४, ३; काशिकाकार जयादित्य ने इसमें शेष विवक्षा, अर्थात् 'तस्येदम्' (अष्टा० ४।३।१२०) से अण् प्रत्यय किया है, वह चिन्त्य है।

२. इसी प्रकार, भारतीय वाङ्मय में अनेक व्यक्तियों के लिए दो-दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा, अष्टाध्यायी के रचयिता के लिए पाणिनि और पाणिन, वार्तिककार के लिए कात्य और कात्यायन तथा संग्रहकार के लिए दाक्षि और दाक्षायण। द्र०—हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास', तत्तत् प्रकरण।

३. महाभाष्य, ४।१।१४-९३, ४।३।१५५॥

४. अनेक विद्वान् यज्ञफलनाटक को भास-कृत नहीं मानते। परन्तु हम अन्तरङ्ग परीक्षा से इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि यह भास-कृत ही है।

५. 'काशकृत्स्नं मीमांसाशास्त्रम्' अंक ४, पृ० ११६।

६. 'सद्यस्त्वं काशकृत्स्निः।'

काशकृत्स्न का अन्यत्र उल्लेख—काशकृत्स्न आचार्य का उल्लेख निम्नोद्धृत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है—

१. वोपदेव के पूर्वनिर्दिष्ट श्लोक में अष्ट शाब्दिकों में आचार्य काशकृत्स्न का उल्लेख स्पष्ट है।

२. शाकटायन अमोघा-वृत्ति के पूर्वनिर्दिष्ट '**त्रिकं काशकृत्स्नीयम्**' उदाहरण में स्मृत ग्रन्थ का प्रवक्ता तद्धित-प्रत्यय-व्यवस्थानुसार काशकृत्स्न है।

३. भट्टपराशर ने तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में संकर्षकाण्ड (मीमांसा, अ० १३-१६) को काशकृत्स्न-प्रोक्त कहा है।[1]

४. तैत्तिरीयसंहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर ने रुद्राध्याय के भाष्य में काशकृत्स्न का एक यजुःसम्बन्धी मत उद्धृत किया है।[2]

५. बौधायन गृह्यसूत्र में काशकृत्स्न का मत निर्दिष्ट है।[3]

६. वेदान्तसूत्र (१।४।२२) में काशकृत्स्न का मत स्मृत है।[4]

उपर्युक्त ग्रन्थों में दो नामों से स्मृत एक ही व्यक्ति—काशकृत्स्न और काशकृत्स्न दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं, यह हम पूर्व प्रतिपादित कर चुके हैं। उपर्युक्त उद्धरणों में जहां-जहां काशकृत्स्न का स्मरण है, वहां सर्वत्र एक ही व्यक्ति स्मृत है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं।

एकता में हेतु—भारतीय प्राचीन ग्रन्थकार ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम-निर्देश में बहुत सावधान रहा करते थे। जब इतिहास में एक नाम के अनेक व्यक्ति प्रसिद्ध होते थे, तब प्राचीन ग्रन्थकार उनमें परस्पर-भेद दर्शाने के लिए कोई-न-कोई विशेषण अवश्य प्रयुक्त करते थे[5]। यथा—

---

१. 'तत्त्वरत्नाकराख्ये भट्टपराशरग्रन्थे संकर्षाख्यश्चतुर्लक्षणात्मको मध्यकाण्डः काशकृत्स्नकृत इत्युच्यते'। अधिकरणसारावली-प्रकाशिका में उद्धृत। द्र०—मद्रास-राजकीय हस्तलेख-सूची, भाग ४, खण्ड १, बी० नं० ३५५०, पृ० ५२८१।

२. अष्टौ अनुवाका अष्टौ यजूंषि इति काशकृत्स्नः (पूना-संस्क० २६)।

३. 'आहारं प्रकृतिं प्राह दर्विहोमस्य बादरिः।'
अग्निहोत्रं तथात्रेयः काशकृत्स्नस्त्वपूर्वताम्॥

४. 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः'।

५. इतिहास में एक नामवाले व्यक्तियों का सांकर्य न हो जाय, इसके लिए

कण्वनार्षद (जै० ब्रा०); **कण्वश्रायस** (तै० सं० २।४।७; मै० सं० ३।३।९; काठक सं० २१।८) **कण्वसौश्रवस** (का० सं० १३।२); तथा **कण्वघौर** (ऋक्सर्वा० १।३७ का ऋषि)।

यतः उपरिलिखित स्थानों में काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न का कोई विशेषण उपलब्ध नहीं होता, अतः इन स्थानों में स्मृत व्यक्ति एक ही है, यह निश्चित है।

वंश—बौधायन श्रौतसूत्र के तृतीय प्रवराध्याय में लिखा है—

भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः···पैङ्गलायनाः, वैहीनरयः, काशकृत्स्नाः, पाणिनि-वाल्मीकि···आपिशलयः।'

इस वचन से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न-गोत्र भृगुवंश का है। अतः काशकृत्स्न आचार्य भार्गव है।

पितृ-नाम—काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न में निर्दिष्ट तद्धित-प्रत्यय के अनुसार इन नामों का मूल शब्द कशकृत्स्न था। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में कशकृत्स्न शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाई है—

"कशाभिः कृन्तन्ति 'कृते वस्ने ड्याट्त्वे च ह्रस्वश्च बहुलम्'[1] इत्यनेन ह्रस्वत्वे कशकृत्स्नः" (पृष्ठ २४)।

अर्थात्, कशापूर्वक कृती छेदने धातु से क्स्न प्रत्यय और आकार को ह्रस्व होता है।

आचार्य नाम—तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में भट्टपराशर ने काशकृत्स्न को बादरायण का शिष्य कहा है। बादरायण कृष्णद्वैपायन का ही नाम है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है।

शिष्य—काशिका-वृत्ति (६।२।१०४) में उदाहरण है—**'पूर्वकाशकृत्स्नाः, अपर-काशकृत्स्नाः'**। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न के अनेक शिष्य थे और वे पूर्व तथा अपर दो विभागों में विभक्त माने जाते थे। किस सीमा को मानकर पूर्व और अपर भेद किया जाता था, यह अज्ञात है।

जिस प्रकार पाणिनि ने कुछ शिष्यों को अष्टाध्यायी का लघुपाठ पढ़ाया और कुछ को महापाठ[2]। वे क्रमशः पूर्वपाणिनीय तथा अपरपाणिनीय नाम से प्रसिद्ध हुए।

प्राचीन आचार्यों ने तद्धित-प्रत्ययान्त नाम रखने का निषेध किया है—'कृतं कुर्यान्न तद्धितम्'। इस अभिप्राय के वचन सभी गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होते हैं।

१. यह सूत्र किस व्याकरण का है, यह अज्ञात है।

२. 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', भाग १, पृ० १५१।

उसी प्रकार सम्भव है काशकृत्स्न ने भी अपने शास्त्र का दो रूपों से प्रवचन किया हो। निरुक्त आदि अनेक प्राचीन शास्त्रों के लघु और महत् दो-दो प्रकार के प्रवचन उपलब्ध होते हैं।[1]

देश—काशकृत्स्न आचार्य कहां का निवासी था, यह अज्ञात है। पाणिनि अरीहणादिगण (४।२।८०) में काशकृत्स्न पद पढ़ता है। वर्धमान यहां कशकृत्स्न का निर्देश करता है[2]। तदनुसार काशकृत्स्न अथवा कशकृत्स्न से निर्मित अथवा जहां इनका निवास था, वह नगर अथवा देश कशकृत्स्न कहलाता था, इतना निश्चित है। पर इस नगर अथवा देश की स्थिति कहां थी, यह अज्ञात है।

काशकृत्स्न सम्भवतः उत्तरभारतीय था—दैवम् ग्रन्थ का व्याख्याता कृष्णलील शुकमुनि (सं० १३०० वि०) पुरुषकार पृष्ठ ९१ पर लिखता है—

'धनपालस्तु तमेव प्रस्तुत्याह—वनु धटादिषु पठन्ति द्रमिडाः। तेषां (नित्यं) मित्संज्ञा—वनयति। आर्यास्तु विभाषामित्त्वमिच्छन्ति। तेषां वानयति वनयति।'

अर्थात् धनपाल कहता है कि द्रमिड वनु धातु का **'वनयति'** रूप मानते हैं और आर्य **'वानयति'** तथा **'वनयति'** दो रूप।

काशकृत्स्न-धातुपाठ के **'ग्लास्नावनुवमश्वनकम्पमिचमः'** सूत्रानुसार **'वन'** धातु की विकल्प से मित्-संज्ञा होती है और **वानयति, वनयति** दो रूप निष्पन्न होते हैं[3]।

काल—हमारे मित्र पं० श्रीक्षितीशचन्द्रजी चट्टोपाध्याय (कलकत्ता) का विचार है कि काशकृत्स्न पाणिनि से उत्तरवर्ती है,[4] परन्तु उन्होंने इस विषय में कोई प्रमाण नहीं दिया।

पाणिनि से पूर्ववर्ती—काशकृत्स्न निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। इसमें निम्नलिखित प्रमाण हैं—

१. पाणिनीय गणपाठ के अन्तर्गत **उपकादिगण** (२।४।६९) में **'कशकृत्स्न'** और **अरीहणादिगण** (४।२।८०) में **'काशकृत्स्न'** पठित है।

---

१. 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', भाग १, पृ० १५१।

२. डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने 'काशकृत्स्न' शुद्ध पाठ माना है—'पाणिनिकालीन भारतवर्ष', पृ० ४८८।

३. काशकृत्स्न-धातुपाठ कन्नड-टीका, पृ० १४३।

४. टेक्निकल टर्म्स आफ् संस्कृत-ग्रामर, पृ० २७७।

२. वेदान्तसूत्र निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन हैं। अतः उनमें स्मृत आचार्य कृष्णद्वैपायन का समकालिक होगा, अथवा उससे पूर्ववर्ती।

३. तत्त्वरत्नाकर के रचयिता भट्टपराशर के मतानुसार काशकृत्स्न बादरायण =कृष्णद्वैपायन का शिष्य था।

४. महाभाष्य, पस्पशाह्निक के अन्त में क्रमशः पाणिनि आपिशलि और काशकृत्स्नप्रोक्त ग्रन्थों का उल्लेख है—**'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम्।'**

इनमें आपिशलि निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्त्ती है। अतएव, उसका पाणिनि के अनन्तर निर्देश किया है। इसी क्रमानुसार काशकृत्स्न न केवल पाणिनि से पूर्ववर्त्ती होगा, अपितु वह आपिशलि से भी पूर्ववर्त्ती होगा।

५. तीन-चार वर्ष हुए, काशकृत्स्न का धातुपाठ कन्नड-टीका-सहित प्रकाशित हुआ है। उसमें पाणिनि के धातुपाठ की अपेक्षा लगभग ४५० धातुएं अधिक हैं। भारतीय ग्रन्थ-प्रवचन-परिपाटी के अनुसार ग्रन्थों का उत्तरोत्तर संक्षेपीकरण हुआ है। व्याकरण के उपलब्ध ग्रन्थों के अवलोकन से इस बात की सत्यता भली-भांति समझी जा सकती है। इससे मानना होगा कि काशकृत्स्न-धातुपाठ पाणिनीय धातुपाठ से प्राचीन है।

६. काशकृत्स्न-धातुपाठ में अनेक धातुओं के दो-दो रूप हैं। यथा—**'ईड ईल स्तुतौ'** (पृष्ठ १७०)। पाणिनि ने इनमें से केवल **ईड** रूप पढ़ा है। अतएव उत्तरवर्त्ती वैयाकरण इडा और इला शब्दों की सिद्धि एक ही ईड धातु से करते हुए, ड-ल वर्णों का अभेद मानते हैं।

७. काशकृत्स्न-धातुपाठ में अनेक ऐसी धातुएं हैं, जो उभयपदी हैं। उनके परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों प्रक्रियाओं के रूप होते हैं। यथा— **वस निवासे'** (पृष्ठ १६१), **'टुओश्विं गतिवृद्ध्योः'** (पृष्ठ १६१) और **'वद व्यक्तायां वाचि'** (पृष्ठ १६१)। पाणिनि इन्हें केवल परस्मैपदी पढ़ता है।

संख्या ६ के प्रमाण से विदित होता है कि काशकृत्स्न के समय ईड और ईल दोनों धातुओं के आख्यात के स्वतन्त्र प्रयोग लोक में प्रचलित थे। इसलिए उसने दोनों धातुओं को स्वतन्त्र रूप से पढ़ा। परन्तु पाणिनि के समय ईड धातु के ही रूप लोकप्रचलित रह गये। अतः उसने ईल का पाठ नहीं किया, केवल ईड धातु ही पढ़ी। इसी प्रकार संख्या ७ के अनुसार काशकृत्स्न के धातुपाठ में वस, श्वि और वद धातु को उभयपदी पढ़ना इस बात का प्रमाण है कि उसके काल में इन धातुओं के दोनों प्रकार के रूप लोक में प्रचलित थे। पाणिनि के समय केवल परस्मैपद के

रूप अवशिष्ट रह गये थे, अतएव इन्हें केवल परस्मैपदी पढ़ा।

८. महाभाष्य ५।१।२१ पर कैयट लिखता है—

'आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थ इति वचनात्।'

अर्थात् आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में पाणिनीय **'शताच्च ठन्यतावशते'** (५।१।२१) सूत्र के स्थान में **'शताच्च ठन्यतावग्रन्थे'** पाठ था। आपिशल पाणिनि से प्राचीन है। अतः उसके साथ स्मृत काशकृत्स्न भी पाणिनि से प्राचीन होगा। इतना ही नहीं, यदि यह माना जाय कि पाणिनि ने आपिशलि के सूत्रपाठ में कुछ अनौचित्य समझकर **'अग्रन्थे'** का **'अशते'** रूप में परिष्कार किया है, तो निश्चय ही मानना होगा कि आपिशलि के समान **'अग्रन्थे'** पढ़नेवाला काशकृत्स्न भी पाणिनि से पूर्व-भावी है। यह नहीं हो सकता कि पाणिनि आपिशल-सूत्र का परिष्कार करे और पाणिनि से उत्तरवर्त्ती (जैसा कुछ व्यक्ति मानते हैं) काशकृत्स्न पाणिनि के परिष्कार को छोड़कर पुनः आपिशलि के अपरिष्कृत अंश को स्वीकार करले।

९. भर्त्तृहरि के **'तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे'** वचन की व्याख्या करता हुआ हेलाराज लिखता है—

'आपिशलाः काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते।' वाक्यपदीय, काण्ड ३, पृ० ७१४ (काशी-संस्क०)।

अर्थात् आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में पाणिनि द्वारा पठित **'तदर्हम्'** सूत्र नहीं था।

प्रतीत होता है, आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में **'तदर्हम्'** सूत्र के न होने के कारण ही महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि के इस सूत्र की आवश्यकता का प्रतिपादन बड़े यत्न से किया है। यदि काशकृत्स्न पाणिनि से उत्तरवर्त्ती होता, तो निश्चय ही वह पाणिनि का अनुकरण करता, न कि आपिशलि का।

१०. कातन्त्र-व्याकरण में एक सूत्र है—**'भिस् ऐस् वा'** अर्थात् अकारान्त शब्दों से परे तृतीया विभक्ति के बहुवचन **'भिस्'** के स्थान में **'ऐस्'** विकल्प करके होता है[1]। यथा—**देवैभिः देवैः**।

कातन्त्र काशकृत्स्न-तन्त्र का संक्षेप है, यह आगे दर्शायेंगे। तदनुसार कातन्त्रकार ने यह सूत्र अथवा मत काशकृत्स्न से लिया होगा। पाणिनि के अनुसार लोक में केवल **'ऐस्'** के **'देवैः'** आदि प्रयोग होते हैं। कातन्त्र विशुद्ध लौकिक शब्दों का

१. टीकाकारों ने इस सूत्र के अर्थ में बड़ी खींचातानी की है।

व्याकरण है[1]। अतः उसका उपजीव्य काशकृत्स्न-व्याकरण उस काल की रचना होना चाहिए, जब भाषा में 'भिस्' और 'ऐस्' दोनों के 'देवेभिः, देवैः' रूप प्रयुक्त हों। वह काल पाणिनि से निश्चय ही पर्याप्त प्राचीन होगा।

११. पाणिनीय धातुपाठ के जुहोत्यादिगण के तथा स्वादिगण के अन्त में 'छन्दसि' निर्देशपूर्वक जो धातुएं पढ़ी हैं, प्रायः वे सभी धातुएं काशकृत्स्न-धातुपाठ में 'छन्दसि' निर्देश के विना ही पढ़ी गई हैं। इससे प्रतीत होता है कि काशकृत्स्न पाणिनि से बहुत प्राचीन है। पाणिनि के समय वैदिक मानी जानेवाली धातुएं उसके काल में लोक में भी प्रचलित थीं। अन्यथा वह भी पाणिनि के समान इनके लिए 'छन्दसि' का निर्देश करता।

इन उपर्युक्त प्रमाणों और हेतुओं से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न पाणिनि से निश्चय ही बहुत पूर्ववर्ती है। इतना ही नहीं, हमारे विचार में तो काशकृत्स्न आपिशलि से भी प्राचीन है।

पाश्चात्य ऐतिहासिक पाणिनि को विक्रम से ४००-६०० वर्ष पूर्व मानते हैं। यह मत भारतीय अनवच्छिन्न परम्परा के अनुसार नितान्त मिथ्या है। पाणिनि विक्रम से निश्चय ही २८०० वर्ष प्राचीन है, यह हम अपने संस्कृत-व्याकरणशास्त्र के इतिहास में सप्रमाण प्रमाणित कर चुके हैं[2]। तदनुसार काशकृत्स्न का काल भारत-युद्ध (३१०० वि० पूर्व) के आसपास मानना होगा।

काशकृत्स्न को पाणिनि से पूर्ववर्ती मानने में एक प्रमाण बाधक हो सकता है, वह है काशिका ६।२।३६ का पाठ—'**आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः**'। इनमें आपिशलि निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। यदि अगले उदाहरणों में भी इसी प्रकार पौर्वापर्य-व्यवस्था मानी जाय, तो पाणिनि से अर्वाचीन रौढि और उससे अर्वाचीन काशकृत्स्न को मानना होगा। परन्तु यह कल्पना पूर्वोक्त प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण चिन्त्य है। इतना ही नहीं, वर्धमान के मतानुसार '**पाणिनीयरौढीयाः रौढीयपाणिनीयाः**' आदि दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं (गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २६)। अतः स्पष्ट है कि काशिका के उपर्युक्त उदाहरणों में कालक्रम अभिप्रेत नहीं है।

---

१. शर्ववर्मणस्तु वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। नह्यय (कातन्त्रकारः) छान्दसान् शब्दान् व्युत्पादयति। कातन्त्रवृत्ति, परिशिष्ट, पृ० ५३०।

२. इसके लिए द्र०—हमारा 'संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास,' भाग १, पृ० १३५-१४०। डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल का 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ

काशकृत्स्न-व्याकरण का परिचय

नाम—अभी कुछ वर्ष हुए, काशकृत्स्न का कन्नड-टीका-सहित जो धातुपाठ प्रकाशित हुआ है, उसका नाम है—**काशकृत्स्नशब्दकलाप धातुपाठ**। इस नाम में शब्दकलाप पद धातुपाठ का विशेषण है, अथवा काशकृत्स्न के शब्दानुशासन का मूल नाम है, यह सन्दिग्ध है। **'शब्दानां प्रकृत्यात्मिकां कलां पाति रक्षति'** (=शब्दों की प्रकृति रूप कला=अंश की रक्षा करता है) व्युत्पत्ति के अनुसार यह धातुपाठ का विशेषण हो सकता है। परन्तु हमारा विचार है कि शब्दकलाप काशकृत्स्न-शब्दानुशासन का प्रधान नाम था। इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

कातन्त्र, अपरनाम कलापक-व्याकरण[1] के 'कलापक' नाम में ह्रस्व अर्थ में जो 'क' प्रत्यय (अष्टा० ५।३।८६) हुआ है[2], उससे प्रतीत होता है कि कातन्त्र-व्याकरण जिस तन्त्र का संक्षिप्त संस्करण है[3], इसका मूलनाम 'कलाप' है। हम आगे सप्रमाण सिद्ध करेंगे कि वर्त्तमान कातन्त्र, अपरनाम कलापक अथवा कौमार-व्याकरण[4] काशकृत्स्न के महातन्त्र[5] का ही संक्षेप है। अतः काशकृत्स्न के शब्दानुशासन का

(हिन्दी-संस्करण) अभी प्रकाशित हुआ है। हमारा 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' ६ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। परन्तु आपने अपने ग्रन्थ में पाणिनि के काल की विवेचना करते हुए हमारे एक भी प्रमाण की आलोचना विना किये पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित काल ही स्वीकार किया है। 'गतानुगतिको लोकः' कहावत के अनुसार उन्हें पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कल्पित काल-विभाग का अनुसरण करना ही उचित प्रतीत हुआ होगा।

१. सम्प्रति इसका 'कलाप' नाम से भी व्यवहार होता है। यह व्यवहार चिन्त्य है, ऐसा अगले विवेचन से स्पष्ट है।

२. दशपादी-उणादि-वृत्तिकार ने ३।५ (पृ० १३०) पर कलापक शब्द में 'कला' उपपद होने पर 'आङ्'-पूर्वक 'पा पाने' धातु से 'क्वुन्' प्रत्यय माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने धातुपरायण (पृ० ६) तथा उणादि (पृ० १०) में दशपादी-वृत्तिकार का ही अनुसरण किया है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों लेखकों की व्युत्पत्तियां अशुद्ध हैं।

३. कातन्त्र शब्द का अर्थ भी ईषत् तन्त्र है। द्र०—'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास', पृ० ३६७।

४. कातन्त्र की रचना छोटे बालकों के लिए हुई, यह इस नाम से स्पष्ट है।

५. हमारे विचार में गायकवाड़-संस्कृत-सीरिज में प्रकाशित बालिद्वीपीय ग्रन्थ-

मूल नाम 'कलाप' ही प्रतीत होता है।

शब्दकलाप का अर्थ—हम बहुत विचार के अनन्तर इस परिणाम पर पहुंचे है कि 'शब्दकलाप' पद का अर्थ शब्दों की 'कलाओं=अंशों का पान करनेवाला', अर्थात् किसी बृहत् शब्दानुशासन का संक्षिप्त संस्करण है। इसमें निम्नाङ्कित कारण है—

काशिका ४।३।११५, **जैन शाकटायन** ३।१।१८२ की **चिन्तामणि-वृत्ति** तथा सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२४५ की हृदयहारिणी टीका में एक उदाहरण है—**'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्'**। यह उदाहरण जिस सूत्र का है, उसके अनुसार इसका अर्थ है—काशकृत्स्न ने किसी के उपदेश के विना अपनी प्रतिभा से अपने शास्त्र में शब्दों के गौरव-लाघव का विचार करके अनन्त शब्दराशि में लोकप्रसिद्ध मुख्य शब्दों का ही उपदेश किया और अप्रसिद्ध शब्दों को छोड़ दिया। अर्थात् काशकृत्स्न ने शब्द-शास्त्र के संक्षेप करने में शब्दों के गौरव=प्रसिद्धि और लाघव=अप्रसिद्धि पर अधिक ध्यान दिया। अतः उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न ने किसी पूर्व व्याकरण-शास्त्र में अप्रसिद्ध शब्दविषयक सूत्रों को कम कर दिया, अर्थात् किसी पूर्व बृहत् शास्त्र का संक्षेप से उपदेश किया। इसलिए शब्दकलाप का उपरि-विवृत अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है।

काशकृत्स्न-धातुपाठ के सम्पादक श्री ए० एन्० नरसिंहिया ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में **'शब्दकलाप'** नाम के विषय में अपना कुछ भी विचार प्रकट नहीं किया। केवल **काशकृत्स्न शब्दकलाप धातुपाठ** नाम के कारण कुछ लोगों का कहना है कि इसका सम्बन्ध कलाप-व्याकरण से है। कलाप-व्याकरण के कुमार-व्याकरण और कातन्त्र-व्याकरण नामान्तर हैं, इतना ही लिखकर इस प्रश्न को टाल दिया है।

परिमाण—तीन अध्याय—काशकृत्स्न-व्याकरण में कितने अध्याय, पाद तथा सूत्र थे, इसका निर्देशक कोई साक्षात् वचन उपलब्ध नहीं होता, परन्तु काशिका और अमोघा-वृत्ति के पूर्व उद्धृत **'त्रिकं काशकृत्स्नम्, त्रिकं काशकृत्स्नीयम्'** उदाहरणों से इतना स्पष्ट है कि काशकृत्स्न के किसी सूत्रात्मक ग्रन्थ में तीन अध्याय थे। हमारे विचार में उक्त उदाहरणों में स्मृत अध्यायत्रयात्मक काशकृत्स्न-ग्रन्थ व्याकरण-विषयक था, इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

१. **काशिका** ५।१।४८ तथा **जैन शाकटायन** ३।२।१६१ की अमोघा-वृत्ति में पूर्वोद्धृत उदाहरणों के साथ निर्दिष्ट **'अष्टकं पाणिनीयम्'** आदि उदाहरणों में जितने

संग्रह के अन्तर्गत कारक-संग्रह के अन्तिम श्लोक 'कातन्त्रं च महामन्त्रं दृष्ट्वा तेन उवाच।' में स्मृत महातन्त्र काशकृत्स्न-तन्त्र ही है।

अन्य सूत्र-ग्रन्थ स्मरण किये गये हैं, वे सब निश्चय ही व्याकरणविषयक हैं[1]। इस लिए साहचर्य-नियम से उनके साथ स्मृत काशकृत्स्न का अध्यायत्रयात्मक ग्रन्थ भी व्याकरणविषयक ही होना चाहिए।

२. कलापक अपरनाम कातन्त्र-व्याकरण काशकृत्स्न-व्याकरण का संक्षेप है, यह हम आगे सप्रमाण दर्शायेंगे। मूल कातन्त्र-व्याकरण[2] में भी तीन ही अध्याय हैं। अतः यह अधिक सम्भव है कि कातन्त्रव्याकरण के उपजीव्य काशकृत्स्न-व्याकरण में भी तीन ही अध्याय हों।

पाणिनि-व्याकरण के संक्षेपक चन्द्रगोमी ने भी अपने व्याकरण में पाणिनीय-तन्त्रवत् आठ ही अध्याय रखे थे[3]। पाणिनीय तथा चान्द्र व्याकरणों के अनुसर्त्ता भोज ने भी अपने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण को आठ अध्यायों में ही विभक्त किया है। इतना ही नहीं, स्वयं पाणिनि ने भी व्याकरण और शिक्षा-सूत्रों को अपने उपजीव्य आपिशल-व्याकरण और शिक्षा-सूत्रों के अनुसार क्रमशः आठ अध्यायों तथा आठ प्रकरणों में विभक्त किया है[4]।

इसी प्रकार कातन्त्र के व्याकरणप्रवक्ता ने भी तीन अध्यायों का विभागीकरण अपने उपजीव्य काशकृत्स्न-तन्त्र के अनुरूप ही किया हो, यह अधिक सम्भव है।

इस अनुमान की पुष्टि इससे भी होती है कि कातन्त्र-धातुपाठ में काशकृत्स्न-धातुपाठ के समान ही धातुओं को नव गणों में विभक्त किया है (जुहोत्यादि को

---

१. 'दशकं वैयाघ्रपदीयम्' के लिए द्र०—हमारा 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', पृ० ८६।

२. मूल कातन्त्र आख्यातान्त है। उत्तर-कृदन्त-भाग (अध्याय ४) कात्यायन द्वारा परिवर्द्धित है। द्र०—'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास'।

३. उपलब्ध चान्द्र व्याकरण में केवल छह ही अध्याय हैं, परन्तु मूल ग्रन्थ में आठ अध्याय थे। बौद्धमतानुयायियों की उपेक्षा के कारण अन्त के स्वरवैदिक-प्रक्रिया-सम्बन्धी दो अध्याय लुप्त हो गये। हमने इन लुप्त दो अध्यायों के अनेक सूत्र उपलब्ध कर लिये हैं। विशेष द्र०—'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', पृ० ४१६।

४. हरदत्त के लेखानुसार (पदमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ६-७) पाणिनीय व्याकरण का उपजीव्य आपिशल-व्याकरण है। द्र०—'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', पृ० ९५। आपिशल और पाणिनीय-शिक्षा के लिए द्र०—हमारे द्वारा सम्पादित 'शिक्षासूत्राणि'(आपिशलपाणिनीयचान्द्र शिक्षासूत्र) ग्रन्थ।

अदादि के अन्तर्गत माना है)।

प्रति अध्याय पाद-संख्या—काशकृत्स्न-व्याकरण के प्रत्येक अध्याय में कितने पाद थे, यह ज्ञात नहीं। काशकृत्स्न से लघु पाणिनीय तन्त्र में आठ अध्याय हैं और प्रति अध्याय चार-चार पाद। ऐसी अवस्था में काशकृत्स्न-व्याकरण के तीन अध्यायों में प्रति अध्याय पाद-संख्या चार से अवश्य ही अधिक रही होगी। कातन्त्र के तीन अध्यायों में क्रमशः पांच-पांच तथा दस पाद हैं।

काशकृत्स्न-तन्त्र संक्षिप्त होते हुए भी पाणिनीय तन्त्र से विस्तृत—हम पहले लिख चुके हैं कि काशकृत्स्न का शब्दानुशान किसी प्राचीन महातन्त्र का संक्षिप्त प्रवचन है। मूल काशकृत्स्न-व्याकरण के अनुपलब्ध होने पर भी हमारा विचार है कि काशकृत्स्न का व्याकरण संक्षिप्त होते हुए भी पाणिनीय अनुशासन से अधिक था। इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

१. काशकृत्स्न-व्याकरण के आज तक हमें जितने सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनकी पाणिनीय सूत्रों के साथ तुलना करने से विदित होता है कि काशकृत्स्न-व्याकरण में अनेक ऐसे पदों का अन्वाख्यान था, जिनका पाणिनीय तन्त्र में निर्देश नहीं है। यथा—

(क) **ब्रह्म**—**'बर्हेश्चरो मनि'**; पृ० ६७।

(ख) **कश्यप, कशिपु**—**'कशेर्यप ईपुश्च'**; पृ० ७६।

(ग) **पुलस्त्य, अगस्ति**—**'पुल्यगिभ्यामस्त्योऽस्तिश्च'**; पृ० ८६।

(घ) **लक्ष्मी, लक्ष्म, लक्ष्मण**—**'लक्षेर्मीमन्मनाः'**; पृ० २५३।

२. चन्नवीरकवि-कृत कन्नड-टीका-सहित जो धातुपाठ प्रकाशित हुआ है, उसमें पाणिनीय धातुपाठ से लगभग ४५० धातुएं अधिक हैं[1]।

जिस व्याकरण में धातुओं की संख्या जितनी अधिक होगी, निश्चय ही वह व्याकरण भी अधिक विस्तृत होगा।

वैशिष्ट्य—किस व्याकरण में क्या वैशिष्ट्य है, इसका ज्ञान विभिन्न व्याकरण-ग्रन्थों में उल्लिखित निम्नाङ्कित उदाहरणों से होता है। यथा—

---

१. वस्तुतः काशकृत्स्न-धातुपाठ में लगभग ६५० धातुएं ऐसी हैं, जो पाणिनीय धातुपाठ में नहीं हैं। लगभग २०० धातुएं पाणिनीय धातुपाठ में ऐसी हैं, जो काशकृत्स्न धातुपाठ में नहीं हैं। अतः दोनों ग्रन्थों की पूर्ण धातु-संख्या की दृष्टि से काशकृत्स्न-धातुपाठ में ४५० धातुएं अधिक लिखी हैं।

१. 'आपिशलं पुष्करणम्'[1], काशिका ४।३।११५; 'आपिशलमान्तःकरणम्',[2] सरस्वतीकण्ठाभरण, हृदयहारिणी टीका ४।३।२४५।

२. 'पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्' काशिका ४।३।११५; जैन शाकटायन चिन्तामणि-वृत्ति ३।१।१८२; 'पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्' काशिका ६।२।१४।

३. 'चान्द्रमसंज्ञकं व्याकरणम्', सरस्वतीकण्ठाभरण-हृदयहारिणी टीका ४।३। २४५; 'चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्', चान्द्रवृत्ति २।२।८६; वामनीय लिङ्गानुशासन पृ० ७।

इसी प्रकार काशकृत्स्न-व्याकरण की विशिष्टता का बोधक एक उदाहरण है—'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्'।

यह उदाहरण काशिका ४।३।११५, सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२४५ की हृदय-हारिणी टीका तथा जैन शाकटायन ३।१।१८२ की चिन्तामणि-टीका में उपलब्ध होता है।

इन सब उदाहरणों से व्यक्त है कि जिस प्रकार पाणिनीय तन्त्र की विशेषता कालपरिभाषाओं का अनिर्देश है, चान्द्र तन्त्र की विशेषता संज्ञा-निर्देश विना किये शास्त्रप्रवचन है, उसी प्रकार काशकृत्स्न-तन्त्र की विशेषता गुरु-लाघव है।

गुरु-लाघव शब्द का अर्थ—हमने अपने 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ (पृ० ८३) में लिखा था—

"व्याकरण-शास्त्र की सूत्र-रचना में गुरु-लाघव (गौरव-लाघव) का विचार सबसे प्रथम काशकृत्स्न आचार्य ने प्रारम्भ किया था। उससे पूर्व सूत्र-रचना में गौरव-लाघव का विचार नहीं किया जाता था"।

पुनः इसी पृष्ठ की तीसरी टिप्पणी में लिखा था—

"हमारा विचार है, काशकृत्स्न से पूर्व सूत्र रचना सम्भवतः ऋक्प्रातिशाख्य के समान श्लोकबद्ध होती थी। छन्दोबद्ध रचना होने पर गौरव-लाघव का विचार पूर्णतया नहीं रखा जा सकता। उसमें श्लोकपूर्त्यर्थ अनेक अनावश्यक पदों का समावेश करना पड़ता है।"

१-२ इन उदाहरणों का अभिप्राय अस्पष्ट है। वामन ने काशिकावृत्ति ६।२।१४ में 'आपिशल्युपज्ञं 'गुरुलाघवम्' उदाहरण दिया है। हमारा विचार है कि यहां मूल पाठ 'आपिशल्युपज्ञं दुष्करणम्, काशकृत्स्न्युपज्ञं गुरुलाघवम्' रहा होगा। मध्य में से 'दुष्करणं काशकृत्स्न्युपज्ञं' पाठ त्रुटित हो गया। तुलनीय—काशिका ४।३।११५—'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलं पुष्करणम्।'

इनका भाव यह है कि सूत्रों की लघुता के लिए गद्य का आश्रय सबसे पूर्व काशकृत्स्न ने लिया था, उससे पूर्व सूत्र-रचना छन्दोबद्ध होती थी।

पूर्वलेख अशुद्ध—काशकृत्स्न-धातुपाठ तथा उसकी कन्नड-टीका में १३५ सूत्रों के प्रकाश में आ जाने से हमें पूर्वविचार छोड़ना पड़ा। काशकृत्स्न-सूत्रों की कातन्त्र-सूत्रों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि काशकृत्स्न-व्याकरण भी सम्भवतः श्लोक-बद्ध रहा होगा।

गुरु-लाघव का नवीन अर्थ—हम पहले लिख चुके हैं कि भारतीय इतिहास और व्याकरण के उपलब्ध तन्त्र इस बात के प्रमाण हैं कि व्याकरण-शास्त्र के प्रवचन में उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ है। काशकृत्स्न ने अपने संक्षिप्त (पूर्वापेक्षया) शास्त्र का प्रवचन करते समय शब्दों के गौरव=लोक में प्रयोग और लाघव=लोक में अप्रयोग को मुख्यता दी। दूसरे शब्दों में काशकृत्स्न ने अपने शास्त्र-प्रवचन में लोक में अप्रसिद्ध शब्दों को छोड़ दिया, अतः उसका शास्त्र पूर्वतन्त्रों की अपेक्षा बहुत छोटा हो गया। इसी कारण उसका नाम लोक में **'शब्दकलाप'** प्रसिद्ध हुआ।

काशकृत्स्न-तन्त्र श्लोकबद्ध—काशकृत्स्न का व्याकरण ऋक्प्रातिशाख्य के समान पद्यबद्ध था, न कि पाणिनीय तन्त्र के समान गद्यबद्ध। इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

१. मूल कातन्त्र-व्याकरण का पर्याप्त भाग छन्दोबद्ध है। कातन्त्र काशकृत्स्न का संक्षिप्त प्रवचन है। इससे अनुमान होता है कि काशकृत्स्न-तन्त्र श्लोकबद्ध रहा होगा।

२. काशकृत्स्न-व्याकरण के जो विकीर्ण सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें प्रत्यय-निर्देश दो प्रकार से मिलता है। सूत्र में जहां एक से अधिक प्रत्ययों का निर्देश है, वहां कहीं प्रत्ययों का समास से निर्देश किया है, कहीं पृथक्-पृथक्। यथा—

समस्तनिर्देश—**'लक्षेर्मीमन्मनाः'** (पृ० १५३); **'नाम्न उपमानादाचारे आय-ङीयौ'** (पृ० ३००)।

असमस्तनिर्देश—**'कशेर्यप ईपुश्च'** (पृ० ७६); **'पुल्यगस्तिश्यामस्त्योस्तिश्च** (पृ० ८६)।

प्रत्ययों का इस प्रकार समस्त और असमस्त उभयथा निर्देश तभी सम्भव हो सकता है, जब सूत्र-रचना छन्दोबद्ध हो और छन्दोऽनुरोध से कहीं समस्त और कहीं असमस्त निर्देश करना पड़े।

३. काशकृत्स्न-व्याकरण के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें कतिपय स्पष्ट श्लोक अथवा श्लोकांश हैं। यथा—

(क) 'भूते भव्ये वर्त्तमाने भावे कर्त्तरि कर्मणि।
प्रयोजके गुणे साम्ये धातुभ्यः स्युः क्विबादयः'॥

(ख) 'गृहाः पुंसि च नाम्न्येव'।

(ग) 'अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे कर्मणि यङ् स्मृतः॥

काशकृत्स्न के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, वे उसके तन्त्र के विविध प्रकरणों के हैं, इसलिए गद्यबद्ध प्रतीयमान सूत्रों के विषय में भी श्लोकबद्ध होने की सम्भावना का निराकरण नहीं होता।

काशकृत्स्न-तन्त्र का संक्षेप कातन्त्र

कातन्त्र-व्याकरण केवल लौकिक शब्दों के साधुत्व का प्रतिपादन करता है, परन्तु उसमें कतिपय कार्य ऐसे भी निर्दिष्ट हैं, जो पाणिनीय वैयाकरणों की दृष्टि से वैदिक-शब्द-सम्बन्धी हैं[1]। एक विशुद्ध और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त लौकिक व्याकरण में वैदिक शब्द-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख होना बड़े आश्चर्य का विषय है। हम कातन्त्र का गम्भीर अनुशीलन करके इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि कातन्त्र किसी ऐसे प्राचीन व्याकरण का संक्षेप है, जिसके काल में पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा वैदिक कहे गये पद लोक-भाषा में प्रयुक्त थे। इसी विचार मे हमने सं० २००७ वि० में प्रकाशित **'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास'** ग्रन्थ में लिखा था—

"कातन्त्र किसी अत्यन्त प्राचीन तन्त्र का संक्षिप्त संस्करण है। अतः उसमें कुछ प्राचीन (उत्तरकाल में छान्दस माने गये) अंश का विद्यमान रहना स्वाभाविक है" (पृ० २९)।

काशकृत्स्न के कतिपय उपलब्ध सूत्र—हमने संस्कृत-व्याकरणशास्त्र के इतिहास में काशकृत्स्न के चार-पांच सूत्र उद्धृत किये थे। तत्पश्चात् सं० २००८ वि० के अन्त में काशकृत्स्न-धातुपाठ कन्नड-टीका-सहित प्रकाश में आया। ऐसे दुर्लभ और पाणिनि से प्राचीन आर्यग्रन्थ के अनुशीलन के लिए मन लालायित हो उठा, परन्तु कन्नड-भाषा का परिज्ञान न होने के कारण उससे वंचित रह गये। अन्त में हमने किसी प्रकार सं० २०११ वि० में इसकी नागराक्षरों में प्रतिलिपि करवाई। इस नये ग्रन्थ के अनुशीलन से संस्कृत-भाषा और उसके व्याकरण के सम्बन्ध में जहां अनेक

---

१. संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', पृ० २८-३०।

रहस्य विदित हुए, 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' के प्रथम अध्याय में उल्लिखित प्राचीन संस्कृत-भाषा-सम्बन्धी विचारों की पुष्टि हुई, वहां काशकृत्स्न-व्याकरण के लगभग १३५ नये सूत्र उपलब्ध हुए।

काशकृत्स्न और कातन्त्र सूत्रों की समानता—कातन्त्र-व्याकरण अत्यन्त संक्षिप्त है। उसके मूल ग्रन्थ में कृदन्त-प्रकरण भी नहीं है[1]। अतः काशकृत्स्न के उपलब्ध समस्त सूत्रों की उपलब्धि उसमें सम्भव ही नहीं। पुनरपि काशकृत्स्न के ३० सूत्र कातन्त्र में उपलब्ध हो जाते हैं। उनमें से अधिकांश अक्षरशः समान हैं, कतिपय स्वल्प भेद से हैं।

संज्ञाओं में समानता—काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों और कातन्त्र-व्याकरण में प्रयुक्त संज्ञाएं परस्पर समान हैं। इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओं से हमने अनुमान किया था कि कातन्त्र काशकृत्स्न-तन्त्र का संक्षेप है।

कातन्त्र धातुपाठ की उपलब्धि—लगभग ढाई वर्ष की बात है, हमने अपने मित्र श्रीकपिलदेव, साहित्याचार्य, एम० ए० को पी-एच डी० के लिए पाणिनीय गणपाठ पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया था। गणपाठ के संशोधन के लिए उन्होंने अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ संगृहीत किये। उनका उपयोग करके उन्होंने हमें उनका संक्षिप्त विवरण लिखा। उसी में संकेत किया कि बाहर से मंगवाये गये गणपाठ के हस्तलेखों में कातन्त्र-सम्बन्धी ऐसा ग्रन्थ था, जिस पर गणपाठ लिखा था, परन्तु था वह धातुपाठ का। इसलिए हमने उसे लौटा दिया।

कातन्त्र-व्याकरण में प्राक्पाणिनीय व्याकरण-सामग्री का निर्देश होने से हमें उसके साथ स्वाभाविक अनुराग हो गया है। क्षीरस्वामी-कृत पाणिनीय धातुपाठ-व्याख्या के सम्पादक लिबिश ने क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में, परिशिष्ट में शर्ववर्मकृत धातुपाठ का तिब्बती अनुवाद छापा है। शर्ववर्म का कातन्त्र से गहरा सम्बन्ध होने के कारण इसे ही कातन्त्र का धातुपाठ समझते थे। इसलिए हम उसके मूल संस्कृत-पाठ के लिए वर्षों से प्रयत्नशील थे। अपने मित्र की उक्त सूचना पाते ही हमने लिखा कि वे इस अलभ्य ग्रन्थ को जैसे भी हो पुनः मंगवाकर उसकी प्रतिलिपि करा कर हमारे पास भेजें। ग्रन्थ के मंगवाने तथा प्रतिलिपि कराने में समय लगना स्वाभाविक था, परन्तु हम उसे देखने के लिए अत्यन्त लालायित थे। श्रीकपिलदेवजी ने कातन्त्र-धातुपाठ की प्रतिलिपि भेजी। मूल ग्रन्थ पुरानी बंगला-लिपि में लिखा हुआ है। कपिलदेवजी ने अपने एक बंगाली मित्र की सहायता से इसकी प्रतिलिपि

---

१. कृदन्त-भाग कात्यायन (वररुचि)-कृत है। द्र०—'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', पृ० ४०५।

की थी। ग्रन्थ कई स्थानों पर खण्डित है। पुनरपि यह बड़े महत्त्व और शोध का ग्रन्थ है।

दोनों धातुपाठों की समानता—चिरकाल से इच्छित कातन्त्र-धातुपाठ को प्राप्त कर हर्ष होना स्वाभाविक था, परन्तु जब हमने उसकी काशकृत्स्न-धातुपाठ के साथ तुलना की, तब हर्ष की कोई सीमा न रही। कातन्त्र धातुपाठ संक्षिप्त होते हुए भी काशकृत्स्न-धातुपाठ का अनुकरण करता है। यद्यपि संक्षिप्त होने के कारण बीच-बीच में कतिपय धातुएं नहीं मिलती हैं, तथापि धातु का स्वरूप, अनुबन्ध, अर्थ-निर्देश-क्रम और गण-विभाग आदि में वह पूर्णतया काशकृत्स्न-धातुपाठ के समान है। इससे भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि कातन्त्र वस्तुतः काशकृत्स्न का संक्षिप्त संस्करण है।

वैदिक धातुओं का उभयत्र समान पाठ—काशकृत्स्न पाणिनि से पर्याप्त पूर्ववर्त्ती है, यह हम पहले लिख चुके हैं। पाणिनीय धातुपाठ में जुहोत्यादि और स्वादि-गण के अन्त में कुछ ऐसी धातुएं पढ़ी गई हैं, जिनके आदि अथवा अन्त में 'छन्दसि' सूत्र से उनका छान्दसत्व व्यक्त किया गया है। परन्तु काशकृत्स्न-धातुपाठ में इन धातुओं का पाठ साधारणरूप से है, 'छन्दसि' का निर्देश उसमें नहीं है। काशकृत्स्न के उत्तर-काल में पाणिनि द्वारा, इनके छान्दसत्व की घोषणा हो जाने पर भी ये धातुएं काशकृत्स्न का संक्षेप होने के कारण कातन्त्र-धातुपाठ में स्थान पा गईं।

जिस प्रकार कातन्त्र-सूत्रपाठ में कुछ वैदिक माने गये शब्दों के नियम उपलब्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार धातुपाठ में भी कतिपय छान्दस मानी गई धातुएं उपलब्ध हैं। इस सादृश्य से भी यही प्रकट होता है कि जैसे कातन्त्र-धातुपाठ काशकृत्स्न-धातुपाठ का क्रमशः संक्षेप है, वैसे ही कातन्त्र का सूत्रपाठ भी काशकृत्स्न का संक्षेप होगा।

काशकृत्स्न-धातुपाठ से प्रभावित चान्द्रधातुपाठ

आचार्य चन्द्रगोमी-प्रोक्त सूत्रपाठ यद्यपि पाणिनीय अष्टाध्यायी से अधिक प्रभावित है, तथापि धातुपाठ पाणिनीय पाठ से विशेष प्रभावित नहीं है। पाणिनीय धातुपाठ में भ्वादिगण में तथा अन्यत्र भी यथासम्भव आत्मनेपद-परस्मैपद धातुओं को साथ-साथ पढ़ा गया है। यथा धातुपाठ के आरम्भ में पहले तवर्गीयान्त आत्मनेपदी एधादि धातुएं, तत्पश्चात् तवर्गीयान्त परस्मैपदी धातुएं। तदनन्तर कवर्गीयान्त आत्मनेपदी, पुनः कवर्गीयान्त परस्मैपदी। परन्तु चान्द्र धातुपाठ में पहले सभी (अवान्तर गणविशेष को छोड़कर) परस्मैपदी धातुएं पढ़ी गई हैं, तदनन्तर आत्मनेपदी, तत्पश्चात् उभयपदी। इसी प्रकार पाणिनीय धातुपाठ में जो एकार्थ धातुएं पृथक्-पृथक् पढ़ी गई थीं, यथा अद भक्षणे और प्सा भक्षणे, उन्हें चान्द्र धातुपाठ में

एकत्र पढ़ा गया है, यथा अदप्सा भक्षणे।

काशकृत्स्न-धातुपाठ की उपलब्धि के पूर्व समझ में नहीं आता था कि चन्द्रगोमी ने धातुपाठ में पाणिनि का अनुकरण न करके स्वतन्त्र क्रम-निर्धारण क्यों किया। परन्तु काशकृत्स्न-धातुपाठ की उपलब्धि होने से स्पष्ट हो गया कि चन्द्रगोमी ने यह क्रम काशकृत्स्न-धातुपाठ से लिया है। चन्द्रगोमी धातुपाठ के प्रवचन में, धातुक्रम-निर्देश में नब्बे प्रतिशत काशकृत्स्न का अनुकरण करता है, कहीं-कहीं पाणिनीय धातुपाठ का भी। यह काशकृत्स्न, पाणिनीय तथा चान्द्र धातुपाठ की तुलना से सर्वथा स्पष्ट है।

काशकृत्स्न-धातुपाठ कल्पित नहीं है

काशकृत्स्न-धातुपाठ कन्नड-लिपि में छपा है, अतः वह अभी पाश्चात्य और तदनुयायी भारतीय विद्वानों की दृष्टि में विशेषरूप से नहीं आया। परन्तु कालान्तर में जब भी इस धातुपाठ की ओर पाश्चात्य तथा तदनुयायी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट होगा, तभी वे एकबार इसे कल्पित (जाली) कह उठेंगे। क्योंकि इस धातुपाठ से पाश्चात्य भाषा-विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों पर भारी कुठाराघात होता है[1] और प्राचीन संस्कृत अथवा अतिभाषा अथवा आदिभाषा[2] के दिव्यस्वरूप पर महान् प्रकाश पड़ता है। शतशः ऐसे शब्द, जिसे पाश्चात्य भाषाविदों ने अभारतीय अथवा प्राकृत और अपभ्रंश आदि के स्वीकार किये हैं, इस धातुपाठ के प्रकाश में विशुद्ध संस्कृत भाषा के प्रतीत होते हैं, यह सिद्ध होता है।

चान्द्र तथा कातन्त्र-धातुपाठ का उपजीव्य होने से काशकृत्स्न-धातुपाठ निश्चय ही इन दोनों से प्राचीन है। कातन्त्र-धातुपाठ पर कातन्त्र-व्याख्याता दुर्गसिंह की व्याख्या भी है। माधवीया धातुवृत्ति तथा क्षीरतरङ्गिणी में उद्धृत दुर्गमतानुसारी धातुएं इस कातन्त्र-धातुपाठ में प्रायः मिलती हैं। सम्भव है यदि हमारा कातन्त्र-धातुपाठ का हस्तलेख अशुद्ध और त्रुटित न होता, तो सभी पाठ मिल जाते। दुर्गसिंह-विरचित धातुवृत्ति के हस्तलेख कई स्थानों पर उपलब्ध हैं।

अब हम काशकृत्स्न व्याकरण के अद्यावधि उपलब्ध समस्त सूत्रों को व्याख्या और टिप्पणी-सहित उद्धृत करते हैं—

काशकृत्स्न-व्याकरण के उपलब्ध सूत्र

हमने अपने 'संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ (सं० २००७

---

१. इस विषय पर हम किसी अन्य लेख में प्रकाश डालेंगे।

२. नाट्यशास्त्र १७।१८ में प्रयुक्त। 'वैदिकशब्दबाहुल्यादार्यभाषातो विलक्षणत्वमस्याः' (अभिनवगुप्तविवृति)।

का आरम्भ) में काशकृत्स्न-व्याकरण के चार सूत्र और एक मत उद्धृत किये थे। सं० २००८ (मार्च, सन् १९५२ ई०) में काशकृत्स्न का धातुपाठ कन्नड-टीका-सहित डेक्कन-कालेज (पूना) से प्रकाशित हुआ। इस टीका के रचयिता का नाम चन्नवीर कवि है। ग्रन्थ के सम्पादक ए० एन्० नरसिंहिया के मतानुसार चन्नवीर का काल १५०० वि० के लगभग है। चन्नवीर ने सारस्वत-व्याकरण पर भी टीका लिखी है, अतः यह सं० १३५० से पूर्व का नहीं हो सकता। इस कन्नड-टीका में चन्नवीर कवि ने काशकृत्स्न-व्याकरण के कुछ सूत्र उद्धृत किये हैं।

हम आज तक उपलब्ध समस्त सूत्रों को हिन्दी-व्याख्या-सहित नीचे लिखते हैं। धातुपाठ की टीका में उद्धृत सूत्रों का अभिप्राय कन्नड-टीका के अनुसार ही लिखा गया है। आवश्यकतानुसार विवेचनात्मक तथा तुलनात्मक टिप्पणियां भी हैं।

कातन्त्र-व्याकरण काशकृत्स्न का ही संक्षिप्त संस्करण है। अतः काशकृत्स्न के जो सूत्र पूर्णतः अथवा अंशतः कातन्त्र-सूत्रों से समता रखते हैं, उनके साथ कातन्त्र-सूत्र का पाठ और उसका प्रकरण भी लिखा जायेगा।

उपलब्ध काशकृत्स्न-सूत्रों का पाठ अनेक स्थानों पर सन्दिग्ध है। हमने जिस व्यक्ति के द्वारा कन्नड-टीका का नागरी-रूपान्तर कराया, उसने ठीक-ठीक रूपान्तर किया, इसमें भी हमें सन्देह है। अतः हमारे पास जो पाठ है, उसी के आधार पर यह कार्य किया गया है। कन्नड-टीका में कई सूत्र दो-दो तीन-तीन स्थानों में उद्धृत हैं और उनमें पाठभेद भी है। सम्भव है, टीकाकार ने कई सूत्रों को अर्थानुवाद के रूप में पढ़ा हो। अशुद्ध पाठों का विवेचन हम टिप्पणी में करेंगे।

इन उपलब्ध सूत्रों से काशकृत्स्न-व्याकरण के विषय में जो प्रकाश पड़ता है, उसका संक्षिप्त विवेचन अन्त में किया जायेगा। हम प्रथम उन सूत्रों को उद्धृत करते हैं, जो कन्नड-टीका के अतिरिक्त ग्रन्थों में उद्धृत हैं।

भर्तृहरि की स्वोपज्ञ-वृत्ति में

१—धातो[1] साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम्।

टिप्पणी—यह सूत्र भर्तृहरि-विरचित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ-वृत्ति में उद्धृत है (पृ० ४०, लाहौर-संस्करण)। टीकाकार वृषभदेव के मतानुसार यह काशकृत्स्न का सूत्र है (वही ग्रन्थ, पृ० ४१)।

---

१. पाठविषयक टिप्पणी आगे देखें।

अर्थ—धातु=क्रिया तथा भाव[1], साधन=कर्त्ता आदि कारक, दिक्=काल, पुरुष=युष्मद्, अस्मद् आदि और चित्=संख्या इन अर्थों में जो वर्त्तमान होता है, वह आख्यात कहा जाता है।

विवरण—आख्यात=तिङन्त पद के उच्चारण से क्रिया, कर्मादि कारक, वर्त्तमान आदि काल, युष्मद्, अस्मद् आदि पुरुष और एकत्व आदि संख्या का बोध होता है। यथा—'पचसि' मात्र के उच्चारण से श्रोता को पाक-क्रिया, कर्तृकारक, युष्मद् पुरुष, वर्त्तमानकाल और कर्तृगत एक संख्या का बोध होता है। इसी प्रकार सभी आख्यातों के प्रयोगों में इन पांच विषयों की प्रतीति होती है।

भरत-नाट्यशास्त्र के १४वें अध्याय में आख्यात का लक्षण लगभग यही है। इसके लिए गायकवाड़-ग्रन्थमाला में मुद्रित पाठ के २५वें श्लोक के चतुर्थ चरण और २६वें के उत्तरार्द्ध को मिलाकर पढ़ना चाहिए। इनके मध्य का कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रामादिक है। अभिनवगुप्त के व्याख्यानुसार भी २५वें के साथ २६वें श्लोक के उत्तरार्द्ध का ही सामञ्जस्य है। अभिनवगुप्त की व्याख्या से ज्ञात होता है कि यहां २५वें श्लोक तथा उसके पूर्व के श्लोक में कुछ पाठभ्रंश हो गया है। नाम का लक्षण भी त्रुटित हो गया है। टीका तथा मूल के विविध पाठों के अनुसार आख्यात का लक्षण इस प्रकार ज्ञातव्य है—क्रियाकृत=भूतादिकाल, प्रथितसाध्य=क्रिया=धात्वर्थ, वचन=संख्या, नामसमेत=कारक=साधन, पुरुष-विमक्त=युष्मद्,अस्मद् के विभाग का, जिससे कहा जाये, वह आख्यात होता है।

भरत-नाट्यशास्त्र के अनेक व्याकरणविषयक स्थल कातन्त्र-व्याकरण से मिलते हैं, अतः काशकृत्स्न के साथ उसकी समता स्वाभाविक है।

पाठविषयक टिप्पणी—भर्तृहरि की स्वोपज्ञ-टीका में '**धातुः साधने·····**' पाठ छपा है और वृषभदेव ने भी इसी पाठ की व्याख्या की है, परन्तु उक्त पाठ और वृषभदेव की व्याख्या दोनों ही अशुद्ध हैं। इसके लिए अगले सूत्र की हमारी पाठ-विषयक टिप्पणी देखें।

२—लिङ्ग[2] किमि (चिति) विमक्तौ एतन्नाम।

टिप्पणी—यह सूत्र भी भर्तृहरि की वाक्यपदीय आगम-काण्ड की स्वोपज्ञवृत्ति में उद्धृत है (लाहौर-संस्करण, पृ० ४०)।

अर्थ—लिङ्ग=प्रातिपदिक, किम्=स्त्रीत्व आदि, चित्=संख्या और विमक्ति

---

१. कातन्त्र-व्याकरण में धातु का लक्षण 'क्रियाभावो धातुः' (३।३।९) किया है।

२. पाठविषयक टिप्पणी आगे देखें।

=कर्म आदि कारक इन अर्थों में जो वर्त्तमान हो, वह नाम कहा जाता है।

विवरण—नाम=सुबन्त पद के उच्चारण से प्रातिपदिक का अर्थ, स्त्रीत्व-पुंस्त्व, संख्या=एकत्व आदि और कर्म आदि कारक का बोध होता है। यथा—'**बालकम्**' इतने शब्द के उच्चारण से बालकपन, पुंस्त्व, एक संख्या और कर्मकारक का बोध होता है। '**बालिकाम्**' के उच्चारण से पुंस्त्व के स्थान पर स्त्रीत्व की प्रतीति होती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझें।

भरत-नाट्यशास्त्र, अ० १४ के २५वें श्लोक तथा उसके पूर्व श्लोकों का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। अभिनवगुप्त की व्याख्या से द्योतित होता है कि मूल ग्रन्थ में नाम का लक्षण भी था, जो अब प्रायः नष्ट हो चुका है।

पाठविषयक टिप्पणी—भर्तृहरि की स्वोपज्ञ-वृत्ति में '**लिङ्गं**' पाठ छपा है, परन्तु वृषभदेव की टीका में '**लिङ्गे इति**' प्रतीक उद्धृत है, जो कि अर्थानुसार ठीक है। इसी प्रकार स्वोपज्ञ-वृत्ति में '**किमिति**' पाठ छपा है। हस्तलेख का मूल पाठ '**किति**' है। सम्पादक को वृषभदेव की टीका के '**किमिति**' अशुद्ध प्रतीक-पाठ से भ्रम हुआ है। टीकाकार प्रतिपद का निर्देश '**इति**' शब्द से करता है। यथा—दिशीति, चितीति, लिङ्गे इति। इसी प्रकार यहां भी '**किमिति**' प्रतीक-पाठ होना चाहिए। सूत्र में '**किमि**' पाठ ही है, इसका संकेत हस्तलेख के '**किति**' पाठ से भी होता है। '**चिति**' पाठ हमें सूत्र में त्रुटित प्रतीत होता है, अथवा इसकी पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति रही होगी।

जिस प्रकार इस सूत्र के आरम्भ का पद वृषभदेव के टीकानुसार '**लिङ्गे**' सप्तम्यन्त है, उसी प्रकार पूर्व सूत्र में भी '**धातौ**' सप्तम्यन्त ही पाठ होना चाहिए।

वृषभदेव की व्याख्या अशुद्ध—वृषभदेव ने इस सूत्र की टीका में '**लिङ्ग**' का अर्थ स्त्रीत्व-पुंस्त्वादि और '**किम्**' का संख्या एकत्वादि किया है, यह सर्वथा अशुद्ध है। उसे लिङ्ग शब्द के पूर्वाचार्यों द्वारा परिभाषित अर्थ का ज्ञान न होने से भ्रान्ति हुई है। पूर्वाचार्यों के मत में '**शब्द**' उन शब्दों की संज्ञा है, जिनकी पाणिनीय मतानुसार प्रातिपदिक संज्ञा होती है। काशकृत्स्न के संक्षिप्त संस्करण कातन्त्र में लिङ्ग का लक्षण—**धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिङ्गम्** (२।१।१) किया है। इसी अर्थ में लिङ्ग-पद का प्रयोग भरत-नाट्यशास्त्र (अ० १४ श्लोक ३४, गायकवाड़-संस्क०) में उपलब्ध होता है। इसकी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने कातन्त्र के पूर्व सूत्र के एक-देश '**अर्थवल्लिङ्गमिति संज्ञायां···**' को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि यहां '**लिङ्ग**' पद से प्रातिपदिक ही विवक्षित है। '**किम्**' से अभिप्राय है स्त्रीत्व-पुंस्त्व का। सम्भव है, वृषभदेव को यह भ्रान्ति सूत्र में '**चिति**' पद के त्रुटित होने से हुई हो, अथवा सम्पादक द्वारा वृषभदेव की टीका के संक्षेप के कारण पाठदोष उत्पन्न

हुआ हो। वृषभदेव ने पूर्व सूत्र में 'चित्' पद का अर्थ संख्या ही किया है, वही यहां होना चाहिए।

३—**प्रत्ययोत्तरपदयोः**।

टिप्पणी—कैयट महाभाष्य-प्रदीप २।१।५१ (**तद्धितार्थोत्तर०**) में लिखता है—**काशकृत्स्नस्य प्रत्ययोत्तरपदयोः इति सूत्रम्**।

अर्थ—(तद्धित) प्रत्यय के विषय में और उत्तरपद परे रहने पर संख्यावाची पद का समानाधिकरण पद के साथ जो समास होता है, उसकी द्विगु संज्ञा होती है।

टिप्पणी—यह अर्थ पातञ्जल महाभाष्य (२।१।५१) और कैयट-विरचित प्रदीप-व्याख्या के अनुसार है। पाणिनि के **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च, संख्यापूर्वो द्विगुः** (२।१।५१,५२) की तुलना करने से प्रतीत होता है कि **प्रत्ययोत्तरपदयोः** सूत्र समासविधायक है, न कि द्विगुसंज्ञाविधायक। यह भी सम्भव है, भाष्यकार और कैयट ने विचारणीय अंश का ही निर्देश किया हो और काशकृत्स्न का पूरा सूत्र **प्रत्ययोत्तरपदसमाहारेषु** हो।

४—**शताच्च ठन्यतावशते**।

टिप्पणी—कैयट ने महाभाष्य-प्रदीप ५।१।२१ में लिखा है—**आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थ इति वक्तव्यात्**। यहां कैयट ने उतने ही अंश का निर्देश किया है, जितना पाणिनि से भिन्न है। हमने पाणिनीय सूत्र के अनुसार पूर्त्ति की है।

अर्थ—शत शब्द से क्रीत आदि अर्थों में ठन् और यत् प्रत्यय होते हैं, यदि ग्रन्थ अर्थवाच्य न हो।

उदाहरण—**शतेन क्रीतं वस्त्रम्**—**शत्यं शतिकं वा वस्त्रम्**। सौ रुपयों से खरीदे हुए वस्त्र के लिए शत्य और शतिक शब्द का प्रयोग होता है। यदि सौ रुपयों से खरीदा हुआ ग्रन्थ हो, तो नहीं होता। इसी प्रकार परिमाण अर्थ में **'शतं परिमाणमस्य निदानग्रन्थस्य इति शतकं निदानम्'**, अर्थात् सौ अध्याय परिमाण है इस निदान-ग्रन्थ का—में **'शतक'** शब्द का ही प्रयोग होगा, यत्-ठन् प्रत्यय नहीं होंगे।

विवरण—पाणिनि का सूत्र है—**शताच्च ठन्यतावशते**(५।१।२१)। इसका अर्थ है, शत शब्द से क्रीतादि अर्हपर्यन्त अर्थों में ठन् और यत् प्रत्यय होते हैं, यदि शत अर्थ वाच्य न हो। उदाहरण पूर्ववत्। **'अशते'** ग्रहण इसलिये है कि यदि शत संख्या गम्यमान हो, तो यत्-ठन् न हों। शत संख्या दो प्रकार की होती है—स्वविषयक और अन्यविषयक। जैसे—**'शतकं निदानम्'**, इसमें शतक शब्द से ही निदान के सौ अध्यायों का बोध होता है, इसलिए यह स्वविषयक शत संख्या का बोध है। **'शत्यं शाटकशतम्'**, इसमें 'शत्यं' का वाच्य धोती है और धोतियों की संख्या बताने

के लिए शत शब्द पृथक् उच्चरित है। धोतियों की १०० संख्या की प्रतीति **'शत्यं'** पद से नहीं होती। अतः किस प्रकार के **'शत'** अर्थ वाच्य होने पर **'अशते'** यह निषेध होता है, इसे स्पष्ट करने के लिए कात्यायन ने वार्त्तिक कहा है—**शतप्रतिषेधेऽन्यशतत्वेऽप्रतिषेधः**। अर्थात् शत के प्रतिषेध में जहां अन्य पदार्थ की सौ संख्या किसी पदान्तर से प्रतीत होती हो, वहां यत्-ठन् का प्रतिषेध न हो। अतः **'शत्यं शतिकं' वा शाटकशतम्'** में यत्-ठन् हो जाते हैं। **'शतमध्यायाः परिमाणमस्य शतकं निदानम्'** में नहीं होता; क्योंकि यहां पदान्तर के प्रयोग के विना ही निदानान्तर्गत सौ अध्यायों की प्रतीति शत्य और शतिक शब्द से ही हो जाती है।

सूत्रभेद का लक्ष्य पर प्रभाव—दोनों सूत्रों में भेद यह पड़ता है कि पाणिनि के मतानुसार सौ गायों के संघ के लिए **शत्य-शतिक** शब्दों का प्रयोग नहीं होगा, **शतकः गोसंघः** प्रयोग होना चाहिए; क्योंकि यहां स्वविषयक संघ की १०० संख्या का बोध होता है। काशकृत्स्न और आपिशलि के मतानुसार केवल ग्रन्थ वाच्य होने पर यत्-ठन् का निषेध है। इसलिए गोसंघ के लिए भी **शत्यः शतिको वा गोसंघः** प्रयोग हो सकता है। प्रयोगों में जहां विषमता होती है, वहां प्रायः देश-व्यवस्था के अनुसार प्रयोग-व्यवस्था मानी जाती है। यथा—**इञः प्राचाम्, उदीचामवृद्धादगोत्रम्**। अतः सम्भव है, काशकृत्स्न और आपिशलि के देश में ग्रन्थ के अतिरिक्त अर्थ में शत्य-शतिक प्रयोग वर्त्तमान होंगे और पाणिनि के देश में शतक का प्रयोग रहा होगा। वस्तुतः दोनों ही प्रयोग ठीक हैं।

काशकृत्स्न-धातुपाठ की कन्नड-टीका में उद्धृत सूत्र

अब हम उन सूत्रों को उद्धृत करते हैं, जो काशकृत्स्न-धातुपाठ की चन्नवीर कवि-विरचित कन्नड-टीका में निर्दिष्ट हैं। सूत्र के अन्त में जो संख्या लिखी है, वह काशकृत्स्न-धातुपाठ के मुद्रित ग्रन्थ की पृष्ठ-संख्या है।

कोई-कोई सूत्र कन्नड-टीका में अनेक स्थानों पर उद्धृत है, और कोई सूत्र एकदेश में ही पुनर्निर्दिष्ट है। उन्हें हम यहां एक स्थान पर ही लिखेंगे। दो स्थानों में निर्दिष्ट किसी-किसी सूत्र में पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं सन्देह होता है कि विभिन्न स्थानों में पठित पाठभेद अथवा अंश एक ही सूत्र के हैं अथवा स्वतन्त्र सूत्र हैं। हमने इस प्रकार के सूत्रों को एक स्थान पर ही पढ़ा है। शेष सूत्र कन्नड-टीका में उद्धृत क्रम से ही संगृहीत किये हैं।

५—**क्विप्**। पृष्ठ ५, भू धातु के प्रसङ्ग में।

धातोः क्विप्। पृष्ठ ५, चिती धातु के प्रसङ्ग में।

क्विब्विणौ सर्वधातुभ्यः। पृष्ठ २३७।

प्रथम दोनों पाठों का अभिप्राय है—धातु से क्विप् प्रत्यय होता है। यथा—**भूः, चित्**।

तृतीय पाठ का अभिप्राय है—सभी धातुओं से **'क्विप्'** और **'विण्'** प्रत्यय होते हैं। यथा—**क्विप्**—**पाः दाः, सोः, हृत्, कृत्, जित्; विण्**—**वाक् भाक्, वात्, गात्** (पृष्ठ २३७ पर उद्धृत।)

टिप्पणी—(१) इन तीनों पाठों में से मूल सूत्रपाठ कौन-सा है, यह सन्दिग्ध है। हमारा विचार है, तृतीय पाठ मूल हो और शेष दो का संक्षिप्त अथवा अर्थतः निर्देश हो। पञ्चपादी उणादि के बंगाली अथवा उत्तर-पाठ में जो प्रत्यय सब धातुओं से इष्ट होता है, उसके साथ **'सार्वधातुभ्यः'** पद लगाया जाता है। यथा—**सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्**। ४।१५९। **सर्वधातुभ्योऽसुन्**। ४।१९०। इत्यादि

(२) **'सोः'** यह **षो अन्तकर्मणि** (काशकृत्स्न धातुपाठ, पृ० १८६) का क्विबन्त रूप है। पाणिनीय नियमानुसार **'आदेच उपदेशेऽशिति**(६।१।४५) से आत्व होकर **'साः'** रूप निष्पन्न होता है। परन्तु कन्नड-टीका में **शो तनूकरणे** का **शोः**(पृष्ठ १८५) **छो छोदने** का **छोः**(पृ० १८५), **षो अन्तकर्मणि** का **सोः** (पृ० १८६) रूप उल्लिखित हैं। इससे यह स्पष्ट है कि काशकृत्स्न के मत में ओकारान्त धातुओं को क्विप् परे आकार नहीं होता। काशकृत्स्न का एक सूत्र—**सन्ध्यक्षराणामाकारः** (क्रमिक संख्या २५) आगे लिखेंगे। वह विकरण परे आत्व का विधान करता है। यथा—**ग्लायति म्लायति**। विशेष उसी सूत्र के प्रसङ्ग में देखें।

(३) वाक्, भाक्, वात्, गात्—ये विण् प्रत्यय के रूप हैं। इनमें प्रत्यय णित् होने से **'वृद्धिरादौ सणे'** इस उत्तर-सूत्र से वृद्धि होकर वाक्-भाक् प्रयोग निष्पन्न होते हैं। वाक् पाणिनीय व्याकरणानुसार **'क्विब्वचिप्रच्छि'** (३।२।१०८)वार्तिक से क्विप् और धातु को दीर्घ होकर निष्पन्न होता है। **'भाक्'** यह प्रयोग पाणिनीय व्याकरणानुसार **'भजो ण्विः'** (३।२।६२) सूत्र से निष्पन्न होता है। **वात् गात्** ये प्रयोग चन्नवीर कवि ने किस धातु से निष्पन्न किये हैं, यह अज्ञात है।

६—**अनुनासिकोऽनुषङ्गः** ॥६॥[1] [पृष्ठ ५]

धातु और प्रत्यय का अनुनासिक=पञ्चम वर्ण है, वह **अनुषङ्ग** कहलाता है।

७—**अनुषङ्गस्य लोपः** ॥६,२१२॥ [पृष्ठ ५]

---

१. यहां से आगे दाहिनी ओर की संख्या काशकृत्स्न-धातुपाठ की कन्नड-टीका की समझें। अर्थात् इस संख्यावाले पृष्ठ पर यह सूत्र उद्धृत है।

अनुषङ्ग का लोप होता है। यथा—मन्थ—मथ्यते।

टिप्पणी—यह सूत्र पृष्ठ २१२ में **भ्रस्जो पाके** धातु के **भ्रजति** प्रयोग पर भी उद्धृत है। भ्रस्ज में कोई पञ्चम वर्ण नहीं है, जिसका लोप हो। परन्तु **भ्रजति भ्रजनम्, भ्रजनीयम्** प्रयोगों के निर्देश से प्रतीत होता है कि धातु का मूल पाठ **भज्जो पाके** होना चाहिए। पाणिनीय मतानुसार 'भ्रस्ज' धातु का रूप भृज्जति बनता है। आगे निर्दिश्यमान **अनुषङ्गलोपोऽनुनासिकानाम्** (क्रमिक संख्या ४३) सूत्र भी देखें।

८—**इदनुबन्धान्नुः** ॥६॥

इकार अनुबन्धवाली धातुओं को 'नु' होता है। यथा—कुथि—कुथन्ति, इदि—इन्दति।

टिप्पणी—'नु' में उकार अनुबन्ध है। 'न्' मात्र का आगम होता है। 'न्' का आगम कहां हो, इसका विधायक कोई सूत्र कन्नड-टीका में उद्धृत नहीं है, परन्तु काशकृत्स्न के आधार पर लिखे गये कातन्त्र में इस प्रकार लिखा है—**आगम उदनुबन्धः स्वरादन्त्यात् परः** (२।१।६), अर्थात् उकार अनुबन्धवाला आगम अन्त्य स्वर के परे होता है। अतः **न् इद्** धातु के परे हुआ।

९—**धात्वादेः षः सः** ॥६,४०॥

धातु का आदि जो ष, उसको स हो जाता है। यथा—षिधु—सेधति।

१०—**नो णः** ॥६,४०॥

धातु का आदि जो ण, उसको न होता है। यथा—णमु—नमति।

टिप्पणी—संख्या ९, १० के सूत्र कातन्त्र ३।१०।२४,२५ में तथा पाणिनीय अष्टाध्यायी ९।१।६४,६५ में इसी रूप में पठित हैं।

११—**गमां वः** ॥४०॥

गमो गच्छ ॥७६॥

गमादेश्छः ॥२२५॥

टिप्पणी—इन तीनों सूत्रों में मूलपाठ सन्दिग्ध है। प्रथम सूत्र पृष्ठ ४० पर **यमु उपरमे** धातु के प्रसङ्ग में उद्धृत है और इसका अर्थ लिखा है—गमादि के मकार को वकार होता है—**यवति**। द्वितीय सूत्र **गम्लृ गतौ** धातु के प्रसङ्ग में उद्धृत है और तृतीय सूत्र तौदादिक **इष् गतौ** के प्रसङ्ग में।

यदि प्रथम सूत्र उसके अर्थ और यवति प्रयोग में छकार को वकार लेखक-प्रमाद

से हुआ हो, तो तीनों का अर्थ एक ही होगा। काशकृत्स्न के अनेक सूत्रों में आदि पद प्रकारवाची है। यथा—**'दानादीनां सन् सार्वधातुके'** (क्रमिक संख्या ६२)। इसी प्रकार अनेक सूत्रों में बहुवचन से भी सदृश धातुओं का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—**यजां यवराणान्** (क्रमिक संख्या ६५)। इस द्विविध प्रवृत्ति में **गमां छः** अथवा **गमादेश्छः** में कौन मूल पाठ है, यह नहीं कहा जा सकता। मध्यवर्त्ती पाठ सम्भवतः अर्थतः अनुवाद होगा। कातन्त्र में **गमिष्यमां छः** (३।८।६९) और पाणिनीय में **इषुगमियमां छः** (७।३।७७) पाठ है।

१२—**लोपोऽनुनासिकानां कानुबन्धे** ॥४०, ७६॥

धातुओं के अनुनासिक ङ, ञ, ण, न, म का लोप होता है ककार अनुबन्धवाले प्रत्यय के परे रहने पर। यथा—नम+क्त=नतम्, अवगतम्।

१३—**उदनुबन्धादिड् वा** ॥४१॥

उकार अनुबन्धवाली धातुओं से इट् विकल्प होता है। यथा—**णमु—नतम्, नमितम्।**

१४—**दिवादेर्यन्** ॥४२,१८१॥

दिवादिगण की धातुओं से यन् विकरण होता है। यथा—**दीव्यति।**

टिप्पणी—टीकाकार ने यह सूत्र पृष्ठ ४२ पर भ्वादि-गणस्थ **शुची शूची चुची चूची** अभिषवे धातु के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है। इन धातुओं का दिवादि-गण में पाठ नहीं है, अतः इस सूत्र की प्राप्ति सम्भव नहीं। पाणिनीय धातुपाठ में **शुच्य चुच्य** अभिषवे यकारान्त पाठ है। अतः इस पाठ में यन् प्रत्यय के विना भी **शुच्यति चुच्यति** प्रयोग बन जाते हैं। प्रतीत होता है, इन धातुओं के दिवादि-कार्य का अतिदेशक कोई सूत्र काशकृत्स्न-व्याकरण में रहा होगा, जिसका टीकाकार ने उल्लेख नहीं किया। ऐसी ही एक कठिनाई ऊर्णुञ् धातु के सम्बन्ध में है, उस पर आगे विचार किया जायगा। प्रश्न हो सकता है कि यदि इन धातुओं में यन् विकरण ही होना था, तो इन्हें दिवादिगण में ही क्यों नहीं पढ़ा, अथवा पाणिनि के समान इन्हें शुच्य शूच्य चुच्य चूच्य यकारान्त क्यों नहीं माना। इस विषय में हमारा विचार है कि भ्वादि में पाठ-सामर्थ्य से[1] अथवा वत् निर्देश से पक्ष में यन् प्रत्यय

१. पाणिनि का एक सूत्र है 'श्रुवः शृ च' (३।१।७४)। समस्त व्याख्याकार इस सूत्र से शृणोति प्रयोग बनाते हैं। 'श्रु' धातु भ्वादि में पढ़ा है। यदि उससे केवल 'श्नु' विकरण ही होना है और उसके साथ 'शृ' आदेश, तो भ्वादि में 'श्रु' को क्यों पढ़ा। उसे स्वादि में ही पढ़ना चाहिए था। इससे हमारा विचार है

नहीं होता होगा और **शोचति शूचति चोचति चूचति** रूप भी निष्पन्न होते होंगे। यह सूत्र कातन्त्र (३।४।३३) में भी इसी प्रकार पठित है।

१५—चजयोः कगौ कानुबन्धे ॥४२॥

धातु के च, ज को क्रमशः क, ग होता है ककार अनुबन्धवाले प्रत्यय के परे रहने पर। यथा—शुच्+क्ति=शुक्तिः।

टिप्पणी—क्रमिक संख्या ३७ भी देखें।

१६—चुषादेर्दीर्घः ॥५६॥

सार्वधातुक परे रहने पर चुष आदि धातुओं को दीर्घ होता है। यथा—चुष—चूषति, तुष—तूषति।

टिप्पणी—टीकाकार ने व्याख्या में '**सार्वधातुक**' पद का निर्देश किया है। सम्भवतः, इसकी अनुवृत्ति किसी पूर्व सूत्र से रही होगी। काशकृत्स्न-व्याकरण में '**अन्**' उत्सर्ग विकरण है। टीकाकार ने '**अन्**' विकरण-विधायक सूत्र का निर्देश नहीं किया। कातन्त्र (३।४।३३) में '**अन्विकरणः कर्त्तरि**' सूत्र पठित है। अन् की सार्वधातुक सज्ञा कैसे होती है, यह अज्ञात है।

१७—हो ढः ॥६४॥

धातु के हकार को ढकार होता है। यथा—मिह्+तृ=मिढ् तृ।

टिप्पणी—यहां टीकाकार ने क्रमशः मेढृ (मेढा) पद की सिद्धि दर्शाई है। १७वें सूत्र के कार्य के पश्चात् 'तृ' के तकार को धकार करनेवाला सूत्र टीकाकार ने उद्धृत नहीं किया। यह कार्य अन्यत्र उद्धृत **चतुर्थीत् तथयोर्धः** (क्रमिक संख्या १०४) से होकर मिढ् धृ, इस अवस्था में—

१८—सतवर्गयोः शचवर्गयोगे शचवर्गौ ॥६४॥

सकार और तवर्ग को, शकार और चवर्ग के योग में, शकार और चवर्ग हो जाता है।

टिप्पणी—इस सूत्र का प्रकृत मेढृ शब्द में कोई कार्य नहीं था, परन्तु साहचर्य से इस सूत्र के प्रसङ्ग में उद्धृत कर दिया। यथा—पृष्ठ ६ पर **नो णः** तथा पृष्ठ

कि भ्वादिपाठ-सामर्थ्य से 'श्रु' धातु का 'श्रवति' प्रयोग भी बनना चाहिए। अन्यथा भ्वादि-पाठ व्यर्थ है। काशकृत्स्न-धातुपाठ की टीका में श्रु धातु का 'श्रवति' ही प्रयोग लिखा है। देखिए पृष्ठ ७५। हमारे द्वारा सम्पादित क्षीरतरङ्गिणी, पृ० १४२, टि० ५ भी द्रष्टव्य।

४० पर षात्वादेः षः सः साहचर्य के कारण उद्धृत किये गये हैं। मेढृ प्रयोग का मुख्य साधक 'धृ' को 'ढ्' करनेवाला सूत्र त्रुटित है। उसकी हमने ऊहा करके नीचे लिखा स्वरूप कल्पित किया है।

१९—**षटवर्गयोगे षटवर्गौ।**

षकार और टवर्ग के योग में सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग हो जाता है। यथा—मिढ् धृ = मिढ् ढ्।

यह सूत्र हमारे द्वारा ऊहित है। इसके विना अगले सूत्र का कार्य प्रवृत्त नहीं होता। सम्भव है, यहां टीका का पाठ भ्रष्ट हुआ हो।

२०—**ढो ढे लोपः पूर्वस्य समानस्य दीर्घः ॥६४॥**

ढ परे रहने पर ढ का लोप होता है और पूर्व समान = अ इ उ ऋ ऌ वर्ण[1] को दीर्घ होता है। यथा—मिढ् ढ् = मीढ्।

टिप्पणी—तुलना करें—**ढे ढलोपो दीर्घश्चोपधायाः** (कातन्त्र ३।१०।६)।

२१—**नामिनो गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः ॥६४॥**

नामी-संज्ञक इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ जिनके अन्त में हों, उन धातुओं को सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर गुण (ए ओ अर् अल्) होता है। यथा—मीढ् = मेढ्।

टिप्पणी—हमारी देवनागरी प्रति में '**नामनो गुणः**' पाठ है। सम्भव है, देवनागरीप्रतिलिपिकर्त्ता ने प्रमाद से अशुद्धि की हो। क्रमांक १२६ में शुद्ध '**नामिनाम्**' पाठ है। कातन्त्र के '**स्वरोऽवर्णवर्जो नामी**' (१।१।७) में नामी-संज्ञा कही गई है।

२२—**सेर्डा ॥६४॥**

सि का डा होता है। यथा—मेढ् सि—मेढ् डा।

टिप्पणी—'सि' प्रथमा विभक्ति का एकवचन है। हमारी प्रति में '**से डा**' पाठ है।

२३—**अनुबन्धे स्तनादेर्लोपः ॥६४॥**

टिप्पणी—इस सूत्र का पाठ और व्याख्या दोनों अस्पष्ट हैं। नागरी-प्रतिलिपि-

---

१. कातन्त्र में अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ इनकी समान संज्ञा कही है—'दश सवर्णाः' (१।१।३)। प्रातिशाख्यों में कहीं आठ और कहीं नव वर्णों की समान संज्ञा मानी गई है।

कर्त्ता कन्नड-सूत्र-व्याख्या का ठीक अनुवाद नहीं कर पाया। टीका में इस सूत्र से ऋ का लोप करके मेढ़ा रूप दर्शाया है। कातन्त्र २।१।७० में **'आ ध न सम्बुद्धौ'** सूत्र से ऋ का आकार, और २।१।७१ से 'सि' का लोप कहा है।

२४—**बर्हरू रो मनि** ॥६८॥

बृह् धातु के ऋ को र होता है मन् परे रहने पर। यथा—बृह् मन्=ब्रह्मन्।

२५—**सन्ध्यक्षराणामाकारः** ॥६७॥

सन्ध्यक्षर जिनके अन्त में हैं, उनको आकार आदेश होता है। यथा—ग्लै अ ति=ग्ला अ ति।

टिप्पणी—तुलना करें—कातन्त्र (३।६।२०) **सन्ध्यक्षरान्तानामाकारोऽविकरणे**।

२६—**आतो युः** ॥६८॥

आकारान्त धातुओं को अन् परे यु (=य्) होता है। यथा ग्ला अति=ग्ला य् अ ति=ग्लायति।

टिप्पणी—**'आतो युः'** सूत्र में अन् की अनुवृत्ति कहां से आती है, यह अज्ञात है। कातन्त्र (३।६।२०) में विकरण परे न रहने पर आकार आदेश कहा है। पाणिनीय (६।१।४५) में अशित्=सार्वधातुक के अभाव में आकार का विधान किया है। अतः इन दोनों मतों में सीधा ऐ का आय् होकर ग्लायति आदि प्रयोग बन जाते हैं। काशकृत्स्न में सर्वत्र 'आ' का विधान करके और अन् विकरण में य् आगम करके ग्लायति आदि बनाये हैं।

२७—**ईद् आतः कानुबन्धे** ॥६९॥

ककार अनुबन्धवाले प्रत्यय के परे रहने पर आकारान्त धातु को ईकार होता है। यथा—रै+क्ति=रा ति=रीतिः, रीतम्।

२८—**धेटोऽयः** ॥७१॥

धेट् धातु के सन्ध्यक्षर=ए को अय् होता है (अन् परे रहने पर), यथा—धयति।

टिप्पणी—इस सूत्र के तथा अगले सूत्रों के अर्थों में कोष्ठान्तर्गत पाठ हमने जोड़ा है, कन्नड टीका में नहीं है।

२९—**पः पिबः** ॥७१॥ [कातन्त्र ३।८।७०]

पा धातु को पिब आदेश होता है (अन् परे रहने पर), यथा—पिबति।

३०—**घ्रो जिघ्रः** ।।१७।। [कातन्त्र ३।८।७१]

घ्रा धातु को जिघ्र आदेश होता है (अन् परे रहने पर)। यथा—जिघ्रति।

३१—**ध्मो धमः** ।।७२।। [कातन्त्र ३।८।७२]

ध्मा धातु को धम आदेश होता है (अन् परे रहने पर)। यथा—धमति।

३२—**स्थः तिष्ठः** ।।७२।। [कातन्त्र ३।८।७३]

स्था धातु को तिष्ठ आदेश होता है (अन् परे रहने पर)। यथा—तिष्ठति।

३३—**म्नो मनः** ।।७२।। [कातन्त्र ३।८।७४]

म्ना धातु को मन आदेश होता है (अन् परे रहने पर)। यथा—मनति।

३४—**दाणो यच्छः** ।।७२।। [कातन्त्र ३।८।७५]

दाण् धातु को यच्छ आदेश होता है (अन् परे रहने पर)। यथा—यच्छति।

३५—**ह्रस्वस्य तोऽन्तः पानुबन्धे** ।।७३।।

ह्रस्व-स्वरान्त धातु के अन्त में तकार का आगम होता है, पकार अनुबन्धवाले प्रत्यय के परे रहने पर। यथा—सृ क्विप् = सृत्।

टिप्पणी—कन्नड-टीका में इस सूत्र के अर्थ-निर्देश के अनन्तर सृत्, सृ ये दो प्रयोग लिखे हैं। इसी प्रकार पृष्ठ ७४, ७५ पर ऋ गृ घृ धातुओं के ऋ ग् घृ कृदन्त-रूप लिखे हैं। इन ऋ, गृ, घृ रूपों के साथ अन्य जो कृदन्त-रूप लिखे हैं, वे नपुंसकलिङ्ग हैं। इसलिये उनके साहचर्य से सृ, ऋ, गृ, घृ रूप भी नपुंसकलिङ्ग के प्रथमा विभक्ति के, एक वचन के हैं। इन प्रयोगों से सन्देह होता है कि काशकृत्स्न के उक्त सूत्र में किसी पूर्व सूत्र से 'वा' की अनुवृत्ति आती है। उसका टीकाकार ने अर्थ-निर्देश में उल्लेख नहीं किया अथवा विकल्प से तकार-लोपविधायक सूत्र कन्नड-टीका में त्रुटित हो गया अथवा देना रह गया। काशकृत्स्न-टीका से इतना स्पष्ट है कि ह्रस्व-स्वरान्त धातु के क्विबन्त में तकार-युक्त तथा तकार-रहित दो-दो प्रयोग होते थे। पाणिनीय व्याकरण में केवल तकारान्त प्रयोगों का ही निर्देश किया गया है—**ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (६।१।७१)। यदि इस सूत्र में पूर्व सूत्र-पठित **बहुलम्** की अनुवृत्ति मान ली जाय, तो पाणिनि के मत में भी यथाप्रयोग तकारान्त और तकार-रहित प्रयोग उपपन्न हो सकते हैं। वस्तुतः पाणिनि को क्या सूत्रार्थ अभिप्रेत था, यह इस समय जानना असम्भव है; क्योंकि इस समय पाणिनीय अष्टाध्यायी की जितनी वृत्तियां उपलब्ध हैं, उन सब पर महाभाष्य-व्याख्या का प्रभाव है। महाभाष्य की रचना से पूर्व अष्टाध्यायी की अनेक वृत्तियां

थीं, और अनेक अर्थों में भी महत् अन्तर था। उदाहरण के लिए १।२।१ का महाभाष्य देखें। वहां इस सूत्र के चार प्रकार के अर्थों का उपन्यास किया है।[1]

३६—ऋ ऋच्छः ॥७४॥

ऋ धातु को ऋच्छ आदेश होता है (अन् परे रहने पर)। यथा—ऋच्छति।

टिप्पणी—काशकृत्स्न-धातुपाठ में 'ऋ' प्रापणे और 'ऋ' गतौ दीर्घ और ह्रस्व दो धातुएं साथ-साथ हैं (पृष्ठ ७४)। दीर्घ ऋ धातु को ऋच्छादेश कहा है और ह्रस्व ऋ का 'अरति' रूप लिखा है। इसी प्रकार दीर्घ के कृदन्त 'ऋ' 'ऋतः' 'ऋति' आदि और ह्रस्व ऋ के ऋ ऋतं ऋतिः आदि रूप दर्शाये हैं। इससे दोनों धातुओं का पार्थक्य स्पष्ट है।

पाणिनीय धातुपाठ के इस प्रकरण में दोनों अर्थों का समुच्चय करके 'ऋ गति-प्रापणयोः' एक ही धातु स्वीकार की है। यद्यपि कातन्त्र-धातुपाठ काशकृत्स्न का अनुकरण करता है, तथापि उसमें ऋ प्रापणे च एक ही धातु पढ़ी है और उसी से अर्त्तेः ऋच्छः (३।८।७७) सूत्र से ऋच्छति प्रयोग दर्शाया है।

३७—चजो कगौ ॥७६॥

च, ज को यथाक्रम क, ग होता है। यथा—सङ्गः, प्वङ्गः।

टिप्पणी—पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सङ्ग, प्वङ्गः में घञ् प्रत्यय में 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' (७।३।५२) से कुत्व होता है। इसी प्रकार का एक सूत्र क्रमिक संख्या १५ के प्रसङ्ग में लिख चुके हैं। दोनों के कार्यक्षेत्र में भेद होने से ये दोनों स्वतन्त्र सूत्र हैं, ऐसा हमारा विचार है।

३८—दृशेः पश्यः ॥७६॥ [कातन्त्र ३।८।७८]

दृश् धातु को पश्य आदेश होता है (अन् विकरण परे रहने पर)। यथा—पश्यति।

३६—दृशादीनां य्वृणां यवरा अ(का)नुबन्धे ॥७६॥

दृश् आदि धातुओं के इ उ ऋ का क्रमशः य व र होता है ककारानुबन्ध-भिन्न प्रत्यय के परे रहने पर। यथा—द्रष्टा।

टिप्पणी—इस सूत्र से ऋ के स्थान में र (अकार-सहित) आदेश होता है।

---

१. देखिए ओरियण्टल कालेज-मैगजीन (लाहौर), नवम्बर, १६३६ ई० के अङ्क में, हमारा 'अष्टाध्यायी की महाभाष्य से प्राचीन वृत्तियों का स्वरूप' शीर्षक लेख।

पाणिनीय व्याकरणानुसार दृश्, सृज् के ऋ से परे 'अ' का आगम होता है (७।३।३४), तत्पश्चात् उसे यणादेश (र्) होता है। क्रम-संख्या ८६ भी देखें।

४०—**छशषराजादीनां षोऽघोषे** ॥७६॥

छकारान्त, शकारान्त और षकारान्त राज आदि धातुओं के अन्त्य को षकार आदेश होता है अघोष=वर्ग के प्रथम-द्वितीय वर्ण परे रहने पर। यथा—द्रष्टा।

टिप्पणी—तुलना करें—**भृजादीनां षः, छशोश्च** (कातन्त्र ३।८।५६,६०)।

४१—**दिशादीनां कः** ॥७६॥

दिश् आदि धातुओं के शकार को ककार होता है। यथा—दृक्।

टिप्पणी—कन्नड-टीका में 'अघोष=वर्गीय प्रथम, द्वितीय और घोष=वर्गीय तृतीय, चतुर्थ' वर्ण के परे रहने पर ककारादेश कहा है, परन्तु दृक्, दिक् आदि लक्ष्यों के विरुद्ध होने से यह व्याख्या चिन्त्य है। पाणिनि के **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** (८।२।६२) सूत्रानुसार केवल पदान्त में ही कुत्व होता है। इसलिए काशकृत्स्न के सूत्र से भी पदान्त में ही कुत्व समझना चाहिए।

४२—**कशेर्यप इषुश्च** ॥७६॥

कश् धातु को यप और ईषु प्रत्यय होता है। यथा—कश्यपः, हिरण्यकशिपुः।

टिप्पणी—(१) हमारी प्रति में सूत्रपाठ सन्दिग्ध है, वहां **कशेर्यपदयुश्च** पाठ लिखा है।

(२) तै० आरण्यक में जो **कश्यपः पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात्** लिखा है, वह अर्थ-निदर्शनपरक है, पश्यक का वर्णविपर्यय होकर कश्यप बना है। यह उसका तात्पर्य नहीं है। इसी प्रकार सिंह, तर्कु आदि में पतञ्जलि (३।१।१२३) और यास्क (३।१८।२।१) ने आद्यन्तविपर्यय दर्शाया है, वह भी अर्थ-निदर्शनपरक ही है। काशकृत्स्न-धातुपाठ, पृष्ठ ६६ में सिंह की मूल धातु सिंहि=सिंह पठित है। इस विषय पर हमने छन्दः-शास्त्र के इतिहास में 'छन्दः' पद-निर्वचन-प्रसङ्ग में विस्तार से लिखा है। यह अभी अमुद्रित है।

४३—**अनुषङ्गलोपोऽनुनासिकानाम्** ॥७६॥

अनुनासिकों के अनुषङ्ग का लोप होता है। यथा—दंश्—दशति।

टिप्पणी—कन्नड-टीका की व्याख्या अधूरी प्रतीत होती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि संख्या ७ पर उद्धृत सूत्र का इसके साथ क्या सम्बन्ध है।

४४—**भूते भव्ये वर्त्तमाने भावे कर्त्तरि कर्मणि ।**

प्रयोजके गुणे योग्ये धातुभ्यः स्युः क्विबादयः ॥८०॥

भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों में तथा भाव=धात्वर्थ, कर्त्ता, कर्म, प्रयोजक, गुण और योग्य (अर्ह) अर्थ में धातुओं से क्विप् आदि प्रत्यय होते हैं।

४५—**पुल्यगिभ्यामस्त्योऽस्तिश्च ॥८९॥**

पुल् और अग् धातुओं से यथाक्रम अस्त्य और अस्ति प्रत्यय होता है। यथा—पुलस्त्यः, अगस्तिः।

४६—**स्फायः स्फी ॥१११॥** [कातन्त्र, कृदन्त ४२]

स्फायी धातु को स्फी आदेश होता है। यथा—स्फीतम्।

४७—**प्यायः पी ॥१११॥** [कातन्त्र, कृदन्त ४३]

प्यायी धातु को पी आदेश होता है। यथा—पीतम्, पीतिः।

टिप्पणी—कन्नड-टीकाकार ने इन दोनों सूत्रों के अर्थ में यह नहीं लिखा कि स्फी और पी आदेश किसके परे रहने पर होते हैं। ये दोनों सूत्र कातन्त्र के कृदन्त-प्रकरण में भी पठित हैं। उनमें पूर्व सूत्र **निष्ठायां च** (कृदन्त ४१) से निष्ठा की अनुवृत्ति आती है। कन्नड-टीकाकार ने **प्यायः पी** सूत्र के अनन्तर **पीतिः** क्तिन्-प्रत्ययान्त का भी उदाहरण दिया है। इससे इतना स्पष्ट है कि काशकृत्स्न-व्याकरण में निष्ठा से अन्यत्र भी ये आदेश होते हैं। सम्भव है, तकारादि कित्प्रत्ययों के परे स्फी तथा पी आदेश का विधान किया हो।

४८—**नान्तः क्षुण्णादीनाम् ॥१३२॥**

टिप्पणी—सूत्रपाठ तथा इसका अर्थ दोनों ही (हमारी प्रति में) संदिग्ध हैं। प्रकरण से ज्ञात होता है कि **क्षोभनम् क्षोभनीयम्** में प्राप्त णत्व के निवारण के लिए यह सूत्र है। हमारे विचार में सूत्रपाठ **नातः क्षुभादीनाम्** चाहिए। तब अर्थ होगा—क्षुभादि धातुओं के प्रत्यय के अकार से परे नकार को णकार नहीं होता। यथा—**क्षोभनम्, क्षोभनीयम्**।

४९—**इक्तिपौ धातुस्वरूपे ॥१३३॥**

धातु के स्वरूप-निर्देश में इक्, तिप् प्रत्यय होते हैं।

टिप्पणी—कन्नड-टीका में इस सूत्र का अर्थ—क्रियाभाव में इक्, तिप् होते हैं, लिखा है। उदाहरण **वृत्तिः**=वर्त्तन, **वृतिः**=बत्ती लिखे हैं। सूत्र के शब्दों तथा

इक्स्तिपौ धातुनिर्देशे (महा० ३।३।१०८) वार्त्तिक के अनुसार हमारे द्वारा प्रतिपादित ठीक है। यथा—**इक् पुल्यगिभ्यामस्त्योऽस्तिश्च** (काशकृत्स्न, क्रमिक संख्या ४५)। तिप् प्रत्यय से धातु-निर्देश का उदाहरण काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों में नहीं मिला।

५०— **कृपो रो लः** ॥१३४॥

कृप् धातु के रकार को लकार होता है। यथा—कल्पते।

५१—**मानुबन्धान्मा** ॥१३७॥

मा-अनुबन्ध धातुओं का इन् में ण् (नहीं) होता।

टिप्पणी—इस अर्थ में कोष्ठान्तर्गत पाठ हमने जोड़ा है। हमारे हस्तलेख में 'नहीं' है।

इस सूत्र के पूर्व **घटादयो मानुबन्धाः** धातु-सूत्र पठित है। तदनुसार घट प्रभृति धातु म-अनुबन्धवाली होती हैं। आगे **इन् णानुबन्धवत्** (क्रमिक संख्या १३१) उद्धृत करेंगे, तदनुसार इन् (=णिच्) प्रत्यय ण-अनुबन्धवाले प्रत्यय के समान होता है। उससे घटयति आदि में वृद्धि प्राप्त होती है—**वृद्धिरादौ सणे** (क्रमिक संख्या १३२)। उसे रोकने के लिए घट प्रभृति धातुओं की मानुबन्ध संज्ञा करके इस सूत्र से इन् को णानुबन्धवद् भाव का प्रतिषेध किया। इस प्रकार, घटयति आदि में वृद्धि का निषेध हुआ। कातन्त्र में '**मानुबन्धानां ह्रस्वः**' (३।६।६५) पाठ है, तदनुसार वृद्धि होकर पुनः ह्रस्व होता है। पाणिनि ने घटादिगण में **घटादयो मितः** (क्षीरतरङ्गिणी १।५५३) से मित् संज्ञा करके **मितां ह्रस्वः** (६।४।९२) से पुनः ह्रस्व किया है। काशकृत्स्न के मतानुसार णानुबन्धत्व का निषेध कर देने से घटयति आदि में वृद्धि ही नहीं होती।

५२—**आतो युरिनि** ॥१४२॥

५३—**आतः पुरिनि** ॥१४३॥

आकारान्त धातुओं से यु (=य्) आगम होता है इन् परे रहने पर। यथा—श्राययति। आकारान्त धातुओं से पु (=प्) आगम होता है इन् परे रहने पर। यथा—श्रापयति।

टिप्पणी—(१) ये दोनों पृथक्-पृथक् सूत्र हैं अथवा एक ही सूत्र के दो सूत्रों के रूप में आर्थिक अनुवाद हैं, यह सन्दिग्ध है।

(२) काशकृत्स्न-धातुपाठ की कन्नड-टीका में ये दोनों सूत्र **श्रा पाके** धातु के प्रसङ्ग में उद्धृत हैं। टीका में श्रा धातु के **श्राययति, श्रापयति** दोनों रूप लिखे हैं।

इससे व्यक्त होता है कि काशकृत्स्न-व्याकरण के अनुसार सभी आकारान्त धातुओं से इन् (=णिच्) परे रहने पर यु (=युक्), पु (=पुक्) दोनों का आगम होता है, और दो-दो रूप बनते हैं। पाणिनीय व्याकरणानुसार (७।३।३७) शा, छा, सा, ह्वा, व्या, पा इन आकारान्तों से युक् और शेष आकारान्तों से पुक् (७।३।३६) का आगम होता है, अर्थात् प्रत्येक धातु के युक्-पुक् के दो-दो रूप नहीं होते। किन्हीं से युक् ही होता है और किन्हीं से पुक् ही। कातन्त्र (३।८।२१,२२) में भी य् प् का पाणिनीय व्याकरणवत् व्यवस्थित विधान है।

५४—**ज्ञाजनोर्जाः** ॥१४२,२४८॥

ज्ञा और जन् धातु को जा आदेश होता है। यथा—जानाति, जायते।

टिप्पणी—कातन्त्र (३।८।८१,८२) में **जा जनेर्विकरणे, ज्ञश्च** पाठ है। पाणिनीय व्याकरण में काशकृत्स्नवत् (७।३।७९) पाठ है।

५५—**क्र्यादेर्ना** ॥१४२॥ [तु० कातन्त्र ३।५।३८]

क्री आदि धातुओं से ना विकरण होता है सार्वधातुक परे रहने पर। यथा—जानाति, क्रीणाति।

५६—**स्वार्थे यिन्** ॥१४२॥

टिप्पणी—इस सूत्र के पाठ में हमें सन्देह है। चन्नवीर ने इसकी व्याख्या भी इसी पाठ के अनुसार की है। यह सूत्र **ऊर्जने छदिः** इस धातु-सूत्र की व्याख्या में उद्धृत है। व्याख्या से प्रतीत होता है कि यहां चौरादिक **छद् संवरणे** (पृष्ठ २५६) धातु का ग्रहण है। अतः इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि यहां इन् प्रत्यय स्वार्थ में है। सम्भवतः **इन्** के स्थान में **यिन्** लेखक-प्रमाद से हो गया है। चुरादिगण के प्रारम्भ में **चुरादेरिन् स्वार्थे** (क्रमिक संख्या ११६) सूत्र उद्धृत किया है, उसके अनुसार यह स्वतन्त्र सूत्र न होकर अर्थतः अनुवाद होगा।

५७—**सदेः सीदः** ॥१४५॥ [कातन्त्र ३।८।८०]

सद्लृ धातु को सीद आदेश होता है। यथा—सीदति।

५८—**शदेः शीयः** ॥१५०॥ [कातन्त्र ३।८।७९]

शद्लृ धातु को शीय आदेश होता है। यथा—शीयति।

टिप्पणी—पाणिनीय **शदेः शितः** (१।३।६०) सूत्रानुसार **शीयते** आत्मनेपद होना चाहिए, परन्तु कन्नड-टीका में परस्मैपद का निर्देश है। कातन्त्र में भी **शीयते** आदि में आत्मनेपद-विधायक कोई सूत्र नहीं है।

५९—**गतौ न लोपः ॥१५२॥**

गति अर्थ में अञ्चु धातु के न् का लोप होता है। यथा—गति में—**अचति, अचते**; अन्यत्र—अञ्चति, अञ्चते।

६०—**खनेः खाः ॥१५४॥**

खन् धातु को खा आदेश होता है। यथा—परिखा, खेयम्, खातः।

टिप्पणी—कन्नड-टीका से यह स्पष्ट नहीं होता कि खन् को खा आदेश किन प्रत्ययों के परे होता है। पाणिनि (६।४।४२) के नियमानुसार झलादि सन् और झलादि कित्-ङित् प्रत्यय परे रहने पर खन् के नकार को आकार होकर खा रूप बनता है। यकारादि कित्-ङित् प्रत्यय परे रहते विकल्प से आकार आदेश (६।४।४३) होता है।

पाणिनीय मतानुसार **परिखा** में ड प्रत्यय होकर खन् के अन् भाग का लोप होता है, तदनन्तर स्त्रीलिङ्ग में टाप् होता है। **खेयम्** में खन् के नकार को **'ई च खनः'** (३।१।१११) से ई और **'आद् गुणः'** (६।१।८७) से गुण होकर रूप-निष्पत्ति होती है। काशकृत्स्न-मतानुसार दोनों में सीधा ही खन् का खा आदेश हो जाता है।

६१—**गुहोर्दीर्घः ॥१५६॥**

गुह् के उकार को दीर्घ होता है। यथा—गूहति।

टिप्पणी—कन्नड-टीका से यह ज्ञात नहीं होता कि ऊकार किन प्रत्ययों के परे रहने पर होता है। पाणिनीय (६।४।८९) मतानुसार जहां **'गोह'** रूप बनता है, वहीं ओकार को ऊकार होता है। कातन्त्र (३।६।६३) का भी यही मत है।

६२—**दानादीनां सन् सार्वधातुके ॥१५८॥**

दान् आदि धातुओं को सन् आगम होता है सार्वधातुक परे रहने पर। यथा—दीदांसते।

टिप्पणी—पाणिनीय मतानुसार यह प्रत्यय है।

६३—**द्विः सनि ॥१५८॥**

सन् परे द्वित्व होता है। यथा—दीदांसते।

टिप्पणी—कन्नड-टीका में अभ्यास के इत्त्व और दीर्घत्वविधायक सूत्र नहीं लिखे हैं। अतः इन कार्यों की सिद्धि ज्ञात नहीं होती।

६४—**अदादीनामनो रुक् ॥१६२॥**

अद् आदि धातुओं से परे अन् विकरण का रुक्=लुक् (लोप) होता है। यथा—अत्ति।

६५—**हनो घा** ॥१६३॥

हन् धातु को घा आदेश होता है। यथा—घातः, घातकः, घाः, घायकः।

टिप्पणी—पाणिनीय व्याकरणानुसार **घाः घायकः** पद निष्पन्न नहीं होते। **'घाः'** की तुलना **खनेः खाः** (क्रमिक संख्या ६०) सूत्र के परिखा-पद से करनी चाहिए। **'घायकः'** में घा आदेश होने पर **'आतो युरिनि'** (क्रमिक संख्या ५२) से यु(=य्) आगम हुआ है। यह इन् (णिच्) से अक् प्रत्यय होकर बना है। पाणिनीय मतानुसार **घातकः** होता है।

६६—**द्यवादीनां वृद्धिस्तिसिमिषु** ॥१६३॥

द्यु प्रभृति धातुओं को ति, सि, मि परे वृद्धि होती है। यथा—द्यौति, द्यौषि, द्यौमि।

६७—**रुवादेरिः सार्वधातुके** ॥१६८॥ [तु० कातन्त्र ३।६।३]

रुद् आदि को इकार होता है सार्वधातुक परे रहने पर। यथा—रोदिति।

६८—**स्वरवद् यः कृत्** ॥१७३॥

कृत्-संज्ञक य प्रत्यय स्वरवत् (=स्वरसदृश) होता है। यथा—दीघय्यम् दीधाय्यम्; वेवय्यम् वेवाय्यम्।

टिप्पणी—(१) **'दीघय्यम्, वेवय्यम्'** में यत् और **'दीधाय्यम्, वेवाय्यम्'** में ण्यत् (पा०) प्रत्यय होता है। यत् में गुण होकर स्वरवत् मानकर **'ए'** का **'अय्'** और ण्यत् में वृद्धि होकर **'ऐ'** का **'आय्'** होता है।

(२) पाणिनीय व्याकरणानुसार कतिपय शब्दों में ही यत्, ण्यत् परे अय्, आय्, अव्, आव् का विधान किया है। देखें ६।१।७६—८३ तथा ३।१।१२१, १२७—१३१। पाणिनि ने इन्हीं प्रकरणों में, अर्थान्तर में क्रेयम्, जेयम् आदि में अय् आदि आदेश नहीं माने। काशकृत्स्न के **स्वरवत्** पद का अभिप्राय यदि महाभाष्यकार पतञ्जलि की दृष्टि से किया जाय,[1] तो अर्थ होगा, य को स्वर मानकर जो कार्य प्राप्त हो, वह हो जाय और **'वत्'** निर्देश से स्वाश्रय, अर्थात् व्यञ्जन मानकर जो कार्य हो वह भी हो जाय। तदनुसार स्वरवत् अतिदेश की अवस्था में अय्, आय्, अव्, आव् हो जायेंगे और व्यञ्जनवत् पक्ष में अय् आदि आदेश नहीं होंगे। इस

१. वद्ग्रहणं किमर्थम्। स्वाश्रयमपि यथा स्यात्। महा० १।१।५६॥

प्रकार सर्वत्र दो-दो रूपों की प्रसक्ति होती है। प्राक् पाणिनीय वाङ्मय से इस नियम पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है।[1]

(३)काशकृत्स्न के उपर्युक्त उदाहरणों में यत् और ण्यत् दोनों प्रत्ययों का निर्देश किया है। इसी प्रकार अन्यत्र की कन्नड-टीका में यत्, ण्यत् के दो-दो रूप प्रदर्शित किये हैं। यथा—मेद्यम्, मैद्यम् (पृष्ठ १३१), दोत्यम्, दौत्यम् (पृष्ठ १७३), भव्यम्, भाव्यम् (पृ० १७५), कर्श्यम्, कार्श्यम् (पृ० २४४), कोप्यम्, कौप्यम्, रोप्यम्, रौप्यम्; डेप्यम्, डैप्यम् (पृ० २४५) इत्यादि। इन उदाहरणों में पाणिनि के मतानुसार उपधा में विद्यमान इ, उ, ऋ को (ण्यत् पक्ष में) वृद्धि भी प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार कई स्थानों में कन्नड-टीका में यत्, ण्यत् के साथ क्यप्-प्रत्ययान्त रूप भी उद्धृत किये हैं। यथा—द्युत्यम्, द्यौत्यम् (पृ० १३०), घुट्यम्, घौट्यम् (पृ० १३१)। इन सब उदाहरणों से प्रतीत होता है कि काशकृत्स्न के मत में क्यप् यत्, ण्यत् तीनों सामान्य उत्सर्ग-प्रत्यय हैं, जो सभी धातुओं से होते थे। अर्थात् पाणिनि के सदृश उनकी विशेष व्यवस्था अभिप्रेत नहीं थी।

६९—**ह्रस्वपूर्वयोर्हकारचवर्गयोः कवर्गः** ॥१७३॥

ह्रस्व स्वर जिसके पूर्व में हो, ऐसे ह और चवर्ग को कवर्ग हो जाता है। यथा—दुह् ति=दुग् धि=दोग्धि, वच् ति=वक्ति।

७०—**तनादे रुः** ॥१७४॥ [कातन्त्र ३।४।३७]

तनादेरुविकरणः ॥२३८॥

तन प्रभृति धातुओं से उ-विकरण होता है, सार्वधातुक परे रहने पर। यथा—तनोति।

टिप्पणी—(१) दोनों पाठ एक ही सूत्र के हैं। हमारे विचार में प्रथम पाठ मूल सूत्र है। तुलना करें—**दिवादेर्यन्** (क्रमिक संख्या १४), **क्र्यादेर्ना** (क्र० सं० ५५)। द्वितीय पाठ में विकरण पद बाहर से प्रविष्ट हो गया है। यह सम्भवतः मूल सूत्र का अर्थतः अनुवाद है। इस प्रकार, दो-एक अन्य सूत्रों में भी विकरण

---

१. यण्-सन्धि के स्थान में यण्-व्यवधान-सन्धि भी प्राचीन आचार्यों के मत से होती थी। त्रि+अम्बक=त्र् य् अम्बक=त्र्यम्बक, त्रिय् अम्बक=त्रियम्बक। इस सन्धि से पदसाधुत्व के विषय में जो महान् प्रभाव पड़ता है, उसके लिए हमारा 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास,' भाग १, पृ० २१-२४ देखिए। काशकृत्स्न का 'स्वरवद्ययः कृत्' सूत्र भी अत्यन्त महत्त्व का है। इसकी विवेचना कभी अन्यत्र करेंगे।

पद का निर्देश हुआ है। यथा—**स्वादेर्नुर्विकरणः** (क० सं० ८७), **तुदादेरश्विकरणः** (क० सं० ८६)।

(२) यह सूत्र कन्नड-टीका में अदादिगण की ऊर्णुञ् धातु पर लिखा है। इससे दो परिणाम निकलते हैं—

(क) काशकृत्स्न के मत में ऊर्णुञ् धातु का 'णु' का उकार अनुबन्ध है, अथवा धातु का रूप ऊर्णञ् था। इसकी पुष्टि इसी धातु के प्रसङ्ग में ऊर्णन्, ऊर्णकः, ऊर्णिता, ऊर्णान् आदि उद्धृत कृदन्त-प्रयोगों से होती है। पाणिनि के मत में ऊर्णुञ् के णु का उकार इत् नहीं है।

(ख) णु के उकार का लोप अथवा ऊर्णञ् पाठ मानने पर आवश्यक था कि **'ऊर्णोति ऊर्णुतः ऊर्णुते'** आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए उ-विकरण माना जाय। टीकाकार ने उसके लिए **'तनादेरुः'** सूत्र का निर्देश किया है। परन्तु यह धातु तनादि-गण में नहीं है। अतः ऊर्णुञ्, ऊर्णञ् को तनादिवत् अतिदेश करनेवाला कोई सूत्र होना चाहिए, जिससे तनादि-कार्य का अतिदेश हो। प्रतीत होता है, टीकाकार ने उसे उद्धृत नहीं किया। ऐसी ही एक कठिनाई संख्या १४ के सूत्र की टिप्पणी में दर्शाई है। इस विषय में अगले सूत्र की टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

७१—ब्रूञादेरी तिसिमिषु ॥१७४॥

ब्रूञ् आदि धातुओं को ति, सि, मि परे रहने पर ईकार आगम होता है। यथा—ब्रवीति, ब्रवीषि, ब्रवीमि।

टिप्पणी—(१) ब्रूञ् से पूर्ववर्ती ष्टुञ् और ऊर्णुञ् धातुओं की व्याख्या में चन्नवीर कवि ने क्रमशः **स्तौति स्तवीते स्तुते, ऊर्णोति ऊर्णुते ऊर्णोते** प्रयोग लिखे हैं। इनमें स्तवीते, ऊर्णोते में ईकार आगम कैसे हुआ, यह टीकाकार ने नहीं लिखा। पाणिनि के **तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके** (७।३।९५) सूत्रानुसार स्तवीते में ईकार का आगम सम्भव है। परन्तु सूत्र में पठित शम्-अम् धातुओं से विकरण का आगम छन्द में ही सम्भव है। अतः व्याख्याकारों के मतानुसार तवीति, स्तवीति आदि प्रयोग छान्दस हैं। आपिशलि ने तो इस सूत्र में साक्षात् **'छन्दसि'** पद पढ़ा था।[1] पाणिनि ने केवल ब्रूञ् से ही ईडागम का विधान किया है (७।३।९३), परन्तु काशकृत्स्न के सूत्र में प्रकारवाची आदि पद पढ़ा है, इससे इतना स्पष्ट है कि काश-

१. तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु छन्दसि। काशिका ७।३।९५ में उद्धृत। आपिशल-व्याकरण के उपलब्ध अन्य सूत्रों और मतों के लिए देखिए 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास', भाग १, पृ० ९८–१०१।

कृत्स्न के मत में यह ईकार-आगम ब्रूञ् से अन्य धातुओं से भी होता है। इसकी पुष्टि टीकाकार द्वारा उद्धृत **'स्तवीते, ऊर्णीते'** प्रयोगों से भी होती है।

(२) **'ऊर्णीते'** में **तनादेरुः** (क्रमिक संख्या ७०) से उ-विकरण क्यों नहीं हुआ, यह टीकाकार ने नहीं लिखा। हमारे विचार में तनादिवत् निर्देश के वत्-ग्रहण से स्वाश्रय-कार्य, अर्थात् अदादि-कार्य अर्थात् विकरण का लोप भी हो जाता है। **'वद्'** ग्रहण के विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं। अथवा अदादि में पाठ-सामर्थ्य से पक्ष में विकरण का लुक् भी होता है। इस विषय में क्रम संख्या १४ सूत्र की टिप्पणी भी देखें।

(३) काशकृत्स्न के **ब्रूञ्रादेरी तिसिमिषु** सूत्र तथा पाणिनि के **तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके, अस्तिसिचोऽपृक्ते, बहुलं छन्दसि, रुदश्च पञ्चभ्यः** (७।३।९५–९८) और **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** (७।२।७६) सूत्रों की एकवाक्यता से प्रतीत होता है कि विकरण के लुक् होने पर वलादि सार्वधातुक में सामान्यतया इट् और ईट् आगम हो जाते हैं। इसकी पुष्टि यजुर्वेद के पदपाठ से भी होती है। यजुर्वेद (मा० सं० १।१५) में पठित शमीष्व पद का पाठ इस प्रकार है—**शमीष्व। शमिष्वेति शमिष्व।** माध्यन्दिन संहिता के पदकार का यह नियम है कि वह पहले मन्त्र का मूल पद पढ़ता है, तदनन्तर उसमें विद्यमान छान्दस कार्य को हटाकर लौकिक पदवत् पढ़ता है और उस लौकिक पद से इति का निर्देश करके द्विरावृत्ति दर्शाता है। इस नियम के अनुसार पदकार के मत में **शमीष्व** छान्दस पद है और **शमिष्व** लौकिक पद। अब विचारणीय है कि पदकार-निर्दिष्ट शमिष्व में विकरण-लुक् और इडागम कैसे हुआ। हमारे मतानुसार आदि संस्कृत में, जो वैदिकपदबहुला होने से **अतिभाषा**[1] कहलाती थी, प्रत्येक धातु से विभिन्न गणों के कार्य होते थे, प्रत्येक धातु सेट् और अनिट् थी, प्रत्येक धातु से वलादि आर्धधातुक में इट्, ईट् दोनों आगम होते थे। इसी प्रकार लुग्विकरण-पक्ष में प्रत्येक धातु से वलादि सार्वधातुक में भी इट्, ईट् होते थे। **अरुदत्, आदत्** आदि पद (द्र०—अ० ७।३।९९-१००) वस्तुतः तुदादि-विकरण-पक्ष के हैं। वस्तुतः प्राचीन अतिभाषा का स्वरूप सम्मुख उपस्थित होने पर नये सिरे से भाषा-विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता पड़ेगी।

७२—**ह्वावेद्विः** ॥१७५॥

हु आदि धातुओं को द्विर्भाव (द्वित्व) होता है। यथा—जुहोति।

---

१. देखिए—अतिभाषाऽऽर्यभाषा च—अतिभाषा तु देवानाम्। भरतनाट्यशास्त्र, १७।२७,२८। इसी पर अभिनवगुप्त लिखता है—'वैदिकपदबाहुल्यादार्यभाषातो विलक्षणत्वमस्याः'।

टिप्पणी—काशकृत्स्न-धातुपाठ में जुहोत्यादि स्वतन्त्र गण नहीं है। जुहोत्यादि धातुएं अदादि-गण में ही पठित हैं। इसलिए विकरण का लुक् (=लुक्) करके उसके द्वित्व का विधान किया है। इसी का अनुकरण कातन्त्र ने किया है। उसके धातुपाठ में जुहोत्यादि के न होने से दश के स्थान पर केवल नव गण हैं। कातन्त्र के ही अनुकरण पर वोपदेव आदि ने भी जुहोत्यादिगण को पृथक् गण नहीं माना।

७३—**कवर्गहकारयोश्चवर्गः** ॥१७५॥

अभ्यास में कवर्ग और हकार को चवर्ग हो जाता है। यथा—जुहोति।

७४—**पूर्वोऽभ्यासः** ॥१७५॥ [कातन्त्र ३।५।४]

द्विर्भाव के आदि की अभ्यास-संज्ञा होती है।

७५—**द्वयमभ्यस्तम्** ॥१७६॥ [कातन्त्र ३।५।५]

द्विर्भाव में दूसरे भाग की अभ्यस्त संज्ञा होती है।

टिप्पणी—इस सूत्र में **द्वयम्** पद द्वितीय के अर्थ में प्रयुक्त है। पाणिनि के मत में दोनों भागों की सम्मिलित अभ्यस्त संज्ञा होती है—**उभेऽभ्यस्तम्** (६।१।५) और काशकृत्स्न में द्वितीय भाग की। यद्यपि **'द्वयं'** का अर्थ **'द्वितीयं'** कुछ क्लिष्ट है, पुनरपि **अभ्यासाद् यु अभ्यस्ते** (क्रमिक संख्या ७९) सूत्र में अभ्यास से परे, अभ्यस्त के परे रहने पर, अर्थात् दोनों के मध्य में **'यु'** कहा है। इससे द्वितीय भाग की ही अभ्यस्त संज्ञा है, यह प्रमाणित होता है।

७६—**अभ्यस्तस्य घुटः तृतीयाः प्रथमाः** ॥१७५॥

अभ्यास के घुट् (=वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ) के स्थान में तृतीय और प्रथम होते हैं। यथा—हुहोति—भुहोति—जुहोति।

टिप्पणी—काशकृत्स्न के सूत्र में घुट् शब्द पारिभाषिक है। काशकृत्स्न के संक्षिप्त संस्करण कातन्त्र में घुट्-संज्ञा-विधायक सूत्र इस प्रकार है—**घुट् व्यञ्जनमनन्तस्थानुनासिकम्** (२।१।१३), अर्थात् अन्तस्थ=य र ल व तथा अनुनासिक=ङ ञ ण न म को छोड़कर शेष व्यञ्जन घुट्-संज्ञक होते हैं।

७७—**ह्रस्वोऽभ्यासस्य** ॥१७५॥

अभ्यास को ह्रस्व होता है। यथा—भीभेति—बीभेति—बिभेति।

७८—**अभ्यासस्य ऋवर्णस्य इकारम्** ॥१७५॥

अभ्यास के ऋ ॠ को 'इ' होता है। यथा—ऋ ऋति—ऋर्त्ति—इ र्त्ति—इर्त्ति।

७९—**अभ्यासाद् यु अभ्यस्ते ॥१७६॥**

अभ्यास से परे यु का आगम होता है अभ्यस्त परे रहने पर। यथा—इ अर्त्ति—इ यु अर्त्ति—इयर्त्ति।

८०—**यनि दीर्घश्च ॥१८१॥**

दिवादि में यन् परे दीर्घ होता है। यथा—दिव्यति—दीव्यति।

टिप्पणी—यह अर्थ अधूरा प्रतीत होता है। इस प्रकार सामान्य अर्थ स्वीकार कर लेने पर अगले **शमादेर्दीर्घो यनि** (क्रमिक संख्या ८३) की आवश्यकता नहीं रहती। शाम्यति में भी यनि दीर्घश्च से दीर्घ हो जायगा। तथा इस सूत्र में पठित चकार भी किसी अनुवृत्तमान पद को द्योतित कराता है, जो कन्नड-टीका में नहीं है। पाणिनीय लक्षणानुसार (८।२।७७) रेफान्त और वकारान्त धातु के उपधा में वर्त्तमान इ उ को दीर्घ होता है।

८१—**ऋ ईर् यनि कृति च ॥१८५॥**

ऋ को ईर् होता है यन् और कृत् परे रहने पर। यथा—जीर्यति, जीर्णः।

टिप्पणी—जिस कृत् के परे गुण का अभाव होता है, उसी के परे ईर् आदेश होता है। यथा—जीर्णः, जीर्णवान्। यहां सं० १००, १०१ तथा उसकी टिप्पणी द्रष्टव्य है।

८२—**आ लोपो यनि ॥१८५॥**

ओकारान्त धातु के ओ का लोप होता है यन् परे रहने पर। यथा—श्यति, स्यति, छ्यति।

८३—**शमादेर्दीर्घो यनि ॥१८९॥** [तु० कातन्त्र ३।८।६६]

शम् आदि धातुओं को दीर्घ होता है यन् परे रहने पर। यथा—शाम्यति।

८४—**अनुदात्तङानुबन्ध आत्मनेपदम् ॥१९७॥**

अनुदात्त और ङ अनुबन्धवाली धातु आत्मनेपद होती है। यथा—एधते, शेते।

८५—**स्वरितञानुबन्ध उभयपदम् ॥१९७॥**

स्वरित और ञ अनुबन्धवाली धातु उभयपद होती है। यथा—पचते, पचति, कुरुते, करोति।

८६—**उदात्तानुबन्धः परस्मैपदम् ॥१०७॥**

उदात्त अनुबन्धवाली धातु परस्मैपद होती है। यथा—अतति।

टिप्पणी—जिस धातु में कोई अनुबन्ध नहीं, उस धातु से परस्मैपद का विधान करनेवाला कोई सूत्र अवश्य रहा होगा। यथा—चिरिणोति, जिरिणोति (पृष्ठ २१०)। इन चिरि, जिरि धातुओं में कुछ भी अनुबन्ध नहीं है। उसे टीकाकार ने कहीं भी उद्धृत नहीं किया। कातन्त्र ३।४।५७ में पाणिनीयवत् **शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्** ही पढ़ा है।

८७—**स्वादेर्नुर्विकरणः** ॥२०६॥ [तु० कातन्त्र ३।४।३४]

षुञ् प्रभृति धातुओं से नु विकरण होता है। यथा—सुनोति।

टिप्पणी—क्रमिक संख्या ७० की टिप्पणी १ देखिए।

८८—**ऋननुबन्धाद् ईः** ॥२०७॥

ऋकार और न अनुबन्ध (?, अन्तवाले) शब्द को 'ई' प्रत्यय होता है। यथा—कर्तृ-कर्त्री, स्तृ-स्त्री, दण्डिन्-दण्डिनी।

टिप्पणी—सूत्र में अनुबन्ध शब्द सन्दिग्ध है। अनुबन्ध नाम उस वर्ण का होता है, जिसका लोप हो जाये। कन्नड-टीका में **स्तृञ् आच्छादने** धातु के विवबन्त स्तृ रूप में स्त्री शब्द की निष्पत्ति दर्शाई है। इसलिए ऋकारान्त और नान्त से ई प्रत्यय का विधान करना चाहिए। तुलना करें—पाणिनि के **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (४।१।५) सूत्र से।

८९—**तुदादेरग्विकरणः** ॥२१२॥

तुद् प्रभृति धातुओं से अक् विकरण होता है। यथा—तुदति।

टिप्पणी—क्रमिक संख्या ७० की टि० १ देखिए।

काशकृत्स्न में स्वर-विवेचना—पाणिनि ने प्रत्ययविशेषों में अनुबन्धविशेषों को योग करते हुए शब्दों के स्वरों के सूक्ष्म भेदों का विशेष ध्यान रखा है। यह उसकी कृति से स्पष्ट है। काशकृत्स्न ने भी अपने व्याकरण में अनुबन्धों की योजना करते हुए स्वरों पर ध्यान दिया था, यह उसके विभिन्न अनुबन्धों के सूक्ष्म अन्वीक्षण से स्पष्ट है।

काशकृत्स्न में सामान्य=उत्सर्ग-विकरण **अन्** कहा है। यद्यपि अन्-विकरण-विधायक साक्षात् सूत्र कन्नड-टीकाकार ने उद्धृत नहीं किया, तथापि भ्वादि के अन्त में **अन्विकरणो भ्वादिः समाप्तः** लेख से तथा अदादि के आरम्भ में **अदादीनामनो रुक्** (क्र० सं० ६४) सूत्र से स्पष्ट है। कातन्त्र में सूत्र इस प्रकार है—**अन्विकरणः कर्त्तरि** (३।४।३२) काशकृत्स्न ने तुदादि धातुओं से **अन्** के स्थान में **अक्** विकरण

का विधान किया है। अक् में ककार अनुबन्ध गुण-प्रतिषेध के लिए है।[1] यह कार्य अन् को कित् अतिदेश करके किया जा सकता था। सम्भवतः इसी दृष्टि से कातन्त्र में तुदादि से स्वतन्त्र विकरण का विधान नहीं किया। परन्तु अन् में नकार अनुबन्ध का प्रयोजन अन्वेष्टव्य है। इसी प्रकार श्यन्-विकरण में तथा सन्-प्रत्यय में। इस विषय के सूक्ष्म विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्, श्यन् और सन् में नकार अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिए ही है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार **भवति भवतः, दीव्यति दीव्यतः चिकीर्षति** आदि में आद्युदात्त स्वर होता है और वैदिक ग्रन्थों में भी इनका आद्युदात्त स्वर ही देखा जाता है। इस विवेचना से निश्चित होता है कि काशकृत्स्न-व्याकरण में भी स्वर की विवेचना थी। कातन्त्र में स्वर-विवेचन का अभाव होने से उसमें तुदादि से प्रत्ययान्तर का विधान करना आवश्यक नहीं समझा।

९०—**सकृद् बाधितो विधिर्बाधित एव** ॥२१२॥

एक बार जिस विधि को रोक दिया जाय, वह बाधित ही रहती है, पुनः प्रवृत्त नहीं होती। यथा—तुदति में एक बार गुण का निषेध विकरण के कित् होने से रोक दिया गया, वह पुनः नहीं होता।

टिप्पणी—तुलना करें—**सकृद् गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव** (परिभाषा-वृत्ति २०, परिभाषेन्दु ४०) के साथ।

९१—**लृदनुबन्धान्नुः** ॥२१३॥

लृकार अनुबन्धवाली (तुदादिगण की) धातुओं से 'नु' आगम होता है। यथा—मुच्लृ—मुञ्चति।

९२—**इरनुबन्धान्नुः** ॥२१३॥

'इर्' अनुबन्धवाली (तुदादिगण की) धातुओं से 'नु' आगम होता है। यथा—षिचिर्—सिञ्चति।

९३—**ईदनुबन्धान्नुः** ॥२१४॥

ईकार अनुबन्धवाली (तुदादिगण की) धातुओं से 'नु' आगम होता है। यथा—कृती—कृन्तति।

---

१. कन्नड-टीका में 'तुदादेरग्विकरणः' सूत्र के आगे 'ककारं वृद्धिप्रतिषेधार्थम्' लिखा है, वह अशुद्ध है; क्योंकि तुदादि में विकरण परे वृद्धि प्राप्त ही नहीं होती, गुण ही प्राप्त होता है।

९४—स्वरितानुबन्धान्नुः ॥२१४॥

स्वरित अनुबन्धवाली (तुदादिगण की) धातुओं से 'नु' आगम होता है। यथा—खिद–खिन्दति, खिन्दते।

टिप्पणी—सूत्र ९१-९४ तक नु का आगम तुदादिगण की धातुओं से ही होता है, अतएव सूत्रार्थ में कोष्ठान्तर्गत पद हमने बढ़ाये हैं। अथवा यह भी सम्भव है कि अक्-विकरण परे इनका विधान किया हो।

काशकृत्स्न में स्वर-सद्भाव का अन्य प्रमाण—काशकृत्स्न-व्याकरण में स्वर-विवेचना थी, यह क्रम-संख्या ८९ सूत्र के प्रसङ्ग में लिख चुके हैं। सूत्र-संख्या ८४, ८५, ८६ तथा ९४ में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का निर्देश करके परस्मैपद आदि कार्य का विधान किया है। वह भी स्वर-सद्भाव में प्रमाण है। कातन्त्र में स्वर-चिन्ता न होने से आत्मनेपदादिविधायक सूत्रों में स्वरविशेषों का निर्देश नहीं किया। काशकृत्स्न ने पाणिनि के समान ही स्वरविशेषों के आधार पर आत्मनेपद आदि का विधान किया है। अतः स्पष्ट है कि काशकृत्स्न-व्याकरण में भी पाणिनीय व्याकरणवत् स्वर-चिन्तन था।

९५—यजां यवराणां ग्वृतः सम्प्रसारणं कानुबन्धे च ॥२१५॥

यवराणां ग्वृतः ॥२४४॥

यज् आदि धातुओं के य व र को इ उ ऋ सम्प्रसारण होता है ककार अनुबन्ध-वाले प्रत्यय के परे रहने पर। यथा—वृश्चति, गृह्णाति।

टिप्पणी—पृष्ठ २४४ का पाठ 'यजां०' सूत्र का ही एकदेश प्रतीत होता है। गृह्णाति में ना-विकरण को कित् अतिदेश करनेवाला सूत्र टीका में उद्धृत नहीं है।

९६—ग्वृणां यवरास्तृचि ॥२२१॥

ग्वृणां यवराः ॥२२४॥

इ उ ऋ को क्रमशः य व र होते हैं तृच् परे रहने पर। यथा—सृज्–स्रष्टा।

टिप्पणी—सूत्र का अन्तिम पद सन्दिग्ध है। हमारी नागरी-प्रतिलिपि करनेवाले ने असावधानता से प्रतिलिपि की है। हमने अर्थ और उदाहरण के अनुसार शोधन किया है। उत्तर-पाठ, पृ० २४४ पर उद्धृत है, वहां वृ—त्रातः उदाहरण है।

हमारे विचार में ये दोनों पाठ पूर्वनिर्दिष्ट (संख्या ३९) **दृशादीनां ग्वृणां यवरा अकानुबन्धे** सूत्र के ही एकदेश हैं। और प्रथम सूत्र में 'तृच्' ग्रहण अनुवाद-मात्र है।

९७—**ऊदनुबन्धादिड् वा** ॥२१५॥

ऊकार अनुबन्धवाली धातुओं से इड् विकल्प से होता है। यथा—षिधू—सेधिता, सेद्धा।[1]

९८—**ऋ इर्** ॥२१६॥

धातु के ऋकार को 'इर्' होता है। यथा—कृ—किरति। संख्या १०१ की टिप्पणी द्रष्टव्य।

९९—**इरुरोरीरूरौ** ॥२१६॥ [कातन्त्र २।३।५२]

इर उर् को ईर् ऊर् होता है। यथा—कृ—किर्—कीर्त्तिः, कीर्त्तिवान्।

टिप्पणी—टीकाकार ने सूत्र का पूरा अर्थ नहीं लिखा। कातन्त्र के सूत्र में पूर्व (२।३।४४) सूत्र से विराम और व्यञ्जन की अनुवृत्ति आती है।

१००—**ऋत ईर्** ॥२४५॥

१०१—**ऋत ऊर्** ॥२४५॥

ऋकार को ईर् होता है। यथा—शीर्णम्।

ऋकार को ऊर् होता है। यथा—पूर्त्तम्।

टिप्पणी—हमें संख्या १००, १०१ के सूत्रपाठ में सन्देह है। हमारा विचार है कि संख्या ९८, १००, १०१ के स्थान में मूल सूत्र **ऋत इर गुणे, उरोष्ठ्योपधस्य च** होने चाहिए। इन्हीं इर् उर् को संख्या ९९ से दीर्घ हो जायगा (तुलनीय—कातन्त्र ३।७।४२; ४३—ऋदन्तस्येरगुणे उरोष्ठ्योपधस्य च)। काशकृत्स्न के उद्धृत पाठ से यह भी व्यक्त नहीं होता कि ऋकारान्त को इर्, ईर्, ऊर् कहां होते हैं। इस प्रसङ्ग में सूत्र-संख्या ८१ भी द्रष्टव्य है।

१०२—**ग्वोर्धातोरियुवौ स्वरे** ॥२३०॥ [तु० कातन्त्र २।२।५६]

धातु के ई, ऊ को स्वर परे रहने पर इय्, उव् होते हैं। यथा—नू—अति—नुवति।

टिप्पणी—काशकृत्स्न के सूत्रपाठ **ग्वोः** में ह्रस्व-दीर्घ का भेद व्यक्त नहीं है। परन्तु टीकाकार ने दीर्घ ई, ऊ का ही निर्देश किया है। कातन्त्रकार ने स्पष्ट ही **ईवूतोरियुवौ स्वरे** (२।२।५६) में दीर्घ ई, ऊ का ग्रहण किया है। पाणिनि ने

---

१. टीकाकार ने यह सूत्र 'ओव्रश्चू छेदने' के प्रसङ्ग में लिखा है। उदाहरण नहीं दिया।

अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६।४।७७) में सामान्य निर्देश किया है, तदनुसार ह्रस्वान्त **क्षि, रु** धातुओं के **चिक्षियतुः, रुरुवतुः** प्रयोगों में भी इय्, उव् होते हैं। इस कार्य की सिद्धि के लिए कातन्त्र में **स्वरादाविवर्णोवर्णान्तस्य धातोरियुवौ** (३।६।५५) पृथक् सूत्र है। कातन्त्र का पूर्वनिर्दिष्ट (२।२।५६) सूत्र नामिक प्रकरण का है। काशकृत्स्न-धातुपाठ के टीकाकार ने कातन्त्र नामिक प्रकरण में पठित सूत्र से मिलते-जुलते सूत्र से **नुवति** में उव् का विधान किया है। इससे विदित होता है कि काशकृत्स्न का सूत्र पाणिनि के समान सामान्य विषय है। कातन्त्रकार ने उसमें यत्किञ्चित् भेद करके उसे नामिक प्रकरण में पढ़ दिया और धातु में इय्, उव् करने के लिए स्वतन्त्र सूत्र रचा है।

इस विवेचन से एक बात और ध्वनित होती है कि काशकृत्स्न-तन्त्र सम्भवतः कातन्त्र के समान क्रियानुसारी न रहा होगा।

१०३—**रधादेर्नम्** ॥२३३॥

रधादि धातुओं से नम्-विकरण होता है सार्वधातुक परे रहने पर। यथा—रुणद्धि।

१०४—**चतुर्थात् तथयोर्धः** ॥२३३॥ [तु० कातन्त्र ३।१०।३]

वर्ग के चतुर्थ अक्षर से परे तकार-थकार को धकार होता है। यथा—रुणध् ति—रुणध् धि—रुणद्धि।

टिप्पणी—कन्नड-टीकाकार ने 'सार्वधातुक परे' धकारादेश कहा है, वह चिन्त्य है। सार्वधातुक ति के तकार को ही धकार होता है। कातन्त्र के **धढधभेभ्यस्तथोर्धोऽधः** (३।१०।३) तथा पाणिनि के **झषस्तथोर्धोऽधः** (८।२।४०) की तुलना से व्यक्त होता है कि काशकृत्स्न के उपर्युक्त सूत्र में 'अधः' अंश त्रुटित है।

१०५—**अपृक्त एकवर्णः प्रत्ययः** ॥२३७॥

एकवर्ण अपृक्त प्रत्यय का धातु से परे लोप होता है।

टिप्पणी—इस सूत्र का उक्त अर्थ कन्नड-टीकानुसार है। यह सूत्र अपृक्त-संज्ञा विधायक है अथवा लोपविधायक, यह सन्दिग्ध है। हमारे विचार में यह सूत्र अपृक्त-संज्ञा-विधायक है। लोपविधायक सूत्र टीका में त्रुटित हो गया है। तुलना करें—**अपृक्त एकाल् प्रत्ययः** (अष्टा० १।२।४१) तथा **वेरपृक्तस्य** (६।१।६७)। इनमें प्रथम सूत्र अपृक्त-संज्ञाविधायक है, दूसरा लोपविधायक।

१०६—**न आ ई आत्मनेपदे** ॥२४२॥

ना-विकरण के आ का ई होता है आत्मनेपद परे रहने पर। यथा—क्रीणीते।

१०७—क्तक्तवतू निष्ठा ॥२४३॥ [कातन्त्र, कृदन्त ८४]

क्त और क्तवतु की निष्ठा संज्ञा होती है।

१०८—निष्ठायास्तो नः ॥२४३॥

क्त-क्तवतु प्रत्ययों के तकार को नकार होता है। यथा—मीनः, मीनवान्।

टिप्पणी—हमें यह सूत्र का एकदेश अथवा अर्थतः अनुवाद प्रतीत होता है। (तुलनीय—पाणिनीय अ० ८।२।४२ तथा कातन्त्र, कृदन्त ५३१ से विधीयमान प्रकरण)।

१०९—प्वादेर्ह्रस्वः ॥२४३॥ [तु० कातन्त्र ३।८।८३]

पूञ् पवने आदि धातुओं को ह्रस्व होता है। यथा—पूञ्—पुनाति।

११०—ग्रहादेरीट् ॥२४४॥

ग्रह् प्रभृति धातुओं को ईट् आगम होता है। यथा—ग्रहीता।

१११—गृहाः पुंसि च भूम्न्येव ॥२४४॥

गृह शब्द पुंल्लिङ्ग और बहुत्व अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

टिप्पणी—(१) यहां गृह शब्द सम्भवतः भार्यावाचक है। तुलना करें—अगले दाराः पुंसि भूम्नि (क्रमिक संख्या १३३) से।

(२) यह अनुष्टुप् का एक चरण है। क्रमिक संख्या ४४ के श्लोकबद्ध सूत्र से तथा इस अनुष्टुप्-चरण से प्रतीत होता है कि काशकृत्स्न-तन्त्र में श्लोक भी थे।

(३) इस सूत्र से तथा क्रमिक संख्या १३३ के सूत्र से ज्ञात होता है कि काशकृत्स्न तन्त्र में लिङ्गानुशासन भी सम्मिलित था। वह शब्दानुशासन के अन्तर्गत भी हो सकता है और पाणिनीय लिङ्गानुशासन के समान खिल=परिशिष्टरूप में।

११२—शादेर्वः ॥२४५॥

शृ प्रभृति धातुओं से व प्रत्यय होता है।

टिप्पणी—(१) हमारी प्रतिलिपि में उदाहरण त्रुटित है। शर्व होना चाहिए।

(२) पाणिनीयसम्प्रदाय में 'शर्व' पद उणादिसिद्ध है। काशकृत्स्न-तन्त्र में यह शब्दानुशासन के अन्तर्गत था अथवा उणादि के समान किसी परिशिष्ट-रूप ग्रन्थ में।

११३—क्षिप्नादीनां न नो णः ॥२४७॥

क्षिप्ना प्रभृति शब्दों में नकार को णकार नहीं होता। यथा—क्षिप्नाति।

टिप्पणी—(तुलनीय—क्षुभ्नादिषु च (८।४।३९) पाणिनीय सूत्र से)।

११४—**चुरादेरिन् स्वार्थे** ॥२५२॥

चुर् आदि धातुओं से इन्-विकरण होता है अपने अर्थ में। यथा—चोरयति।

११५—**सर्वे हिंसार्थाश्चुरादौ परस्मैपदिनो ज्ञेयाः** ॥२५२,२७५॥

सब हिंसार्थक धातुएं चुरादि-गण में परस्मैपदी होती हैं। यथा—घाटयति (पृष्ठ २७५ पर)।

११६—**लक्ष्मेर्मीमन्मनाः** ॥२५३॥

लक्ष् धातु से मी, मन् और मन प्रत्यय होते हैं। यथा—लक्ष्मीः, लक्ष्म, लक्ष्मणः।

टिप्पणी—पाणिनीय सम्प्रदायानुसार ये शब्द भी उणादिसिद्ध हैं।

११७—**नथादेरिनि दीर्घः** ॥२५४॥

नथ् आदि धातुओं को इन् परे दीर्घ होता है। यथा—नाथयति।

टिप्पणी—आगे **'इन् णानुबन्धवत्'** (क्रमिक संख्या १३१) सूत्र उद्धृत करेंगे। उससे णानुबन्धवत् अतिदेश होकर **वृद्धिरादौ सणे** (क्र० सं० १३२) से दीर्घ हो जायगा। पुनः **नथादेरिनि दीर्घः** सूत्र का क्या प्रयोजन है, यह ज्ञात नहीं। सम्भवतः यह सूत्र न हो, कार्य का आर्थिक अनुवाद हो।

११८—**निरः परो यतिः प्रतिदानधनधान्यविषयव्यतिहारार्थे चुरादौ वर्त्तते** ॥२७७॥

नि उपसर्ग से परे वर्त्तमान यत् धातु को प्रतिदान=वस्तु का बदलना, धन धान्य और व्यतिहार=क्रिया की अदला-बदली अर्थों में चुरादि-गण में समझना चाहिए।

टिप्पणी—यह काशकृत्स्नीय सूत्रपाठ है अथवा टीकाकार ने प्राचीन आचार्यों का वचन उद्धृत किया है, यह सन्दिग्ध है।

११९—**चरादन्तिन्** ॥२७८॥

चर् धातु से अन्तिन् प्रत्यय होता है। यथा—चरन्ती-देशान्तरवासी।

१२०—**नादन्तात् सन्** ॥२८२॥

अदन्त धातुओं से सन् नहीं होता।

टिप्पणी—यह मत अन्यत्र देखने में नहीं आया।

१२१—**महादेरन्तः** ॥२८३॥

महृ आदि धातुओं से अन्त प्रत्यय होता है। यथा—महन्तः—पूज्यः।

१२२—**प्रशस्तस्य श्रा** ॥२९२॥

प्रशस्त शब्द को श्रा आदेश होता है। यथा—श्राययति।

टिप्पणी—यद्यपि टीकाकार ने यह स्पष्ट नहीं किया कि सूत्र १२२-१२७ तक किस प्रत्यय के परे अपने कार्यों का विधान करते हैं, पुनरपि सूत्र-क्रमाङ्क १२७ से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न इन कार्यों को "इन् प्रत्यय परे विधान करता है। सूत्र-क्रमाङ्क १२७ की टिप्पणी द्रष्टव्य।

१२३—**वृद्धस्य च ज्या** ॥२९२॥

वृद्ध शब्द को चकार से ज्या आदेश होता है। यथा—ज्याययति।

१२४—**अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ** ॥२९२॥

अन्तिक और बाढ शब्द को यथाक्रम नेद और साध आदेश होता है। यथा—नेदयति, साधयति।

१२५—**युवाल्पयोः कन् वा** ॥२९२॥

युव और अल्प शब्द को कन् विकल्प से होता है। यथा—युवयति कनयति, अल्पयति कनयति।

१२६—**स्थूलदूरयुवक्षिप्रक्षुद्राणामन्त्यस्वरादेर्लोपो गुणश्च नामिनाम्** ॥२९२॥

स्थूल दूर युव क्षिप्र क्षुद्र इनके अन्त्य स्वर और उसका जो आदि वर्ण, उसका लोप होता है तथा नामी=इ उ को गुण होता है। यथा—स्थवयति, दवयति, यवयति, क्षेपयति, क्षोदयति।

टिप्पणी—(१) नामी संज्ञा के लिए द्रष्टव्य सूत्र-संख्या २१ की टिप्पणी।

(२) इस सूत्र में '**अन्त्यस्वरादेः**' में पहले,' '**अन्त्यश्चासौ स्वरः अन्त्यस्वरः**' कर्मधारय समास होता है। तदनन्तर, '**अन्त्यस्वरश्च तस्यादिश्च अन्त्यस्वरादिः**', समाहार द्वन्द्व तथा तच्छब्द का लोप होता है। '**युवन्**' में नकार का लोप करने के लिए तन्त्रावृत्ति से बहुव्रीहि भी मानना चाहिए।

(३) कन्नड-टीका में युव का उदाहरण युवयति लिखा है। हमने पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यवयति का निर्देश किया है।

१२७—**बहोरियादि भू च** ॥२९२॥

टिप्पणी—यहां हमें पाठ में अशुद्धि प्रतीत होती है। अर्थ और प्रयोग के अनुसार सूत्र का पाठ 'बहोर्यादि भू च' होना चाहिए। अर्थ होगा—बहु शब्द से परे इन् यकारादि हो जाता है और बहु को भू आदेश होता है। यथा—बहु इन्—बहु यिन्—भूयिन्—भूययति।

टिप्पणी—धातुवृत्तिकार ने 'भावयति' प्रयोग सिद्ध किया है। द्र०—धातुवृत्ति, पृ० ४२६। हमारे विचार में धातुवृत्तिकार का मत अयुक्त है। चान्द्रशाकटायन कातन्त्र के मत में भी 'भूययति' ही निष्पन्न होता है। द्र०—धातुवृत्ति, पृष्ठ ४२८।

१२८—प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरुबहुलतृप्रदीर्घह्रस्ववृद्धवृन्दारकाणां प्रास्थास्फावरागराबृंहात्रप्द्राघह्रसवर्षवृन्दाः ॥२९२॥

प्रिय स्थिर स्फिर उरु गुरु बहुल तृप्र दीर्घ ह्रस्व वृद्ध वृन्दारक को क्रमशः प्रा स्था स्फा वरा गरा बृंहा त्रप् द्राघ ह्रस वर्ष वृन्द आदेश होता है। यथा—प्रापयति, स्थापयति, स्फायति, वरयति, गरयति, बृंहयति, त्रपयति, द्राघयति, ह्रसयति, वर्षयति, वृन्दयति।

१२९—तद्वदिष्ठेमेयस्सु बहुलम् ॥२९३॥

इन् के परे जो कार्य कहा है, वह इष्ठ इम ईयस् प्रत्ययों के परे भी हो जाता है। यथा—नेदिष्ठः नेदिमा नेदीयान्, यविष्ठः यविमा यवीयान्, कनिष्ठः कनिमा कनीयान् इत्यादि।

टिप्पणी—इस सूत्र से प्रतीत होता है कि सूत्र-क्रमाङ्क १२२ से १२७ तक जो कार्य कहा है, वह 'इन्' प्रत्यय के परे होता है। उस कार्य का सूत्र-क्रमाङ्क १२८ से इष्ठ इम ईयस् प्रत्ययों में अतिदेश किया है। पाणिनि ने ये कार्य मुख्यतया इष्ठन् इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययों के परे कहे हैं। (अष्टा० ६।४।१५६–१६० तक)। वार्तिककार ने **णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य** वार्तिक (६।४।१५५) द्वारा णिच् परे इन कार्यों का अतिदेश किया है।

१३०—गुणवचनात् ॥२९३॥

गुणवचन शब्द से इन् होता है। यथा—पटयति, लघयति।

टिप्पणी—(१) यह चुरादि-गण का सूत्र है अथवा शब्दानुशासन का, यह सन्दिग्ध है।

(२) पटु लघु आदि से इन् होने पर अन्त्यस्वर प्रभृति भाग (टि-भाग) का लोप किससे होता है, यह अज्ञात है। टीकाकार ने इस कार्य का विधायक सूत्र उद्धृत नहीं किया।

१३१—**अनाकौ णानुबन्धवत् ॥२९५॥**

अन और अक प्रत्यय को ण-अनुबन्धवाले प्रत्यय के समान कार्य होता है। यथा—मायनम्, मायकः।

टिप्पणी—मायनम् अथवा मापनम्, मायकः अथवा मापकः ? हमारे ग्रन्थ में पाठ सन्दिग्ध है। सूत्र-क्रमाङ्क ५२, ५३ से यु और पु दोनों का आगम होता है।

१३२—**इन् णानुबन्धवत् ॥२९७॥**

इन् ण-अनुबन्धवाले प्रत्यय के सदृश होता है।

टिप्पणी—हमारी प्रति में सूत्र तथा वृत्ति का पाठ सन्दिग्ध है। प्रकरण से सूत्रपाठ का संशोधन किया है।

१३३—**वृद्धिरादौ सणे ॥२९७, ३००। [कातन्त्र ३।२।४९]**

धातु के आदि नामी=इ उ ऋ लृ को वृद्धि होती है णकार अनुबन्धवाले प्रत्यय के परे रहने पर। यथा—भू इन्—भावयति।

१३४—**दाराः पुंसि भूम्न्येव ॥२९७॥**

दार शब्द (भार्यावाचक) पुंलिङ्ग और बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है। यथा—इयं मे दाराः।

टिप्पणी—क्रम-संख्या १११ की टिप्पणी देखें।

१३५—**प्रयोज्यकर्त्तरि णिच् ॥३००॥**

प्रेरणा देनेवाले कर्त्ता में आख्यात और कृत् प्रत्यय परे रहने पर णिच् का आगम होता है।

टिप्पणी—पाणिनीय व्याकरण में णिच् प्रत्यय होता है।

१३६—**नाम्न उपमानादाचारे आयङीयौ ॥३००॥**

उपमावाची नाम से आचार अर्थ में आयङ् और ईय आगम होते हैं आख्यात परे रहने पर। यथा—वृषभः शिवायते, वृषभीयन्ती।

१३७—**आयङीययोर्लुक् ॥३०१॥**

आयङ् और ईय का लोप होता है आख्यात परे रहने पर।

टिप्पणी—आयङ् और ईय का विधान और लुक् कहने से लुक् विकल्प से होता है। जब लुक् नहीं होता तब—कुसुमायते, कुसुमीयति और लुक् पक्ष में—कुसुमति।

पाणिनीय व्याकरणानुसार **सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब् वा वक्तव्यः** (३।१।११ वा०) से क्विप् होता है और उसके सर्वापहारी होने से **'कुसुमति'** आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं।

१३८—अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे कर्मणि यङ् स्मृतः ॥३०१॥

अकर्मक धातुओं से भाव में तथा सकर्मक धातुओं से कर्म में यङ् प्रत्यय होता है। यथा—भूयते प्रभुणा, भुज्यते प्रभुः।

टिप्पणी—कातन्त्र में 'यण्' प्रत्यय का विधान किया है। देखिए सूत्र ३।४।३०, ३१।

इति युधिष्ठिरमीमांसकसङ्कलितानि सार्थोदाहरणानि टिप्पणीभिरलङ्कृतानि च काशकृत्स्नसूत्राणि समाप्तानि

शुभं भूयात् लेखकपाठकयोः।

★

विलुप्तानां परःसहस्राणां संस्कृत-शब्दानां समुद्धारे अष्टाध्याय्याः साहाय्यम्

[पूना विश्वविद्यालय की ओर से ९-१४ जुलाई सन् १९८१ में पूना में 'पाणिनि पर अन्ताराष्ट्रिय अध्ययन गोष्ठी' (इण्टरनेशनल सेमिनार ऑन पाणिनि) का आयोजन हुआ था, उसमें मैंने यह लेख पढ़ा था।]

लौकिक्या वैदिक्याश्चोभयविधायाः संस्कृतभाषाया भगवता पाणिनिना यच्छब्दानुशासनं नाम व्याकरणशास्त्रं प्रोक्तम, तल्लोके 'अष्टाध्यायी' इति नाम्ना प्रथतेतमाम्। इदं शब्दानुशासनं सर्वेष्वपि संस्कृतभाषाया व्याकरणेषु प्रधानभूतम् अतिशयगौरवमण्डितं चेत्यत्र समेषामपि भारतीयानां पाश्चात्यानां च विदुषामस्त्यैकमत्यम्। परन्त्वेतस्मिन् शब्दानुशासने शब्दान्वाख्यानाय प्रकृत्यंशे ये लोपागमादेशवर्णविकारवर्णविपर्ययादयस्तत्र तत्र भगवता पाणिनिना प्रदर्शितास्तस्मिन् विषये नास्ति भारतीयानां पाश्चात्यानां च मनीषिणामैकमत्यम्। तत्रोभयेषां मतभेदेऽस्ति प्रधानं कारणं संस्कृतभाषायाः स्वरूपे वैमत्यम्।

तत्र भारतीया वैयाकरणा अन्ये च केचन दार्शनिकाः शब्दानां नित्यत्वम् अस्या वाचोऽनादित्वं च मन्यन्ते। अत एव ते तत्र देश-जाति-प्रस्थान-कालभेदेन केवलं शब्दविशेषप्रयोगाप्रयोगं त्वभ्युपगच्छन्ति, परन्तु शब्दस्वरूपभेदं न स्वीकुर्वन्ति। तथा चोक्तं पस्पशायां महाभाष्यकृता पतञ्जलिना—

सर्वे खल्वेते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते।.....एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा—शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

इत्थमेव यास्कोऽपि निरुक्ते (१।२) उक्तवान्—**अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु इति।**

यथा देशभेदेन शब्दानां नियतविषयतोक्ता तथैव जातिभेदेनापि शब्दानां नियतविषयता दृश्यते। यथाश्ववाचकेषु 'हय'शब्दस्य प्रयोगो देवेष्वेव बभूव, 'वाजिन्'इत्यस्य

गन्धर्वेषु, 'अर्वन्' इत्यस्यासुरेषु, 'अश्व' इत्यस्य च मनुष्येषु। तदुक्तं भगवता याज्ञवल्क्येन—हयो भूत्वा देवानवहत्, वाजी गन्धर्वान्, अर्वाऽसुरान्,[1] अश्वो मनुष्यान् इति (बृ० उ० १।१।२)।

एवं जातिभेदेन शब्दविशेषप्रयोगं भगवान् जैमिनिरप्यनुमनुते (द्र०—पिकनेमाधिकरणम् १।३।६)। यथाऽर्धवाची अर्धशब्द आर्येषु प्रयुज्यते, नेम इति म्लेच्छेषु। 'नेम' शब्दस्यैव 'नीम' इत्यपभ्रंशो फारसीभाषायामद्यापि लब्धप्रचारः। इत्थमेवापरस्य अर्धवाचकस्य 'सामि' शब्दस्य विकारः 'सेमि' (SEMI) इत्याङ्गलभाषायां प्रयुज्यते।

प्रस्थानभेदेनापि शब्दविशेषप्रयोगा उपलभ्यन्ते। यथा ऋग्वेदे 'पृतन्यतः' पदम्, यजुषि च 'पृतनायतः'। 'मूर्च्छाय' इति चरके[2] 'मूर्च्छा' इत्यन्यत्र लोके च।

कालभेदेनापि बहवः शब्दविशेषप्रयोगाः प्रायेण विभिन्नकालविनिर्मितेषु ग्रन्थेषूपलभ्यन्ते।

सम्प्रति संस्कृतभाषायां योऽयं भाषाभेदः प्रतीयते, तस्य प्रधानं हेतुं विविधैः कारणैः संजायमानं संस्कृतभाषाया ह्रास इत्येव भारतीया विपश्चितो मन्यन्ते। अयं च संस्कृतभाषाया ह्रासः कथं समजनीत्यस्मिन् विषयेऽस्माभिः 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' इति नाम्नो ग्रन्थस्य प्रथमाध्याये सप्रमाणं सोदाहरणं च विस्तरेण निरूपितम्।

पाश्चात्या भाषावैज्ञानिका इमां सुरभारतीं न मूलभाषां मन्यन्तेऽपितु इतरलोकभाषावदस्या अपि कस्याश्चिद् अन्यभाषातः प्रादुर्भावं स्वीकुर्वते। अतस्तेषां मते यथा साम्प्रतिकासु भाषासु केचन प्रवक्तारः प्रयत्नलाघवादिकारणेभ्यो लोपागमवर्णविकारवर्णविपर्ययादीन् कुर्वन्तो दृश्यन्ते, तथैव पुराकाले संस्कृतभाषाया या काचिन्मूलभूता भाषाऽऽसीत् तस्यामपि तद्वक्तारो प्रयत्नलाघवादिभिर्लोपागमवर्णविकारवर्णविपर्ययादीन् प्रायोक्षुः। तादृशा विकृताः शब्दा उत्तरोत्तरं प्रयुज्यमाना यदा लोके लब्धप्रचारा अभूवन् तदा तन्मूला एवेयं संस्कृतभाषा प्रादुर्भूता। अतोऽस्या व्याकर्त्तारः पाणिनिप्रभृतयः संस्कृतशब्देषु तान् एव पूर्वकाले समुद्भूतान् लोपागमादेशवर्णविकारादीन्

---

१. प्राचीनेऽसुरप्रदेशे प्रयुज्यमानस्यार्वन्शब्दस्य योगादेव पश्चिमैशियाभूभागस्य 'अरब' इति नाम बभूव।

२. चत्वारो मूर्च्छायाः (सूत्रस्थान १९।३)। अत्र प्रकरणे सर्वेऽपि रोगशब्दाः प्रथमाबहुवचनान्ता निर्दिश्यन्ते। अतः 'मूर्च्छायाः' इति प्रथमाबहुवचनान्तः, न 'मूर्च्छा' इत्यस्य षष्ठ्येकवचने रूपम्। 'मूर्च्छाये वातसम्भवे' (सूत्र० २४।३६) अत्र 'मूर्च्छाय' शब्दस्य सप्तम्येकवचनं स्पष्टम्।

स्वस्वव्याकरणेषु प्रदर्शयन्ति । प्रयत्नलाघवादिभिः कथं लोपागमवर्णविकारवर्ण-विपर्ययादयः प्रादुर्भवन्ति इत्यस्य निदर्शनार्थं हिन्दीभाषाक्षेत्रस्थैर्ग्रामीणैः प्रयुज्यमानाः केचन शब्दा उदाह्रियन्ते—

विकारः	विकृतः शब्दः	मूलशब्दः
वर्णलोपः	जन्ता	जनता
	ओट[1]	वोट
	साब	साहब
वर्णागमः	नोरङ्गाबाद	औरङ्गाबाद
वर्णविकारः	हाथी[2]	साथी
	लच्छमी, जमना	लक्ष्मी, यमुना
वर्णविपर्यासः	नखलऊ	लखनऊ
	काचू[3]	चाकू
वर्णसमुदायविपर्यासः	सकलवाय[4]	बाईसिकल

यथोपरि उत्तरभारतीयलौकिकशब्देषु प्रयुज्यमाना लोपागमादियुक्ताः केचन शब्दा निर्दर्शिताः,तथैव संस्कृतभाषाशब्देष्वपि वैयाकरणा लोपागमादेशादीन् विदधति। यथा—

लोपः—अस्धातोरादेरकारस्य स्तः सन्ति इत्यत्र लोपः, जग्मतुः जग्मुः इत्यत्रोप-धालोपः।

आगमः—नयतेः षुगागमस्तुनि—नेष्टा। अस्यतेस्थुगागमश्चङि लुङि—आस्थत्।

आदेशः—हन्तेर्वधादेशः—वधकः, पाघ्रादीनां पिबजिघ्राद्यादेशाः—पिबति, जिघ्रति।

वर्णविकारः—यजतेर्यकारस्येकारः किति प्रत्यये—इष्टः इष्टवान्। गृह्णातेर्हकारस्य भकारः—गृभ्णामि। द्युतेर्दकारस्य जकारः—ज्योतिः।

वर्णविपर्यासः—निस्पूर्वात् कृतेर्ण्यति आद्यन्तविपर्यासः—निष्टर्क्यः, हिंसेः सिंहः, कृतेस्तर्कुः।

---

१. अत्र अंग्रेजीभाषायाः 'वोट' शब्दे वकारलोपः।

२. राजस्थानीयभाषायां सकारस्थाने हकारः प्रायेण प्रयुज्यते।

३. अयं पञ्जाबीभाषायां प्रयुज्यते।

४. अयं पांसुलपादैः ग्रामीणैः राजस्थानेऽद्यापि क्वचित् प्रयुज्यते।

इमे पाणिनिप्रभृतिभिः स्वस्वव्याकरणेषूक्ता लोपागमादेशवर्णविकारवर्णविपर्ययादयो यास्केनापि स्वीये निरुक्ते (२।१।२) विस्तरेण प्रपञ्चिताः।

इदं तावदत्र चिन्तनीयम्—यथा साम्प्रतिकलौकिकभाषासु पांसुलपादाः ग्रामीणा वर्णलोपादीन् कुर्वन्ति तथैव किल संस्कृतभाषायामपि कदाचिद् वर्णलोपादयो विकाराः समजायन्त अथवा न तथा क्वचित् कदाचिद् वर्णलोपादयः प्रादुर्भूताः। अत्रेदं विज्ञेयम्—संस्कृतशब्देषु सर्वदा शिष्टा एव प्रमाणभूता भवन्ति[1] इति वैयाकरणानां मतम्। शिष्टाश्च वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञा भवन्ति[2]। न ते कथंचिदपि शब्दप्रयोगेषु लाघवादिदोषान् समाचरन्ति। यदि कश्चिद् विद्वान् सन्नपि उच्चारणशक्तिवैकल्याद् अन्यथा कंचिद् वर्णमुच्चारयति, न तस्योच्चारणस्य प्रामाण्यमास्थीयते शिष्टैः[3]। अपि च, संस्कृतभाषायाः परिरक्षणाय वाग्दोषाणां चापाकरणाय भारतीयैर्विपश्चिद्भिः 'शिक्षा' नाम्नो वेदाङ्गस्य विशेषेण प्रवचनं कृतम्, यत्र शब्दानां साधूच्चारणस्य उपायाः सूक्ष्मया मत्या विस्तरेण विवृताः, विविधोच्चारणदोषपरिहाराय उच्चारणदोषाश्च निर्दर्शिताः।

अतः संस्कृतभाषायां प्रयत्नलाघवादिदोषैः संजायमानानां विकाराणां संभावनैव नोदेति, कुतस्तेषां पाणिन्यादिभिः समाश्रयणस्य संभावनोदियात्।

अत एतस्मिन्निबन्धे प्रथममिदं चिन्त्यते यत् पाणिनिप्रभृतिभिर्वैयाकरणैः स्वस्वव्याकरणेषु शब्दान्वाख्यानप्रसङ्गे ये लोपागमादेशवर्णविकारवर्णविपर्ययादयः समाश्रीयन्ते तेषां किं प्रयोजनम्? लोपादीनां प्रयोजनविचारात् पूर्वमिदमपरं चिन्तनीयं यद् भगवतः पाणिनेः काले परं ह्रासं गतायाः संस्कृतभाषायाः काऽवस्थाऽऽसीत्। यतस्तामपेक्ष्यैव लोपागमादीनां प्रयोजनं विज्ञातुं शक्यते।

पुराकाले येषु येषु देशेषु संस्कृतभाषायाः प्रचार आसीत् तेषु वैदेशिकानामाक्रमणात् तत्रत्याः संस्कृतेर्भाषायाश्च विनाशात्, भाषान्तराणां प्रादुर्भावात्, संस्कृतवाङ्मयस्य विनाशात्, आर्याणां प्रमादाच्च संस्कृतभाषायास्तादृशो ह्रासः समजनि येन बहूनां शब्दानां मूलभूताः प्रकृतयो विनष्टाः, तादृशीभ्यः प्रकृतिभ्य उत्पन्नाः शब्दा एव लोकेऽवशिष्टाः। इत्थमेव बहूनां शब्दानां प्रकृतयः एवावशिष्टाः, तदुत्पन्नाश्च शब्दा विलुप्ताः। एतादृशेऽव्यवस्थितसंस्कृतभाषाकाले पाणिनिप्रभृतयो व्याकरण-

---

१. द्र०—महाभाष्य ६।३।१०९॥

२. धर्मेणाधिगतो येषां वेदः सपरिबृंहणः। शिष्टास्तदनुमानज्ञाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥ बौ० धर्म० १।१।६॥

३. द्र०—महाभाष्ये पस्पशाह्निके—यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुस्ते यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते।

प्रवक्तारो बभूवुः। अतस्तेषां कृते शब्दान्वाख्याने महत् काठिन्यमुपपद्यत। विशेषस्तेषां शब्दानामन्वाख्याने येषां प्रकृतयो विनष्टा अभूवन्। यदि हि शब्दव्याकर्त्तारो विद्यमानानां शब्दानामन्वाख्याने कंचिद् विद्यमानं धातुं शब्दं वा प्रकृतिरूपेण उपादद्युस्तर्हि नहि तथाञ्जसा शब्दस्वरूपं शक्यं स्यादुपपादयितुम्। यदि तादृशां शब्दानामन्वाख्याने विलुप्तप्रचारां प्रकृतिमाश्रयेयुस्तर्हि तादृश्याः प्रकृतेर्लोके प्रयोगाभावात् तदर्थविज्ञानमशक्यं स्यात्। यतो हि लोकप्रयोगाद् एव शब्दार्थविज्ञानं भवति। अतः परमकारुणिकैः पाणिनिप्रभृतिभिराचार्यैरर्थविज्ञानसौकर्याय विलुप्तप्रकृतीनां शब्दानामन्वाख्याने शब्दतोऽर्थतश्च ये धातवः शब्दाश्च सदृशतमा लोके तदानीं लब्धप्रचारा आसन्, तान् प्रकृतिरूपेणोपादाय तत्र लोपागमादेशवर्णविकारवर्णविपर्ययान् कृत्वा शब्दान्वाख्यानपद्धतिरुद्भाविता। तथा सति लब्धप्रचारस्य धातोः शब्दस्य वा प्रकृतिरूपेणोपादानाद् अर्थविज्ञाने यत्काठिन्यमासीत् तदपास्तम्, तथा चोपात्तायां प्रकृतौ लोपागमादेशवर्णविकारविपर्ययादिकृते यत् प्रकृतेः स्वरूपं सम्पद्यते तद्द्वारा लुप्तानां प्रकृतीनां परिज्ञानमपि [सुकरतयाऽकारि। एवं च पाणिनिप्रभृतिभिर्वैयाकरणैरेकेन प्रयत्नेन लुप्तप्रकृतीनामर्थबोधनं तत्स्वरूपपरिज्ञापनं कर्मद्वयं सम्पादितम्।

सम्प्रति कानिचित् तिङ्कृत्तद्धितसमासान्तविषयकाणि पाणिनीयसूत्राणि कात्यायनीयवार्तिकानि चोदाहृत्यैतन्निदर्शनाय प्रयत्यते यदेभिः कथं विलुप्तानां परःसहस्राणां शब्दानां समुद्धारो भगवता पाणिनिना कात्यायनेन च विहितः।

तत्र प्रथमं लोपविधायकानि वचनान्युपन्यस्यन्ते—

१—**रञ्जेश्च** (६।४।२६) अनेन सूत्रेण रञ्जधातोः शपि नकारलोपं विधाय 'रजति' पदं साध्यते। परन्तु शैशिरीयशिक्षायां याज्ञवल्क्यशिक्षायां च शपि 'रञ्जन्ति'[1] इत्यत्र नकारलोपाभावोऽपि दृश्यते।

२—**रञ्जेर्णौ मृगरमण उपसंख्यानं कर्तव्यम्** (वा० ६।४।२४) अनेन वार्तिकेन मृगरमणे णिचि नकारलोप आदिश्यते। रजयति मृगान्, अन्यत्र रञ्जयति वस्त्रान् इत्येवमर्थभेदेन रूपद्वयं साध्यते। परन्तु वैदिकनिघण्टौ (३।१४) अर्चतिकर्मसु रञ्जयति रजयति इति रूपद्वयं समानरूपेण पठ्यते।

एतेनानुनासिकलोपविधानेन रञ्जधातोः समानार्थको 'रज' धातुरप्यासीत् कदाचिल्लोके लब्धप्रचार इति विज्ञायते। घिनुण्प्रत्ययविधायके सूत्रे **त्यजरजभज** (३।२।१४२) इत्यत्र प्रकृत्यन्तरस्यैव रजधातोरुपादानं भगवता पाणिनिना क्रियते।

---

१. शैशिरीयशिक्षा २३० (वै० प० कोश पृ० २०४६), **'लुपे नकारे यत्स्वारं रञ्जन्ति शौनकादयः।'** याज्ञ० २१८ (शिक्षासंग्रह काशी), २।७७ अमरनाथशास्त्रिमुद्रापितायाम्।

एतेन पाणिनीयानां 'रागी इत्यत्र अनुनासिकलोपः त्यजरज इति निपातनाद्' इत्युक्तिरप्यकिञ्चित्करैव । इत्थमेव **'कुषिरजोः प्राचाम्'** (३।१।९०) सूत्रे निरनुनासिकस्यैव रजधातोर्निर्देश इत्यस्माकं मतम् । व्याख्यातारस्त्वत्र 'रञ्ज' धातोरेव ग्रहणं मन्यन्ते । तथा सति कृतानुनासिकलोपस्यात्र किमर्थं ग्रहणमिति हरदत्तादयो नाचक्षते । न्यासकारस्तु लाघवार्थं कृतानुनासिकलोपग्रहणमिति व्याचष्टे, परन्तु नह्यन्यत्र क्वचित् सूत्रकृता लाघवार्थं कस्यचिद् एवं निर्देशः क्रियते । यथा त्वस्मन्मतं तथाऽस्य सूत्रस्यान्यथा व्याख्यानं कर्तव्यम् ।

एवं च कृत्वा 'रज' इति प्रकृत्यन्तरस्य सत्त्वे रञ्जेरनुनासिकलोपविधानार्थं यद् बहुवार्तिकजातं भगवान् कात्यायन उवाच तन्न वक्तव्यं भवति ।

३—**सर्वत्राण् च तलोपश्च** (४।३।२२) अनेन सूत्रेण सर्वत्र छन्दसि भाषायां च हेमन्तशब्दाच्छैषिकेष्वर्थेषु अण् प्रत्ययः, तत्सन्नियोगेन च हेमन्तस्य तलोपश्च विधीयते **हैमनमनुलेपनम्** । अत्र तकारस्य लोपे योऽवशिष्यते 'हेमन्' शब्दः तस्य तकारलोपेन प्रकृत्यन्तरत्वमुपपाद्यते भगवता पाणिनिना । अयमेव चार्थो भगवता पतञ्जलिनोक्तः —**प्रकृत्यन्तरं हेमन्शब्दः । आतश्च प्रकृत्यन्तरम् । एवं ह्याह—हेमन् हेमन्नागनीगन्तीकर्णौ तस्मादेतौ हेमन्नशुण्यतः । अलोपदर्शनाच्च । अलोपः (तकारलोपाभावः) खल्वपि दृश्यते पड्क्तिर्हेमन्तीति** (महा० ४।३।२२) ।

४—**पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (५।४।१३८) इत्येवमादिभिः सूत्रैः उपमानादिभ्यः परस्य पादशब्दस्यान्त्यलोपः समासान्तरूपेण विधीयते । **व्याघ्रपात्, कुम्भपदी, द्विपात्, सुपात्** । अत्र पादशब्दस्यान्त्याकारलोपे यः 'पाद्' शब्दः शिष्यते तस्य प्रकृत्यन्तरत्वमनेन प्रयत्नेन सूत्रकारेण बोध्यते । अयं च प्रकृत्यन्तररूपः 'पाद्' शब्दः पदधातोर्ण्यन्तात् क्विपि उपपद्यते । पाच्छब्दस्य प्रकृत्यन्तरत्वे **'अपात्'** (ऋ० १।३२।७) **विश्वतस्पात्** (ऋ० १०।८१।३) इत्यादयः प्रयोगा अञ्जसोपपद्यन्ते ।

इत्थमेव **पादस्य पदाज्याति०, पद्यत्यतदर्थे** (६।३।५२,५३) इत्याभ्यां सूत्राभ्यामुत्तरपदे परतः पादशब्दस्य यः पदादेशः क्रियते, यश्च **पद्दन्नोमास** (६।१।६३) इत्यादिना शस्प्रभृतिषु विभक्तिषु पादस्य स्थाने पदादेश उच्यते, सोऽपि पद्यतेः क्विबन्तः प्रकृत्यन्तररूपो ज्ञेयः । यथा **हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु, वा शोकष्यञ्रोगेषु** (६।३।५०,५१) सूत्राभ्यामुत्तरपदे परतः, **पद्दन्नोमास्** (६।१।६३) इत्यादिना च शस्प्रभृतिषु यो हृदादेशो विधीयते सोऽपि हरतेः क्विबन्तः प्रकृत्यन्तररूप एव । तथा चोक्तं काशिकाकारेण—**हृदयशब्देन समानार्थो हृच्छब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति** (काशिका० ६।३।५१)।

आगमविधायकानि सूत्राणि—

५—**वच उम्** (७।४।२०) अनेन सूत्रेण वचधातोरङि च्लौ 'उम्' आगमो

विधीयते। स च मित्त्वादन्त्यहलः पूर्वं निविशते। तेन 'व उ च्' इत्यवस्थायां गुणे कृते प्रकृतेर्वोच इति रूपं सम्पद्यते। तथा सति **'अवोचत्'** इति प्रयोग उपपन्नो भवति। अत्र उमागमेन पाणिनिना लुप्ताया वोचप्रकृतेः समुद्धारः कृतः। अस्या वोचप्रकृतेरुभयोः पदयोर्वैदिकवाङ्मये बहवः प्रयोगा दरीदृश्यन्ते। इह केचन ऋग्वेदीयाः प्रयोगा उदाह्रियन्ते। तद्यथा—**वोचति, वोचतु, वोचाति, वोचेयुः, वोचे, वोचावहै, वोचेत, वोचेयम्** इत्येवमादयः। एतेनेदमपि स्पष्टी भवती यत्संप्रति यानि 'अवोचत् अवोचताम्' इत्येवमादीनि रूपाणि लुङ्लकारस्य आस्थीयन्ते तानि वस्तुतो लङ्लकारस्य सन्ति।

६—**सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः** (वा० ७।१।५३) **अनेन वार्तिकेन** सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्यचि लालसायां सुगागमो विधीयते। तेन क्षीरस्यति **दधिस्यति, मधुस्यति** इत्यादयः प्रयोगा उपपन्ना भवन्ति। एतेन सुगागमेन कात्यायनेन अकारान्तानामिकारान्तानामुकारान्तानां च प्रातिपदिकानां विलुप्तानां सकारान्तरूपाणामुद्धारः प्रदर्शितः। सम्प्रत्यपि सन्ति केचन एवंभूताः शब्दा येऽजन्ताः सान्तश्चोभयथा प्रयुज्यन्ते।

एवमेव **क्यङ्प्रकरणे सलोपो वा, ओजसोऽप्सरसोर्नित्यम्** (वा० ३।१।११) इति द्वे वार्तिके स्तः। तत्र प्रथमेन पयस्प्रभृतीनां क्यङि सलोपो वा विधीयते। **पयायते, पयस्यते**। द्वितीयेन ओजसप्सरसोर्नित्यं सलोपो विधीयते। तेन **ओजायते अप्सरायते** इति सिध्यतः। आभ्यां वार्तिकाभ्यां सलोपविधानादपि एतेषां सान्तानां शब्दानामजन्तरूपाणामपि सद्भाव उक्तो भवति। एतेन आयुर्वेदीयचरकसंहितायां प्रयुक्तः **नीरजस्तमाः** (सूत्र० ११।३) इत्यपि प्रयोगो व्याख्यातो भवति।

सुविधायक-सकारलोपविधायकैः वार्तिककैरिदं स्पष्टीभवति यत्पुरा संस्कृतभाषायामजन्ताः शब्दाः सकारान्ता तथा सकारान्ता अजन्ता अपि प्रयुज्यन्ते स्म।

७—**नयतेः षुक् च** (वा० ३।२।१३५) इदं वार्तिकं 'नेष्टृ' शब्दस्यान्वाख्यानाय भगवता कात्यायनेन प्रोक्तम्। एतेन 'णीञ् प्रापणे' इत्यस्माद् धातोस्तृन् प्रत्ययो धातोश्च षुगागमो विधीयते। तेन नयतेर्गुणे षुकि च नेष् इति प्रकृते रूपं सम्पद्यते। अनेन षुगागमविधानरूपेण प्रयत्नेन भगवान् कात्यायनो लोकेऽप्रयुक्तस्य 'नेष्' धातोः सद्भावं द्योतयति। अयमेवार्थो महाभाष्यकृताऽपि 'न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? धात्वन्यत्वात्। धात्वन्तरं नेषतिः' इति सन्दर्भेण व्यक्तीकृतः।

८—**मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च** (४।१।१६१) अनेन सूत्रेण पाणिनिर्मनुशब्दाद् अपत्येऽर्थे अञ्यतौ प्रत्ययौ मनोश्च षुगागमं विधाय 'मानुष' 'मनुष्य' शब्दयोरन्वाख्यान चकार। अत्रापि मानुषमनुष्यशब्दयोर्न मनुशब्दः प्रकृतिः संभवति, तस्मादञि यति च कृते तयोरसिद्धत्वात्। अत एवात्र पाणिनिर्लोकविज्ञातं मनुशब्दमग्रे कृत्वा

तस्मात् षुगागमं विधाय 'मनुष्' इति रूपमुत्पाद्य तस्य मूलप्रकृतित्वमिति व्यक्तीकृतवान्। सूत्रे प्रकृतिरूपेण मनुशब्दस्योपादानाद् विज्ञायते यत् पाणिनेः काले नैव 'मनुष्' शब्दो लोके प्रयुक्त आसीत्। अयं षकारान्तो मनुषशब्दो वैदिकवाङ्मये बहुत्र श्रूयते अत एव निरुक्तकारो यास्को मनुष्यशब्दनिर्वचने **मनोरपत्यं मनुषो वा** (३।७) इत्युभयोर्निर्देशं चकार।

आदेशविधायकानि सूत्राणि—

९—**पाघ्राध्मास्था०**—(७।३।११६) इत्यादिना सूत्रेण शित्प्रत्यये परतः पाघ्राध्मास्थादीनां पिबजिघ्रधमतिष्ठादय आदेशा विधीयन्ते। इमानि चादेशभूतानि प्रकृत्यन्तराणि ज्ञेयानि। एषामादेशभूतानां प्रकृत्यन्तराणां शिद्भिन्नेषु प्रत्ययेष्वपि यत्र तत्र प्रयोगा उपलभ्यन्ते। यथा जिघ्रतेर्युटि **अभिजिघ्रणम्** (गोभिलगृह्य २।८।२४); **अभिजिघ्रच** (हि० गृ० २।४।१७; गो० गृ० २।८।२२); **धमनाः** (अथर्वपरि० ६८।१।४१,४३); **धमनिः धमनी** (लोके) **विधमिष्यामि जीमूतान्**(रा० सु० ६७।१२); **धान्तो धातुः पावकस्येव राशि** (क्षीरतर० १।६५९)। एवं चाशित्यर्थादार्धधातुकप्रत्ययेष्वपि जिघ्र धम धात्वोः प्रयोगात् प्रकृत्यन्तरे जिघ्रतिधमती। एवं च उणादौ २।१०२ धमनिप्रयोगसिद्धये 'धम' प्रकृत्यन्तरस्योपादानं युज्यते। क्षीरस्वाम्यप्याह—**धमिः प्रकृत्यन्तरमित्येके** (क्षीरतर० १।६५९)।

वस्तुतः पिबादीनाम् आर्धधातुकप्रत्ययेषु, पादीनां च सार्वधातुकप्रत्ययेषु प्रयोगाणां प्रायेण विलोपात् पाणिनिना स्थान्यादेशरूपेणैषां निर्देशः कृतः।

१०—**कन्यायाः कनीन च** ४।१।११६) अनेन सूत्रेण कन्याया अपत्ये कानीनशब्दस्य साधुत्वान्वाख्यानाय कन्याशब्दाद् अपत्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो विधीयते कन्यायाश्च कनीनादेशः। एतेनैकेनैव प्रयत्नेन भगवता पाणिनिना कानीनशब्दस्य मूलप्रकृतेः स्वरूपं तदर्थश्चोभयं व्याख्यातम्। अपि चानेन 'कनीन' शब्दस्य प्राचीनसंस्कृतभाषायां सद्भावोऽप्युक्तो भवति। कन्यार्थकः स्त्रीलिङ्गे 'कनीना' शब्दः **कनीनकेव विद्रधे** इत्यस्मिन् ऋङ्मन्त्रे (४।३२।२३) श्रूयते। व्याख्यातं च यास्केन **कनीनके** कन्यके (निरुक्त ४।५)। अवेस्ताग्रन्थेऽपि कनीनाया अपभ्रंशः 'कइनीना' इति श्रूयते—ह **ओ मा तास् चित् या कइनीनो** [सं० छाया—सोमाः ताश्चिद् या कनीनाः]। द्र०—ह ओम यश्त (९।२३ लाहौर संस्क० पृष्ठ ५४)।

११—**सुधातुरकङ् च** (४।१।९७) अत्र वार्तिकम्—**व्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बानामिति वक्तव्यम्**—आभ्यां सूत्रवार्तिकाभ्यां सुधातृप्रभृतिभ्यः शब्देभ्योऽपत्ये इञ् प्रत्ययः, तत्सन्नियोगेन च सुधात्रादीनामकङ् आदेशश्च विधीयते। अकङादेशो ङित्त्वाद् **ङिच्च**(१।१।५३) इति नियमेनान्त्यवर्णस्य स्थाने भवति तेन **सुधातक, व्यासक, वरुडक, निषादक, चण्डालक, बिम्बक** इति प्रकृतीनां रूपाणि सम्पद्यन्ते। ऐतेनाकङादेशविधानेन

पाणिनिकात्यायनाभ्यां सौधातकि वैयासकि प्रभृतीनां या विलुप्ताः प्रकृतय आसन् तासां समुद्धारोऽकारि। अयमेव चार्थो भगवता पतञ्जलिनापि महता कण्ठेनोररीकृतः। तदुक्तम्—तर्त्तहि वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम्। प्रकृत्यन्तराण्येवैतानि इति।

वर्णविकारविधायकमेकं सूत्रम्—

१२—**वचिस्वपियजादीनां किति** (६।१।१५) अनेन सूत्रेण किति प्रत्यये परतः वच्यादीनां धातूनां यणः स्थाने सम्प्रसारणसंज्ञक इग् भवति। **उक्तः उक्तवान्, सुप्तः सुप्तवान्, इष्टः इष्टवान्, उदितः उदितवान्**। इदमिग्विधानमादेशग्रहणेनापि ग्रहीतुं शक्यते, तथापि प्रायेणेदं वर्णविकाररूपेणोपचर्यते।

येषु येषु धातुषु यणः सम्प्रसारणे कृते यद्यद् रूपं संपद्यते तत्तद्रूपवान् स्वतन्त्रो धातुर्विज्ञेयः। पाणिन्यादिभिर्वैयाकरणैः **उक्तम् सुप्तम् इष्टम् उदितम् गृहीतम् गृह्णाति जीनः जिनाति** इत्येवमादीनां प्रयोगाणां या विलुप्ताः प्रकृतय आसन् तासां सम्प्रसारणरूपवर्णविकारमुपदिश्य सद्भावः प्रोच्यते।

सम्प्रसारणरहिताः वचस्वपयजवदादयो धातवः पाणिनिकाले बहुषु शब्देषु प्रयुक्ता अभूवन्, कृतसंप्रसारणरूपाणाम् उच सुप इज उद आदि प्रकृतीनां प्रयोगा अल्पा आसन्। अतः पाणिनिना प्रयोगबाहुल्यात् संप्रसारणरहितानां वच आदीनां धातूनां धातुपाठे निवेशः कृतः, लुप्तप्रकृतीनाम् उक्तम् सुप्तम् आदिशब्दानामन्वाख्यानाय सम्प्रसारणरूपवर्णविकारं कृत्वाऽन्वाख्यानं कृतम्। सम्प्रसारणरहितानां कृतसम्प्रसारणानां च धातूनां मूलतः पार्थक्यं निरुक्तकृता यास्केनापि स्वीकृतम्। तथाहि—

तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। तत्राऽप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। निरुक्त २।२॥

अयमेवाभिप्रायो भर्तृहरिणाऽपि प्रकारान्तरेणोक्तः—

भिन्नाविजियजिधातू नियतौ विषयान्तरे।
कैश्चित्कथंचिदुपदिष्टौ चित्रं हि प्रतिपादनम्॥ वाक्य० २।१७६॥

कृतसम्प्रसारणरूपाणां संप्रसारणरहितानां च द्विविधानां प्रकृतीनां सद्भावादेव संस्कृतवाङ्मये क्वचिदनयोस्तादृशाः प्रयोगा अप्युपलभ्यन्ते ये संप्रसारणविधायकैर्नियमैर्न प्रसिध्यन्ति। तथाहि—

यजेः किति संप्रसारणं विधीयते। परन्तु महाभारते शान्तिपर्वणि (२६३।२६) ष्यनि (किति) **इज्यन्ति** इति रूपं दृश्यते। एवमेव तत्रैव वनपर्वणि (८२।४०; ८४।२८) ल्यपि (अकिति) '**उष्य**'रूपमुपलभ्यते।

तथा च यत्र सम्प्रसारणमुक्तं तत्रापि तस्याभावो दृश्यते। यथा महाभारते

वनपर्वणि (१३२।४) लिटि द्विवचने किति **'निजग्राहतुः'**[1] रूपं पठ्यते। चाणक्यकृते-ऽर्थशास्त्रे वसः क्तप्रत्ययेऽसम्प्रसारणस्य **अनुवसितम्** इति रूपमुपलभ्यते।

वर्णविपर्ययविधायकानि वचनानि—

१३—**कृतेराद्यन्तविपर्ययश्च**—(उ० १।१६)—अनेनोणादिसूत्रेण 'तर्कु' शब्द-सिद्धये कृतेर्धातोः प्रत्ययो धातोराद्यन्तवर्णविपर्ययश्च विधीयते।

१४—**छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूय०** (३।१।१२३)—सूत्रे यो निष्टर्क्यशब्दो निपात्यते, तत्रापि निस्पूर्वस्य कृतेर्ण्यति धातोराद्यन्तविपर्ययः स्वीक्रियते।

उभयत्र 'कृत्' धातोराद्यन्तवर्णविपर्यये प्रकृतेः 'तृक्' रूपं निष्पद्यते। इयमेव तर्कु-निष्टर्क्य-शब्दयोर्लोकेऽप्रयुक्ता मूलभूता प्रकृतिः। यद्यपि छेदनार्थे तृक् तर्क् वा धातुः पाणिनीये धातुपाठे न पठ्यते, तथापि उभयत्र धातोराद्यन्तविपर्ययेण यत् तृक् रूपं निष्पाद्यते, तेनास्य धातोः सद्भाव उक्तो भवति। सत्येवं परवचश्छेदकस्तर्कः, वैजयन्त्यपरपर्यायभूतस्तर्कारी (तर्कं छेदनमृच्छतीति) शकविशेषवाचकः शब्द उपपद्यते।

१५—**सिंहो हिंसतेर्विपरीतस्य** (निरुक्त ३।१८) **मधु धमतेर्विपरीतस्य** (निरुक्त १०।३१) इत्याभ्यां वचनाभ्यां हिंसेर्वर्णविपर्ययेण सिंहप्रकृतेः, धमेर्वर्णविपर्ययेण मघप्रकृतेः सद्भावो ज्ञातुं शक्यः। सिंहप्रकृतिस्तु काशकृत्स्नधातुपाठे (१।३१६) **सिंहि हिंसायाम्** इत्येवं साक्षात् पठ्यते। मघप्रकृतेः सद्भावो मधुशब्दप्रसिद्धये महे-र्धकारादेशं विदधता उणादिसूत्रकारेणापि द्योतितो भवति।

इत्थमस्माभिः पाणिनीयशास्त्रे प्रदर्शितानि कानिचिद् लोपागमादेशवर्णविकार-वर्णविपर्ययविधायकानि सूत्राणि वार्तिकानि चोपस्थाप्य तेषां यथा व्याख्यानमकारि तथा पाणिनीयशास्त्रे विहितानां लोपागमादेशवर्णविकारवर्णविपर्ययादीनां भगवतः पाणिनेः कालेऽप्रयुज्यमानानां तत्तच्छब्दानां या मूलभूताः प्रकृतय आसन्, तासां स्व-रूपनिदर्शनम् अर्थात् प्रकृत्यन्तरनिदर्शनमेव मुख्यं प्रयोजनमित्युक्तं भवति। पाणिनीया-ष्टाध्याय्या अन्वाख्यानशैल्या इदमेव रहस्यमिति मया विविधविषयकस्य महतः संस्कृतवाङ्मयस्य चिरकालीनसतताभ्यासेन विशेषतः पातञ्जलमहाभाष्यस्य सूक्ष्म-दृष्टयाऽनुशीलनेन समधिगतम्। पाणिनीयलोपागमादीनां यद् रहस्यं मयाऽस्मिन्नि-बन्धे प्रकटीकृतं न तत्कल्पनामूलम्। व्याकरणशास्त्रस्य एकं प्रयोजनं विलुप्तानां शब्दानां समुद्धारोऽपि वर्तते इति भट्टकुमारिलस्यापि मतम्। तथा ह्याह—

यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुप-लक्षितरूपाणि च। तन्त्रवार्तिक १।३।१२, पृष्ठ २३९, पूना संस्क०।

---

१. अत्र संप्रसारणाभाव उपधादीर्घत्वं महाभारतव्याख्यातृनीलकण्ठमतेन। अस्मन्मते तु ग्राह स्वतन्त्रो धातुः।

एवं च पाणिनीयाष्टाध्याय्याः पूर्वनिर्दिष्टप्रक्रियया यदि व्याख्यानं क्रियेत तर्ह्यनयाऽष्टाध्याय्या पाणिनेः कालं यावद् विलुप्तानां परःसहस्राणां शब्दानां समुद्धारोऽनायासेनैव कर्तुं शक्यो भवेत् ।

अस्मिन्निबन्धे प्रकृत्यंशे विहितानां लोपागमादेशवर्णविकारवर्णविपर्ययादीनामेव विवेचनं कृतम् । इत्थमेव यदि प्रत्ययांशेऽपि ये लोपागमादेशवर्णविकारादयो विधीयन्ते तैः तत्तदसाक्षाद्रूपेणाष्टाध्याय्यां निर्दिष्टानां प्रत्ययानां समुद्धारः क्रियेत तर्हि तैरपि परःसहस्राणां शब्दानां समुद्धारः कर्तुं शक्यते ।

एतेन निबन्धेन विलुप्तानां शब्दानां समुद्धाराय यो मार्गः संदर्शितस्तेन संस्कृतभाषाया विपुलं स्वरूपमस्मत्संमुखे समुपतिष्ठते । अयं विलुप्तशब्दराशेः समुद्धाररूपः प्रयत्न आधुनिकभाषाशास्त्रिणामपि महान् उपकारको भविष्यति, तेषां विभिन्नभाषाशब्दानां तुलनात्मकेऽध्ययने च परं साहाय्यं करिष्यति ।

प्रस्तुतनिबन्धपरिसमापनात् पूर्वं वर्तमानसंस्कृतभाषाया अपि स्वल्पज्ञानेन महान्तोऽपि पाश्चात्त्या भाषावैज्ञानिका कथं भ्राम्यन्तीत्यस्य निदर्शनाय फ्रैंजबॉपमहोदयस्यैकमुद्धरणं प्रस्तूयते—

"संस्कृतभाषया सह बंगलाभाषाया यः सम्बन्धः, न तत्र कश्चिद् विवादः । परन्त्वनया व्याकरणव्यवस्था सर्वथाऽपि परिवर्तिता । एवं चेयं बंगलाभाषा योरोपीयभाषापेक्षया संस्कृतभाषया सह न्यूनं संगच्छते ।.....उदाहरणरूपेण वयं श्वेस्तर 'सिस्टर' शब्दं गृह्णीमः । अयं जर्मनभाषाशब्दः संस्कृतभाषायाः 'स्वसर्' शब्देन सह बंगलाभाषायाः 'बोहिनी' शब्दापेक्षयाऽधिकं साम्यमावहति ।.....अस्माकं 'वातर' 'मातर' शब्दौ संस्कृतभाषायाः 'पितर्' (पातर)शब्देन 'मातर्' शब्देन च सह बंगलाभाषायाः 'बाप' अथवा 'बाबा' तथा 'मा' शब्दानामपेक्षयाऽधिकं समतां धारयतः ।"[1]

यदि हि फ्रैंजबॉपमहोदयः संस्कृतभाषायां विद्यमानेन स्वसृपर्यायेण 'भगिनी'

---

1. No one will dispute the relation of the Bengali to the sanscrit: but it has completely altered the grammatical system. and thus, in this respect, resembles the Sanscrit infinitely less than the majority af European languages.....we will take as an example the word schwester "sister". This German word resembles the sanscrit svasar far more than the Bengali bohini .....our expressions vatar and mutter correspond far better to the sanscrit pitar (from patar) and matar than the Bengali bap or baba and ma.

शब्देन, पितृपर्यायेण 'वाप' शब्देन च परिचितोऽभविष्यत् तर्हि न स एतादृशेऽतथ्य-लेखने प्रावर्तिष्यत।

पाश्चात्त्या भाषावैज्ञानिका यदा वर्तमानसंस्कृतभाषायाः शब्दराशिमपि न साकल्येन विदन्ति, तदा विलुप्तसंस्कृतभाषायाः शब्दराशेर्विज्ञानस्य तु कथैव नोदेति। विलुप्तसंस्कृतशब्दराशेरविज्ञानात् स्वरशास्त्रस्योपेक्षणाच्च भ्रान्तो मैकडोनेलमहानुभाव आह—

"ऋतस्पति रथस्पति शब्दयोः सकारश्रुतेः कारणं बृहस्पतिशब्दस्य सादृश्यमस्ति। बृहस्पतिशब्दे तु सकारश्रुतिर्युक्ता, यतो हि 'बृहस्' शब्दो हकारान्तस्य 'बृह्' शब्दस्य षष्ठ्येकवचनः। परन्तु ऋत रथ शब्दौ त्वकारान्तौ स्तः। तत्र पतिशब्देन समासे ऋतपति रथपति इत्येतौ प्रयोगावुपपद्येते, न तु ऋतस्पति रथस्पति प्रयोगौ"। द्र०—वैदिक ग्रामर २०८, पृ० १६८-१६९॥

अत्र मैकडोनेलो बहुधा भ्रान्तः। तथाहि—

प्रथमा भ्रान्ति—वाचस्पतिः इत्यत्र वाचस् इति पदमन्तोदात्तम्। बृहस्पतौ तु 'बृहस्' आद्युदात्तः। यद्ययं हस्-पूर्वपदं हकारान्तस्य षष्ठ्येकवचनान्तमभविष्यत्। तर्हि वाचस् पदमिव **सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः** (६।१।१६५) इति नियमेनान्तोदात्तमभविष्यत्। यथा तु बृहस्पतिशब्दे बृहस्पूर्वपदमाद्युदात्तं दृश्यते तेन विस्पष्टं भवति यदिदं न हकारान्तस्य 'बृह्' शब्दस्य षष्ठ्येकवचनस्य रूपम्।

द्वितीया भ्रान्तिः—वेदेषु यत्र क्वापि वाचस्पति-शुभस्पति-प्रभृतिषु पतौ परतः षष्ठ्येकवचनस्य रूपमुपलभ्यते तत्र सर्वत्र स्वरशास्त्रानुसारं उभे अपि स्वतन्त्रे पदे भवतो न समस्ते। पदकारा अप्येतादृशेषु प्रयोगेषु वाचः। पतिः शुभः। पतिः इत्येवं पृथक् पदरूपेण निर्दिशन्ति। बृहस्पतिः शब्दस्तु समस्तः। पदकाराः अप्येनमेवमेवातिष्ठन्ते। इयमेव स्थितिः ऋतस्पतिः रथस्पतिः शब्दयोरपि ज्ञेया।

तृतीया भ्रान्तिः—मैकडोनेलेन ऋतस्पति रथस्पति शब्दयोर्बृहस्पतिशब्दसादृश्यात् सकारागम उक्तः। किन्तु परमप्रयत्नेन वैदिकैः संरक्षिते ऋग्वेदे यदाऽद्य यावन्नैकमपि पाठान्तरमजायत, तदा तत्र प्रयुक्तयोर् ऋतस्पतिरथस्पतिशब्दयोर्बृहस्पतिसादृश्यात् सकारागमस्य तु कथैव नोदेति।

वस्तुतः ऋतस् रथस् सकारान्तौ शब्दौ स्तः। सम्प्रत्यपि संस्कृतभाषायां सन्ति बहवोऽकारान्ताः शब्दा ये सकारान्ता अपि प्रयुज्यन्ते। यथा पक्ष-पक्षस्, छन्द-छन्दस्, शव-शवस्; तप-तपस्, ओक-ओकस् प्रभृतयः। इत्थमेव इकारान्ता उकारान्ता अपि बहवः शब्दाः सकारान्ताः प्रयुज्यन्ते।

यथा त्वस्माभिः पूर्वं 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः सुग् वक्तव्यः' इति वार्तिकं व्याख्यातं

तथा सर्वेऽपि अकारान्त-इकारान्त उकारान्तशब्दाः सान्ता अपि पुरा संस्कृतभाषायां विद्यमाना आसन्। तथा सति ऋतस्पतिरथस्पतिशब्दयोः सकारागमस्य प्रश्न एव नास्ति।

इदमप्यत्रावधेयम्—पाश्चात्यानां भाषावैज्ञानिकानां मते सादृश्यमूलकवर्णागम-वर्णविपर्ययादीनां कारणानि निरक्षरता, संस्कृतीनां संगमः, लिपेरपूर्णता, स्मृतेर्वैकल्यम्, आलस्यम्, वैयाकरणप्रमादराहित्यं[1] चास्ति। वैदिककाले नासीद् एतेषामन्यतरत् किमपि कारणम्। अन्यथा ऋग्वेदसदृशे महति ग्रन्थेऽपपाठानां बाहुल्यमुपलभ्येत, न च तत्रैकमपि पाठान्तरमुपलभ्यते। अतो वैदिकवाङ्मये सादृश्यमूलकवर्णागमादयो न व्याख्यातुं शक्यन्ते।

उपसंहारः—पाणिनीयाष्टाध्याय्याः साहाय्येन विलुप्तानां परःसहस्राणां शब्दानां समुद्धारः कथं शक्यते कर्तुमिति विषयस्य स्पष्टीकरणाय मया तिङ्कृत्तद्धितसमासान्त-प्रकरणानां लोपागमादेशवर्णविकारवर्णविपर्ययादिविषयकाणि कानिचित् सूत्राणि निर्दिश्य यथाशास्त्रं व्याख्यातानि। एतस्मिन् विषये पातञ्जलमहाभाष्यं परं साहाय्य-कार्यमभवत्। व्याकरणशास्त्रस्य विनष्टाकृत्रिमशब्दराशेः परिज्ञानमप्येकं प्रयोजनमिति भट्टकुमारिलस्य वचनमुद्धृत्य मया निदर्शितम्। यदि मया प्रदर्शितया प्रक्रियया कृत्स्नस्य पाणिनीयशब्दानुशासनस्य व्याख्यानं भवेत् तर्हि परमसुकरतया विनष्टानाम् अपरिमितशब्दानां समुद्धारः कर्तुं शक्यते[2] इत्यलमतिपल्लवितेन।

---

१. वेण्ड्रिएजमहोदयस्य भाषाविज्ञानविषयको ग्रन्थः। पृष्ठ १४६, १५७, १५८।

२. एतद्विषये सहायकौ 'भारतीयभाषाविज्ञानम्' 'आदिमाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्वविवेचनम्' इति शीर्षकौ लेखावपि द्रष्टुमर्हौ स्तः। तावग्रेऽस्मिन् संग्रहे मुद्रापितौ।

अपाणिनीय-प्रयोग-साधुत्व-मीमांसा[1]

समग्रेऽपि जगतीतले भारत एव तादृशो देशो यस्याऽऽसर्गाद् अद्ययावद् ऐतिह्यं सुरक्षितं वर्तते। अत्रैव च भारतेतरदेशानाम् आर्येतरजातीनां च पुरातन इतिहासोऽपि बाहुल्येन संकलितो विद्यते। एतस्यैव साहाय्येन मिश्र-ईरान-यूनान-यूरोपादि-देशानामपि यत्र तत्र तदीयप्राचीनग्रन्थेषूपलभ्यमानाः प्राचीनेतिहासांशा व्याख्यातुं शक्यन्ते।[2] अयं सर्वोऽपि प्राचीनेतिहासोऽस्मत्पूर्वजैर्महता प्रयत्नेन सुरक्षित इत्यत्र नास्ति शङ्काया लेशतोऽप्यवकाशः। इतिहासोऽयं सर्वोऽपि देववाण्यामेव निबद्धो वर्तते। यद्यपि प्राचीनसंस्कृतवाङ्मयस्योत्सादनेन लिपिकरदोषेण भ्रान्त्या वा यत्र तत्र क्वचिद्वैमत्यमुपलभ्यते, तदप्येतादृशे चिरकालसम्बद्ध इतिहासेऽकिञ्चित्करमेव। तद्वैमत्यमपि विविधग्रन्थपरिशीलनेन सूक्ष्ममत्याऽनुसन्धानेन च शक्यतेऽपाकर्तुम्। वस्तुत एतादृशस्यातिमहत इतिहासस्येदृशी सुरक्षैवाश्चर्यमावहति, न तु क्वचित् किञ्चिदुपलभ्यमानं वैमत्यम्।

अस्मदितिहासदूषणम्—समस्ते भूतले भारतस्य यथा प्राचीनेतिहासः सुरक्षितो वर्तते, न तादृशः कस्याप्यन्यदेशस्य, विशेषतो यूरोपीयदेशानाम्। अतस्तद्द्वेषजैर्विद्वद्भिः **'स्वयं नष्टः परान्नाशयति'** इति नियमेन ईर्ष्यया राजनीतिककारणैरीसाईयहूदीमत-पक्षपातेन च महता प्रयत्नेन सुरक्षितोऽस्मत्प्राचीनेतिहासो बहुधा दूषितोऽप्रामाण्य-पदवीं च प्रापितः[3]। तदर्थमाश्रितेषु बहुविधेषूपायेषु तथाकथितं **भाषाविज्ञान**-मप्येकतमं वर्तते। इदं बहुदोषदूषितं भाषाविज्ञाननाम्ना प्रसारितमसिद्धम्, अत एव चा-

---

१. अयं लेखः पुरा **'आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्वविवेचनम्'** इति नाम्ना वेदवाण्यां वर्ष १४, अङ्क १,२, ४, ५, ६ (क्रमशः वि० २०१८, कार्तिक, मार्गशीर्ष, माघ, फाल्गुन; वि० २०१९, चैत्र) मुद्रितमभूत्।

२. द्रष्टव्यः—पं० भगवद्दत्तकृतस्य 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' ग्रन्थस्य 'भारतीय इतिहास, संसार-इतिहास की तालिका' नामा दशमोऽध्यायः।

३. द्रष्टव्यः—'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' ग्रन्थस्य 'भारतीय इतिहास की विकृति के कारण' नामा तृतीयोऽध्यायः। तथा 'वेस्टर्न इण्डोलोजिस्ट' नामा पं० भगवद्दत्तकृतो लघुग्रन्थः।

वैज्ञानिकं[1] मतं सिद्धवत् प्रमाणीकृत्य संस्कृतभाषायाः सर्वप्राथम्यमपि महताऽऽडम्बरेण निराकृतम्। अस्तु। न तस्यात्र विचारावसरः।

भारतीयानां सहयोगः—पाश्चात्यविदुषां त्वयं कलुषितः प्रयत्नः कथमपि बुद्धिपथमवतरति, परन्त्वाश्चर्यस्य त्वयं विषयो यद् अत्रत्या अपि स्वं भाषाशास्त्रज्ञं मन्यमाना विपश्चितोऽपरीक्षितकारकाः सन्तीऽन्धेनैव नीयमानास्तादृशमेव जल्पन्ति।

मानवानामादिभाषा—का नाम मानवानामादिभाषाऽभूद् इत्यत्र सत्यमैतिह्यप्रमाणं परिहाप्याकाण्डकल्पना उद्भावयन्तस्तत्र च पारमनाश्रयन्तो नवीना यूरोपीया भाषाविज्ञानविदो भाषाविज्ञानेन सहास्य प्रश्नस्य संबन्धमेव परिजिहीर्षन्ति। वस्तुत आदिभाषाया अपरिज्ञानेऽखिलमपि भाषाविज्ञानं सैकतप्रासादवन्निरर्थकमेव भवति।

भारतीयं मतम्—भारतेतिहासस्याविच्छिन्नपरम्परया एतत्सुनिश्चितं यद् 'दैवी वाग्' एव संसारस्याऽऽदिमा लोकभाषाऽऽसीत्। सा चादिमा लोकभाषा वेदपदैरेव समुपबृंहिताऽभूदिति भगवान् स्वायम्भुवो मनुर्विस्पष्टमुद्घोषयाञ्चकार। तथाहि—

> सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
> वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे[2]॥ इति॥

अस्यां च वेदपदैः समुपबृंहितायामादिभाषायां सर्वेषामपि वैदिकपदानामन्तर्भाव आसीत्[3] (इमानि वैदिकानि पदानीमानि च लौकिकानीत्यौत्तरकालिका कल्पना)।

आदिभाषाया नामानि—येयं खलु सर्गारम्भे वेदपदैः समुपबृंहिता भाषा लोके प्रवृत्ता, सा संस्कृतवाङ्मये आदिभाषा, अतिभाषा, देववाणी, मानुषीवाक्, आर्यवाग् इत्येवं बहुविधैः पदैः स्मर्यते। एभिरन्वर्थनामधेयैरस्या भाषायाः प्राचीनमैतिह्यमपि कुक्षीकृत वर्तते।

---

१. पाश्चात्यभाषाविज्ञानस्य समालोचनायै भगवद्दत्तकृतः 'भाषा का इतिहास' नामा ग्रन्थो विशेषतो दर्शनार्हः (सं० २०१४ वर्षे प्रकाशितं परिबृंहितं संस्करणम्)।

२. मनुस्मृतिः १।२१॥ अस्मिञ्छ्लोके कर्मपदम् अर्थवाचकम्, संस्थापदं च नामाख्यातयो रूपरचनाविशेषवाचकं वर्तते। लोकप्रयोगाय समुपबृंहितायां भाषायां शब्दरचनाविशेषोऽर्थविशेषश्च वेदशब्दैरेव निर्धारित इति भावः। द्रष्टव्योऽस्मदीयः 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' नामा ग्रन्थः, भाग १, पृष्ठ २।

३. द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३-५।

आदिभाषायाः समृद्धिः—अस्यामेव भाषायामादिदेवेन ब्रह्मणा सर्वविद्यानामाकररूपा महाविशाला आगमग्रन्था निबद्धाः। अस्यामेव च सप्तर्षिभिः स्वायम्भुवमनुप्रभृतिभिश्च परमर्षिभिः विविधा ग्रन्थाः संकलिताः। तदेवं सर्वविद्यानां पारिभाषिकैः साधारणैश्च बहुविधैः पदैरियं भाषा सर्गादावेव परिपूर्णतामभजत्। तदानीं प्रत्येकं पदं सूक्ष्मार्थभेदमिन्नं बभूव[1]। अर्थात् तदानीं प्रायेण सदृशार्थेष्वपि सूक्ष्मार्थभेदोपग्रहात् पर्यायत्वं नासीत्। इत्थमियमादिभाषा पदसमृद्धया सूक्ष्मार्थदृष्ट्या च परमविशालतामभजत्।

आदिभाषाया ह्रासः—तदेवं कृतयुगस्योत्तरार्धे मानवानां मेधाह्रासात् प्रायेण सदृशार्थेष्वपि पदेषु विद्यमानः सूक्ष्मार्थभेदः प्रथमं तिरोबभूव, तेन सूक्ष्मदृष्ट्यायार्थभिन्नाः शब्दाः पर्यायत्वं भेजिरे। तदनु कृतयुगावसाने मानवानां धारणाशक्तिवैकल्यात् पर्यायभावं प्राप्तेषु बहुषु शब्देष्वेकैकं पदं देशजातिप्रस्थानभेदैर्नियतविषयत्वमाप।[2] तदुत्तरं च दर्पालस्यादिदोषाणामतिरेकाद् देशकालाहारजनितकरणदौर्बल्याच्च म्लेच्छन्ती,[3] उत्तरोत्तरं ह्रसन्ती चेयं वाग् अतिशयं संकोचं प्राप।[4] पाणिनिसमये त्वियमतिशयं संकुचिताऽपि संस्कृतभाषाऽऽर्यावर्त एव निबद्धतनूरभवत्।

पाणिनीयं व्याकरणम्—यदिदं पाणिनीयं व्याकरणमुपलभ्यते तत् स्वसामयिकाया एवातिसंकुचिताया देववाण्या वर्तते। तत्रापि चेदं व्याकरणमुत्तरोत्तरं संक्षिप्यमानानां आर्षाणां तन्त्राणां संक्षिप्ततमं संस्करणं प्रवचनं वा वर्तते। तदुक्तं महाभारतव्याख्यात्रा देवबोधेन—

> यान्युज्जहार माहेन्द्राद्[5] व्यासो व्याकरणार्णवात्।
> पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥ इति

---

१. अन्याव्यश्च अनेकशब्दत्वम्। मीमांसा १।३।२६॥

२. अत्र 'सर्वे देशान्तरे' इति वार्तिकस्य 'सप्तद्वीपा वसुमती' इत्यारभ्य 'यत्रानश्चक्रा जरसं तनूनाम्' इत्यन्तं पातञ्जलं व्याख्यानम्, 'अथापि प्रकृतय एवैकेषु' (२।२) इति यास्कीयं निरुक्तवचनमनुसन्धेयम्।

३. देववाण्या म्लेच्छीभावे विविधानि कारणानि 'भाषा का इतिहास' (द्वि० संस्क०) ग्रन्थे (पृष्ठ ४८–५६) द्रष्टव्यानि।

४. आदिभाषाऽतिभाषा वा कीदृशी विशालाऽऽसीत्, कथं च तस्या उत्तरोत्तरं संकोचोऽभूदिति निदर्शनाय 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थस्य प्रथमोऽध्यायः, 'भाषा का इतिहास' इत्यस्य दशमं व्याख्यानं च (द्वि० संस्करणे) द्रष्टव्यम्।

५. 'माहेशाद्' पाठान्तरम्।

अपि चेदं पाणिनीयमपि व्याकरणं यथेदानीन्तनैर्लक्षणैकचक्षुर्भिर्वैयाकरणैर्व्याख्यायते, तथा तद्वाख्यानमर्धजरतीयन्यायं[1] प्राप्य न पाणिनिप्रयुक्तानामपि पदानां साध्वसाधुव्यवस्थापरिज्ञानायालं भवति[2]।

आदिभाषास्वरूपपरिज्ञानसाधनानि—एभिः पूर्वप्रदर्शितैः कारणैरतिविशालाया आदिभाषायाः साकल्येन स्वरूपपरिज्ञानाय न प्रभवत्यत्युत्तरकालं प्रोच्यमानं पाणिनीयं व्याकरणं, तत्प्रभावपरतन्त्रितं च वाङ्मयम्। तदर्थं पाणिनेरुत्तरकालिकाः क्वचित् तत्प्रभावविरहिताः केचन भासादीनां ग्रन्थाः पाणिनेः प्राक्कालिका रामायणमहाभारतादिकाव्यग्रन्था वेदाङ्गोपाङ्गोपवेदादिविद्यास्थानानामार्षग्रन्था विशेषत उपकुर्वन्ति। प्राचीनतरदेववाण्या एव अपभ्रंशत्वं गताः पालिप्राकृतादिभाषा अप्यत्र महत्साहाय्यमादधति।

यद्यप्युपर्युक्तेष्वार्षग्रन्थेषु पाणिनिप्रभावपरिभूतैरुत्तरकालिकैर्लेखकैर्बहून् प्राचीनान् प्रयोगान् परिवर्त्य तत्स्थाने पाणिन्यनुमताः प्रयोगा निवेशिताः, तथापि बहुतरां प्राचीनाः प्रयोगा एष्वद्याप्युपलभ्यन्ते, परिवर्तनं प्राप्ता अपि बहवः प्राचीनाः प्रयोगा एषां प्राचीनटीकाग्रन्थेषु सुरक्षिता वर्तन्ते।

आदिभाषाया वैशिष्ट्यम्—पाणिनिप्रभावपरतन्त्राया देववाण्या अपेक्षया पाणिनेः प्राक्कालिका देववाणी बह्वधिकरणेषु वैशिष्ट्यमावहति स्म। प्रत्यधिकरणवैशिष्ट्यनिदर्शनाय कानिचिदुदाहरणानि[3] निर्देक्ष्यामः। तद्यथा—

१. स्वल्पभेदभिन्नानां विविधानां पदानां सद्भावः—

आदिभाषायां समानार्थकानां[4] स्वल्पभेदभिन्नानां बहुविधानां शब्दानां बाहुल्यमासीत्। उत्तरकाले तेष्वेक एवावशिष्टः अन्येऽदर्शतां गताः। यथा—

---

१. तद्यथा—अर्धं जरत्याः कामयते, अर्धं न। महाभाष्य ४।१।७८॥

२. आधुनिकवैयाकरणाः शोभासर्थनामादिशब्दानां पाणिनेः प्रयोगसामर्थ्यात् साधुत्वमातिष्ठन्ते, 'वृद्धिरादैच्', 'अन्वच्यानुलोम्ये' इत्यादीनां पाणिनिप्रयुक्तानामेव 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' 'सौत्रोऽयं निर्देशः' इत्यादिवचनैरसाधुत्वं प्रयोगानर्हत्वं वा प्रतिजानते। एकस्यैवाचार्यस्य समानप्रयोगेष्वेकं पदं प्रयोगार्हं स्वीक्रियते अपरं चाप्रयोगार्हमित्यत्र न किञ्चिन्मानम्।

३. इमान्युदाहरणानि 'भाषा का इतिहास' ग्रन्थेऽप्युद्धियन्ते। तेषु बहून्यस्मत्संगृहीतान्येव सन्ति।

४. सूक्ष्मार्थभेदतिरोभूते सति।

अवशिष्टः	प्राचीनः	प्राचीनप्रयोगस्थानम्
पुरुष[1]	पूरुष[2]	मनु ८।४३,८४॥ बहुत्रायं प्रयुज्यते।
उपनयेत्	उपनाययेत्[3]	मनु ११।१६१॥
उपनयन	उपनायन[4]	मनु २।३६ तथा याज्ञवल्क्य स्मृति १।४॥ वीरमित्रोदये संस्कार प्र० पृ० ३३६ उद्धृतः।
स्वरवर्णकर	स्वरवर्णकार	पाणि० शिक्षासूत्र तथा आपिशली शिक्षा प्र० ५।
शिक्षा	शीक्षा	तैत्ति० उपनि० १।१।२॥
शिरस्	शीर्ष	विष्णुधर्मोत्तरे। वीरमित्रो० लक्षण प्र० पृ० २२३ उद्धृतः। अष्टा० ३।२।५१ स्मृतः।
	शीर्षन्	शीर्षण्य-आदिषु प्रयोगेषु।
मूर्छा	मूर्च्छाय	चरक,सूत्र० १६।३,४ इत्यादिषु।
स्वसृ	स्वसा (आकारान्त)	वायुपुराण ६६।२१२॥
योषित्	योषिता[5]	महा० द्रोण० २६।४२॥
	योषा	,, शान्ति० १६७।३८॥
	योषितायाम्	मुण्डक २।१।५॥
	योषणे[6]	माध्य० २७।१५॥

१. अत्र प्रकरणे प्रातिपदिकमात्रस्य निर्देशः क्रियते।

२. पूरुषादयो दीर्घोपदेशा एव संज्ञाशब्दा इति भागवृत्तिकारः। द्र०—अस्मदीयं 'भागवृत्तिसंकलनम्' ६।३।१३७॥

३. उपपूर्वान्नयतेः स्वार्थे णिच्।

४. पूर्ववत् स्वार्थे णिजन्तात् ल्युट्।

५. 'योषिता' इति मराठीभाषायामपि प्रयुज्यते।

६. प्रथमाद्विवचने।

विद्युत्	विद्युत (अकारान्त)	महा० अनु० १६०।३६॥
ब्रह्मन्	ब्रह्म (अकारान्त)	महा० वन० २३२।११॥ शान्ति० २६३।२०॥
राजन्	राज ,,	महा० आदि० ६४।४४॥
द्यूत	दयूत ,,	,, सभा० ५८।८॥
	दयू	,, ,, ६०।५॥
त्रि	त्रय	माध्य० सं० १२।१६; २०।२१॥ हैमोणादि ३६७। उणादिवृत्ति २।१३२ स्वा० दयानन्द।
पत्नी	पत्नि (ह्रस्वान्त)	वायुपुराण ५४।२॥
स्वसृ	स्वसा[1] (दीर्घान्तः)	महाभारततात्पर्यनिर्णये मध्वाचार्याः 'पितृष्वसायाः पतिना'। अ० १६, श्लो० २८॥

२. नाम्नां लिङ्गभेदः—सम्प्रति साधुत्वेनाभ्युपगतालिङ्गात् लिङ्गान्तरं प्राचीनभाषायामुपलभ्यते। तद्यथा—

साम्प्रतिकम्	प्राचीनम्	प्रयोगस्थाननिर्देशः
अनुमानम्	अनुमानः (पुं०)	महाभाष्य २।१।१॥
संबन्धः	संबन्धम्	महाभाष्य १।१।१॥
होत्रे	होत्रायाम्	बृहद्देवता १।६५॥
अमित्रः	अमित्रम्	अर्थशास्त्र ७।६॥
उपवासः	उपवासम्	वामनपुराण १६।४७॥
चर्चा	चर्चः	योगभाष्य ४।८॥
मधुमांसे	मधुमांसौ	चरकशाखापाठ-बालक्रीडा० १।३२ उद्धृत।
लक्षणम्	लक्षणः	वामनपुराण ५।६०॥
तर्कण	तर्कया	महा० शान्ति ३३४।५॥
प्रमाणे	प्रमाणायाम्	शाबरभाष्यमीमांसा १।३।३॥
गोदावरीवारीणि	गोदावरीवारयः	उत्तररामचरित २।३०॥

---

१. सृ गताविति्यस्मादौणादिकः 'डा' प्रत्ययः। स्वेन सह निस्सृता स्वसा=सहोदरी।

३. **नाम्नां वचनभेदः**—नित्यबहुवचनान्तत्वेन स्वीकृताः केचन शब्दा एकवचनेऽप्युपलभ्यन्ते। तद्यथा—

दाराभिः	दारेण	बृहदारण्यक ६।४।१२॥
दारासु	आचार्यदारे	आप० धर्म० १।२।७।२७॥
	दारे	तन्त्राख्यायिका पृष्ठ ६७, श्लोक १५८॥
सिकताः	सिकता	महाभाष्य भाग १ आह्निक २।
अप्सरसः	अप्सराः	अमरटीका १।१।५१॥ क्षीरस्वामी।

४. **नाम्नां रूपभेदः**—येषां नाम्नां यथाविधं रूपमाधुनिकैः स्वीक्रियते ततोऽन्यथारूपमपि प्राचीनभाषायामुपलभ्यते। यथा—

साधुमतम्	प्राचीनम्	प्रयोगस्थाननिर्देशः
अष्टगोनाम्	अष्टागवाम्	महा० कर्ण० ६७।६॥
गाम्	गावम्	वायुपुराण ८६।१॥
अहनि अह्नि	अह्रे[1]	तन्त्राख्यायिका २।१३६॥
पत्या	पतिना[2]	वामनपुराण १७।६०॥
पत्याम्	पतौ	पराशरस्मृति
त्रयाणाम्	त्रीणाम्	वेदेषु बहुत्र, तुलनीयं प्राकृतेन—तिण्हम्, हिंदी—तीन्हों।
तैः	तेभिः	बौधा० धर्म० १६।२२॥
अन्यतमे	अन्यतमस्मिन्[3]	अर्थशास्त्र अधि० ७, अ० ४। आपि० शिक्षा पा० शिक्षा प्रकरण ८

---

१. 'अह' अकारान्तम्, अयमेव पञ्चाहः सप्ताह इत्यत्र टचि टिलोपं विधाय निष्पाद्यते।

२. असाधव एवैते। पदमञ्जरी १।४।६॥

३. भट्टोजिदीक्षितेन अन्यतमस्य सर्वनामसंज्ञा निवारिता। द्र०—शब्दकौस्तुभ १।१।२७। सि० कौ० १।१।२७॥

अन्यतमात्	अन्यतमस्मात्	शाबरभाष्य १।१।२४,६।८।
अन्यतमाय	अन्यतमस्मै	,, ,, १।४।११॥
द्वयानाम्	द्वयेषाम्[1]	माघ १२।१३॥

५. **धातूनामाधिक्यम्**—अतिभाषायां शब्दानामाधिक्ये सति धातूनामाधिक्यं स्वत एव प्राप्तम्। तेषु बहूनां धातूनामुत्तरकाले लोपो बभूव। यथा—

सिंह (सिंहि) हिंसायाम् काशकृत्स्नधातुपाठ पृष्ठ ६६।

दुण्ढ (दुढि) अन्वेषणे	,, ,, काशीखण्ड[2]।	,, ३४। स्कन्द-पुराण हिन्दी—ढूंढना।
गृभ	निरुक्त १०।२३॥	
छन्द (छदि)	दैवत ब्रा० १।३॥	अमरक्षीरटीका २।७।२२; ३।३।२३२॥
माव्य	वायुपुराण ६४।१७॥	
बल (ज्वलने)	शतपथ २।६।२।११ बल्बलीति। तुलना कार्या—हिन्दी 'बलना' क्रिया।	
मिष (भेषति)	चरकविमान ८।८७॥	
बध (बधति)	वैशेषिक १।१।१२॥	

इदमप्यवधेयम्—पाणिनितः प्राचीने काशकृत्स्नधातुपाठे पाणिनीयधातुपाठापेक्षया सार्धचतुःशतं धातवोऽधिका उपलभ्यन्ते।

६. **धात्वादेशरूपाणां सम्प्रसारणादिवर्णादेशरूपाणां च धातूनां स्वतन्त्रा सत्ता**—पाणिनिना ये धातवो धात्वादेशरूपेण प्रत्ययविशेषेषु स्मर्यन्ते, यद्वा सम्प्रसारणकार्यं विधाय धात्वन्तररूपाणि संपाद्यन्ते यद्वाऽन्यद्वर्णादेशं विधाय रूपान्तराण्युपदिश्यन्ते, तादृशानां धातूनां प्राचीनभाषायां स्वातन्त्र्येण प्रयोगा उपलभ्यन्ते। तथा हि—

(क) सार्वधातुकप्रत्ययेष्वेव विधीयमानानां धातूनामार्धधातुकप्रत्ययेषु प्रयोगाः—

संघातविधमनः	चरकसूत्र २६।४० (३)।

---

१. चाक्रवर्मणाचार्यस्य मते द्वयस्य सर्वनामसंज्ञा भवति स्म। द्र०—शब्दकौस्तुभ १।१।२७॥

२. अन्वेषणे दुण्ढिरयं प्रथितोऽस्ति धातुः।

धम्यमानः	महा० कर्ण० ८।८॥
धमति	निरु० १०।३१॥[1]
धमिष्यामि	रामा० किष्किन्धा ६७।२२॥ क्षीरतरङ्गिणी १।६५६।
विधम्य	महा० कर्ण १४।३५॥
अभिजिघ्राणम्	तन्त्रवार्तिक १।३।८ उद्धृतो गृह्यपाठः।
ब्रवणात्	तन्त्रवार्तिके (१।३।१८) उद्धृतो निरुक्तपाठः (६।६)। इदानीं परिवृत्तः पाठ उपलभ्यते।

(ख) आर्धधातुकेष्वेव प्रयुज्यमानानां सार्वधातुकेषु प्रयोगाः—

घ्राति	महा० शान्ति १८७।१७॥ उणादि ५।५६॥
दृश्यति	महा० शान्ति ३२१।१०॥
श्रवति	वेदेषु बहुत्र। काशकृत्स्न धातु० टीका पृष्ठ ७५॥

(ग) यत्र सम्प्रसारणमुक्तं ततोऽन्यत्र सम्प्रसारणरूपाणां प्रयोगः—

यज—इज[2]—इज्यन्ति (इयनि) महा० शान्ति २६३।२६॥
वस—उष—उषतीम् ,, ,, २६६।८॥

(घ) यत्र सम्प्रसारणमुक्तं तत्रासंप्रसारणरूपाणां प्रयोगः—

बस (क्ते-उष)—अनुवसितम् अर्थशास्त्र ३।१६॥

(ङ) अस्थाने छकारादेशः[3]—दातृप्रतीच्छकौ, मनु ४।१६४॥
छकारविषये तदभावः[3]—संयमते, महा० स्त्री० ७।१५॥
अस्थाने दीर्घत्वम्—अपक्रान्तव्यम्[4] अर्थशास्त्र १२।३॥ निजग्राहतुः,[5] महा० वन १३२।४॥

---

१. मधु धमतेर्विपरीतस्य।

२. भिन्नाविजियजौ धातू नियतौ विषयान्तरे। कैश्चित् कथंचिदुपदिष्टौ, विचित्रं हि प्रतिपादनम्। वाक्यपदीय २।१७६॥ तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। निरुक्त २।२॥

३. इषुगमियमां छः (अष्टा० ७।३।७७) शिति प्रत्यये।

४. क्रमः परस्मैपदेषु (अष्टा० ७।३।७६) दीर्घत्वम्, क्रामति।

५. ग्रह—ग्राहकः—अत उपधायाः (अष्टा० ७।२।११६) उपधावृद्धिः।

७. गणव्यवस्थाभेदः—पाणिनिना यो धातुर्यस्मिन् गणे पठितस्तस्य धातोरन्य-गणविकरणाः श्रूयन्ते । तद्यथा—

पाणिनीयं रूपम्	प्राचीनं रूपम्	प्रयोगस्थाननिर्देशः
विरुन्धन्ति	विरुध्यन्ति	महा० उद्योग १२७।१०
पचन्ति	पच्यन्ति	,, ,, १०९।१४
शृणोति	श्रूयन्ति	,, ,, .
	श्रवति	काश० धातु० कन्नड टीका पृष्ठ ७५।
आप्नुयुः	आपुयुः	महा० शान्ति० २१४।२४॥
लुनाति	लुनोति	आप० श्रौत १।४।४।२॥
ध्यायामि	ध्यामि	महा० उद्योग १७५।१६
ग्लायति	ग्लाति	,, वन० २०७।२९॥
घ्नन्	हनन्	ब्रह्मवैवर्तपुराण वीरमित्रो० मक्तिप्र० पृष्ठ ४५, उद्धृतः ।
अहन्	अहनन्	महा० सौ० ८।५६
	न्यहनन्	,, भीष्म ७२।३२, ८२।४७॥

८. उपग्रह[४] (पद) व्यवस्थाभेदः—पाणिनिना ये धातव आत्मनेपदिनः पठितास्तेषां परस्मैपदे, परस्मैपदिनां चात्मनेपदे, क्वचिदुभयोरुभयपदे रूपाण्युपलभ्यन्ते । यथा—

आत्मनेपदिनां परस्मैपदे—

पा० स्वीकृतम्	प्राचीनम्	प्रयोगस्थाननिर्देशः
अयाचत	अयाचत्	रामा० बाल० १।३५॥
याचेत	याचेत्	महा० आदि ३।१८॥
सहते	सहति	,, भीष्म १२१।३२॥ शान्ति ८७।२१॥
एधन्ते	एधन्ति	,, वन २४६।२२॥
युध्यते	युध्यति	,, शान्ति ९७।१७॥
रोरूयन्ते	रोरूयन्ति	,, शल्य ५०।६०॥

---

४. डाक्टर वासुदेवशरणाग्रवालेन ३।२।१२७ सूत्रवार्तिकव्याख्यानस्य कैयटाभिप्रायमबुद्ध्वा उपग्रहस्यात्मनेपद इत्येवार्थो गृहीतः, स चिन्त्यः । द्र०—पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ३३६ ।

परस्मैपदिन आत्मनेपदे—

इच्छसि	इच्छसे	महा० विराट् ३३।५६॥
		,, कर्ण ५६।६॥
भव	भवस्व	,, कर्ण ३५।४४॥
भवेम	भवेमहि	,, वन ३१५।८॥
जेष्यामः	जेष्यामहे	,, ,, ३१५।२६॥
गच्छेः	गच्छेथाः	,, आश्व० ६।२६॥ अनु० ५३।६४॥
पश्य	पश्यस्व	,, ,, १०।१६॥
अजिघ्रन्	अजिघ्रन्त	,, अनु० ५०।१०॥

अन्यतरपदिन उभयपदित्वे पाठः—काशकृत्स्ने धातुपाठे तादृशा उभयपदिनो बहवो धातव उपलभ्यन्ते ये पाणिनिना परस्मैपदिन आत्मनेपदिनो वा पठिताः। यथा—

परस्मैपदिनो वद-वस-दुओश्विप्रभृतय उभयपदिषु पठिताः (पृष्ठ १६१ द्र०)।

९. **सेडनिड्व्यवस्थाभेदः**—यथा सेड्विदधातोः 'वेत्ता' महा० भीष्म ३।६०; १२०।४३॥ 'वेत्स्यति' महा० भीष्म० २।११॥ सेड्वसः—'उष्ट्वा' महा० वन० ८२।३५॥

१०. **धातूपसर्गप्रयोगव्यवस्थाभेदः**—उपसर्गाः धातुतोऽव्यवहिता प्रागेव प्रयोक्तव्या इति पाणिनेर्मतम्, परमतिभाषायां नासीत्तादृशो कठोरो नियमः। यथा—

तदेषामि यज्ञगाथा गीयते। ऐत० ब्रा० ८।२१॥

अधि विश्वे विषक्ताः। महा० आदि ३।६२॥

अति मां नन्दयत्येव। महा० द्रोण ४८।३२॥

सर्वाण्यति च सैन्यानि भारद्वाजो व्यरोचयत्। महा० द्रोण २३।८१॥

पश्यामस्त्रीषु लोकेषु न तं सं स्थास्नुचारिषु। महा० द्रोण १०।६८॥

११. **आर्षः प्रयोगेऽनुप्रयुज्यमानानां चकारादीनामव्यवस्था**—महाकविना कालिदासेनाप्ययं प्राचीनानामृजुः पन्थाः समादृतो बहुत्र। यथा—तम्पातयां प्रथममास, प्रभ्रंशायां यो नहुषं चकार।

१२. **कृत्तद्धितप्रत्ययानामाधिक्यम्**—पाणिनिना अष्टाध्याय्यां यावन्तः कृत्प्रत्ययास्तद्धितप्रत्यया वा संगृहीतास्ततोऽत्यधिकप्रत्ययान्ताः प्रयोगाणाम् अतिभाषायां प्रयु-

ज्यन्ते स्म, अत एव प्राचीनव्याकरणेषु तेषां विधानमप्युपलभ्यते। यथा—

कृत्संज्ञकाः—कशधातोर्यप इपुश्च—कश्यपः, कशिपुः[1]। पुल्यस्तिभ्यां धातुभ्यां यथासंख्यमस्तिः, अस्त्यश्च—पुलस्तिः, अगस्त्यः।[2]

तद्धितसंज्ञकाः—पाणिनिना विदितार्थे लोकशब्दात् ठञेव विहितः।[3] प्राचीन-भाषायां तु यक्यतावपि प्रत्ययौ दृश्येते। यथा—

यक्—लौक्यम्—महा० आश्रम० ११।३८॥ चरक विमानस्थान।

लौक्यानाम्—बृहद्देवता १।४॥

यत्—लोक्यः—आश्व० गृह्य ४।१०।३१॥

लोक्यम्—महा० शान्ति० ५४।१६(दाक्षि०)।

लोक्यानाम्—जातकमाला ३१।१॥

विधार्थे पाणिनिना केवलो धा प्रत्यय एव निर्दिष्टः,[4] चरके तु विधार्थकथा-प्रत्ययोऽप्युपलभ्यते। यथा—

इक्षुकाण्डेक्षिवक्षुबालिकापुण्ड्रकचतुर्थाः काण्डासवा भवन्ति। सूत्रस्थान २५।४७॥ एवमुत्तरत्रापि।

१३. **व्यवस्थितविषयत्वेन मतानां कृतद्धितप्रत्ययानामव्यवस्थया प्रयोगः**—पाणिनिना क्यप्यत्ण्यत्प्रत्यया महता सूत्रप्रपञ्चेन व्यवस्थितधातुभ्यो विहिताः। परन्तु काशकृत्स्नधातुपाठस्य कन्नडटीकायां यथारूपाण्युदाह्रियन्ते तथैतेषां सामान्येन विधानमवगम्यते। तद्यथा—

द्युत—द्युत्यम् (क्यप्) दौत्यम् (ण्यत्)। पृष्ठ १३०॥

रुच्—रौच्यम् (ण्यत्)। पृष्ठ १३०॥

मिद—मेद्यम् (यत्) मैद्यम् (ण्यत्)। पृष्ठ १३१॥

घुट—घुट्यम् (क्यप्) घौट्यम् (ण्यत्)। पृष्ठ १३१॥

रुट—रुट्यम् (क्यप्) रौट्यम् (ण्यत्)। पृष्ठ १३१॥

एवं संख्यापूरणार्थकानामपि म-तम-थादीनां पाणिनिना व्यवस्थया विधानं

---

१. कशेर्यप इपुश्च। काश० धातु० कन्नडटीकायामुद्धृतः, पृष्ठ ७६।

२. पुल्यस्तिभ्यामस्त्योऽस्तिश्च। स एव, पृष्ठ ८६॥

३. लोकसर्वलोकाट्ठञ्। अष्टा० ५।१।४४॥

४. संख्याया विधार्थे धा। अष्टा० ५।३।४२॥

निर्दिशतम् (द्र०—अष्टा० ५।२।४८–५७)। परन्तु प्राचीनगीर्वाण्यामेतेषां सामान्येन प्रयोगा उपलभ्यन्ते। यथा—

पाणिनीयम्	प्राचीनम्		प्रयोगस्थानम्	
चतुर्विंशतितमः	चतुर्विंशतिमः		वायुपुराण २१।५५॥	
विंशतितमः	विंशतिमः		नारद मनु०, याज्ञ० व्यवहार १५६ मिताक्षरायामुद्धृतः।	
पञ्चमः	पञ्चथः	वैदिकग्रन्थेषु[1]	आङ्गलभाषायाम्	फिफ्थ
सप्तमः	सप्तथः	,,	,,	सेवन्थ
अष्टमः	अष्टथः	,,	,,	एट्थ
नवमः	नवथः	,,	,,	नाइन्थ
दशमः	दशथः	,,	,,	टैन्थ

इदमत्रावधेयम्—साम्प्रतिकसंस्कृतभाषायां तु थमप्रत्यययोः सांकर्यं दृश्यते—चतुर्थः, षष्ठः, पञ्चमः, सप्तमः। आङ्गलभाषायामतिभाषावत् थान्ता एव प्रयोगा उपलभ्यन्ते। लैटिनभाषायां तु साम्प्रतिकसंस्कृतवत् थमयोः साङ्कर्यमेवास्ति—क्वार्टो (चतुर्थः) क्विण्टो (पञ्चमः) सैक्स्टो (षष्ठः) सेप्टिमो (सप्तमः) डैसिमो (दशमः)। अत्र पञ्चम इत्यत्र थ एव प्रत्यय इति विशेषो बोध्यः।[2]

१४. **समासव्यवस्थाभेदः**—भगवता पाणिनिना समासविषयिका या या व्यवस्था यथा यथा विहिता ततोऽन्यत्रापि तत्तत् कार्यं प्राचीनातिभाषासूपलभ्यते। यथा—

(क) प्रतिषेधविषये समासः। यथा—

वृत्रहन्ता। महा० शान्ति २२८।८६॥ वन १७६।१॥

बलहन्तुः। महा० अनु० १६०।३६॥

जनिकर्तुः प्रकृतिः। अष्टा० १।४।३०॥

तत्प्रयोजको हेतुश्च। ,, १।४।५५॥

दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्। वार्तिक १।२।१०॥

एषु 'तृजकाभ्यां कर्तरि' 'कर्तरि च[3]' इति वा समासप्रतिषेधः प्राप्नोति। भामहेनालंकारशास्त्रे (६।३६,३७) 'वृत्रहन्ता' पदप्रयोगस्यासाधुत्वमुपपादितम्। सूत्र-

---

१. थट् च छन्दसि। अष्टा० ५।२।५०॥ तदीयं भाष्यं च। पञ्चथा, काठक ६।३॥ सप्तथी, काठक १३।६॥

२. द्रष्टव्यः—'भाषा का इतिहास' पृष्ठ १८७ (द्वि० संस्करण)।

३. अष्टा० २।२।१५,१६॥ अनयोर्वृत्तौ विवदन्ते वैयाकरणा इत्यत उभे अपि सूत्रे निर्दिष्टे।

वार्तिकप्रयोगाणां कुमारिलभट्टस्तन्त्रवार्तिके (१।३।२४ पूना सं० पृष्ठ २६०) असाधुत्वमुक्तवान् ।

(ख) विभक्तिलोपे प्राप्ते तदभावः । यथा—

अविरविकन्यायेन । महाभाष्य ४।१।८८; ४।२।६० इत्यादि ।

अत्रान्तर्वर्तिन्या विभक्तेर्लोपे कर्तव्ये तदभावः प्रयुक्तः । कुमारिलभट्टेन तन्त्रवार्तिकेऽस्यासाधुत्वमुपपादितम् (१।३।२४)

(ग) लिङ्गभेदः—वार्तिककारेणाकारान्तोत्तरपदस्य द्विगोः स्त्रीत्वं विहितम् (२।१।५१) । तस्मात् स्त्रीत्वे प्राप्ते तदभावो यथा—

षण्मासान्[1] । महा० स्त्री० २०।२६॥ शान्ति० २४०।३२॥ सौप्तिक २०।२६॥
षण्मासाण्यच्च[2] । अष्टा० ५।१।८२॥

(घ) प्रतिषेधविषये पुंवद्भावः—यत्र पाणिनिना साक्षात् पुंवद्भावप्रतिषेध उक्तस्तत्रापि क्वचित् पुंवद्भावो दृश्यते । तद्यथा—

दृढभक्तिः । महा० शान्ति० ६७।३६॥६८।५८ इत्यादिषु ।

अत्र भक्तिपदस्य प्रियादिषु पाठात् 'अपूरणीप्रियादिषु' (६।३।३४) इति पुंवद्भावस्य प्रतिषेधः प्राप्नोति । न्यासकारहरदत्तौ तु पूर्वपदस्य स्त्रीत्वाविवक्षया पुंल्लिङ्गेन नपुंसकेन वा समासमाहतुः । श्रीभोजराजेन तु दृढभक्तिस्थिरभक्तीत्यादिषु पुंवद्भावदर्शनात् प्रियादिगणाद् भक्तिपदमपकृष्य **'भक्तौ च कर्मसाधनायाम्'** (६।२।४६) इत्यनेन कर्मसाधने भक्तिपदे प्रतिषेधं ब्रुवता भावसाधने भक्तिपदे पुंवद्भावः प्रदर्शितः ।

(ङ) पूर्वनिपाते प्राप्ते तदभावः । यथा—

हस्तदक्षिणम् । महा० शान्ति १८१।६॥

---

१. इमानार्षप्रयोगान् प्रमाणीकृत्य स्वामिदयानन्दसरस्वत्या स्वकीयसंस्कृतवाक्यप्रबोधे 'षण्मासानन्तरं दास्यामि' इत्यत्र षण्मासपदं प्रयुक्तम् । पण्डिताम्बिकादत्तव्यासेन 'अबोधनिवारणे' अस्यासाधुत्वं प्रत्यपादि । तदुत्तरे स्वामिदयानन्देन उपरिनिर्दिष्टं पाणिनिसूत्रमेव तस्य साधुत्वप्रतिपादनायोल्लिखितम् । द्र०—'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ २२३ ।

२. द्र०—प्रदीप १।३।२॥

अत्र 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन (२।२।३५) दक्षिणपदस्य पूर्वनिपातः प्राप्नोति। भगवता भाष्यकारेणापि प्राचीनशिष्टप्रयोगमनुकुर्वता 'अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो ग्रहीतव्यः' (१।३।२) इत्यत्र हस्तदक्षिणपदं प्रयुक्तम्। लक्षणैकचक्षुषो वैयाकरणास्तु भाष्यकारप्रयोगस्यासाधुत्वप्रख्यापनेऽसमर्था अगतिगत्या भाष्यकारप्रयोगसामर्थ्यात् साधुत्वमाहुः[1]।

१५. **प्रतीयमानः सन्धिभेदः**—प्राचीनगीर्वाण्यामेतादृशो बहवः प्रयोगा उपलभ्यन्ते। येषु दृश्यमानं सन्धिकार्यमलक्षणं प्रतिभाति। तेषां व्याख्यातारो वैयाकरणाश्च आर्षसन्धय इति वदन्ति। पाश्चात्यविद्वांसस्तु तत्र द्विःसंधिकार्यमाहुः। यथा—

साधुसंमतसन्धिः	प्राचीनसन्धिः	प्रयोगनिर्देशः
तपउपवास०	तपोपवास०	चरकसूत्र १।६॥
वयउपेताम्	वयोपेताम्	महा० शान्ति १६८।३३॥
तेजउद्भवम्	तेजोद्भवम्	,, ,, ३४२।२॥
ज्ञेय आत्मा	ज्ञेयोत्मा	,, अनु० १४१।१६८॥
गूढ आत्मा गूढात्मा	गूढोत्मा	,, शान्ति २५२।५॥ कठोप० १।३।१२॥
म आस्यम्	मेस्यम्	महा० शान्ति ३१८।७॥
समा आहूय	समाहूय	महा० उद्योग ५२।१०॥

एषां कथं साधुत्वमित्युपरिष्टाद् वक्ष्यामः।

१६. **वाक्यविन्यासभेदः**—यथा सम्प्रति विभक्तिवचनपुरुषादीनां विन्यासो वाक्ये साधुः स्वीक्रियते ततोऽन्यादृशो वाक्यविन्यासोऽतिभाषायामासीत्। तद्यथा—

(क) विभक्तिविन्यासो यथा—

सम्प्रतिसाधुमतः	प्राचीनः	प्रयोगस्थानम्
कस्माद्बिभ्यति	कस्य बिभ्यति	रामा० दाक्षि० बाल० १।५॥
भीष्मात् संत्रस्ताः	भीष्मस्य संत्रस्ताः	महा० कर्ण ६०।८१॥
उद्यद्दण्डादुद्विजते	उद्यद्दण्डस्योद्विजते	मनु० ७।१०३॥
अस्मै···दत्वा	अस्य···दत्त्वा	रामा० दाक्षि० बाल० १।३७॥

---

१. द्र०—प्रदीप १।३।२॥

ऋहल्भ्यां परः	ऋहलोः परः[1]	द्र० अष्टा० ३।१।१२४॥
एकादशिभ्यां परः	एकादशिनोः परः	ऋक्सर्वानु० उपो० ५।५॥
वनाद् वनं गत्वा	वनेन वनं गत्वा	रामा० दाक्षि० बाल० १।३०॥
		महा० आदि० १५६।१॥
कामात् जग्राह	कामाय जग्राह	,, वन १५४।२३॥
अन्नेन वर्धितम्	अन्नस्य वर्धितम्	मनु० ३।२२४॥
इषोरयुगपत्	इषावयुगपत्[2]	वैशेषिक ५।१।१६॥
नहुषं न्यवेदयत्	नहुषाय न्यवेदयत्	महा० अनु० ८५।२६॥
वायुं नमस्कृत्य[3]	वायवे नमस्कृत्य	चरकसूत्र १२।८॥

(ख) वचनविन्यासो यथा—

विराटद्रुपदौ···ययुः। महा० द्रोण १८६।३१॥

शालावृका·····विन्दति। महा० शान्ति १३३।८॥

तुलनीयम्—चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति[4] (ऋ० १।१६२।६)।

साम्प्रतिकानां मते कर्तृकर्तृवाच्यक्रिययोः कर्मकर्मवाच्यक्रिययोश्च समानवचनेन वाच्यम्।

(ग) पुरुषविन्यासो यथा—

वयं·····प्रतिपेदिरे। महा० शान्ति ३३६।३१॥

यूयं·····अपराध्येयुः। महा० वन २३६।१०॥

ददृशिरे वयम्। महा० शान्ति ३३६।३५॥

(घ) उपसर्गविन्यासभेदः पूर्वमुक्तः।

१७. **अर्थभेदः**—प्राचीनायामतिभाषायामेकं पदं प्रायेणानेकार्थमासीत्। तस्य स्वरप्रकरणादिना विशेषार्थविग्रहो भवति स्म। उत्तरकाले यथा पदानां ह्रासोऽभूत् तथा तदर्थानामपि ह्रासोऽभवत्। तद्यथा—

---

१. ऋहलोर्ण्यत् इत्यत्र पर इत्यनुवर्तते। पञ्चम्यर्थे षष्ठीति काशिकाकारादय आहुः।

२. इषाविति षष्ठ्यर्थे सप्तमीति, उपस्कारः।

३. द्र०—'मुनित्रयं नमस्कृत्य' सि० कौ० व्याख्यानम्।

४. अस्मिन् विषयेऽग्रे मुद्रयमाणः 'वेद में किसी प्रकार का व्यत्यय नहीं' लेखो द्रष्टव्यः।

शब्दः	साम्प्रतिकोऽर्थः	प्राचीनोऽर्थः	प्रयोगस्थानम्
घृतम्	आज्यम्	जलम्	महा० आदि १८।३५॥
क्षयः	नाशः	ऐश्वर्यम्	,, सभा २१।६॥
		गृहम्	महा० वन १६२।३२॥ बृहद्देवता ४।१२४॥
कार्मुकम्	धनुः[1]	कर्मणा प्रभवाणि द्रव्याणि	चरकसूत्र २६।११॥
भवनम्	गृहम्	क्षेत्रम्	महा० उद्योग ८४।१५॥ द्र० अष्टा० ५।२।१ भवने क्षेत्रे०।
कर्म	कारकं क्रिया वा	अर्थः	निरुक्त १।२,४ इत्यादिषु।

१८. **स्वरयोगः**—आदिलोकभाषा उदात्तादिस्वरैर्युक्ताऽऽसीत् स च स्वरप्रयोगः शैथिल्यं भजन्नपि पाणिनिकालं यावत् केनापि रूपेण भाषायां सुरक्षितमासीत्। एतच्च पाणिनेः प्रतिपदं यथावत्स्वरनिदर्शनाय प्रतिप्रत्ययमनुबन्धभेदकरणाद् विज्ञायते। सम्प्रति भाषायां स्वरयोगः सर्वथैव लुप्तः। अत एव लोकवेदयोः समानस्याप्यग्निशब्दस्य स्वरयोगायोगाभ्यां शब्दभेदं ब्रुवते मीमांसकाः।[2]

पूर्वनिर्दिशितप्रयोगाणामसाधुत्वम्—एभिरष्टादशभेदैरादिभाषा पाणिनिप्रभावनियन्त्रितात् सांप्रतिकसंस्कृतभाषातो वैशिष्ट्यमावहति। एष्वन्त्यौ द्वौ प्रकारौ विहायान्यप्रकारेषूद्धृतान् प्रयोगान् पाणिनीया वैयाकरणाः "छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' 'आर्षत्वात् साधु' 'सौत्रत्वात् साधु' इत्येवमादिभिरव्यक्तवचोभिरपशब्दा इमे इति प्रतिजानते। तथा च व्यक्तीकृतं हरदत्तमतं भट्टोजिदीक्षितेन—

अत्र हरदत्तः—छन्दोवत् कवयः कुर्वन्तीति। अस्यायमर्थः असाधव एवैते। शब्दकौस्तुभ १।४।७॥

स्वयं हरदत्तोऽप्याह—इतिहासपुराणेषु अपशब्दा अपि संभवन्ति। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७॥

---

१. द्र०—धनुषोऽन्यत्र न भवत्यनभिधानात्। काशिका ५।१।१०३॥

२. उदात्तादयः स्वरा नादिभाषायामुच्चारणधर्माण एवाभूवन् अपितु प्राचीनलोकभाषाग्रन्था अपि सस्वरा आसन्। स्वरविषयेऽस्मदीयः 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' नामा ग्रन्थो द्रष्टव्यः।

३. अग्निर्वृत्राणि जंघनदित्यन्यदिदं रूपं लौकिकादग्निशब्दात् (शाबरभाष्य मीमांसा १।३।१०) इत्यत्राह भट्टकुमारिलः—स्वरेण रूपभेदं मन्यते।

अपशब्दत्वप्रतिज्ञानसमीक्षा—इदं चाधुनिकानां लक्ष्यज्ञानविरहितानाँ लक्षणैकचक्षुष्काणामतिसाहसम्, यत्ते खल्वेकमाचार्यं प्रमाणीकृत्यापरान् परःसहस्रान् परमशिष्टान् आचार्यान् मूर्खयन्ति। नैतावदेव, भाष्यकारवचनं प्रमाणीकृत्य पाणिनिमपि प्रमत्तचेतसं प्रख्यापयन्ति, इत्यहो तेषां विभ्रमः। शब्दानां साधुत्वासाधुत्वे शिष्टा एव प्रमाणम् इति सर्वसम्मतो राद्धान्तः। इमे तु खलु स्वयमज्ञानगर्तनिमग्नाः प्रमाणभूतानां शिष्टानां प्रामाण्यमपाकर्तुमेव यतन्ते। कों हि नाम सचेताः पाणिनिमेकं विहाय व्यासकणादाग्निवेशवाल्मीकिमनुप्रभृतीनां सर्वेषामपि प्राचामाचार्याणामशिष्टत्वमुररीकुर्यात्। इदमपि विचार्यम्, यदासर्गाद् यावत् पाणिनिपरः सहस्रेष्वब्देषु नैकोऽपि शब्दानां साधुत्वासाधुत्व-विभागज्ञोऽभूत्, पाणिनिरेव तादृशः प्रथमो ज्ञातेति को नाम मतिमान् श्रद्दधीत।

पूर्वोद्धृतानां साधुत्वविचारः—इदमिदानीं विचार्यते, यत् पूर्वोद्धृतानां तादृशां चान्येषाम् अपशब्दत्वेनाभिमतानां प्रयोगाणां कथं साधुत्वमिति।

अपशब्दत्वप्रतिज्ञाने हेतुः—वयं तु मन्यामहे, साम्प्रतिकानां लक्षणैकचक्षुषां पाणिनीयवैयाकरणानां स्वीयमज्ञानमेव परमशिष्टपरिगृहीतशब्दानामपशब्दत्वप्रतिज्ञाने प्रधानो हेतुः। तच्चाज्ञानं पञ्चविधम्। तथाहि—

१—प्राक्पाणिनीयव्याकरणविषयकम्।

२—पाणिनीयतन्त्रस्वरूपविषयकम्।

३—पाणिनीयतन्त्रस्यार्धजरतीयव्याख्याजनितम्।

४—पाणिनीयतन्त्रस्य वैज्ञानिकव्याख्याभावजनितम्।

५—वाग्व्यवहारप्रयोजनाज्ञानमूलकम्।

तद् वयमेकैकमज्ञानविषयमवलम्ब्य संक्षेपतः प्रतिविधास्यामः।

१—पाणिनेः प्राक्कालिकैरनेकैराचार्यैर्यानि व्याकरणतन्त्राणि विरचितानि तानि नाद्योपलभ्यन्ते। तेषामनुपलब्धेः प्राक्पाणिनीयव्याकरणनियमानामज्ञानात् पूर्वव्याकरणनियमानुरूपान् अपि प्राचीनान् शिष्टप्रयोगान् अपशब्दान् प्रतिजानते साम्प्रतिका वैयाकरणाः। ये नाम केचन प्राचीन-व्याकरणनियमाः पुरातनवाङ्मये क्वचिद् उद्धृता उपलभ्यन्ते, तेषामपि मूल्याङ्कनम् 'उत्तरोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्' इति प्रमाणाविरहितमसन्मतमातिष्ठमाना न कुर्वन्ति। यदि हि नाम कतिपयानामप्युपलब्धप्राचीननियमानामुचितं मूल्याङ्कनं भवेत्तर्हि बहूनां शिष्टप्रयोगाणां साधुत्वपरिज्ञानमनायासेनैव भवेत्। वयमिह द्वौ प्राचीनव्याकरणनियमावुद्धृत्य विषयमिमं स्पष्टीकुर्मः।

क—'**अतो भिस ऐस्**' (७।१।९) इति पाणिनिसूत्रानुसारं ह्रस्वावर्णान्तेभ्यः

तृतीयाबहुवचने 'देवैः' 'पुरुषैः' इत्येकविधान्येव पदानि निष्पद्यन्ते। काशकृत्स्नतन्त्र-संक्षेप्ता कातन्त्रकारः[1] **'अतो भिस् ऐस् वा'** (२।१।१८) इत्येवं सूत्रयति। तदनुसारं लोकभाषायां[2] देवेभिः पुरुषेभिः इत्यपरविधान्यपि पदानि साधूनीति गम्यते। प्राकृत-भाषायां देवेहि पुरुषेहि इत्यादीनि प्रयुज्यमानानि पदानि आसन्, कदाचित् लोक-भाषायामपि **देवेभिः पुरुषेभिः** इत्येवमादीनि भिसन्तानि पदानीति मतं सम्यग् द्रढ-यन्ति। यतो हि **'नाप्रकृतिरपशब्दः'**[3] इत्यागमिनः प्रतिजानते। दैवीवागेव अशक्त्या-दिकारणैर्विविधास्वपभ्रंशभाषासु व्याकीर्णा। तदुक्तम्—

दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः।[4]

उपलभ्यन्ते ह्यतिभाषायां भिसन्ताः प्रयोगाः। तद्यथा—

मृगैः सह परिस्पन्दः संवासस्तेमिरेव च। बौधा० धर्म १६।३२॥

पाणिनिप्रभावपरिभूतैः कातन्त्रव्याख्यातृभिः **'अतो भिस् ऐस् वा'** इति स्पष्टमैस्-भावविकल्पविधायकं वापदं क्लिष्टकल्पनयाऽन्यथैव व्याख्यातम्।

(ख) भगवता पाणिनिना **'इको यण् अचि'** (६।१।७७) इति सूत्रयता दध्यत्र मध्वत्र इत्यादिषु यण्सन्धिरनुज्ञातः। प्राचीनव्याकरणानुसारं यण्सन्धिवत् यण्व्यव-धानसन्धिरपि भाषायां प्रयुक्त आसीत्। तदुक्तं पुरुषोत्तमदेवेन भाषावृत्तौ—**'इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोः'** (६।१।७७)। अयं सन्धिनियमः पुरुषोत्तमदेवात् प्राक्तनैर्हेमचन्द्र-पाल्यकीर्ति-अभयनन्दिप्रभृतिभिर्वैयाकरणैः स्वीकृतः। अतएव कैश्चिद् **'इको यणचि'** सूत्रं तन्त्रावृत्त्योभयथा व्याख्यातम्[5] **'इकः स्थाने यण् भवति, इकः परो वा यण् भवत्यचि परतः।'** अयं यण्व्यवधानरूपः प्राचीनसन्धिः 'भूवादयो धातवः' (१।३।१) इति सूत्रयता स्वयं पाणिनिनाऽभ्यनुज्ञातः।[6] एतेन न केवलं यण्सन्धा-

---

१. कातन्त्रं काशकृत्स्नमहातन्त्रस्य संक्षेप इत्यन्यत्र विस्तरेण प्रतिपादितम्।

२. कातन्त्रं लौकिकभाषाया एव व्याकरणम्। द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ३०।

३. वाक्यपदीय आगम काण्ड, स्वोपज्ञ टीका, पृष्ठ १३४। तत्रैव 'शब्दप्रकृतिर-पभ्रंशः' इति व्याडिमतप्युद्धृतम्।

४. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड १५५।

५. जैनशाकटायनलघुवृत्ति १।१।७३॥ हैमबृहद्वृत्ति १।२।२०॥

६. भूवादयो धातवः (१।३।१) इत्यत्र 'भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयु-ज्यते' इति, तदीयं च भाष्यं यथा व्याख्यायते तत् चिन्त्यम्। अस्य सम्यग्व्याख्यान-मन्यदा प्रदर्शिष्यते।

वेव द्वैरूप्यमुपपद्यतेऽपितु कृततादृशसन्धिशब्देभ्यो निष्पद्यमानेषु परःसहस्रेषु तद्धित-प्रयोगेषु वैशिष्ट्यमुपपद्यते। तद्यथा—

त्रि+अम्बक=त्र्यम्बक, त्रियम्बक।

नि+अङ्कु =न्यङ्कु, नियङ्कु।

सु+अर्=स्वर्, सुवर्।

एभ्यस्तद्धितोत्पत्तौ [यद्वैशिष्ट्यमुपपद्यते तत् 'नि+अङ्कु' सन्धिमधिकृत्य प्रदर्श्यते।

साम्प्रतिका हि वैयाकरणा 'न्यङ्कु' इत्येकविधमेव शब्दं प्रतिजानते। परन्तु न्यङ्कोर्विकारश्चर्म इत्यर्थे 'अजि' (४।३।१५४) नैयङ्कवं चर्म इति पाणिनीयाः प्रतिपद्यन्ते, आपिशलास्तु न्याङ्कवं चर्म इति। द्विविधसन्धौ 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११५) इत्यनेनोत्सर्गसूत्रेण न्यङ्कुशब्दान्न्याङ्कवम्, नियङ्कुशब्दाच्च नैयङ्कवमिति रूपद्वयमञ्जसैव निष्पद्यते। इत्थं द्विविधसन्धिपरिग्रहे 'न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' (७।३।३) इत्यादिप्रकरणस्योपयोगितैव नावतिष्ठते। एतत्प्रकरणे ऐजागमद्वारा प्रसाधिताः सर्वे एव शब्दा [यण् व्यवधानसन्धिमाश्रित्योत्सर्गसूत्रेणैव निष्पद्यन्ते। यथा त्रैयम्बकं त्रियम्बक[1]शब्दात्, वैयाकरणं वियाकरणशब्दात्, सौवरं सुवर[2] शब्दात्, सौवश्वः सुवश्वशब्दात्। पाणिनिना तु खलु लुप्तप्रयोगेभ्यो यण्-व्यवधानसन्धिजेभ्यः शब्देभ्यो निष्पन्नानां तद्धितशब्दानामर्थनिर्देशः कर्तुमशक्य इति कृत्वा स्वकाले लब्धप्रचारैर्यण्सन्धिनिष्पन्नैः शब्दैः सह तेषां सम्बन्धः प्रदर्शितः। तदेवं किल इकोऽचि परतस्त्रिविधः सन्धिः पुरा लब्धप्रचार आसीत्—यणादेशरूपः, यण्व्यवधानरूपः, इयङुवङादेशरूपश्च। यण् व्यवधानसन्धिना त्रियम्बकादिप्रयोगाणां निष्पत्तावपि 'गायत्रियै' (तै० सं०) इत्येवमादिप्रयोगसिद्धये इयङुवङादेशसन्धिर-प्यावश्यकः।

२—पाणिनीयं तन्त्रं पूर्वतन्त्राणामपेक्षया संक्षिप्ततमं विद्यते। तेन पूर्वतन्त्रेषु विद्यमानानां बहूनां व्याकरणनियमानाम् अस्मिन् तन्त्रे संग्रहो नाभावि। तादृशनियमेषु यण्व्यवधानसन्धिः, ऐसादेशविकल्पश्च पूर्वमुक्त एव। इदानीमेकोऽरो नियमः प्रदर्श्यते, यः प्राचीनव्याकरणे निर्दिष्टोऽप्यत्रापरिगृहीतः—

कतिपयवर्षेभ्यः प्राक् चन्नवीरकविकृतकन्नडटीकया सनाथीकृतो यः काशकृत्स्न-धातुपाठः प्रकाशं गतस्तत्र काशकृत्स्नतन्त्रस्य त्रिशदुत्तरशतं सूत्राण्युद्धृतान्युपलब्धानि।

---

१. एतच्छब्दप्रयोगपरिज्ञानाय 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' पृष्ठ ३३ द्रष्टव्यः।

२. सुवःपदं तैत्तिरीयसंहितादिषूपलभ्यते।

तेष्वेकतमं सूत्रमस्ति—**स्वरवद् यः कृत्** (पृष्ठ १७२)।

अस्यायमर्थः—यः कृत्संज्ञको यकारः स स्वरवत् कार्यं लभते। वद्ग्रहणाद् व्यञ्जनवदपि। चन्नवीरकविना सूत्रमेतत् **'दीधय्यं दीधाय्यम्'** पदव्याकरणायोद्धृतम्। इत्थमेवोत्तरधातुव्याख्याने **'वेवय्यम्, वेवाय्यम्'** पदे निर्दिष्टे। अत्र दीधीङ् वेवीङ् धातुभ्यां यति गुणे **'दीधे—य, वेवे—य,** ण्यति च वृद्धौ **'देधं—य, वेवं—य'** इत्यलौकिकेषु रूपेषु कृद्यकारस्य स्वरवद्भावे विहिते यथासंख्यम् अय् आय् आदेशौ भवतः। इत्थमेवोकारान्तधातुभ्यो लव्य—लाव्यादयो द्रष्टव्याः।

यद्यपि चन्नवीरकविना वन्निर्देशफलबोधकमुदाहरणमत्र नोपात्तम्, तथापि सूत्रपदैरेतत् स्पष्टमेव यत् कृद्यकारे परतः पक्षेऽयादयो भवन्ति। तेन सर्वेभ्योपीगन्तेभ्यो धातुभ्यो यति ण्यति च द्वे द्वे रूपे निष्पद्येते। पाणिनीयतन्त्रे त्वस्य सामान्यनियमस्यैकदेशमात्रं **'धातोस्तन्निमित्तस्यैव'** (६।१।८०) इत्यादिभिश्चतुर्भिः सूत्रैः संगृह्यते।

काशकृत्स्ने व्याकरणे क्यप्-यत्-ण्यतां सामान्येन विधानमासीद् इति पूर्वं प्रतिपादितम्। तथा सति स्वरवद्भावे च विहिते इगन्तधातोः पञ्चपञ्चरूपाणि निष्पद्यन्ते। तद्यथा चिधातोः क्यपि—चित्यम्, यति—चय्यम्,चेयम्, ण्यति—चैयम्, चाय्यम्। एवमन्येषामपि ज्ञेयानि। पाणिनीयव्याकरणानुसारं तु यथासम्भवं कस्यचिदेकम्, कस्यचिद् द्वे रूपे निष्पद्येते। अत एव पूर्वोदाहृते पद्ये देवबोधेन पाणिनीयव्याकरणस्य गोष्पदत्वमुक्तम्। स एव पुनराह—

> न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
> अक्षैरज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते॥

काशकृत्स्नतन्त्रापेक्षया पाणिनीयतन्त्रस्याल्पता तयोर्धातुपाठतुलनयापि स्पष्टीभवति। पाणिनीये धातुपाठे उपद्विसहस्रा धातवः, काशकृत्स्ने तु उपसार्धद्विसहस्रा उपलभ्यन्ते।

तदेवं संक्षिप्ततमं पाणिनीयं व्याकरणमाश्रित्य प्राचीनशिष्टजनपरिगृहीतानां शब्दानामपशब्दत्ववचनं साहसमात्रमेव। तस्मात् **अक्षैरज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते** इति साधूक्तं देवबोधेन।

३—अतिसंक्षिप्तस्य पाणिनीयतन्त्रस्य या व्याख्या सम्प्रति वैयाकरणैराद्रियते साऽर्धजरतीयदोषदुष्टा। तथाहि—

बहुत्र खलु पाणिनीया वैयाकरणाः पाणिनीयसूत्रादिषु प्रयुज्यमानानां पाणिनीयतन्त्रासिद्धानां पदानां पाणिनिप्रयोगसामर्थ्यात् साधुत्वं प्रतिजानते। तद्यथा—

क—सर्वनामपदे णत्वे प्राप्ते 'बाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति' इत्युक्त्वा भाष्यकारः सर्वनामपदस्य साधुत्वमाह (२।१।२७)।

ख—'पतितः' इत्यत्र **'यस्य विभाषा'** (७।२।१५) इत्यनेनेट्प्रतिषेधे प्राप्ते **'द्वितीया श्रितातीतपतित०'** (२।१।२४) इत्यत्र निपातनादिडागम इत्युक्तं काशिकाकृता (७।२।१५)।

ग—व्याजशब्दे घञि कुत्वे प्राप्ते **'व्यज व्याजीकरणे'** (धातु० ६।१६) इति लिङ्गाद् घञि कुत्वाभाव इति क्षीरस्वामी प्रतिपेदे (क्षीरतरङ्गिणी ६।१६)।

घ—**शोभेति निपातनात्** इत्याह वामनः (काव्या० ५।२।४१)। तच्च निपातनम्—शुभ शुम्भ शोभार्थे इति धातुसूत्रे (६।३४) द्रष्टव्यम्।

सत्यप्येवं पाणिनीयवचनप्रामाण्येऽभ्युपगते बहुत्र तदीयप्रयोगाणामप्रामाण्यमपि मणन्ति वैयाकरणाः। तद्यथा—

क—**अन्वच्यानुलोम्ये** (३।४।६४) इत्यत्र **'अयुक्तोऽयं निर्देशः। अनूचीति भवितव्यम्। सौत्रोऽयं निर्देशः'** इति वदन् भगवान् पतञ्जलिरपि पाणिनिप्रयुक्तस्य **'अन्वचि'** प्रयोगस्य लोके प्रयोगानर्हत्वमर्थादसाधुत्वमाह। एवं **तिर्यच्यपवर्गे** (३।४।६०) इत्यत्र तिर्यचिपदमपि द्रष्टव्यम्।

ख—**वृद्धिरादैच्** (१।१।१) इत्यत्र कुत्वाभावमसाधु मन्यमानो भाष्यकार आह—**छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति**। तेन भत्वात् कुत्वं न इत्युक्तं भवति। परन्तु स एवान्यत्र **'सिद्धमनच्त्वात्' 'कथमनच्त्वम्'** (१।१।१०) इत्यादिषु स्वयं कुत्वाभावं प्रयुङ्क्ते। **अज्झिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञा भवन्ति** इति संयोगसंज्ञासूत्रवृत्तिं जोघुष्यमाणा वैयाकरणा अद्ययावत् कुत्वाभावं प्रयुञ्जते।

ग—परशब्दयोगे पञ्चमीविधानात् **'ऋहलोर्ण्यत्'** (३।१।१२४) इत्यादिषु सूत्रेषु **'पञ्चम्यर्थे षष्ठी'** इति प्रतिजानते व्याख्याकाराः। परन्तु सूत्रकारवचनसामर्थ्यात् परयोगे षष्ठ्यपि साध्वीति न व्याचक्षते।

परशब्दयोगे षष्ठी न केवलं पाणिनीयसूत्रेष्वेव दृश्यते, अपितु बहुत्र तस्याः प्रयोग उपलभ्यते। यथा—**'एकादशिनोः परः षट्कस्तनुशिराः'** इति कात्यायनीयसर्वानुक्रमसूत्रे (५।५)।

घ—**युवोरनाकौ** (७।१।१) इत्यत्र युवुशब्दयोः समाहारे नपुंसकत्वात् षष्ठ्येकवचने नुमि **'युवुनः'** प्राप्नोति, इतरेतरयोगे तु **'युव्वोः'**। तत्परिहरन्नाह कैयटः—**'सौत्रत्वान्निर्देशस्य नुममकृत्वा उकारलोपं वा अकृत्वा निर्देश इत्यदोषः** इति। सौत्रत्वं नाम अपशब्दत्वम् इत्युक्तं प्राक्। दृश्यते हि **'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' 'लिपिसिचिह्वश्च'**[1] (३।१।५१) इत्यादिबहुषु सूत्रेषु समाहारेऽपि नपुंसकत्वाभावः।

१. समाहारस्य नपुंसकत्वात् ह्रस्वे कृते 'लिपिसिचिह्वात्' प्रयोगः स्यात्, असमाहारे (इतरेतरयोगे) 'ह्वाभ्यः' इति बहुवचनं प्रसज्यते।

तस्माद्यथा पाणिनिप्रयोगसामर्थ्यात् **'सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति'** इति ज्ञाप्यते, तथैव बहुत्र समाहारेऽपि पुंस्त्वोपलम्भात् **'समाहारद्वन्द्वो विभाषया नपुंसकलिङ्गो भवति'** इति कथं न ज्ञाप्यते ?

यदि हि नाम पाणिनीयव्याख्यातारः पाणिनीयप्रयोगाणामर्वाचीनतीयां व्याख्यां परित्यज्य 'पाणिनीयप्रयोगसामर्थ्यात् साधुः' इत्येकरूपां व्याख्यां कुर्युश्चेद् बहवः शिष्ट-प्रयोगाः साधुत्वं भजेरन् । तथाहि—

षण्मान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।

इत्यत्र (शान्तिपर्व २४०।३२) अन्यत्र च बहुकृत्वः षण्मासशब्दः पुंल्लिङ्गे प्रयुक्तः । **'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते'** इति वचनात् **षण्मासी** इति पदं साधु मन्यन्ते वैयाकरणाः[1] । परन्तु **'षण्मासाण्यच्च'** (५।१।८२) सूत्रे स्वयं पाणिनिना पुंल्लिङ्गः पठ्यते । यदि हि पाणिनीयवचनसामर्थ्याद् अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः पुंल्लिङ्गेऽपि क्वचित् प्रयुज्यते इति ज्ञाप्येत तर्हि न कोऽपि वैयासिकं **'षण्मास'** प्रयोगमपशब्दं ब्रूयात् ।

४—पाणिनीयतन्त्रस्य येदानीं व्याख्या वैयाकरणैः क्रियते साऽवैज्ञानिकी वर्तते । नहि तस्या व्याख्यायाः कथमपि विज्ञानमूलत्वं शक्यते प्रतिपादयितुम् । तथाहि—

क—**कन्यायाः कनीन च** (४।१।११६) इति सूत्रमित्थं व्याख्यायते—'कन्या-शब्दादपत्यार्थेऽण् प्रत्ययो भवति तस्य च कनीनादेशः । कानीनः कर्णः ।'

अत्रेदं विचार्यते—कन्याकनीनशब्दयोः किन्नाम सादृश्यं, येनोभयोः स्थान्यादेश-भावः कल्प्येत । यदि हि अर्थकृतं सादृश्यमभिप्रेतं स्यात्, तदपि न शक्यते वक्तुम् । नहि कन्याकनीनयोः शक्यते पर्यायत्वं वक्तुम्, कनीनशब्दस्य लोकेऽप्रयोगात् । नहि लोकप्रयोगाद् ऋतेऽर्थज्ञानं सम्भवति । तस्माच्चिन्त्येयं व्याख्या ।

ख—**मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च** (४।१।१६१) इत्यपीत्थं व्याख्यायते—'मनु-शब्दाद् अपत्येऽर्थेऽञ्यतौ प्रत्ययौ भवतः, मनोः षुक् चागमः । मानुषः, मनुष्यः ।'

अत्रापीदं विचार्यम्—मनुशब्दस्याञ्यतोः परत एव कथं पुगागमो भवति अन्य-स्मिन् प्रत्यये कुतो न भवति । यदि वाऽञ्यतोः परत एव पुगागमः, तर्हि तयोः परतो-ऽन्यस्य प्रातिपदिकस्य कुतो न भवति । स एव नाम प्रादेशिको विकारो युक्त उच्यते

---

१. एतद्विषयेऽम्बिकादत्तशर्मणो मतं पूर्वनिर्दिष्टम् ।

यः सर्वत्र समानरूपेणोपलभ्यते।[1] न चात्र तथा दृश्यते। तस्मादियं युगागमकल्पनाऽपि चिन्त्यैव।

न च नाम प्रमाणीभूतः पाणिनिराचार्य ईदृगवैज्ञानिकं मतमाश्रयितुं शक्नोति, तस्मात्तस्या अष्टाध्याय्याः कयाचनाऽन्यया वैज्ञानिक्या व्याख्यया भवितव्यम्। तामत्र संक्षेपतो निदर्शयामः।

वैयाकरणानां लोपागमविकारादेशवर्णविपर्ययादिकल्पनायाः पृष्ठभूमिः—यदि हि नाम साम्प्रतिकानां वैयाकरणानां सूत्रव्याख्याऽवैज्ञानिकी तर्हि कुतः पाणिन्यादयो वैयाकरणास्तादृशीमकाण्डकल्पनां कुर्वन्ति ? उच्यते—

पुरा खल्वादिकाले इयं देववाणी महती विशालाऽऽसीदित्युक्तं प्राक्। सा मनुष्याणां मेधाह्रासाद्यनेककारणैर्ह्रसन्ती विविधप्रकारेण संकोचमाप्ता। तत्र सार्वलौकिकाः केचन शब्दा उत्तरकाले देशजातिप्रस्थान[2]भेदेन नियतविषयत्वमापन्नाः[3]। तदुक्तम्—

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। महाभाष्यप्रथमाह्निके।

देशभेदेन यथा—समानार्थका अपि शव-हम्म-रंह-गमप्रभृतयो धातवो न सर्वत्र समानरूपेण प्रयुज्यन्ते। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना—**'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति,···हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते इति।**

जातिभेदेन यथा—हय इति देवेषु, अर्वा इत्यसुरेषु, वाजीति गन्धर्वेषु, अश्व इति मनुष्येषु प्रयुज्यते (द्र०—बृहदा० उप० १।१।१)। एवं भव इति वाहीकाः शर्व इति प्राच्याः (शत० १।७।३।८) आहुः। इत्थमेव च अर्ध इत्यार्येषु प्रयुज्यते नेम इति म्लेच्छेषु[4] (मीमांसा शाबरभाष्य १।३।१०)।

प्रस्थानभेदेन यथा—ऋग्वेदे 'पृतन्यतः' पदम्, यजुषि च पृतनायतः। मूर्च्छाय इति चरके, मूर्च्छा इति अन्यत्र।

---

१. तुलनीयम्—'अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे···।' निरुक्त २।१॥

२. प्रस्थानशब्देन चतुर्दशाष्टादश वा विद्यास्थानान्युच्यन्ते।

३. इमे देशभेदेन नियताः साधुशब्दाः, तदपभ्रंशरूपा वा उत्तरकाले देशी-देश्यादिपदैरुच्यन्ते।

४. 'नेम' इत्यस्यैवापभ्रंशः 'नीम' इति फारसीभाषायामवेस्ताग्रन्थे च प्रयुज्यते। 'सामि' इत्यस्य विकारः 'सेमि' (semi) इत्याङ्गलभाषायां प्रयुज्यते।

प्रकृतिविकृतीनां नियतविषयः—तत्रैतस्मिन् नियतविषये प्रकृतिविकृतिरूपा अपि शब्दा नियतप्रयोगविषया दृश्यन्ते। कस्मिंश्चिद्देशे प्रकृतीनाम् (आख्यातानाम्) एव प्रयोगो भवति, अन्यस्मिंश्च तद्विकृतीनामेव। तद्यथा—

शवतीत्याख्यातपदं कम्बोजेष्वेव प्रयुज्यते, तस्यैव शव इति कृदन्तमार्येषु। एवं दातीति क्रियापदं प्राच्येष्वेव प्रयुज्यते, तस्यैव दात्रमिति कृदन्तमुदीच्येषु[1]।

अष्टाध्याय्या वैज्ञानिको व्याख्यामार्गः—

तत्रैवं देशभेदेन व्यवस्थिते शब्दव्यवहारे तत्र तत्र म्लेच्छन्ती देववाणी यदा विकारमाप्ता तदा तत्र तत्र प्रयुज्यमानस्य कस्यचित् संस्कृतशब्दस्य प्रकृतिर्नष्टा कस्यचिच्च विकृतिः। एवं शब्दव्यवहारेऽव्यवस्थायामुत्पन्नायामुत्तरवर्तिभिर्वैयाकरणैः स्वस्वकाले प्रयुज्यमानानां विनष्टप्रकृतीनां विकृतिभूत-शब्दानां साधुत्वद्योतनायार्थप्रदर्शनाय च तादृशो वैज्ञानिको मार्ग आदृतो येन व्याक्रियमाणानां विनष्टप्रकृतीनां शब्दानां मूलप्रकृतिविज्ञानमर्थविज्ञानं चोभयं भवेत्। तदर्थं तैस्तैराचार्यवर्यैर्विनष्टप्रकृतीनां व्याक्रियमाणानां शब्दानां मूलप्रकृतेर्यः समानार्थकस्तत्सदृशतमश्च लोके लब्धप्रचारः शब्द आसीत् तस्मात् प्रत्ययमुत्पाद्य व्याक्रियमाणस्यार्थप्रदर्शनमकारि, मूलप्रकृतिं च तत्स्थान आदिश्य, यद्वा प्रत्ययविधानायोपात्तप्रकृतेरेकदेशे लोपागमादेशवर्णविपर्ययान् विधाय मूलप्रकृतिस्वरूपमपि निदर्शितम्। तद्यथा—

कन्यायाः कनीन चेत्यस्य वैज्ञानिकी व्याख्या—योऽयमार्येषु प्रयुज्यमानः 'कानीन' शब्द आसीत् तस्य मूलभूतायाः कनीनाप्रकृतेरार्येष्वप्रयोगात् तत्समानार्थकात् कन्याशब्दात् प्रत्ययोत्पत्तिं विधाय कन्यास्थाने कनीनादेशो[2] विहितः। एवं भगवता पाणिनिना एकेनैव कानीनशब्दसाधुत्वनिदर्शनरूपेण यत्नेन कानीनशब्दस्यार्थः तस्य मूलप्रकृतिस्वरूपं चोभयमपि निदर्शितम्।

यदि हि नाम पाणिनिः कानीनशब्दनिर्वचनाय मूलभूतां कनीनाप्रकृतिमुपाददीत तर्हि तस्य लोकेऽप्रयुज्यमानत्वात् तदर्थपरिज्ञानं न स्यात्, अर्थज्ञानस्य लोकप्रयोगाधीनत्वात्। यदि लोकपरिज्ञातार्थकं कन्याशब्दमेव स्वीकुर्यात्तर्हि ततोऽञ्जसा कानीनपदनिष्पत्तिर्न भवेत्। तस्मादविरविकन्यायेन[3] भगवता कन्याशब्दात् प्रत्ययोत्पत्तिं विधाय

---

१. द्र०—निरुक्त २।२॥ महाभाष्य प्रथमाह्निक।

२. आदेशविधाने प्रातिपदिकमात्रकनीनादेशे स्त्रीलिङ्गकनीना-आदेशे च विशेषाभावात् प्राथमकल्पिकः प्रातिपदिकनिर्देश एवोपात्तः।

३. तत्र द्वयोः समानार्थकयोरेकेन विग्रहोऽपरस्मादुत्पत्तिर्भवत्यविरविकन्यायेन। तद्यथा अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवत्याविकमिति। महाभाष्य ४।१।८८; ४।२।६० इत्यादिषु बहुत्र।

तस्य कनीनादेशं चोक्त्वोभयमपि कार्यजातमञ्जसैव निष्पादितम्।

कनीना-शब्दस्यार्येभ्योऽन्यत्र प्रयोगः—यद्यपि कनीनशब्दस्य मूलभूता कनीना प्रकृतिर्वेदे **कनीनकेव**[1] इत्यादिषूपलभ्यते। तथापि तस्या आर्येषु प्रयोगो नासीत्। अवेस्ता'ग्रन्थे कनीनशब्दस्य 'कइनीन' इति विकारोपलम्भाद्[2] ईरानदेशे कन्यार्थे कनीनाशब्दस्य पुरा प्रयोग आसीदिति संभाव्यते।

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् चेत्यस्य वैज्ञानिकी व्याख्या—इत्थमेव मानुष-मनुष्य-शब्दनिर्वचनाय मूलप्रकृतेः कान्तस्य मनुष्' शब्दस्य लोकेऽप्रयोगाद् वैयाकरणैस्तत्समभानार्थकात् तत्समदृशाच्च मनुशब्दाद् 'अण् यत्' प्रत्ययौ विधाय मनोः षुगागमद्वारा 'मनुष्' इति रूपं निष्पाद्य मूलभूतप्रकृतेर्विज्ञानमुपदिष्टम्। मानुषमनुष्ययोर्मूलभूता 'मनुष्' प्रकृतिर्वेदेऽसकृदुपलभ्यते। अत एव भगवता यास्केन मनुष्यशब्दनिर्वचने **मनोरपत्यं मनुषो वा** (निरुक्त ३।७) इत्युभयमप्युपात्तम्।

एवं च यत्र क्वचिदपि भगवता पाणिनिनाऽन्यैर्वा वैयाकरणैः कस्यचित् पदस्य निर्वचनाय प्रकृतेर्लोपागमादेशवर्णविपर्ययौ विहितास्तत्र सर्वत्रैव लोपागमादेशवर्ण-विपर्ययैर्निष्पन्नस्य शब्दस्य यत्स्वरूपं निष्पद्यते तदेव तस्य तस्य व्याक्रियमाणस्य शब्दस्य मूलभूता प्रकृतिरिति बोध्यम्। इयमेव च प्रक्रिया यास्कप्रदर्शितेषु लोपागमादेशा-दिषु द्रष्टव्या। अस्याः प्रक्रियाया वैशद्याय कतिपयोदाहरणा न्युपस्थाप्यन्ते। तद्यथा—

लोपः—**रञ्जधातो रजकरजनरजःसूपसंख्यानमिति** (६।४।२४) वार्तिकेन नलोपं विधाय रजकादीनां मूलप्रकृतिः **'रज'** धातुरिति प्रदर्शितम्। तेन रज-रञ्ज द्वे पृथक् मूलप्रकृती स्तः। अतएव **रञ्जेश्च** (६।४।२६) इत्यनेन शपि नलोपे विहिते क्वचिन्नलोपो नापि दृश्यते[3]। तद्यथा—**वर्गान्ते** रञ्जतेः[4]यस्तु (याज्ञ० शिक्षा १९३ काशी संस्क०)।

---

१. ऋ० ४।३२।२३॥ कनीनके कन्यके। निरुक्त ४।१५॥

२. ह ओम यशत ९।२३॥ लाहौर संस्करण।

३. अनयैवान्वयव्यतिरेकप्रक्रियया प्रकृत्यन्तरकल्पनाऽञ्जसैव संपद्यते। तथा चोक्तं महाभाष्यकृता पतञ्जलिना—'बृहिः प्रकृत्यन्तरं कथं। ज्ञायते अचीति [बृंहेरचि नेटि वार्तिकेन] लोप उच्यतेऽनजादावपि दृश्यते—निबृह्यते। अनिटीत्युच्यते इडादावपि दृश्यते—निबर्हितुम्। अजादावित्युच्यतेऽजादावपि न दृश्यते—निबृंहयति निबृंहकः (६।४।२४)।

४. क्वचित् 'वर्गान्तै रज्यते यस्तु' इति पठ्यते। स औत्तरकालिकैर्लेखकैः पाणिनीयप्रभावेण परिवर्तितः।

आगमः—मानुषमनुष्ययोर्मनोः षुकि 'मनुष्' इति मूलप्रकृतिरित्युक्तं प्राक् तत्रैव च 'मनुष्' इत्यस्य प्रयोगोऽपि निर्दर्शितः ।

इत्थमेव **'सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः। वधिस्यति मधुस्यतीत्येवमर्थम्'** (महा० ७।१।५१) अनेन सुग्विधानपरिज्ञापनेन सर्वेषामप्यवर्णेवर्णोवर्णान्तानां प्रातिपदिकानां पक्षे 'अस्-इस्-उस्' अन्तान्यपि रूपाण्यभ्यूहनीयानि ।[1]

आदेशः—**हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु** (६।३।४६) इत्यादिभिर्विहितो हृदादेशो 'हृद्यम्' 'हार्दम्' आदीनां मूलप्रकृतिर्विज्ञेया । **सुधातुरकङ् च**(४।१।९७) इत्यनेनाकङादेशे यत् सुधातकरूपं निष्पद्यते तत् 'सौधातकि' इत्यस्य मूलप्रकृतिः ।

वर्णविपर्ययः—हिंसेः सिंहः, कृतेस्तर्कः, कसेः सिकता, (द्र०—महाभाष्य ३।१।१२३) । अत्र हिंसधातोर्वर्णविपर्यये योऽयं सिंहधातुर्निष्पद्यते, स सिंहस्य मूलप्रकृतिः, कृतेर्वर्णविपर्यये तृकधातुस्तर्कस्य, कसेर्वर्णविपर्यये सिकधातुस्सिकतापदस्य । तदेवं हिंस-सिंहौ, कृततृकौ, कस-सिकौ पृथक् पृथक् स्वतन्त्रौ धातू ज्ञेयौ ।[2]

अनयैव वैज्ञानिक्या प्रक्रियया पाणिनीयसूत्राणां वास्तविकी युक्तियुक्ता व्याख्या सम्भवति, नान्यथा ।

वैज्ञानिक्या व्याख्यायाः प्राचीनपरम्परा—इयं च वैज्ञानिकी पाणिनीयसूत्रव्याख्या नास्मत्कल्पनाप्रसूता, अपितु भगवत्पतञ्जलिप्रभृतिभिः प्रमाणभूतैर्यत्र तत्र स्वीकृता वर्तते । तथाहि —

क—नेष्टृशब्दव्याख्यानाय **'नयतेः षुक् च'**[3] (३।२।१३५) इति कात्यायनीयं वार्त्तिकम् । तत्रोक्तं भाष्यकृता **न वा वक्तव्यम्, किं कारणम् ? धात्वन्यत्वात् । धात्वन्तरं नेषतिः । कथं ज्ञायते ? नेषतु नेष्टात् इति प्रयोगदर्शनात्···इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात् ।** अत्र हि पुग्विधानमनुसृत्य निष इति स्वतन्त्रो धातुरूहितो भाष्यकृता ।

---

१. एतद्विषये 'भाषा का इतिहास' नाम्नो ग्रन्थस्य 'सादृश्य' नाम चतुर्थं व्याख्यानं विशेषतोऽवलोकनीयम् । तत्रापि ६८-७१ पृष्ठानि ।

२. एतद्विषये 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' नाम्नो ग्रन्थस्य ३८ पृष्ठं द्रष्टव्यम् ।

३. अत्र व्याख्याकाराः षुकि सति गुणस्य प्राप्त्यभावात् गुणे कृते षुग्भावमाहुः । वयं त्वनुमिनुमो नैतत् कात्यायनीयं वार्त्तिकम्, अपि त्वन्यदीयम् (अन्यत्रापि दृश्यते) । अस्माच्च वार्तिकात् तत्र पूर्वं किमपि तादृशं वचनमासीत्, यत्र ह्रस्वविधानमासीत् । तस्यैवात्रानुवृत्त्यर्थं चकारः श्रूयते । ह्रस्वत्वे कृते च गुणः लघूपधत्वात् सुकर एव ।

ख—सुधातुरकङ् च (४।१।९७) इत्यत्र 'सुधातृव्यासवरुडनिषादचण्डालविम्बकानामिति वक्तव्यम्' इत्यङ्विधायकं वार्तिकम्। भाष्यकारस्तु अकङ्विधानज्ञापितान् 'सुधातक' आदीन् स्वतन्त्रशब्दान् मत्वाह—**तर्तहि वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम्। प्रकृत्यन्तराण्येवंजातीयकानि।**

ग—हृदयस्य हृदादेशविषये काशिकाकृतोक्तम्—**हृदयशब्देन समानार्थो हृच्छब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति। तेनैव सिद्धे विकल्पविधानं प्रपञ्चार्थम्** (६।३।५०)।

घ—यत्र क्वचित् प्रत्ययविशेषविधाने सति प्रकृत्यंशे लोपादीन् विधाय रूपान्यत्वं प्रतिपाद्यते तत्रापि वस्तुतः शब्दान्यत्वमेव भवति। यथा—पञ्चानामह्नां समाहारः—पञ्चाहः, सप्ताहः। अत्र समासान्ते टचि टिलोप (६।४।१४५) यदुत्तरपदस्य 'अह्' इति रूपं निष्पद्यते तदपि स्वतन्त्रमेव शब्दरूपं द्रष्टव्यम्। तथा च प्रयुज्यते 'यस्मिन् वयसि यत्काले यदहे चाथवा निशि।' तन्त्राख्यायिका २।१३६॥

ङ—धमाधातोः सार्वधातुके परतो विधीयमानस्य धमादेशस्यार्धधातुकप्रत्ययेऽपि प्रयोगदर्शनात् क्षीरस्वाम्याह—**धमिः प्रकृत्यन्तरमित्येके** (क्षीरतरङ्गिणी[1] २।६५९)।

च—हिंसेः सिंह इति वर्णविपर्ययेण प्रज्ञापितः सिंह (सिंहि) धातुः काशकृत्स्ने धातुपाठे हिंसागत्योरर्थयोः साक्षात् पठ्यते। तट्टीकाकृता चन्नवीरकविना तस्य 'सिंहति, सिंहः, सिंहलः' प्रयोगा निर्दिश्यन्ते (पृ० ६६)।

इत्थं प्रमाणभूतैराचार्यैर्यत्र तत्र निदर्शिता या प्रकृत्यन्तरकल्पनारूपा व्याख्या, तामेव प्रमाणीकृत्यास्माभिः सर्वस्याप्यष्टाध्याय्या एतादृशी व्याख्या क्रियते। अनया लोपागमादेशवर्णविपर्ययद्वारा प्रकृत्यन्तरकल्पनारूपया व्याख्ययाऽऽदिभाषायां पुरा प्रयुज्यमानानां तदुत्तरकालं विनष्टप्रयोगाणां शतशो धातूनां नाम्नां च विज्ञानमपरो महान् लाभः।

तेभ्यश्च प्रकृतिभूतेभ्यो धातुभ्यो नामभ्यश्च आख्यातरूपाः कृदन्तरूपास्तद्धितरूपाश्च ये ये प्रयोगाः सम्भवन्ति तेषां विज्ञानेन आदिभूताया भाषाया वैपुल्यपरिज्ञानमति सुकरम्। व्याकरणतन्त्रस्येदमेव प्रधानं लक्ष्यमिति भट्टकुमारिलोऽप्याह—

यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुपलक्षितरूपाणि च। तन्त्रवार्तिक १।३।१२ पृष्ठ २३९ पूना संस्करण।

पाश्चात्यभाषाविदामकाण्डकल्पना—पाश्चात्यभाषाविदः व्याकरण-निरुक्तशास्त्रयोः शब्दार्थनिर्वचनायाश्रितानां लोपागमवर्णविपर्ययाणां वास्तविकं प्रयोजनमविज्ञाय तांश्चास्थाने प्रयुज्य देवभाषाया आदिभाषात्वं महता प्रपञ्चेन निराकृतम्,

---

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर द्वारा प्रकाशिता क्षीर-तरङ्गिणी।

तथा चास्या ग्राम्यजनभाषात्वमुपपादितम् । तथाहि—

वर्णलोपः—आम्बानां चरुः (का० सं० १५।५), नाम्बानां चरुरिति प्राप्ते (महा० ८।२।२५) ।

वर्णागमः—द्वारो वारयतेः (निरुक्त ८।९; २।२) ।

वर्णविकारः—मिहेर्मेघः (निरुक्त २।२) अर्हेरर्घः ।

वर्णविपर्ययः—हिंसेः सिंहः, कृतेस्तर्कः (महा० ३।१।१२३) ।

यद्येषां वर्णलोपागमविकारविपर्ययादीनामयमर्थो यत् कदाचिद् भाषायां नाम्ब-शब्दः प्रयुक्त आसीत् तदुत्तरकालं नकारलोपेन 'आम्ब' प्रयोगः प्रचलितः, पुरा वार-शब्दप्रयोग आसीदुत्तरकालं दकारागमे द्वारप्रयोगः सम्पन्नः, पूर्वं मेहप्रयोग आसीत्, तदनन्तरं गच्छति काले हकारस्य घकारापत्त्या मेघशब्दः प्रादुर्भूतः, एवमादौ हिंस-प्रयोगः प्रचलितो बभूव, तदनन्तरं वर्णविपर्ययेण हिंसशब्दः सिंहरूपं प्रतिपन्न इति, तदा नेयं देववाणी आदिभाषा भवितुमर्हति । एतस्याः प्राक् काचिदन्या भाषा स्याद् यस्याः शब्देषु स्वाभाविकं परिवर्तनं भूत्वेयं देववाणी प्रादुर्भूता ।

अपि चेदं विचार्यम्—प्रचलितभाषाशब्देष्वेतादृशान् वर्णलोपागमविकारविपर्ययादीन् के नाम कुर्वन्ति ? दैनन्दिनव्यवहारदर्शनेनेदं विस्पष्टमेव यद् वर्णलोपादीन् अशिक्षिता ग्राम्या एवाशक्त्या प्रयुञ्जते, न तु शिक्षिताः ।

वोट[1] शब्दस्थाने ओट[2], स्त्रीस्थाने इस्त्री[3], साथी इत्यस्य हाथी[4], चाकू इत्यस्य काचू[5], खीसा इत्यस्य सीखा[6], लखनऊ इत्यस्य नखलऊ[7] प्रयोगान् ग्राम्या अशिक्षिता एव कुर्वन्तीति सर्वलोकप्रत्यक्षम् । यदि नाम देववाणीशब्देष्वप्येतादृशा एव वर्णलोपा-दिकार्याणि स्युस्तर्हि इयमपि भाषा ग्राम्याणां स्यात्, न तु शिक्षितानां शिष्टपुरुषाणाम् । अस्तु, प्रकृतमनुसरामः ।

सर्वभाषाणां प्रकृतिरार्षभाषा—पूर्वनिदर्शिता विपुलाऽऽर्षभाषा एव सर्वभाषाणां प्रकृतिः, न त्विदानीं प्रसिद्धाऽतिसंकुचिता संस्कृतभाषा । देववाण्येव सर्वभाषाणां प्रकृतिरिति भारतीयैतिह्यासिद्धं सत्यम् । तदुक्तं भर्तृहरिणा—

दैवीवाग्व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः । ब्रह्मकाण्ड १५५ ।

---

१. अंग्रेजीभाषायाः शब्दः । २. काशीजनपदस्थाः ।

३. सार्वत्रिकाः, अस्यैव औरङ्गाबाद इत्यस्य नौरङ्गाबाद इति प्रसिद्धमुदाहरणम् ।

४. अजमेरप्रान्तीयाः ५. पंजाबप्रान्तीयाः ।

६. राजस्थानीयाः । ७. प्राच्याः ।

एतस्मात् कारणाद् आदिभाषायाः पूर्वनिर्दर्शितं विपुलं स्वरूपं विज्ञायैव जगतीतले प्रयुज्यमानासु बहुविधासु भाषासु विद्यमानानां साक्षात् परम्परया वाऽपभ्रंशशब्दानां मूलप्रकृतिविज्ञानं सुशकम्। अन्यथा पदे पदे महती भ्रान्तिः, क्लिष्टकल्पना वा स्यात्।

पूर्वनिर्दिष्टान्यथासन्धीनां साधुत्वम्—आदिभाषाया वर्तमानभाषातो वैशिष्ट्यप्रदर्शनावसरे ये केचन प्राचीनाः सन्धिप्रयोगा निर्दर्शिताः, यांश्च भारतीया लक्षणैकचक्षुष्का वैयाकरणाः पाश्चात्यविद्वांसश्च असाधून् प्रमादप्रयुक्तान् वाऽऽहुस्तेषां साधुत्वपरिज्ञानमादिभाषायाः तादृशवैपुल्यपरिज्ञानेऽतिसुकरम्। **तद्यथा**—

क—तपोवास०, वयोपेताम्, तेजोद्भवम्—इत्यादिषु **अच्**प्रत्ययान्ताः तपवयतेजःप्रभृतयोऽकारान्ताः शब्दा द्रष्टव्याः।

ख—ज्ञेयोऽत्मा, गूढोत्मा, सोऽत्मरतिः—इत्यादिषु **सातिभ्यां मनिन्मनिणौ** (उ० ४।१५४) इति विहिते मनिणि **अत उपधायाः** (७।२।११६) इति वृद्धौ प्राप्तायां **संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** इति परिभाषया 'आत्मन्' शब्दसमानार्थकः 'अत्मन्' शब्दो द्रष्टव्यः। तथा सति युक्तरूप एव सन्धिः।

ग—'मेस्यम्' इत्यत्र अस्यसमानार्थको यत्प्रत्ययान्तोऽन्यः 'अस्य' शब्दो द्रष्टव्यः। अस्य साधुत्वं पूर्वनिर्दर्शितकाशकृत्स्ननियमानुसारं क्यप्ण्यत्-प्रत्ययानां साधारणत्वे विस्पष्टम्। पाणिनीयधातुपाठव्याख्यात्रा क्षीरस्वामिनाऽपि 'अस्य' पदस्य साधुत्वमुक्तम् (क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ २१८ पं० ६)। अस्यपदे 'मेऽस्यम्' सन्धियुक्त एव।

ङ—समाहूय इत्यत्र **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (७।१।३७) इत्यादिना विधीयमानस्य ल्यबादेशस्य स्वतन्त्रे प्रत्ययत्वे 'समाहूय' इति छेदे युक्त एव सन्धिः।

एतेनैव समासं विना प्रयुज्यमाना 'गृह्य' आदिप्रयोगाः, समासेऽपि च ल्यबभावरूपाः 'प्रार्थयित्वा' आदिप्रयोगाः साधुत्वं भजन्ति।

एवमादिभाषाया अतिविशालं शब्दराशिं विज्ञाय बहुविधानाम् अपशब्दत्वेनाभिमतानां शब्दानां साधुत्वमुक्तं भवति।

तत्र केवलमुपग्रहपुरुषवचनरूपान्यथाप्रयोगा एव समाधानीया अवशिष्यन्ते। अतस्तेषां समाधानमुच्यते—

५—**वाग्व्यवहारस्य प्रयोजनम्**—स्वाभिप्रायं प्रचिकटिषुर्मानवो वाचं व्यवहरति। तत्रापि सूक्ष्मात् सूक्ष्मतराभिप्रायसूचने शब्द एव समर्थ इति कृत्वा श्रोतारं स्वयथार्थाभिप्रायद्योतनाय वक्ता प्रयत्नपूर्वकं नियतकालकारकविभक्तिवचनलिङ्गयुक्तान् शब्दान् प्रयुंक्ते। तथा ह्युक्तम्—

अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः, अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते । महाभाष्य १।१।४४॥

अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके । निरुक्त १।२॥

लिङ्गवचनकालकारणामन्ययाप्रयोगोऽपशब्दः । अर्थशास्त्र अ० ३१ ।

तस्माद् यदा वक्ताऽक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च स्वाभिप्रेतमर्थमवद्योतयति तदा स तदर्थप्रकाशकानां शब्दानां नियमेनोच्चारणं नादरयति। यथा गृहं प्रविश इत्यर्थे गृहे हस्तेन संकेतिते प्रविश इत्येव प्रयुंक्ते, तथैव पिण्डीं भक्षय इत्यर्थे भक्षय इत्येव ।

एवमेव यदा वक्ता नियतकालकारकविभक्तिवचनलिङ्गयुक्तपदोच्चारणेन प्रतीयमानमर्थविशेषं केनचित् स्वतन्त्रेण शब्देन प्रकटयति, तदा स तदर्थप्रकाशके नियतकालकारकविभक्तिवचनलिङ्गयुक्ते शब्दनिर्देशे न बद्धादरो भवति। **न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः** इति न्यायमाश्रित्य पदपूर्त्यर्थमन्यकालकारकविभक्तिवचनलिङ्गयुक्तम् पदमप्युच्चारयति । अस्यार्थस्य बोधकाः कतिपये नियमा वैयाकरणैरप्यादृताः सन्ति । तद्यथा—

क—पाणिनिना **परोक्षे लिट्** (३।२।११५) सूत्रेण परोक्षभूतार्थस्य निदर्शनाय लिट्लकारो वक्तव्य इत्युक्तम् । **यथा**—धर्मेण कुरवो युयुधिरे इति । यदाऽयं परोक्षभूतार्थो स्म पदेनोच्यते[1] तदा **उक्तार्थानामप्रयोगः** (महा० १।१।४४) इति न्यायेन लिट्लकारो न विवक्ष्यते, तथा सति केवलं युधधातोर्योऽर्थस्तदभिव्यञ्जनमेवावशिष्यते । केवलायाः प्रकृतेः प्रयोगानर्हत्वाद् यः कोऽपि लकारः शक्यते संबद्धुम् । तत्र प्रथमातिक्रमे मानाभावात् लट्लकार एव प्रयुज्यते—धर्मेण स्म कुरवो युध्यन्ते इति । अयं च नियमः पाणिनिना **लट् स्मे** (३।१।११८) सूत्रेण निर्दिष्टः । एतेनैव च नियमेन **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः** (३।४।६) इति सूत्रेण लुङ्लङ्लिटां सामान्यकाले विधानमुच्यते ।

एतेन शिष्टप्रयोगेषु अन्यथाकालिकप्रयोगरूपापशब्ददोषो निर्घातितो भवति ।

ख—अस्ति पाणिनेरपरो नियमः—**स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** (१।३।७२) इति । तथा सति क्रियायाः कर्तृगामिनि क्रियाफले गम्यमाने स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं भवति । तथा सति 'देवदत्त ओदनं पचते' इत्यस्यायमर्थो व्यज्यते—

---

१. स्म अतीते वाक्यपूरणे च । गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ८ । स० कण्ठा० टीका १।१।१२३। पृष्ठ ३७ ।

देवदत्तः स्वभोजनाय ओदनस्य पाकं विधत्ते। एतद्विपरीते 'देवदत्त ओदनं पचति' इत्यस्यायमभिप्रायः—देवदत्तः स्वामिनः कृते ओदनं पचति, न स्वार्थमिति।

सत्यप्येवं नियमे यदा 'क्रियायाः फलं कर्तृगामि' इत्यर्थः केनचित् स्वतन्त्रेण शब्देन द्योत्यते तदा तदर्थप्रापकस्यात्मनेपदस्योच्चारणे वक्ता बद्धादरो न भवति। तस्माद् 'देवदत्तः स्वमोदनं पचति' इत्येवं परस्मैपदमपि प्रयुङ्क्ते। अयं च लोक-व्यवहारः पाणिनिना **विभाषोपपदेन प्रतीयमाने** (१।४।७७) सूत्रेण निर्दर्शितः।

एतेन शिष्टप्रयोगेषु अन्यथोपग्रहकृतापशब्दत्वरूपदोषो निराकृतो भवति॥

ग—**नामाख्यातविभक्तिभ्यः प्रतीयमाना अर्थाः**—नामाख्याताभ्यां या विभक्तयः प्रयुज्यन्ते ताभ्यो विविधा अर्था द्योत्यन्ते। तद्यथा—

नामविभक्तिभ्यः—नामविभक्तिभ्यः कारकस्य संख्यायाश्च बोधो भवति। तद्यथा—'वृक्षम्' इत्युक्ते कर्म कारकम्, तस्य चैकत्वम्, इत्यर्थोऽवगम्यते। एवं सर्वत्राभ्यूहनीयम्।

आख्यातविभक्तिभ्यः—आख्यातेषु त्रयोंऽशा भवन्ति—धातुः, विकरणं विभक्तिश्च। तत्र विभक्तिभ्यः कालः, पुरुषः (प्रथममध्यमोत्तमाः), संख्या च द्योत्यते। विकरणेन च कर्ता, कर्म भावश्च। यथा—**पचति** इत्युक्ते शपा कर्तृत्वम्, तिपा वर्तमानः कालः प्रथमः पुरुषः तस्यैकत्वं च गम्यते। एवं **पच्यते** इत्युक्ते—यका कर्मत्वम्, त प्रत्ययेन पूर्ववत् वर्तमानः कालः, प्रथमः पुरुषः, एकत्वं च। एवं **शय्यते** इत्यत्र यका भावः (धात्वर्थः) ते इत्यनेन पूर्ववत् कालादयः।

सत्येवं, यदा वक्ता नामविभक्तिभ्यः प्रतीयमानोऽर्थविशेषः समासवृत्त्या, कृत्तद्धित-वृत्त्या, प्रातिपदिकार्थान्तरवृत्त्या, विशेष्यविशेषणयोरन्यतरविभक्त्या वा प्रतीयते, तदा तदर्थवाचकविशेषविभक्तेरप्रयोगः, प्रथमायाः प्रयोगोऽन्यविभक्तीनां वा प्रयोगो भवति। यथा—

समासे विभक्तिलोपः—यदा समासवृत्त्या तदन्तर्वर्तिनीनां विभक्तीनामर्थोऽभिहितो भवति, भवति तदाऽन्तर्वर्तिनीनां विभक्तीनां लोपः। यथा—मासेन पूर्वः=मासपूर्वः, गवे हितं=गोहितम्, वृकाद् भयं=वृकभयम्, राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः, अक्षेषु शौण्डः=अक्षशौण्डः।

यदा तु समासवृत्त्या तदन्तर्वर्तिनीनां विभक्तीनां सकलोऽर्थोऽभिहितो न भवति, तदा संज्ञाद्यर्थविशेषपरिज्ञापनाय समासान्तर्वर्तिनीनां लोपो न भवति, उच्चार्यन्त एव ताः। यथा—मनसादत्ता, परस्मैपदम्, स्तोकान्मुक्तः, दास्याः पुत्रः, अरण्येतिलकाः।

कृद्योगेऽन्यविभक्तियोगः—कृत्प्रत्ययाः कर्तरि कर्मणि भावे च यथायोगं भवन्ति। तेन यदा कर्त्रर्थः कृत्प्रत्ययेनोच्यते तदा कर्तरि तृतीया न भवति, कर्त्रर्थस्योक्तत्वात्। यथा देवदत्तः कटं कृतवान्। यदा तु कृत्प्रत्ययः कर्माभिदधाति तदा कर्मणि द्वितीया न भवति कर्मण उक्तत्वात्। यथा देवदत्तेन कटः कृतः। उभयत्र कर्त्रर्थे कर्मार्थे चोक्ते प्रथमातिक्रमे मानाभावात् प्रथमैव भवति।

तद्धितयोगे—यदा तद्धितप्रत्ययैः तत्र भवः इत्येवमादयोऽर्था अभिधीयन्ते तदा तासां तासां विभक्तिविशेषाणां लोपो भवति। यथा—कण्ठ्यम्, शारदिकम्। यदा तु तद्धितेन सोऽर्थो नोच्यते तदा तस्या विभक्त्याः श्रवणं प्रसज्यत एव। यथा—पूर्वाह्णेतरः, पूर्वाह्णेतमः, पूर्वाह्णेतनः, अपराह्णेतनः।

प्रातिपदिकेन विभक्त्यर्थे उक्ते तदभावः—यत्र विभक्त्यर्थः प्रातिपदिकेनैवोच्यते यद्वा विभक्त्यर्थः प्रातिपदिकार्थान्तर्गतो भवति[1] तदा तदर्थस्योक्तत्वात् सा विभक्तिर्नोच्यते। यथा उच्चैः नीचैः।[2]

शब्दार्थस्य प्राधान्यादन्यविभक्तियोगः—तथाह्युक्तं भगवता पतञ्जलिना—**प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति तत्र यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा साऽश्रयितव्या** (१।१।५६) इति। एतेनान्यविभक्तिविन्यासस्य प्रधानं कारणान्तरं निर्दिष्टम्। इदमेव च जैमिनिना **'एकत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात्'** (१।३।२९) इति सूत्रेणोक्तम्। व्याख्यातं शबरस्वामिना—**अश्मकैरागच्छामि अश्मकेभ्य इति गम्यते**। एतेनैव पूर्वनिर्दिष्टा **वनेन वनं गत्वा** इत्येवमादयः प्रयोगा व्याख्येयाः।

विभक्त्यर्थद्योतकेऽन्यशब्दप्रयोगे विभक्तिलोपः—यदा वक्ता वाक्ये तादृक् किंचित् पदं प्रयुङ्क्ते, येन कस्यचित् विभक्तिविशेषस्यार्थोऽवद्योतितो भवति, तदा वाक्ये विभक्तिलोपोऽपि संभवति। यथा—**सोमो गौरी अधिश्रितः** (९।११२।३)। कदाचिच्च विशिष्टार्थद्योतिकाया विभक्तेः स्थान्येऽन्यापि विभक्तिः प्रयुज्यते। यथा—**त्वामग्ने पुष्करादधि** (यजु० १५।२२)। अत्र पुष्करे इति वक्तव्ये अधिना तस्यार्थस्योक्तत्वात् पदपूर्त्यर्थं पञ्चमी प्रयुक्ता।

विशेष्यविशेषणयोरन्यतरविभक्तेर्लोपः—यदा खलु विशेष्यविशेषणयोरन्यतर-

---

१. यथा कर्मणः धातोरर्थान्तरवृत्तौ कर्मणा योगो न भवति।

२. द्रष्टव्यम्—किञ्चिदव्ययं विभक्त्यर्थप्रधानम्·····उच्चैर्नीचैरिति विभक्त्यर्थप्रधानम्। महाभाष्य १।१।३८॥

विभक्त्या विशिष्टार्थोऽवद्योत्यते तदा तदर्थवाचिकाया विभक्तेः समुच्चारणे वक्ता मन्दादरो भवति। तथा सति क्वचिद् विभक्तेरप्रयोगोऽपि भवति। यथा **ऋचोक्षरे परमे व्योमन्** (ऋ० १।१६४।३९)।

आख्यातविभक्तीनामन्यथा प्रयोगः—पूर्वनियमानुसारं यत्र कालकारकसंख्या-विशेषाद्यर्थः केनचित् स्वतन्त्रेण शब्देन व्यक्तीक्रियते तत्र तस्य विशेषार्थस्यावद्योतेन विवक्षाया अभावात् तदर्थप्रकाशिकाया विभक्तेः स्थानेऽन्यविभक्तेरपि प्रयोगो भवति। तद्यथा—

कालबोधकविभक्तेरन्यथा प्रयोगः—यदा धर्मेण कुरवो युयुधिरे इति लिट्विभक्ते-र्वक्तव्योऽर्थविशेषः 'स्म' शब्देनावद्योत्यते तदा लिङ्विभक्तेर्विवक्षाभावात् पदपूर्त्यर्थं लङ्विभक्तिरेवानुप्रयुज्यते। इत्थमेव **श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन** इत्यत्रानद्यतनत्वार्थः श्वः पदेनैवोक्त इतिकृत्वा भविष्यन्मात्रार्थद्योतनाय साधारणो लृङ्लकार एव प्रयुज्यते। अयमेवार्थो भगवता पाणिनिना—**धातुसंबन्धे प्रत्ययाः** (३।४।१) सूत्रेणाख्यातः।[1]

पुरुषबोधकविभक्तेरन्यथा प्रयोगः—पचतिपचसि पचामि इत्येतावन्मात्रेऽपि प्रयोगे क्रमशः स पचति, त्वं पचसि, अहं पचामि इत्याद्यर्थोऽवद्योत्यते। तस्माद् यदा तिप्-सिप्-मिब्भिः प्रतीयमानः पुरुषविशेषार्थस्तत्तच्छब्दैरेव व्यक्तीक्रियते तदा तिप्सिप्-मिपां प्रयोजनाभावाद् एकत्वाद्यर्थमात्रनिदर्शनाय कस्यचिदपि पुरुषविभक्तेः प्रयोगः क्रियमाणो न दोषमावहति वक्तुरभिप्रायस्यावगम्यमानत्वात्। एतेनैव नियमेन **अघास वीरैर्दंशभिर्वियूयाः** (ऋ० ७।१०४।१५), **वयं प्रतिपेदिरे** (महा० शान्ति० ३३६।३१),

---

१. व्याख्यातारो धातुसम्बन्धे इत्यत्र धात्वोः धातूनां वा संबन्ध इति समासं व्याचक्षते। तेषां मते यत्र वाक्ये द्वयोर्बहूनां वा परस्परं संबद्धानां धातूनां प्रयोग-स्तत्रायथाकालेऽपि प्रत्यया भवन्ति इति हि तेषामभिप्रायः। स च चिन्त्यः, छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (३।४।६) इत्यत्रोदाहृतेषु मूर्धन्याभिषिक्तेषूदाहरणेषु द्वयोर्बहूनां वा धातूनां संबन्धस्यादर्शनात्। अत्रत्थं काशिकाकार आह—मुख्योऽत्र धातुसंबन्धः। तस्मात् धातुसम्बन्धे प्रत्यया इत्यस्यायमर्थः—विशिष्टेऽर्थे उत्पद्यमानाः प्रत्ययाः क्वचित् धातुसम्बन्धमात्र एव उत्पद्यन्ते। न तु तत्र तत्र विशिष्टार्थे, तथा सति वाक्यविन्यासस्यानुपपत्तेः। नहि 'अग्निष्टोमयाजी तव पुत्रो जनिता' इत्यत्र भूतार्थ-वाचकेन इनि प्रत्ययेन अनद्यतनभविष्यदर्थवाचकलृटा कथंचित् प्रयोगः संभवति। तस्मादास्माकीनैव व्याख्या समञ्जसा। तथा सति 'स दाधार पृथिवीं' इत्याद्यृक्षु दाधारपदे केवला डुधाञ् धात्वर्थमात्र एवाभिप्रेत इति ज्ञेयम्, न तु परोक्ष-भूतार्थः। तेन दाधार इत्यस्य धृतवान् धरति धरिष्यति इति सार्वकालिकोऽर्थोऽत्र विवक्षितः।

यूयं·····अपराध्येयुः (महा० वन० २३९।१०), **ददृशिरे वयम्** (महा० ३३६।३५) इत्यादयः संहिताप्रयोगाः शिष्टप्रयोगाश्चाञ्जसैवोपपद्यन्ते।

संख्याबोधकविभक्तेरन्यथा प्रयोगः—यदा विभक्तिविशेषण प्रतीयमानः संख्याविशेषार्थोऽन्येन केनचिच्छब्देनावद्योतितो भवति, तदा तत्संख्याविशेषार्थद्योतिकाया विभक्तेर्विवक्षाभावात् तस्याः स्थानेऽन्यसंख्याबोधिकाविभक्तिरप्यनुप्रयुज्यते। यथा—**चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति** (ऋ० १।१६२।६)। अत्र धातोः कर्तृबहुत्वं 'ये' पदेन व्यक्तीकृतमित्यतः तस्यार्थस्याविवक्षातः कालमात्रबोधनाय तक्षति इति एकवचनमेव प्रयुक्तम्। इत्थमेव लौकेऽपि **शालावृकाः·····विदन्ति** (महा० शान्ति १३३।८), **विराट् द्रुपदो·····ययुः** (महा० शान्ति १८६।३१) इत्यादयः शिष्टप्रयोगा उपपद्यन्ते।

कर्तृकर्मवाचकविकरणानामन्यथा प्रयोगः—इत्थमेव यदा विकरणविशेषैरवद्योतनीयोऽर्थविशेषोऽन्येन केनचिच्छब्देन साक्षादुच्यते तदा तदर्थद्योतकस्य विकरणस्य प्रयोगे विवक्षाया अभावाद् अन्यार्थबोधको विकरणोऽपि प्रयुज्यते।

एवमतिभाषायाम्, आदिभाषायां, प्राचीनगीर्वाण्यां वा प्रयुज्यमानानां अपाणिनीयप्रयोगाणां सोपपत्तिकं प्रामाण्यविवेचनमस्माभिः कृतम्। अस्मद्दिशा अष्टाध्याय्या व्याख्याने भाषाव्यवहारप्रयोजनविचारे च क्रियमाणे ते सर्वेऽपि **शिष्टप्रयोगाः साधव एव** सन्ति यान् सांप्रतिका लक्षणैकचक्षुष्का वैयाकरणा असाधून्, अप्रयोगार्हान् वा मन्यन्ते। वस्तुतस्तु स तेषां भ्रम एव। नहि ते व्याकरणशास्त्रस्य वास्तविकं प्रयोजनं विदन्ति।

व्याकरणस्य प्रयोजनम्—नहि व्याकरणं भाषायां प्रयुज्यमानानां शब्दानां साधुत्वासाधुत्वविवेचकं शास्त्रम्, शब्दानामानन्त्यात् तद्विवेचनस्यासंभवात्। भगवता पतञ्जलिना तु व्याकरणस्य प्रयोजनं शिष्टशब्दव्यवहारपरिज्ञानमेवोक्तम्, न साधुत्वासाधुत्वविवेचनम्। शब्दानां साधुत्वासाधुत्वे तु खलु शिष्टा एव प्रमाणमित्युक्तम्। तथाहि—

यदि तर्हि शिष्टा एव शब्देषु प्रमाणम्, किमष्टाध्याय्या क्रियते ? शिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी·····।६।३।१०९॥

मीमांसका अपि शब्दानां साधुत्वासाधुत्वे शिष्टा एव प्रमाणमित्याहुः (द्र०—मी० शाबरभाष्य १।३।२७)।

सति चैवम्, पूर्वनिर्दिष्टानां तादृशां चान्येषां शिष्टाप्रयोगाणामसाधुत्वं वदन्तो

हरदत्तादयो वैयाकरणा देवभाषातो व्याकरणाच्च स्वस्याज्ञानमेवाविष्कुर्वन्ति ।[1] न तेषामज्ञाने शिष्टाप्रयोगाणां साधुत्वं शक्यतेऽपाकर्तुम् ।

शिष्टानां लक्षणम्—के नाम तत्र भवन्तः शिष्टाः, ये भगवन्तो वाचः साधुत्वासाधुत्वे प्रमाणभूता इति जिज्ञासायां भगवान् भाष्यकार आह—

एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणा किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः । (महा० ६।३। १०९) ।

चरकसंहितायामपि तत्र भवतामाप्तानां शिष्टानां लक्षणमेवमुपदिश्यते—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये ।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम् ।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥
सूत्रस्थान ११।१८,१९॥

एतादृशामाप्तानां शिष्टानां ये प्रयोगास्तद्ग्रन्थेषूपलभ्यन्ते, कथंकारं नाम ते असाधवो भवितुमर्हन्ति । तेषामनुसरणमष्टाध्यायी, अन्यद्वा किञ्चिद् व्याकरणं करोतु नवा, ते तु साधव एव । नहि दिवान्धानामह्नि दर्शनाभावो सूर्यालोकं दूषयितुं क्षमः, किन्तु तेषां चक्षुषामेव तादृग्व्यतिकर द्योतयति । एवमेव, नहि व्याकरणाननुगममात्रादेव शिष्टप्रयोगाणामसाधुत्वं शक्यते वक्तुम्, अपि तु तद्व्याकरणस्यैवाकात्स्न्यं ब्रवीति । तस्मान् नह्यपाणिनीयत्वं शब्दानां साधुत्वासाधुत्वे व्यवस्थापकम् ।[2]

उपसंहारः

एवमस्मिन् लेखेऽस्माभिरतिसंक्षेपेण आदिभाषायाः स्वरूपवैपुल्यं, शब्दराशिबाहुल्यम्, अतिभाषायाः साम्प्रतिकसंस्कृतभाषातो वैशिष्ट्यं, भाषाव्यवहारप्रयोजनानुरोधेन स्वच्छन्दप्रयोगत्वं लक्षणैकचक्षुष्कैर्वैयाकरणैरपशब्दत्वेन प्रतिज्ञातानां शिष्ट-

---

१. इतिहासपुराणेष्वपशब्दा अपि संभवन्ति । पदमञ्जरी, भाग १ पृष्ठ ७ । सखिना पतिना पतो·····असाधव एवैते । शब्दकौस्तुभ १।४।७॥

२. एतद्विषये प्रक्रियासर्वस्वकर्तुर्मट्टनारायणस्य 'अपाणिनीय-प्रामाणिकता' पुस्तकमपि दर्शनार्हं वर्तते । 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' इति नाम्ने ग्रन्थस्य तृतीये भागे प्रथमपरिशिष्टे अस्या मुद्रणमस्माभिः कृतम्, तत्र द्रष्टव्यम् ।

प्रयोगाणां साधुत्वं च सम्यगुपपादितम् ।

तत्रैव च प्रसंगेन अष्टाध्याय्याः सम्प्रत्युपलभ्यमानानां व्याख्यानानामर्वाजरती-यत्वमवैज्ञानिकत्वं च प्रदर्श्य तस्या वैज्ञानिकव्याख्यास्वरूपमुपवर्णितम् ।

आशासे शास्त्रजुषो नीरजस्तमा निर्मत्सरा लक्ष्यैकचक्षुषो विद्वांसो यदत्र साधूपपादितं तत्स्वीकृत्य असाधूक्तं सकलशास्त्रसमन्वयदृष्ट्या समाधास्यन्ति । यद्ययं लेखः कस्यचिदेकस्यापि जिज्ञासोर्हृदये आर्षभाषाया दिव्यममलमतिविपुलं च स्वरूपं प्रकाशयेत्तर्हि सफलं मन्ये स्वप्रयासम् । इत्यलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु ।

महाभाष्य से प्राचीन
अष्टाध्यायी की सूत्रवृत्तियों का स्वरूप

अष्टाध्यायी पर आजतक अनेक वृत्तिग्रन्थ बन चुके हैं, जिनमें से कई एक इस समय उपलब्ध भी हैं। पर महाभाष्य से पहले पाणिनीयाष्टक पर कौन-कौन सी वृत्तियां बन चुकी थीं, इसका आज पता नहीं चलता। महाभाष्य के अनन्तर जितनी भी वृत्तियां बनी हैं, उन सबका मुख्य आधार महाभाष्य ही है, अतः सब ने सूत्रार्थ में प्रायः उसका ही अनुकरण किया है। महाभाष्य से पूर्व किस सूत्र का क्या अर्थ समझा जाता था, इसका अब पता चलना अत्यन्त दुष्कर है। अर्थ में ही नहीं अपितु सूत्रपाठ में भी पर्याप्त अन्तर हो गया[1] है। महाभाष्यकार ने कई स्थानों पर योग-विभाग किया है[2]। वृत्तिग्रन्थ भी प्रायः उसी महाभाष्यकृत योगविभाग की ही व्याख्या करते हैं। इस प्रकार यदि आज महाभाष्य अनुपलब्ध होता तो हम निश्चय-रूप से पतञ्जलिकृत योगविभागों को ही पाणिनिकृत स्वतन्त्र असली सूत्र समझते! वैयाकरणों का अत्यन्त सौभाग्य है कि महाभाष्य आज उपलब्ध है और उसके आधार पर पाणिनीय सूत्रों का शुद्ध पाठ बहुत सीमा तक निर्णीत हो जाता है। जिस प्रकार महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने प्रयोगों के साधुत्व-सम्पादनार्थ कई स्थानों पर योगविभाग किया है, उसी प्रकार उन्होंने कई सूत्रों की वृत्तियों का भी परिष्कार किया है। आजकल प्रायः उन्हीं परिष्कृत वृत्तियों का पठन-पाठन होता है। पर उस परिष्कार से पूर्व उन सूत्रों की क्या वृत्तियां थीं, इसका जानना बड़ा आवश्यक है।

---

१. यथा—अष्टमाध्याय के चतुर्थपाद का २७वां सूत्र 'उपसर्गाद् बहुलम्' है, पर यह भाष्यकार का परिष्कृत न्यास है, पाणिनि का वास्तविक सूत्र 'उपसर्गाद्-नोत्परः' है। सब वृत्तिकार 'उपसर्गाद् बहुलम्' की ही व्याख्या करते हैं।

२. यथा—'उञ ॐ' इस एक सूत्र का विभाग करके 'उञः' 'ॐ' दो सूत्र बना दिये। 'उञ इति योग-विभागः कर्त्तव्यः।...तत...ॐ.....।'

महाभाष्य १।१।१७॥

प्राचीन वृत्तिग्रन्थ

अष्टाध्यायी पर महाभाष्य से पूर्व निस्सन्देह अनेक वृत्तिग्रन्थ बन चुके थे। पर आजकल उनके नाम भी पूर्णतया उपलब्ध नहीं होते। सम्पूर्ण प्राचीन व्याकरण-साहित्य का अवगाहन करने पर महाभाष्य से प्राचीन केवलमात्र दो वृत्तियों के ही नाम उपलब्ध होते हैं।[1]

कुणिवृत्ति

'एङ् प्राचां देशे' (अ० १।१।७५) सूत्र में महाभाष्यकार ने **'प्राचां'** पद को आचार्य का विशेषण माना है। इस पर कैयट लिखता है—**"कुणिना प्राग्ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थं च व्याख्यातम्। ·····भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रयत्"** अर्थात् कुणिनाम के आचार्य ने प्राग्ग्रहण को आचार्य का विशेषण लिखा है·····भाष्यकार ने **'कुणि'** के मत को माना है। बस इससे अधिक इस वृत्ति के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता[2]।

कैयट के उपर्युक्त लेख से यह भी स्पष्ट है कि कुणि से भिन्न आचार्य प्राग्ग्रहण को देश का ही विशेषण मानते थे, जैसा कि काशिकाकार ने भी माना है।[3]

माथुरीवृत्ति

'तेन प्रोक्तम्' (अ०४।३।१०१) इस सूत्र पर महाभाष्यकार ने लिखा है **'यत्तेन प्रोक्तं न च तेन कृतम् [इति] माथुरी वृत्तिः'** अर्थात् अन्य आचार्य द्वारा बनाई हुई वृत्ति का **'माथुर'** नाम के आचार्य ने प्रवचन किया, अतः उसका नाम **'माथुरीवृत्ति'** हुआ।[4]

महाभाष्यकार के इस उल्लेख से यह पता नहीं चलता कि उक्त वृत्ति किस ग्रन्थ की थी। पर भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने **"कालोपसर्जने च तुल्यम्"** (अ० १।२।५७) सूत्र पर लिखा है—**"माथुर्यां तु वृत्तावशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते"**

---

१. न्यास में 'चून्नि (चूल्लि), भट्टि, निर्लूर (नल्लूर)' इन तीन वृत्तियों के नाम मिलते हैं, पर ये या इनमें से कोई भी भाष्य से प्राचीन है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं मिलता (न्यास भा० १ पृष्ठ २)॥

२. 'पाणिनिप्रणीतानां सूत्राणां कुणिप्रभृतिभिराचार्यैर्विरचितं विवरणम्'—पदमञ्जरी॥

३. 'एङ् यस्याचामादिस्तत् प्राग्देशाभिधाने वृद्धसंज्ञं भवति'—काशिका॥

४. 'अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः'—काशिका ४।३।१०१॥

(मा० वृ० पृ० २५) अर्थात्—माथुरी वृत्ति में 'अशिष्यम्' पद की अनुवृत्ति द्वितीय पाद के अन्त तक जाती है। इससे स्पष्ट है कि माथुरी वृत्ति अष्टाध्यायी की ही थी और महाभाष्यकार का संकेत इसी वृत्ति की ओर है। अतः यह वृत्ति भी महाभाष्य से प्राचीन थी।

अनुपलब्ध प्राचीन सूत्रवृत्तियों के संग्रह के उपाय

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन वृत्ति-ग्रन्थों में सूत्रों के अर्थ बड़े ही विचित्र प्रकार के थे, जो काल के प्रभाव से नष्ट हो गये हैं। संप्रति उन्हीं नष्ट हुए सूत्रार्थों के संग्रह करने के निम्न उपाय हैं—

(१) काशिका, भागवृत्ति, भाषावृत्ति तथा सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में कई स्थानों पर मतान्तरों का उल्लेख मिलता है,[२] जिनसे सूत्रार्थ में भी भिन्नता आ जाती है। यदि वे मत महाभाष्य के अनुसार न हों तो समझना चाहिये कि उनका संकेत किन्हीं प्राचीन वृत्तियों की ओर है।

(२) काशिका आदि वृत्तियों के सूत्रार्थ यदि महाभाष्यानुसारी न हों तो निश्चय रूप से समझना चाहिये कि उक्त अर्थ किसी महाभाष्य से प्राचीन वृत्ति के आधार पर हैं। यथा 'एङ् प्राचां देशे' (अ० १।१।७४) सूत्र का काशिकाकार का अर्थ 'कुणिवृत्ति' और महाभाष्य के अनुसार नहीं है। पर कैयट के लेख से यह स्पष्ट है कि महाभाष्य से प्राचीन वृत्तियों में भी प्राग्-ग्रहण देश का विशेषण माना गया था, अन्यथा वह 'कुणिदशंनमशिश्रयत्' ऐसा न लिखता।

(३) महाभाष्यकार ने (सूत्रार्थ के विषय में) कई स्थानों पर अनेक पक्ष उपस्थित करके अन्त में एक परिष्कृत सिद्धान्त पक्ष लिखा है। मेरे विचार में भाष्यकार जितने पक्षों का उल्लेख करते हैं वे सब प्राचीन वृत्तिकारों के विभिन्न सूत्रार्थ हैं। परन्तु उन पक्षों में दोष होने के कारण महाभाष्यकार ने उन्हें हेय माना है। यथा—'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (अ० १।२।१) इस सूत्र पर (१) सम्बन्ध प्रतिपादन (२) भावन (३) संज्ञाकरण तथा (४) अतिदेश ये चार पक्ष लिखे हैं। इन चारों पक्षों में सूत्रार्थ निम्न प्रकार होगा।

(क) गाङ् और कुटादि धातुओं से परे अञ्णित् प्रत्यय ङित्(इत्संज्ञक ङकार) से युक्त होते हैं।[२]

---

१. केचित् तस्मै हितमित्यनुवर्तयन्ति। काशिका ५।१।१२॥
अपरे पुनरेवं सूत्रार्थमाहुः···। काशिका ५।४।२१॥ इत्यादि॥

२. गाङ्कुटादिभ्यः परोऽञ्णित् प्रत्यय इत्संज्ञकङकारयुक्त इत्यर्थः'—उद्योत १।२।१॥

(ख) गाङ् और कुटादि से परे अञ्णित् प्रत्यय ङित् होते हैं अर्थात् इत्संज्ञक ङकार उनका होता है।[1]

(ग) गाङ् और कुटादि धातुओं से परे अञ्णित् प्रत्यय ङित्संज्ञक होते हैं।[2]

(घ) गाङ् और कुटादि से परे अञ्णित् प्रत्यय ङिद्वत् होते हैं[3]।

इन पक्षों पर यह सन्देह किया जा सकता है कि यह कैसे माना जाय कि ये सब प्राचीनवृत्तिकारों के अर्थ थे। इसके विरुद्ध यह क्यों न माना जाय कि स्वयं भाष्यकार ने अपनी बुद्धि से इन पक्षों का उत्थान किया है। इसका उत्तर यह है कि जबतक ऐसे अर्थों का कोई मूल न माना जाय तबतक यह बात असङ्गत प्रतीत होती है कि 'भाष्यकार स्वयं प्रकरण से असम्बद्ध अर्थों की कल्पना करके उनका प्रत्याख्यान करते हैं'। दूसरे इनमें तृतीय पक्ष अर्थात् जहां ङित् या कित् का विधान किया जाता है, वहां ङित् या कित् उनकी संज्ञा होती है—ऐसा अर्थ हमें आज भी उपलब्ध होता है[4]।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि ये पक्ष भाष्यकार की स्वकल्पना-प्रसूत होते तो तदनन्तर भावी कोई भी वृत्तिकार इन असत्-पक्षों का आश्रय न लेते। परन्तु पूर्ववृत्ति-ग्रन्थों के अर्थ मानने पर यह अवकाश रहता है कि अन्य आचार्यों के मतानुसार भाष्यकार से अनभिमत सूत्रार्थ भी माना जा सकता है और हम उसे अप्रामाणिक नहीं कह सकते, यथा 'एङ् प्राचां देशे'(अ० १।१।७४) सूत्र में काशिकाकार ने माना है।

(४) प्राचीन व्याकरणों के तुलनात्मक अध्ययन से भी कुछ एक सूत्रों के प्राचीन अर्थ जाने जा सकते हैं। इस विषय में सबसे अधिक सहायता चान्द्र व्याकरण से मिलती है।

---

१. 'गाङ्कुटादिभ्यः परो योऽञ्णित्प्रत्ययः स ङिद् भवति ङकार इत्संज्ञकस्तस्य भवतीत्यर्थः'—कैयटे १।२।१॥

२. 'संज्ञाकरणं तर्हीदम्—गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् प्रत्ययः ङित्संज्ञो भवतीति'—भाष्ये १।२।१॥

३. 'तद्वदतिदेशस्तर्ह्यर्थम्—गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् ङिद्वद् भवति'—भाष्ये १।२।१॥

४. तुलना करो—रमेर्नित् (द० उ० १।३२) रमेर्धातोरतिः प्रत्ययो भवति नित्संज्ञकः। द० उ० वृत्ति पृ० २२॥ वेञो डित् (द० उ० १।३९) वेञो धातोरौचिप्रत्ययो भवति डित्संज्ञः। द० उ० वृ० पृ० २५॥ इस प्रकार इस दशपादी-उणादिवृत्ति में प्रायः करके संज्ञाकरण पक्ष को ही माना है। इस दशपादी-उणादिवृत्ति का मेरे द्वारा सम्पादित संस्करण प्रकाशित है।

उदाहरणार्थ **'जात्याख्यायामेकस्मिन्'** (अ० १।२।५८) इत्यादि सूत्र से लेकर **'ग्राम्यपशुसघेष्वतरुणेषु स्त्री'** (अ० १।२।७६) इस सूत्र पर्यन्त **'बहुवचनाद्यतिदेश'** तथा **'एकशेष प्रकरण'** चान्द्र व्याकरण में उपलब्ध नहीं होता। इससे प्रतीत होता है कि वह 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' (अ० १।२।५१) इत्यादि सूत्रों की तरह इन सूत्रों को भी अशिष्य मानता है और पाणिनीयाष्टक में जिन सूत्रों को अशिष्य कहा गया है उन्हें अपने व्याकरण में नहीं रखता। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि चन्द्राचार्य बहुवचनाद्यतिदेश तथा एकशेष के प्रकरण को भी अशिष्य ही समझता है। हमारे इस अनुमान की पुष्टि माथुरी वृत्ति के पूर्वोक्त उद्धरण से भी होती है, अतः पूर्वापर विचार करने पर मानना पड़ता है कि चन्द्राचार्य की दृष्टि में इन सूत्रों का माथुरी वृत्ति का अर्थ अवश्य था, जिसके आधार पर उसने इन प्रकरणों को भी अशिष्य समझकर अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया।

इतना ही नहीं, अपितु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर युक्तवद्भाव की तरह बहुवचनाद्यतिदेश तथा एकशेषप्रकरण भी अशिष्य माने जा सकते हैं, क्योंकि शास्त्र और लोक दोनों में जाति और व्यक्ति दोनों ही पदार्थ माने जाते हैं। एक को पदार्थ मानकर न तो शास्त्रीय कार्य उपपन्न होते हैं और ना ही लौकिक। अतः इस विषय में शास्त्रकारों ने यह सिद्धान्त माना है कि वक्ता के अभिप्रायानुसार कहीं पर जाति की प्रधानता होती है और कहीं पर व्यक्ति की। जहां जाति की प्रधानता और व्यक्ति की अप्रधानता होगी वहां जाति के एकत्व के आश्रय से एकवचन स्वतः सिद्ध है। जहां पर जाति की अप्रधानता और व्यक्ति की प्रधानता होगी वहां व्यक्तियों के बहुत होने से बहुवचन भी स्वतः सिद्ध है[1]। पुनः इन सूत्रों की आवश्यकता ही क्या है? **'अस्मदो द्वयोश्च'** (अ० १।२।५९) आदि सूत्रों में भी उपचार से बहुवचनादि सिद्ध हो जाते हैं। अथवा **'शब्दान्तराण्येवं जातीयकानि किं तत्रास्माभिः शक्यं कर्त्तुम्'** इस शास्त्रवचन का आश्रयण करना होगा। इसी प्रकार **'पुमान् स्त्रिया'** (१।२।६७) इत्यादि सूत्रों में भी उपचार से कार्य चल सकता है। अतः चान्द्र-व्याकरण में इन प्रकरणों को स्थान न मिलना युक्तियुक्त ही है। तथा उसकी दृष्टि में भी इन पाणिनीय सूत्रों का अशिष्य मानने वाला अर्थ अवश्य विद्यमान था। यहां हमें भाषावृत्तिकार का बहुत धन्यवाद करना चाहिये क्योंकि उसके ग्रन्थ से ही हमें इस बात का ज्ञान हुआ है कि माथुरीवृत्ति में इन प्रकरणों को अशिष्य माना है। इस प्रकार छोटे

---

१. 'यदा हि भेदविवक्षा विशेषगतिश्च तदा व्यक्तिः प्रधानम्, अङ्गं तु जात्याकृती। यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यगतिश्च तदा जातिः अङ्गं तु व्यक्त्याकृती' न्या० वात्स्या० भा० २।२।६८॥

से संकेत से १६ सूत्रों का अर्थ सर्वथा बदल जाता है।

इसी प्रकार 'रङ्कोरमनुष्येऽण् च' (अ० ४।२।१००) इस पाणिनीय सूत्र के स्थान पर चान्द्र-व्याकरण में 'रङ्कोः प्राणिनि वा' (अ० ३।२।६) ऐसा पाठ है। इस पाठ के अनुसार रङ्कु शब्द से प्राणीमात्र अभिधेय होने पर (मनुष्य अर्थ में परत्वात् वुञ् बाधक हो जाता है) अण् और फक् होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि चान्द्रसूत्रकार पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र में **'अमनुष्ये'** इस पद का अर्थ मनुष्य-भिन्न तत्सदृश प्राणी ही मानता है (भाष्यकार इस मत से असहमत हैं)। व्याकरण-शास्त्र में **'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः'** यह न्याय सर्वप्रसिद्ध है। काशिकाकार ने भी यहां इसी मत का आश्रय लिया है। अतः चान्द्रसूत्र तथा काशिका दोनों की तुलना करने पर यह प्रतीत होता है कि इन दोनों से प्राचीन कोई वृत्तिग्रन्थ रहा होगा, जिसमें इस सूत्र की इसी प्रकार की वृत्ति रही होगी और उसी के आधार पर चन्द्राचार्य ने उपर्युक्त सूत्र की रचना की होगी।

इस प्रकार प्राचीन वृत्तियों के संग्रह में सबसे अधिक सहायता महाभाष्य से मिलती है। प्राचीन वृत्तियों के सूत्रार्थ तथा उदाहरणों से महाभाष्य भरा पड़ा है। उसमें सूत्रार्थविषयक जितने भी पक्षान्तर मिलते हैं, उनके संग्रह करने से सूत्रों को विभिन्नरूप से समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

इस अध्ययन कैसे आकृष्ट हुआ

महाभाष्यकार पक्षान्तरों का उत्थान किस आधार पर करते हैं, यह विचार बहुत दिनों से मेरे मस्तिष्क में चक्कर काट रहा था। एक बार जब मैं महाभाष्य का तृतीय अध्याय पढ़ा रहा था, उसमें **'कष्टाय क्रमणे'** (अ० ३।१।१४) सूत्र पर प्रारम्भ में ही **'कष्टाय इति किं निपात्यते'** अर्थात् कष्टाय पद में क्या निपातन है? इस पंक्ति को देखकर एक क्षण के लिये स्तब्ध हो गया और सोचने लगा कि यहां **'किं निपात्यते'** इस प्रश्न का प्रसंग ही क्या है? इस सूत्र का अर्थ—चतुर्थी-समर्थ कष्ट शब्द से क्रमण=अनार्जव अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है—ऐसा है। यहां किसी पद का निपातन नहीं किया गया है। अतः यहां इस प्रश्न की क्या आवश्यकता है? इस विचार के अनन्तर दूसरे क्षण में ही विचार उत्पन्न हुआ कि हो न हो महाभाष्य से प्राचीन किसी वृत्ति में चतुर्थीसमर्थ कष्ट शब्द से क्रमण=अनार्जव अर्थ में क्यङ् का निपातन होता है[1]—ऐसी वृत्ति रही हो? पर महाभाष्यकार ने इस वृत्ति में कुछ न्यूनता होने के कारण इस सूत्र के अर्थ का 'कष्ट के लिये

---

१. कष्टशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात् क्रमणेऽनार्जवे क्यङ् प्रत्ययो भवति—काशिका ३।१।१४॥

जो प्रातिपदिक उससे क्रमण अर्थ में क्यङ् प्रत्यय होता है[1]' इस प्रकार परिष्कार कर दिया। बस उसी समय से यह सन्देह उत्पन्न हो गया कि क्या भाष्यकार ने जिन विभिन्न पक्षों का उपपादन किया है, वे सब पक्ष प्राचीन वृत्तिकारों के हैं या कुछ और ? इस प्रश्न पर बहुत दिनों तक विचार किया पर कोई सन्तोषजनक उत्तर ध्यान में नहीं आया। एक दिन मैं दशपादी उणादिवृत्ति की प्रेसकापी लिख रहा था कि अचानक मेरा ध्यान **'रुविदिभ्यां कित्'** (द० उ० ६।४२) सूत्र की वृत्ति की ओर आकृष्ट हुआ। उसमें लिखा था **'आभ्यामथप्रत्ययो भवति चित्संज्ञकः कित्च'**। इस वृत्ति में **'चित्संज्ञकः'** पद देखते ही **'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्'** (अ० १।२।१) सूत्र का भाष्य स्मरण आ गया। वहां पर एक पक्ष यह लिखा हुआ है—**'संज्ञाकरणं तर्हीदम्—गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् ङित्संज्ञो भवति, असंयोगाल्लिट् कित्संज्ञो भवति'**। बस इस भाष्यपाठ के स्मरण आते ही पूर्व विचारधारा निश्चयरूप में परिणत हो गई।

अर्थ-भेद का प्रयोग-साधुत्व पर प्रभाव

यद्यपि इस प्रकार सूत्रार्थ में भेद होने पर प्रयोगसिद्धि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि कहीं-कहीं प्रयोगों पर भी उनका प्रभाव पड़ता है, जो कि प्रयोग के साधुत्वज्ञान के लिये बहुत आवश्यक है। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर यहां पर केवल दो उदाहरण दिये जाते हैं। उणादिवृत्तिकार श्वेतवनवासी **'मत्वर्थे मासतन्वोः'** (अ० ४।४।१२८) सूत्र के विषय में लिखता है कि कई वृत्तिकार इस सूत्र में **'भवेच्छन्दसि'** (अ० ४।४।११०) सूत्र से **'छन्दसि'** पद की अनुवृत्ति नहीं लाते, उनके मत में **'शुक्र'** आदि पद भाषा में भी प्रयुक्त हो सकते हैं[2]। इससे यह स्पष्ट है कि यदि **'छन्दसि'** पद की अनुवृत्ति मानी जाय तो **'तपः, तपस्य, सहः, सहस्य, शुचि, शुक्र'** इत्यादि पद वेद में ही प्रयुक्त हो सकते हैं। यदि अनुवृत्ति न मानी जाय तो इन पदों का लोक में भी प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार **'रङ्कोरमनुष्येऽण् च'** इस सूत्र का यदि महाभाष्यकार का अभिमत अर्थ माना

---

१. नेदं प्रत्ययान्तनिपातनम्। किं तर्हि ? तादर्थ्ये एषा चतुर्थी। कष्टाय यत् प्रातिपदिकम्=कष्टार्थं यत् प्रातिपदिकम् इति। महाभाष्य ३।१।१४॥

२. शुगस्मिन्नस्तीति मत्वर्थे लुक्, अकारेकाररेफाश्च प्रत्यया इति यः शुक्रशब्दः स तु छन्दसि इति केचित्। तत्र 'भवेच्छन्दसि' इति केचित् छन्दसीत्यनुवर्तयन्ति। अन्ये तु नानुवर्तयन्ति। तेषां शुक्रो मास इत्यादयः प्रयोगाः साधवः॥

श्वे० उ० वृ० पृ० ६९॥

(अयमस्मद्धस्तलेखानुसारी पाठः मुद्रिते त्वशुद्धः)

जाय तो 'राङ्गायणः कम्बलः' यह प्रयोग सिद्ध होता है। यदि चान्द्र-व्याकरण और काशिकाकार का अर्थ मानें तो कम्बल अर्थ में फक् नहीं हो सकता। वहां 'राङ्गवः कम्बलः' यही प्रयोग बनता है।

उपसंहार

इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन वृत्तियों के संग्रह का कार्य अनेक दृष्टियों से बड़े ही महत्त्व का है। इस कार्य से न केवल अष्टाध्यायी पर ही विशेष प्रकाश पड़ेगा, परञ्च प्राचीन इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा, ऐसी आशा है।

इस प्रकार मेरे मन में जो विचारधारा उत्पन्न हुई है, उसे विचारार्थ इस लेख द्वारा प्रकाशित किया है। आशा है कि विद्वन्महानुभाव इस पर अपने-अपने विचार लिखकर अधिक प्रकाश डालेंगे॥ इति शम्॥

वेद में किसी प्रकार का व्यत्यय

भारतयुद्ध तक ऋषियों की अविच्छिन्न परम्परा वर्तमान रही। वर्तमानकाल में प्राप्त वा विज्ञात जितना वैदिक वाङ्मय है, प्रायः उसका प्रवचन भगवान् कृष्णद्वैपायन तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने किया था। यह प्रवचन भारतयुद्ध से लगभग १५० वर्ष पूर्व से आरम्भ होकर १५० वर्ष पश्चात् तक चलता रहा। यह आर्षयुग का अन्तिम काल था। इसी काल के मध्य ऋषियों का उत्क्रमण आरम्भ हो गया था। निरुक्त १३।१२ में यास्क ने लिखा है—**मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यति**। अर्थात् जब ऋषियों का क्षय होने लगा तब मनुष्यों ने देवों से पूछा—हमारे में अब कौन ऋषि होगा ?

ऋषियों के शनैः-शनैः समाप्त होने पर विगत पांच सहस्र वर्षों में वेद-शास्त्र विषयक रहस्य भी शनैः-शनैः लुप्त होते गये। इसी काल में वैदिक वाङ्मय के सहस्रों ग्रन्थ भी लुप्त हो गये। अतः इस काल में वेदविषयक अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गईं। उनके निराकरण के लिये कोई भी विशेष प्रयत्न नहीं हुआ। इस काल में वेदों का सम्बन्ध केवल द्रव्यमय यज्ञों तक सीमित हो गया। यज्ञों में मन्त्रों के उच्चारणमात्र से समस्त इष्ट सिद्धियों के प्रापक अदृष्ट की कल्पना के कारण मन्त्रानर्थक्यवाद उत्पन्न हो गया। यास्क याज्ञवल्क्य जैमिनि प्रभृति आचार्यों द्वारा मन्त्रों की अर्थवत्ता सिद्ध करने पर भी मन्त्रों की अर्थवत्ता याज्ञिक अर्थ तक सीमित हो गई। इस कारण विद्वानों का ध्यान वेदविषयक उत्पन्न समस्याओं के निराकरण की ओर नहीं गया। इस सुदीर्घ काल में एकमात्र वेङ्कटमाधव नाम के ऋग्वेद के भाष्यकार ने वेदविषयक कतिपय समस्याओं के विषय में विचार किया है। इनमें एक समस्या थी कि उदात्तादि स्वरों का मन्त्रों के पदार्थ और वाक्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं। इस पर वेङ्कटमाधव ने बड़ी गम्भीरता से प्रकाश डाला है। परन्तु उत्तरवर्ती वेदभाष्यकारों ने इसका कोई लाभ नहीं उठाया।

वेद के विषय में जो अनेक समस्याएं हैं उनमें एक समस्या **व्यत्यय** की है।

वेद के सभी भाष्यकार मन्त्रों में जो पद अथवा विभक्ति वचन आदि लौकिक भाषा के विपरीत दिखाई पड़ते हैं, उनमें व्यत्यय को स्वीकार करके मन्त्रार्थ करते हैं और इसमें पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लेते है।

पाणिनीय व्याकरण में वैदिक पदों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के व्यत्यय कहे गये हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्यत्ययो बहुलम् (अ० ३।१।८५) सूत्र की व्याख्या में कुछ व्यत्ययों का निदर्शन इस प्रकार कराया है—

योगविभागः कर्त्तव्यः ॥ [व्यत्ययः] व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति। आण्डा शुष्णस्य भेदति। भिनत्तीति प्राप्ते। स च न मरति। म्रियत इति प्राप्ते। ततो बहुलम्। बहुलं छन्दसि विषये सर्वे विधयो भवन्तीति। सुपां व्यत्ययः, तिङां व्यत्ययः, वर्णव्यत्ययः, लिङ्गव्यत्ययः, कालव्यत्ययः, पुरुषव्यत्ययः, आत्मनेपदव्यत्ययः, परस्मैपदव्यत्यय इति।

सुपां व्यत्ययः—युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः। दक्षिणायामिति प्राप्ते।

तिङां व्यत्ययः—चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति। तक्षन्तीति प्राप्ते।

वर्णव्यत्ययः—त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्। सुहितमिति प्राप्ते।

लिङ्गव्यत्ययः—मधोर्गृह्णाति। मधोस्तृप्ता इवासते। मधुन इति प्राप्ते।

कालव्यत्ययः—इवोऽग्नीनाधास्यमानेन। श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन। आधाता यष्टा इत्येवं प्राप्ते।

पुरुषव्यत्ययः—अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः। वियूयादिति प्राप्ते।

आत्मनेपदव्यत्ययः—ब्रह्मचारिणमिच्छते। इच्छतीति प्राप्ते।

परस्मैपदव्यत्ययः—प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युधति। युध्यत इति प्राप्ते।

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयडां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥

अन्त में पढ़ी गई कारिका में संकलित व्यत्ययों के उदाहरण पूर्व भाग में निर्दिष्ट हैं। उपग्रह शब्द से आत्मनेपद-परस्मैपद का निर्देश जानना चाहिये और नर शब्द से प्रथम मध्यम उत्तम पुरुष। हल् और अच् के व्यत्ययों में वर्णव्यत्यय के प्रसङ्ग में केवल हल् व्यत्यय का उदाहरण दिया है। अच् व्यत्यय और स्वर उदात्तादि के व्यत्यय के उदाहरण नहीं दिये। यङ् से सार्वधातुके यक् (अ० ३।१।६७) के यकार से लिङ्याशिष्यङ् (अ० ३।१।८६) के ङकार पर्यन्त प्रत्याहार अभिप्रेत है। इससे यक् शप् आदि सार्वधातुक लकारों के विकरण ही संगृहीत होते हैं। परन्तु प्रत्याहार ग्रहण करने पर भी स्य तासि आदि आर्धधातुक लकारों के विकरण गृहीत नहीं होते, इसलिये यङ् प्रत्याहार को उपलक्षण मानना चाहिये।

काशिकाकार ने उपर्युक्त व्यत्ययों के साथ द्विविकरणता और त्रिविकरणता का भी निर्देश किया है। यथा—

'त्रिविकरणता—इन्द्रो वस्तेन नेषतु, नयत्विति प्राप्ते। त्रिविकरणता—इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्, तीर्यास्म इति प्राप्ते।'

अर्थात्—'नेषतु' में 'सिप्' और 'शप्' दो विकरण। 'तरुषेम' में 'उ' 'सिप्' और 'शप्' तीन विकरण प्रयुक्त हैं।

वेदभाष्यकार जहां-जहां व्यत्यय मानकर अर्थ करते हैं, वहां उनका तात्पर्य क्या है? व्यत्यय शब्द का अर्थ है—विशेषरूप से शास्त्र के नियत नियमों का अतिक्रमण अर्थात् उल्लङ्घन। लोकभाषा में यदि कोई व्यक्ति व्याकरण के नियमों का किसी पद वा वाक्य में उल्लङ्घन करता है, तो विद्वान् लोग व्याकरण-नियमों का अतिक्रमण करके जो प्रयोग किया जाता है, उसे अपशब्द अर्थात् अशुद्ध प्रयोग मानते हैं। महाभाष्यकार ने व्यत्ययों के उदाहरण देते समय जिस पदावली का प्रयोग किया है—**स च न मरति, म्रियत इति प्राप्ते**, उससे इसी अभिप्राय की पुष्टि होती है। अर्थात् वैदिक प्रयोग अशुद्ध हैं।

भगवान् जैमिनि ने मीमांसा के साधुपदप्रयुक्त्यधिकरण के **एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात्** (१।३।२९) सूत्र में व्यत्यय शब्द का प्रयोग किया है। इस सूत्र के भाष्य में शबरस्वामी ने लिखा है—**अत एव हि विभक्तिव्यत्ययेऽपि प्रत्ययो भवति—अश्मकैरागच्छामि**। सूत्रकार और भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि विभक्ति के यथावत् प्रयोग न होने पर अर्थात् 'अश्मकेभ्यः' के स्थान में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होने पर भी 'अश्मकों से आता हूं' इस अर्थ की प्रतीति इसलिये होती है कि प्रकृति प्रत्यय समुदाय में प्रकृति प्रधान होती है और प्रत्यय अप्रधान। 'अश्मक' प्रातिपदिक के मुख्य होने से अश्मक देशविशेष की प्रतीति हो ही जाती है। व्यत्यय (पञ्चमी के स्थान में तृतीया) विभक्ति अंश में हुआ है। देशविशेषवाची 'अश्मक' शब्द से प्रयुक्त तृतीया विभक्ति का अर्थ **आगच्छति** क्रिया पद के साथ अन्वित न होने और 'अपाय' अर्थ की प्रतीति होने से 'अश्मकैरागच्छामि' सुनकर श्रोता 'अश्मक देश से आता हूं' यह अर्थ समझ लेता है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् जैमिनि भी व्यत्यय का अर्थ नियमविपरीत प्रयोग अर्थात् अशुद्ध प्रयोग मानते थे।

यदि वैयाकरणों तथा वेदभाष्यकारों द्वारा दर्शाये गये व्यत्ययों को उसी रूप में स्वीकार करें तो मानना पड़ेगा कि **स च न मरति** आदि वचनों में **म्रियते** आदि पदों के स्थान में **मरति** आदि प्रयोग अशुद्ध हैं। चाहे वेदभाष्यकार अथवा पाणिनि आदि वैयाकरण वेद के प्रति श्रद्धावान् होने से **मरति** सदृश व्यत्यय पदों को साक्षात् अशुद्ध न कहें परन्तु तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर स्वीकार करना होगा कि वेद चाहे परम पुरुष द्वारा प्रदत्त हों चाहे ऋषि मुनियों द्वारा रचे गये हों, उन्हें (ईश्वर

वा ऋषि मुनियों को) संस्कृत भाषा पर उतना भी अधिकार नहीं था, जितना कालिदास प्रभृति आधुनिक कवियों को था।

हमारा पक्ष—हम वेद में कहीं पर भी व्यत्यय नहीं मानते। वेद की भाषा लौकिक संस्कृत से भिन्न है। वह अपने में सर्वाङ्गपूर्ण है। उसके नियम भी लौकिक भाषा के नियमों से भिन्न हैं। अतः वेद को यथावत् समझने के लिये वैदिकभाषा के नियमों को समझना होगा।

व्यत्यय शब्द के प्रयोग का कारण

पाणिनि ने वैदिक शब्दों के अन्वाख्यान में तीन प्रकार बरते हैं—

१. लौकिक शब्दों के समान ही प्रकृति-प्रत्यय के योग से जहां वैदिक शब्द का साधुत्व दिखाया जा सकता है, वहां पर पाणिनि केवल **छन्दसि** या **मन्त्रे** आदि का निर्देश करके वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान करता है।

२. जहां पर लौकिक शब्दों के समान ही रूप वेद में देखा जाता है और साथ में कुछ भिन्न रूप भी उपलब्ध होता है, वहां सामान्य शब्दों के अन्वाख्यान के पश्चात् **बहुलं छन्दसि** का निर्देश करके विशेष प्रयोग का कथन करते हैं। यथा—'**अतो भिस ऐस्**' '**बहुलं छन्दसि**'। वेद में अदन्त शब्दों के तृतीया विभक्ति के बहुवचन में लोक के समान **भिस्** को **ऐस्** आदेश भी होता है और ऐस् आदेश नहीं भी होता। यथा—"**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्यजेमहि देवहितं यदायुः**....." इस मन्त्र में **स्थिरैः अङ्गैः** में भिस् को ऐस् आदेश और **कर्णेभिः** में ऐस् आदेश का अभाव दोनों ही देखे जाते हैं।

३. जहां पर सामान्यरूप से अन्वाख्यान सम्भव नहीं है और तत् तत् प्रकरण में **बहुलं छन्दसि** से कार्य नहीं चल सकता है, वहां व्यत्यय शब्द का प्रयोग किया जाता है। यथा—**व्यत्ययो बहुलम्**। व्यत्यय शब्द का निर्देश होने से च्लि को सिच् आदेश का अभाव और अन्य आदेश भी यथासम्भव होते हैं। द्र०—पूर्व उद्धृत भाष्यपाठ।

वस्तुतः व्यत्यय शब्द का अभिप्राय इतना ही है कि सामान्यरूप से कहे गये नियम का अपवादरूप से उल्लेख न होना। अर्थात् सामान्य नियम का अतिक्रमण। पाणिनि ने यथासम्भव सामान्य नियमों के साथ-साथ अपवाद नियमों का भी उल्लेख किया है किन्तु अल्पदृष्ट शब्दों के अन्वाख्यान के लिए अपवाद नियमों का उल्लेख नहीं किया। इसीलिये महाभाष्य में कहा है—**नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति** (१।१।१२)। इस दृष्टि से पाणिनि ने जिस युक्त शब्द के लिए, चाहे वह लौकिक हो या वैदिक, अपवाद नियम नहीं पढ़ा है, वह व्यत्यय के क्षेत्र में आता है।

यदि पाणिनि ऐसे शब्दों के लिए भी अपवादसूत्र का निर्देश कर देते, चाहे वह लौकिक शब्द हो या वैदिक, वह व्यत्यय के क्षेत्र से बाहर हो जाता है। इसलिए व्यत्यय शब्द का अर्थ है—पाणिनि द्वारा उक्त सामान्य और विशेष नियमों से अगृहीत शब्दों में निर्दिष्ट नियमों का अतिक्रमण।

वस्तुतः वेद की भाषा सामान्य संस्कृत से भिन्न है, इसीलिए उसमें सामान्य भाषा के अनेक नियमों का उल्लङ्घन देखा जाता है। परन्तु वैदिक भाषा अपने आप में सर्वाङ्गपूर्ण है। इसलिए उसके अपने जो विशेष नियम हैं, उनका यदि उद्घाटन कर दिया जाये तो वेद में कहीं पर भी व्यत्यय का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस बात के लिए हम पाणिनि के लौकिक भाषा के लिए प्रयुक्त किए गए एक सूत्र का ही आश्रय लेकर वेद के अनेक प्रयोगों का साधुत्व दर्शाते हैं।

पाणिनि ने स्वरितेत् और ञित् धातुओं के लिए नियम बनाया है—'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' (१।३।७२) अर्थात् जब क्रिया का फल कर्ता के लिए हो, तब स्वरितत् और ञित् धातुओं से आत्मनेपद होता है। यदि देवदत्त अपने लिए चावल पकाता है तो प्रयोग होगा—देवदत्त ओदनं पचते। और यदि दूसरे के लिए पकाता है—तो प्रयोग होगा—'देवदत्त ओदनं पचति'। इसी प्रकार देवदत्त अपने लिए चटाई बनाता है तो प्रयोग होगा—देवदत्तः कटं कुरुते। अन्य के लिए बनाता है—तो प्रयोग होगा—देवदत्तः कटं करोति। इस नियम का एक अपवाद है—विभाषापपदेन प्रतीयमाने (१।३।७७)। इसका अभिप्राय है कि जिस कर्त्रभिप्राय क्रियाफल को प्रकट करने के लिए आत्मनेपद का विधान किया है, वह अभिप्राय यदि समीप में उच्चरित किसी पद से द्योतित हो जावे तो आत्मनेपद विकल्प करके होता है। यथा—देवदत्तः स्वम् ओदनं पचते-पचति वा। इस सूत्र से एक विशेष नियम प्रकट होता है कि जिस विशेष अर्थ का बोधन कराने के लिए कोई विशेष प्रत्यय आदि प्रयुक्त होता है और वह विशेष अर्थ किसी अन्य शब्द से बोधित हो जावे तो उसी अर्थ का बोधन करानेवाले विशेष प्रत्यय आदि की आवश्यकता नहीं होती।

यद्यपि पाणिनि ने इस नियम का उल्लेख आत्मनेपद-प्रकरण में ही किया है, परन्तु इस नियम को यदि हम प्रकरण से अलग करके सामान्य नियम का रूप दे दें, तो वेद के अनेक वे शब्द, जिनके लिए भाष्यकारों को 'व्यत्यय' का आश्रय लेना पड़ता है, अनायास एक ही नियम से सामान्यरूप से सिद्ध हो जाते हैं। उदाहरण के लिए हम कतिपय प्रयोग उद्धृत करते हैं—

क्रिया शब्दों की पूर्ति के लिए हमें तीन अंशों को जोड़ना पड़ता है। धातु,

विकरण और तिङ् प्रत्यय (आत्मनेपद-परस्मैपद प्रत्यय)। इन तिङन्त शब्दों में धात्वंश क्रिया का निर्देश करता है, विकरणांश विशेषरूप से यक् विकरण कर्मत्व को द्योतित करता है। और सार्वधातुक लकारों में शबादि विकरण कर्तृत्व अंश को द्योतन करने में सहायक होते हैं, किन्तु कई स्थल ऐसे भी हैं जहां कर्तृत्व अंश को कहने के लिए शबादि विकरण आवश्यक नहीं हैं। अदादि और जुहोत्यादि के प्रयोगों में शप् विकरण प्रयुक्त नहीं होता। तब भी कर्तृत्व अंश बोधित होता है। इससे जाना जाता है कि कर्तृत्व अंश भी तिङ् से ही बोधित होता है। तिङ् प्रत्ययों के दो विभाग हैं—आत्मनेपद और परस्मैपद। इन शब्दों का मौलिक अर्थ है—अपने लिए क्रियापद का प्रयोग करना या दूसरे के लिए क्रियापद का प्रयोग करना। इस दृष्टि से प्रत्येक धातु से आत्मनेपद और परस्मैपद के प्रयोग होने चाहिए। आदिकाल में प्रत्येक धातु से दोनों पदों का अपने-अपने अर्थ का बोधन कराने के लिए प्रयोग होता था, परन्तु उत्तरकाल में जैसे-जैसे संस्कृतभाषा का ह्रास हुआ, दोनों प्रकार के प्रयोग सिमटकर कुछ धातुओं तक ही सीमित रह गये। पाणिनि के समय केवल स्वरितेत् और ञित् धातुओं से ही दोनों प्रकार के प्रयोगों का सम्बन्ध अवशिष्ट रह गया। परन्तु पाणिनि को भी स्वरितेत्-ञित् से भिन्न कतिपय धातुओं के लिए अपवादरूप में आत्मनेपद और परस्मैपद प्रत्ययों का विधान करना पड़ा। पाणिनि से प्राचीन काशकृत्स्न आचार्य प्रोक्त धातुपाठ कन्नड़ टीका सहित उपलब्ध हुआ है। उसमें स्वरितेत् और ञित् से भिन्न अनेक ऐसी धातुएं हैं, जिनसे दोनों पदों के प्रत्यय होते हैं।

तिङ् प्रत्ययों से कर्तृत्व-एकवचन-द्विवचन-बहुवचन और प्रथम पुरुष, मध्यम और उत्तम पुरुष तथा भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल बोधित होते हैं। इन अंशों में से यदि कोई अंश किसी दूसरे शब्द से बोधित हो जावे, तो उस विशिष्ट अंश का बोधन कराने के लिए जो विशेष प्रत्यय नियत है, उसकी अविवक्षा हो जाती है। इसलिए अवशिष्ट अंशों का बोधन करानेवाला कोई भी प्रत्यय उसके स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है।

वेद में प्रयुक्त समस्त धातुएं उभयपदी हैं। अर्थात्—कर्तृगामि क्रियाफल का बोध कराने के लिए आत्मनेपद होता है और अन्यगामी क्रियाफल हो तो परस्मैपद। यह वेद का सामान्य नियम है। इसलिए वेदार्थ करते समय आत्मनेपद और परस्मैपद का प्रयोग देखकर उसके मूल अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि हम ऐसे स्थानों पर व्यत्यय का निर्देश करते हैं तो शब्द का मूल अर्थ छिप जाता है। जैसे—इच्छार्थक इष् धातु पाणिनीय धातुपाठ में परस्मैपदी है, किन्तु—आचार्यो ब्रह्मचारिणमिच्छते में आत्मनेपद का निर्देश होने से अर्थ होगा—आचार्य स्वयं आचार्य बनने के लिए ब्रह्मचारी की इच्छा करता है। अहमाचार्यो भवेयमिति

हेतोः ब्रह्मचारिणमिच्छते। यहां पर अपने को आचार्य बनाना क्रियाफल होने से आत्मनेपद का प्रयोग है।

यदि इसकी व्याख्या में 'व्यत्यय से आत्मनेपद हुआ' कहकर कन्नी काट जावे तो आत्मनेपद से जो विशिष्ट अर्थ द्योतित होता है वह उत्सन्न हो जायेगा। इसी प्रकार से वेद में प्रयुक्त आत्मनेपद और परस्मैपद क्रियाओं के योग में भी विशिष्टार्थ का बोधन कराना चाहिए।

वेद में प्रयुक्त धातुएं पाणिनीय धातुपाठ में १० गणों के रूप से व्यवस्थित नहीं हैं, अपितु धातुओं से सामान्यरूप से शप् आदि विकरण होते हैं। **अतः स च न मरति** में तुदादिगणस्थ 'श' विकरण न होकर शप् हुआ है। भ्वादि का आकृतिगणत्व सर्व-सम्मत है। इससे भी शप् हो सकता है। **श्रु श्रवणे** भ्वादिगण में पठित है, परन्तु पाणिनि ने सार्वधातुक लकारों में **श्रुवः शृ च** से शृ आदेश और 'श्नु' विकरण करके **शृणोति** प्रयोग का ही अन्वाख्यान किया है। आर्धधातुक लकारों में गणविशेष में पाठविशेष का फल उपलब्ध नहीं होता, अतः 'श्रु' धातु का भ्वादिगण में पाठ व्यर्थ होकर दर्शाता है कि 'श्रु' धातु से शप् विकरण भी होता है, अन्यथा 'श्रु' को स्वादि-गण में ही पढ़ना चाहिये। वेद में श्रु धातु के शप् विकरण के श्रवति आदि प्रयोग बहुत्र उपलब्ध होते हैं। इनमें व्यत्यय दर्शाने की आवश्यकता नहीं है। श्रु धातु के भ्वादिगण में पाठसामर्थ्य से शप् हो जायेगा।

जिन तिङ् प्रत्ययों से एकत्व, द्वित्व, बहुत्व रूप विशेष अर्थ बोधित होता है, वह विशेष अर्थ किसी अन्य शब्द से बोधित हो जावे, तो उस विशेषार्थबोधक प्रत्यय की उपेक्षा हो जाती है। यथा—**चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति**। इस वाक्य में कर्ता के बहुत्व को **'ये'** पद प्रकट कर देता है, इसलिए तिङ् विभक्ति का बहुवचन ही प्रयुक्त हो, यह आवश्यक नहीं, अतः 'तक्षति' में तिप् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। तिङ् प्रत्ययों से प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुष भी बोधित होते हैं। यदि प्रथमादि पुरुष की प्रतीति किसी अन्य पद से द्योतित हो जावे तो वहां पर पुरुषविशेष को द्योतन करानेवाले त्रिक प्रत्ययों की जगह अन्य त्रिक प्रत्यय का भी प्रयोग हो सकता है। यथा—**अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः**। यहां पर **वियूयात्** प्रथम पुरुष का अभिप्राय **'स'** पद से बोधित हो जाता है। इसलिए प्रथम त्रिक के स्थान में किसी भी त्रिक का प्रयोग हो सकता है। इस नियम से 'वियूयाः' में मध्यम पुरुष का एकवचन प्रयुक्त हुआ है।

वेद में लौकिक भाषा के 'कर्तृवाचक पद में और क्रिया पद में समान वचन होता है तथा प्रथम मध्यम उत्तम पुरुष की क्रियायें शेष पद, युष्मद् और अस्मद् के योग

में ही होती हैं' नियम नहीं है। जैसे लोक में महाभाष्योक्त **नैकस्या विभक्तेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां च भवति। नैव भवति गवां स्वामी अश्वेषु च** नियम विवक्षित है, वैसा वेद आदि में विवक्षित नहीं है। एक अर्थ में निर्दिष्ट विभक्तिद्वय का एक साथ प्रयोग देखा जाता है। यथा—**अनस एव यजूंषि सन्ति न कुम्भस्य न कोष्ठ्यं** इस शतपथवचन में **चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि** मे विहित चतुर्थी और षष्ठी विभक्ति का एक वाक्य में ही प्रयोग देखा जाता है।

"सोमो गौरी अधिश्रितः" में वैयाकरण सप्तमी विभक्ति का लुक् मानते हैं। सप्तमी विभक्ति का जो अधिकरण अर्थ है वह अधि शब्द से बोधित हो जाता है। इसलिए "गौरी" में सप्तमी विभक्ति न होकर प्रथमा विभक्ति प्रयुक्त हुई है। यह भी कह सकते हैं कि अधिकरण अर्थ के बोधित हो जाने पर अधिकरणार्थक सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त ही नहीं हुई। **"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्"** यहां पर व्योमन् में अधिकरण अर्थ की प्रतीति "व्योमन्" के विशेषणभूत **परमे** विशेषण पद से विदित हो जाती है, अतः "व्योमन्" विशेष्यभूत में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार **"युक्ता माता आसीद् धुरि दक्षिणायाः"** यहां पर भाष्यकार ने कहा है—**"दक्षिणायाम् इति प्राप्ते"**। इस सप्तम्यर्थ का बोधन समीपवर्ती सप्तम्यन्त **धुरि** पद से अवगत हो जाता है, इसलिए पदपूर्त्यर्थ **दक्षिणायाः** में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

इत्यादि कई वैदिक व्यत्ययों का समाधान **विभाषोपपदेन प्रतीयमाने** इस सूत्र के उत्प्रकरण व्याख्या से ही हो जाता है। और कुछ व्यत्ययों की व्याख्या वैदिक भाषा के विशिष्ट व्यवहार से हो जाती है। यथा—वेद में प्रयुक्त सभी धातुएं उभयपदी हैं, यह पूर्व लिख चुके हैं, अतः वेद में पद-व्यत्यय होता ही नहीं। आत्मनेपद-परस्मैपद के प्रयोगों में यथावत् व्याख्या करनी चाहिये। इसी प्रकार वेद में प्रयुक्त सभी धातुएं **वेट्** हैं, अर्थात् उनमें विकल्प से इट् होता है। हैमधातुपाठ की क्रियारत्नसमुच्चय नाम की व्याख्या में लोक में भी सब धातुओं को वेट् माना है।

भाष्यकार ने कालव्यत्यय का उदाहरण दिया है—**श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन**। यहां अद्यतन और अनद्यतन भविष्यत् काल का संयोग है। इसी प्रकार लोक में भी **सोमयाजी ते पुत्रो जनिता** आदि प्रयोगों में भूतकाल और भविष्यत् काल में प्रयुक्त होनेवाले पदों का सम्बन्ध देखा जाता है। इसके लिये पाणिनि ने **धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः** सूत्र का विधान किया है। महाभाष्यकार ने कालव्यत्यय का जैसा वैदिक उदाहरण दिया है, वैसा रामायण १।२३।१६ के **श्वः तरिष्यामहे वयम्**

प्रयोग में भी मिलता है।

वेद में प्रयुक्त सभी प्रातिपदिक त्रिलिङ्ग हैं। इसलिए लिङ्गव्यत्यय को कोई अवकाश नहीं है।

वर्णव्यत्यय का "त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्, सुहितमिति प्राप्ते" उदाहरण उपस्थित किया है। इसी प्रकार "हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य" इस वार्तिकबोधित हकार को मकार व्यत्यय भी होता है, परन्तु इस प्रकार के व्यत्यय वस्तुतः नहीं होते, क्योंकि ग्रह उपादाने धातु से गृभ धातु भिन्न है अर्थात् स्वतन्त्र है। ग्रह के रेफ को संप्रसारण और हकार को भकार होकर नहीं बनी है। इसका यास्क ने गर्भो गृभेः (१०।२३) निर्वचन में प्रयोग किया है। यास्क ने तो द्वितीय अध्याय के आदि में सम्प्रसारण-रहित यज वप आदि धातुओं से सम्प्रसारण करके निष्पन्न इज उप रूपों को स्वतन्त्र धातु मानकर निर्वचन करने का निर्देश किया है, अर्थात् यदि कोई शब्द यज वप आदि रूप से उपपन्न न होता हो तो इतर अर्थात् सम्प्रसारणवाले इज उप आदि रूप से निष्पन्न करना चाहिये।

इसी प्रकार जहां-जहां वर्णविपर्यास लोप आगम आदेश आदि करके वैयाकरण प्रयोग सिद्ध करते हैं, वहां सर्वत्र तत्तत् कार्य करने पर धातु वा प्रातिपदिक का जो रूप बनता है, उससे प्रत्यय की उत्पत्ति जाननी चाहिये। इस विषय में हमने अपने 'व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के तृतीय भाग में 'अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या' प्रकरण में विस्तार से सोदाहरण निरूपण किया है।

महाभाष्यकार ने व्यत्यय के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उन पर हमने संक्षेप से अपने विचार प्रस्तुत कर दिये। अब काशिकाकार ने जो वेद में द्विविकरणता और त्रिविकरणता का निर्देश किया है, उसके विषय में लिखते हैं—

वैयाकरणों ने आख्यात पदों में धातु विकरण तथा तिङ् प्रत्यय आदि के रूप में तथा कृदन्तों में धातु और प्रत्यय के रूप में जो कल्पना की है, वह काल्पनिक है। इसीलिये एक ही शब्द के विषय में वैयाकरणों की भिन्न-भिन्न कल्पना देखी जाती है। इस विषय पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में विस्तार से लिखा है। इसी में द्विविकरणता और त्रिविकरणता का रहस्य भी धात्वंश की विविध प्रकार की कल्पना में छिपा हुआ है। यह द्विविकरणता केवल वेद में ही नहीं देखी जाती, अपितु लौकिक प्रयोगों में भी इसे वैयाकरण मानते हैं।

काशिकाकार ने द्विविकरणता का उदाहरण दिया है—इन्द्रो वस्तेन नेषतु, नयतु इति प्राप्ते। यहां 'णी'(णीञ् प्रापणे) धातु से लोट् के प्रथम पुरुष के एकवचन में सिप् और शप् दो विकरण हुए हैं। वस्तुतः नेषतु प्रयोग नी धातु से नहीं बना है,

अपितु पाणिनीय धातुपाठ में अपठित **निष्** धातु का रूप है। महाभाष्यकार ने **नयतेः षुक् च** (३।२।१६५) वार्तिक की व्याख्या में निष् को स्वतन्त्र धातु माना है और इस निष् धातु के **नेषतु नेष्टात्** प्रयोगों की ओर संकेत किया है। निष् स्वतन्त्र धातु स्वीकार कर लेने पर सिप् विकरण की आवश्यकता ही नहीं रहती। द्विविकरणता तो पाणिनीय धातुपाठ में पठित **णीञ् प्रापणे** की दृष्टि से स्वीकार करनी पड़ती है।

काशकृत्स्न व्याकरण के अनुसार **शुच्यति चुच्यति** लौकिक प्रयोगों में भी द्विविकरणता माननी पड़ती है। पाणिनि ने शुच्यति चुच्यति रूपों के लिये भ्वादिगण में शुच्य और चुच्य यकारान्त धातुएं पढ़ी हैं। इनसे केवल शप् विकरण करने पर सिद्ध हो जाता है। काशकृत्स्न धातुपाठ में शुच चुच धातुएं पढ़ी हैं। अतः टीकाकार को शुच्यति प्रयोग बनाने के लिए 'अन्' (शप्) विकरण से पूर्व 'यन्' (श्यन्) विकरण भी जोड़ना पड़ा। इस प्रकार काशकृत्स्न के मत में लोक में भी द्विविकरणों का प्रयोग होता है।

'**तरुषेम**' में 'तॄ' धातु से 'उ' 'सिप्' और 'शप्' तीन विकरण स्वीकार किये हैं। यदि '**तरुष**' धात्वंश की कल्पना की जावे तो एक विकरण की ही आवश्यकता होती है। तरुष धातु हमें किसी धातुपाठ में उपलब्ध नहीं हुई। परन्तु महाभाष्यकार ने वेद वा लोक में तादृश अन्य प्रयोगों के दर्शन से अनेकत्र प्रकृत्यन्तर स्वीकार किया है। इसी नियम के अनुसार वेद में **तरुषन्त** (ऋ० १।१३२।६), **तरुषन्ते** (ऋ० ५।५।६।१), **तरुष्यतः** (ऋ० ८।६६।१) आदि अनेक प्रयोगों के दर्शन से **तरुष** प्रकृत्यन्तर की कल्पना सहज में की जा सकती है। निरुक्तकार ने (५।२) में वृत्तिकार द्वारा उदाहृत त्रिविकरणता के प्रयोग **तरुषेम वृत्रम्** (ऋ० ७।४८।२) में तरुष्यति को वधकर्मा माना है। सायणाचार्य ने (ऋ० १।१३२।५ में पठित) **तरुषन्त** का अर्थ **हिंसन्ति शत्रून्** करके **तरुष्यतिर्वधकर्मा** लिखा है। इस प्रकार तरुष् श्यन्विकरणक दैवादिकगण की स्वीकार की है।

पाणिनीय प्रक्रियानुसार षकारान्त तरुष् प्रातिपदिक से **सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वक्तव्यः** से क्विप् करके तरुष् नामधातु का रूप स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार महाभाष्यकार ने **व्यत्ययो बहुलम्** के भाष्य में व्यत्यय के जो उदाहरण दिये हैं, उनका समाधान हमने कर दिया है। **सुप्तिङुपग्रह** कारिका में **स्वरव्यत्यय** का भी परिगणन किया है। स्वरव्यत्यय के विषय में हमने अगले लेख

में विचार किया है, क्योंकि उदात्तादि स्वरों के सम्बन्ध में अनेक गलत धारणाएँ विद्वानों में देखी जाती हैं।

इस प्रकार हमने इस संक्षिप्त लेख में व्यत्यय का जितना भी क्षेत्र वेदभाष्यकारों एवं वैयाकरणों द्वारा स्वीकार किया जाता है, वह प्रायः पाणिनि के समय में प्रयुक्त लोकभाषा की दृष्टि से तथा विशेष अपवाद नियम का उल्लेख न करने के कारण दृष्टिगोचर होता है, यह स्पष्ट करने का प्रयास किया। वस्तुतः वेद की अपनी जो भाषा है, उसके नियमों के अनुसार कहीं पर भी किसी प्रकार का व्यत्यय नहीं है।

वेदार्थ में स्वर-ज्ञान की अनिवार्यता

[यद्यपि स्वर-व्यत्यय का विषय भी पूर्व लेख 'वेद में किसी प्रकार का व्यत्यय' के अन्तर्गत आता है, परन्तु स्वर के सम्बन्ध में विद्वानों में विविध प्रकार की भ्रान्ति होने से यह लेख पृथक् रूप में लिखा गया है।]

वेद में स्वर-व्यत्यय नहीं

संस्कृत भाषा के जो व्याकरण उपलब्ध होते हैं, उनमें पाणिनीय व्याकरण सबसे प्राचीन है। आर्ष व्याकरणों की शृंखला में पाणिनि व्याकरण सबसे उत्तरवर्ती है। पाणिनि के काल तक संस्कृत भाषा लौकिक और वैदिक दो विभागों में विभक्त हो चुकी थी। पाणिनि के समय लौकिक भाषा में भी उदात्तादि स्वरों का यथावत् प्रयोग होता था। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के पदों का साधुत्व दर्शाया है। अपने व्याकरण में पाणिनि ने लौकिक और वैदिक भाषा में जो पदराशि समान थी, उसको प्रमुखता देते हुए शास्त्र का प्रवचन किया है। और जो शब्द लौकिक और वैदिक भाषा में भिन्न प्रकार से प्रयुक्त होते थे, उनका प्रवचन यथाप्रकरण **भाषायाम्** अथवा छन्दसि, मंत्रे आदि का निर्देश करके किया है। इस प्रकार पाणिनि व्याकरण दोनों प्रकार की भाषाओं का एक ऐसा संश्लिष्ट व्याकरण है, जिसका अध्ययन करते हुए लौकिक और वैदिक शब्दों के प्रवचन को अलग-अलग नहीं कर सकते। अतः पाणिनि व्याकरण का अध्ययन करनेवाले को उभयविध भाषा के पदों का साधुत्व अनायास विज्ञात हो जाता है।

पाणिनि के समय लौकिकभाषा में भी स्वरों का यथावत् प्रयोग होता था। इसलिए पाणिनि ने स्वरशास्त्र की दृष्टि से प्रत्ययभाग में विभिन्न प्रकार के अनुबन्धों का प्रयोग करके यथावत् स्वरों का निर्देश किया है। उदाहरण के रूप में विपाशा (विराट्) नदी के उत्तर और दक्षिण भाग में 'दत्त' और 'गुप्त' व्यक्तियों के द्वारा जो कुएं बनाये या बनवाये गये, वे **'दात्त'** और **'गौप्त'** नाम से प्रसिद्ध थे, किन्तु उत्तर के दात्त और गौप्त नामों में आद्युदात्त स्वर प्रयुक्त होता था और दक्षिण के नाम अन्तोदात्त प्रयुक्त होते थे, इसलिए पाणिनि ने इस स्वरभेद को द्योतित कराने के लिये **उदक् च विपाशः** (४।२।७३) सूत्र से उत्तर भाग के दात्त और गौप्त नामों के लिये अञ् प्रत्यय का विधान किया है और दक्षिण भाग में प्रयुक्त दात्त और गौप्त

पदों में **तेन निर्वृत्तम्** (४।३।६७) सूत्र से यथाप्राप्त अण् प्रत्यय होता है। इस स्वर-भेद की सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर के पाणिनि ने जो विशेष विधान किया है, उस पर काशिकाकार जयादित्य आश्चर्यचकित होता हुआ लिखता है—**महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य** (४।२।७३)।

उत्तरकाल में संस्कृत भाषा का जो पहला व्याकरण बना, वह है चन्द्रगोमीप्रोक्त चान्द्र व्याकरण। आचार्य चन्द्रगोमी बौद्धमतानुयायी था। उसके काल तक लौकिक संस्कृत पदों में स्वरों का उच्चारण प्रायः लुप्त हो गया था। इसलिये उसने अपने व्याकरण में वैदिक पदों का अन्वाख्यान तथा स्वरों का विधान अन्तिम दो अध्यायों में किया, अर्थात् चन्द्रगोमी ने सबसे पहले लौकिक और वैदिक भाषाओं के पदों का पृथक्-पृथक् अन्वाख्यान किया। उसका एक फल यह हुआ कि वैदिक भाषा को उपेक्षा की दृष्टि से देखनेवाले बौद्धसम्प्रदायस्थ व्यक्तियों ने चान्द्रव्याकरण के अन्तिम सातवें और आठवें अध्याय, जिनमें स्वर और वैदिक पदों का अन्वाख्यान था, पढ़ना-पढ़ाना छोड़ दिया। अतः कालान्तर में चान्द्रव्याकरण के अन्तिम दो अध्याय लुप्त हो गये। उत्तरवर्त्ती जैन विद्वानों ने केवल लौकिक भाषा के पदों का ही अन्वाख्यान अपने-अपने व्याकरणों में किया और पाणिनीय तथा चान्द्रव्याकरण में स्वर की भिन्नता की दृष्टि से जो विशेष अनुबन्ध रखे थे, उनका भी परित्याग कर दिया।

पाणिनीय व्याकरण की उत्तरकालीन अध्ययन-अध्यापन परम्परा पर चान्द्र और जैन व्याकरणों का विशेष प्रभाव पड़ा। इस दृष्टि से काशिका के अनन्तर जो सबसे प्राचीन वृत्ति अष्टाध्यायी पर लिखी गई, उसका नाम है भागवृत्ति। सम्भवतः भाग-वृत्ति का रचयिता बौद्ध विद्वान् था। अतः उसने चान्द्रव्याकरण को ध्यान में रखकर पाणिनि व्याकरण की व्याख्या लिखते हुए भी पाणिनीय सूत्रों को दो भागों में विभक्त करके वृत्ति लिखी। इसी विभाग के कारण इसका भागवृत्ति नाम पड़ा। भाग-वृत्ति के प्रतिपक्ष में काशिकावृत्ति **एकवृत्ति** नाम से प्रसिद्ध हुई। भागवृत्तिकार से उत्तरवर्त्ती बौद्ध विद्वान् पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी पर **भाषावृत्ति** नाम की जो व्याख्या लिखी, उसमें उसने वैदिक और स्वरप्रकरण के सूत्रों की सर्वथा उपेक्षा कर दी। इसी काल में पाणिनीय व्याकरण का सूत्रक्रम से पठन-पाठन के स्थान पर प्रक्रियाक्रम से अध्ययन-अध्यापन आरम्भ हुआ। इस प्रकार का प्रक्रियाकौमुदी नाम का प्रथम ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यद्यपि प्रक्रियाकौमुदी नामक ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों की व्याख्या नहीं है, पुनरपि स्वर और छान्दस शब्दों का अन्त में संक्षिप्त निर्देश मिलता है। कुछ समय पश्चात् ही भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी के नाम से प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ लिखा। इसमें यद्यपि समस्त सूत्रों का संकलन मिलता है, तथापि स्वर एवं छन्दोविषयक सूत्रों को अन्त में ही संकलित

किया। इसका फल यह हुआ कि सिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन करनेवाले छात्रों ने स्वर और वैदिक प्रकरणों का अध्ययन करना छोड दिया। इस प्रकार उदात्तादि स्वरशास्त्र, जो पाणिनीय व्याकरण का एक महत्त्वपूर्ण भाग था (पाणिनि व्याकरण में लगभग ५०० सूत्र केवल स्वरविधायक हैं), प्रायः लुप्त हो गया।

मध्यकाल में स्कन्दस्वामी, भट्टभास्कर, सायणाचार्य आदि ने जो वेदभाष्य रचे, उनमें यद्यपि वैदिक पदों के अन्वाख्यान में स्वरशास्त्र का उपयोग किया है, परन्तु यह उपयोग केवल स्वरनिर्देश दर्शाने तक ही सीमित है। उदात्तादि स्वरों का पदार्थ वा मन्त्रार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है, इसका निर्देश नहीं किया। भारतयुद्धकाल के अनन्तर जब ऋषि-मुनियों का अभाव हो गया, तो उत्तरकाल में वैदिक परम्परा के क्षीण-क्षीणतर-क्षीणतम होने के कारण वेदविषयक अनेक ऐसी समस्यायें उत्पन्न हो गईं, जिनका समाधान भी कठिन हो गया। इन्हीं समस्याओं में एक समस्या स्वर-विषयक भी है। इस समस्या का स्वरूप यह है कि उदात्तादि स्वरों का वेद के पदार्थ और वाक्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं? भट्टभास्कर और सायणाचार्य ने अपने भाष्य में वैदिक पदों के स्वरों का पाणिनीय सूत्रों के अनुसार निर्देश करते हुए भी कहीं पर भी इस बात का संकेत नहीं किया कि उदात्तादि स्वरों का मन्त्रार्थ के साथ भी कोई सम्बन्ध है।

उपलब्ध भाष्यकारों में एकमात्र वेंकटमाधव ही ऐसा भाष्यकार है, जिसने अपने ऋग्वेद के लघुभाष्य में प्रत्येक अष्टक के हर एक अध्याय के आरम्भ में कतिपय श्लोकों का निर्देश करके वेदसम्बन्धी आठ समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उसने सबसे प्रथम वैदिक पदों के स्वरों पर ही विस्तृत और अति गम्भीर विचार प्रस्तुत किया। उसके इस प्रयत्न से स्वरों का पदार्थ और मन्त्रार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह विस्पष्ट हो जाता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि में जो पठन-पाठन की विधि लिखी है, उसमें सस्वर वेद के अध्ययन का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के **'स्वराणां व्यवस्था संक्षेपतो लिख्यते'** प्रकरण के आदि में लिखा है—**वेदार्थोपयोगितया स्वराणां व्यवस्था लिख्यते**। इससे यह ध्वनित होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदार्थ में उदात्तादि स्वरों का उपयोग स्वीकार करते थे। परन्तु सम्पूर्ण यजुर्वेदभाष्य में तथा ऋग्वेद में जितना भाष्य किया है, उसमें कहीं पर भी स्वर के कारण अर्थविशेष का उल्लेख नहीं किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पठन-पाठन की जो विधि लिखी है, उसके अनुसार आर्यसमाज में लगभग चालीस-पैंतालीस वर्ष तक किसी भी गुरुकुल में अथवा

विद्यालय में पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था नहीं हुई। स्वामी दयानन्द सरस्तती की पाठ-विधि के अनुसार अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था प्रथम बार सन् १९२० में गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने पं० शङ्करदेव जी के सहयोग से विरजानन्द ब्रह्मचर्याश्रम में आरम्भ की। इसके पीछे आर्यसमाज में आर्षपाठविधि के कई गुरुकुल व पाठ-शालायें चालू हुईं। आर्यसमाज में जितने भी गुरुकुलों व पाठशालाओं में आर्षपाठ-विधि के अनुसार पठन-पाठन आरम्भ हुआ (और अब भी हो रहा है),उनकी अपेक्षा हमारे विरजानन्द आश्रम में पठन-पाठन में कुछ विशेषतायें थीं (और हैं भी)। प्रमुख विशेषता यह थी कि अष्टाध्यायी के प्रथम सूत्र **वृद्धिरादैच्** के **भागः त्यागः** आदि उदाहरणों की आगे-पीछे सूत्रों से होनेवाले सब कार्यों के साथ सिद्धि पर बल दिया जाता था और उदाहरण की सिद्धि में अन्य कार्यों के साथ-साथ प्रत्येक उदा-हरण में सूत्रनिर्देशपूर्वक स्वर का ज्ञान भी कराया जाता था। इस प्रकार आरम्भ से ही सस्वर सिद्धि की व्यवस्था अपनाने से प्रथमावृत्ति के छात्र को वैदिक-लौकिक शब्दों के स्वरों की व्यवस्था का अच्छे प्रकार ज्ञान हो जाता था। कभी-कभी किन्हीं दो-तीन मन्त्रों को विना स्वर लिखाकर उसमें आये पदों पर स्वर के चिह्न लगवा-कर परीक्षा ली जाती थी। इस प्रकार की परीक्षा में हमारे आश्रम के छात्र ६५ प्रतिशत स्वरों के चिह्न लगाने में समर्थ होते थे। २५ प्रतिशत में उन पदों के स्वर भी सम्मिलित थे, जो व्यत्ययविशेष के कारण वेद में प्रयुक्त होते थे।

इस उत्तम परिपाटी के अनुसार वैदिक स्वरों का ज्ञान शास्त्रीय ढङ्ग से तो भले प्रकार हमें हो गया था, परन्तु उदात्तादि स्वरों का मन्त्रार्थ और पदार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है, इसका बोध हमें नहीं हुआ। मन्त्रार्थ और पदार्थ के साथ उदात्तादि स्वरों का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसका ज्ञान हमें तब हुआ जब पूर्वनिर्दिष्ट वेंकटमाधव की ऋग्वेदपदानुक्रमणी १९३१ में प्रकाशित होकर हमें प्राप्त हुई और उसमें छपी स्वरानुक्रमणी का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और इस ग्रन्थ की सहायता से ही यह ज्ञात हुआ कि यदि कोई व्यक्ति वैदिक मन्त्रों पर निर्दिष्ट उदात्तादि स्वरों को प्रधानता देकर अर्थ करें तभी वेद का अर्थ ठीक-ठीक हो सकता है। स्वयं वेंकट-माधव ने स्वरानुक्रमणी के अन्त में लिखा है—

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानाम्भवत्यर्थाः स्फुटा इति॥

अर्थात् अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुआ पथिक गढ़े आदि में नहीं गिरता, इसी प्रकार स्वरों की सहायता से किये गये अर्थ स्पष्ट होते हैं, अर्थात् उनमें शङ्का की स्थिति नहीं रहती।

वेङ्कटमाधव ने पद में प्रकृत्यंश और प्रत्ययांश में दिखाई पड़नेवाले उदात्त स्वर के अनुसार पद में प्रकृत्यंश अथवा प्रत्ययांश की प्रधानता स्वीकार की है। इसी प्रकार समास में पूर्वपद या उत्तरपद, जिस भाग में उदात्त देखा जाता है, उसके अर्थ की प्रधानता कही। इसी प्रकार वाक्य में भी किसी पदविशेष के अर्थ की प्रधानता दर्शाई है। इस प्रकार वेङ्कटमाधव ने प्रथमाष्टक के भाष्य के आरम्भ में लिखे गये लगभग १०० श्लोकों में उदात्तादि स्वर का पदार्थ, समासार्थ और वाक्यार्थ के साथ क्या सम्बन्ध है, इसकी विवेचना अत्यन्त गम्भीरता से की है। यदि यह ग्रन्थ हमें पढ़ने को न मिलता, तो हम भी अन्य शुष्क वैयाकरणों के समान प्राप्तिज्ञमात्र रहते अर्थात् व्याकरणबोधित स्वर का भार ढोते रहते। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में लगभग ५०० सूत्रों में पद, पदार्थ, समासार्थ और वाक्यार्थ के ज्ञान में स्वरों की कितनी उपयोगिता है, उन सबका बोध करा दिया। परन्तु मध्यकाल से व्याकरण के पठन-पाठन की जो विधि प्रचलित है, उसके अनुसार जैसे किसी शब्द में किसी सूत्र से कार्य कर निर्देश कर दिया जाता है, इसी प्रकार सूत्रों के द्वारा स्वर का ज्ञान भी करा दिया जाता है, किन्तु तत् तत् पद में स्वर के अन्तर से अर्थ पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है, उसका परिज्ञान न अध्यापक को होता है, न अध्ययन करनेवाले छात्र को।

वेङ्कटमाधव ने पदार्थ, समासार्थ और वाक्यार्थ आदि के विषय में उदात्तादि स्वरों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह पाणिनीय व्याकरण के अनुसार ही है। वह स्वरानुक्रमणी के आरम्भ में लिखता है—

भगवान् पाणिनिर्वेत्ति वाक्यवृत्तीः समञ्जसम्।

मन्त्रार्थानुक्रमणी में पाणिनि के साथ शाकल्य और यास्क का भी निर्देश करता हुआ वह लिखता है—

शाकल्यः पाणिनिर्यास्कः इत्यृगर्थपरास्त्रयः।
यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वं कथयन्त्यमी॥

अर्थात् शाकल्य, पाणिनि और यास्क ये तीन ऋग्वेद के विशेषार्थ को जानने वाले हैं, परन्तु इन्होंने ऋग्वेद के अर्थ का ज्ञान कराने के लिए शथाशक्ति प्रयास किया है। सारी बात ये भी नहीं कहते। वेङ्कटमाधव जैसा स्वरविषय में अप्रतिहत-बुद्धि भी शाकल्य के पदपाठ का आश्रय लेने से एक ऐसी बात लिख गया, जिसकी उस जैसे स्वरविशेषज्ञ से कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह लिखता है—

अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्याद् वरुणं वो रिशादसम्।
बहुव्रीहे स्वरं पश्यन् अर्थं तत्पुरुषस्य च॥१।५।८॥

अर्थात् बहुव्रीहि का स्वर दिखाई पड़ते हुए और तत्पुरुष समास का अर्थ गम्यमान होने पर अर्थ के स्पष्ट होने पर स्वर का परित्याग कर देना चाहिए। जैसे **वरुणं वो रिशादसम्**(ऋ० ५।६४।१)। 'रिशादसम्' पद में बहुव्रीहि का पूर्वपदप्रकृतिस्वर देखा जाता है, परन्तु अर्थ तत्पुरुष का **रिशताम् असितारम्** हिंसकों का नाश करनेवाला स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए यहां पर बहुव्रीहि-स्वर की उपेक्षा कर देनी चाहिए।

वस्तुतः वेङ्कटमाधव का उक्त कथन ठीक नहीं है। पदकारों का यह सामान्य नियम है कि जिस पद में कई प्रकार की व्युत्पत्तियों की सम्भावना हो तो उस पद में अवग्रह नहीं करते। इसलिए कहा गया है—**"सन्देहे नावगृह्णन्ति"**। इस नियम के अनुसार 'रिशादसम्' में भी कई व्युत्पत्तियों की सम्भावना होने से शाकल्य ने अवग्रह नहीं दर्शाया। अवग्रह न करने से ही सम्भवतः वेङ्कटमाधव को **"अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्यात्"** लिखना पड़ा। रिशादसम् पद में 'शा' उदात्त देखा जाता है। इसे वेङ्कटमाधव ने पूर्वपद में उदात्तत्व समझकर उक्त निर्णय दिया, परन्तु यदि इसका विग्रह **"रिशाणाम् हिंसकानाम् अदसम् भक्षयितारम्"** किया जावे तो **"गतिकारकोपपदात्"** से उत्तरपद प्रकृतिस्वर होगा। "अदसम्" शब्द अद् धातु से असुन् प्रत्ययान्त बनता है। प्रत्यय के नित् होने से उत्तरपद अदस् आद्युदात्त होगा। अकार के उदात्त होने पर शेष भाग अनुदात्त होगा। इस अवस्था में "रिश" पूर्वपद के अनुदात्त अकार का उत्तरपद के उदात्त अकार के साथ एकादेश होने पर **"एकादेश उदात्तेनोदात्तः"** (८।२।५) से शकार उत्तरवर्ती आकार उदात्त होगा। इस स्थिति में स्वर को छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि वेङ्कटमाधव यहां पर भी स्वर को प्रधानता देकर अर्थ करने का प्रयत्न करता तो स्वर के परित्याग की आवश्यकता ही नहीं होती।

इस प्रकार वेद में कहीं पर भी स्वरव्यत्यय का अवकाश नहीं है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में ३१५, ३१६ कारिकाओं में अनेकार्थक शब्दों के अर्थज्ञान के कुछ हेतु दिये हैं। यथा—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥

सामर्थ्यमौचितो देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इन अर्थनियामकों में स्वर को भी कारण माना है, इसलिये जहां पर स्वरहित समानश्रुतिवाले अनेकार्थक पद हों, वहां पर स्वर से विशेष अर्थ की प्रतीति होती

है। साहित्यशास्त्रवित्—"**स्वरस्तु वेदविशेषप्रतिपत्तिकृत् न काव्ये इति तस्य विषयो नोदाहृतः**" (साहित्यदर्पण परि० २) लिखते हुए वेद में स्वर को विशेषार्थ की प्रतीति में कारण स्वीकार करते हैं।

वेङ्कटमाधव भी—"**यदा न तं स्वरं पश्येद् अन्यार्थं नयेत् तदा**" द्वारा अर्थभेद में स्वरभेद को कारण मानता है।

सारे लेख का तात्पर्य यही है कि तिङन्त, कृदन्त समास आदि पदों के सूक्ष्म अर्थ की प्रतीति स्वर के आधार पर होती है। नियम यह है कि पद के जिस भाग में उदात्त देखा जाता है, उसके अर्थ की प्रधानता होती है। **प्रकृतौ प्रत्यये वापि स्वरो यत्र व्यवस्थितः**। 'पक्ता' शब्द में दो प्रकार के स्वर देखे जाते हैं, तृजन्त पक्ता अन्तोदात्त है, अर्थात् उसके प्रत्ययभाग में उदात्तत्व होता है। तृन् प्रत्ययान्त के धातुभाग में उदात्तत्व देखा जाता है। इसलिए अन्दोदात्त पक्ता शब्द का अर्थ केवल इतना ही है—'पाक क्रिया का करनेवाला' किन्तु आद्युदात्त पक्ता शब्द का अर्थ है—पाक को अच्छी प्रकार करनेवाला तथा पकाना जिसका स्वभाव हो। इसमें धात्वर्थ की प्रधानता है। द्र०—**तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु, तृन्** (अ० ३।२।१३४, १३५)। यद्यपि तृजन्त के साथ ही ण्वुल्प्रत्ययान्त पाचक शब्द का साधुत्व भी पाणिनि ने दर्शाया है, परन्तु प्रत्यय के लित् होने से "**लिति**" (अ० ६।१।१८७) सूत्र से लित् 'अक' प्रत्यय के पूर्व को अर्थात् धातु को उदात्त होता है। इसलिए जैसे तैसे पकानेवाले को पाचक नहीं कहते, ठीक प्रकार पाक करनेवाले को पाचक कहा जाता है।

वेदार्थ करते समय पदकारों द्वारा दर्शाए हुए पदपाठ से सहायता तो ली जा सकती है, किन्तु उस पर ही आश्रित होकर यदि वेदार्थ किया जायेगा तो अनेक कठिनाईयां उत्पन्न हो जाती हैं। यथा—**प्रणङ् मर्त्यस्य** (ऋ० १।१८।३) में प्रणक् को शाकल्य ने एकपद माना है। प्रणक् क्रिया "**पृची सम्पर्के**" से मानी जाती है। किन्तु प्रणक् क्रिया द्वितीय पाद के मध्य पठित होने से "**तिङ्ङतिङः**" के नियम से अनुदात्त होनी चाहिए, किन्तु मन्त्र में प्र उदात्त देखा जाता है। पाद के मध्य में प्रणक् क्रिया के उदात्तत्व की सिद्धि के लिए वेङ्कटमाधव और सायण ने विविध कल्पनाएं की हैं। स्वामी दयानन्द ने 'प्रणक्' को दो पद माना है—"**प्र+णक्**"। दो पद मानने पर प्र उपसर्ग होने से आद्युदात्त है और णक् क्रिया नश् धातु से पाणिनि के '**मन्त्रे घसह्वरणश**' (२।४।८०) सूत्र के नियम से उपपन्न होती है। अतः 'नक्' के न को **तिङ्ङतिङः** के नियम से अनुदात्त स्वतः सिद्ध है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के **वने न वायो न्यधायि चाकन्** मन्त्रांश के पदच्छेद शाकल्य ने **वने। न। वा। यः। नि अधायि** दर्शाये हैं। यास्क ने निरुक्त ६।२८ में **वायः** को

एक पद माना है—**वायः वेः पुत्रः**। इसके अनन्तर शाकल्य के पदच्छेद में दोष दर्शाया है—'वा इति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्, असुसमाप्तश्चार्थः'। अर्थात् शाकल्य द्वारा **वा यः** इस प्रकार पदच्छेद करने पर **यः** (**यत्**)के योग में अधायि क्रिया को [**यद्वृत्तान्नित्यम्** से] उदात्त होना चाहिये [परन्तु है सर्वानुदात्त]। तथा [यत्तदोर्नित्यसंबन्ध के नियम से] **यः** का निर्देश होने पर **सः** का निर्देश होना चाहिये। इस प्रकार अर्थ भी पूरी तरह पूरा नहीं होता है।

पदपाठ और पाणिनीय व्याकरण का विरोध—पदकारों द्वारा दर्शाया हुआ पद-विभाग अन्तिम रूप से प्रामाणिक नहीं है। यह "**वने न वायो**" मन्त्र के विषय में लिखा जा चुका है। कहीं-कहीं पदकारों के साथ पाणिनीय व्याकरण का विरोध देखा जाता है। इस विषय में पतञ्जलि ने तीन स्थानों पर लिखा है—**न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणम् अनुवर्त्यम्, यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्** (३।१।१०९), (६।१।२०७), (८।२।१६)।

उक्त तीनों स्थानों पर पाणिनीय नियमों के अनुसार पदसिद्धि करने पर अवग्रह प्राप्त होता है। पदकारों ने अवग्रह नहीं किया। इसी के समाधान में भाष्यकार ने कहा है—"लक्षण (व्याकरण के नियमों) को पदकारों का अनुवर्त्तन नहीं करना चाहिए, यथालक्षण पदविभाग करना चाहिए।" इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्रों का संहितापाठ ही प्रामाणिक माना जाता है। संहितापाठ का पदपाठ बनाते समय व्याकरण के अनुसार जैसा पदच्छेद सम्भव है, वह किया जा सकता है।

शाकल्य आदि पदकारों ने स्वीय व्याकरणानुसार पदच्छेद किया। उपलब्ध पदपाठों के प्रवक्ता शाकल्य, गार्ग्य, आत्रेय, शौनक हैं। शाकल्य और गार्ग्य के व्याकरण-शास्त्रविषयक मत पाणिनीय व्याकरण में उद्धृत हैं। शौनक और आत्रेय यद्यपि पाणिनि द्वारा स्मृत नहीं हैं, तथापि प्रातिशाख्यों में इनके मत बहुधा उद्धृत हैं। भाष्यकार के कथन का तात्पर्य शाकल्य आदि के पदपाठ के अप्रामाण्य में नहीं है, अपितु विभिन्न वैयाकरणों के नियमों के अनुसार भी मन्त्रपाठ का पदविभाग किया जा सकता है। उपलब्ध पदपाठों में भी कुछ-कुछ भेद है, परन्तु गार्ग्य के पदपाठ में तो अन्यों से महत् अन्तर देखा जाता है।

"**अनुव्यचलत्, अनुव्याकरोति, यत्परियन्ति**" तथा "**वाससी इव, कन्ये इव, प्रप्र**" इनमे पदकार समास अर्थात् एक पद मानते हैं, परन्तु पाणिनि समास स्वीकार नहीं करता। तदनुसार अनुव्यचलत् में अनु+वि+अचलत् तीन पद, अनुव्याकरोति में अनु+वि+आ+करोति चार पद हैं। परियन्ति में दो पद, कन्ये इव वाससी इव में दो पद, प्रप्र में दो पद स्वीकार किये जाते हैं। इस प्रकार पदच्छेद के विषय

में शाकल्य और पाणिनि के मत में साक्षात् भेद होने पर भी स्वरविषय में कोई भेद नहीं पड़ता। वार्तिककार जो शुक्लयजु:प्रातिशाख्य का प्रवक्ता भी था, उसने पदकारों द्वारा माने गये एकपदत्व का निर्देश करने के लिए तीन वार्तिक रचे हैं—१. **उदात्त-गतिमता च तिङा**। २. **इवेन विभक्त्यलोप: पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च**। ३. **अव्ययम् अव्ययेन**। (महाभाष्य २।२।१८)।

इस पदविभाग के भेद से भी यही बात स्वीकार्य होती है कि मन्त्रों का संहिता पाठ ही प्रामाणिक होता है। पदपाठ किसी भी व्याकरण के अनुसार किये जा सकते हैं। इसमें कोई यह न समझे कि पाणिनीय व्याकरण के प्रचलित होने पर शाकल्य आदि के पदपाठ व्यर्थ हो गये। पाणिनि ने स्वयं भी प्राचीन पदपाठों का अनुसरण किया है। यथा—**अनूप:** पद की सिद्धि के लिए पाणिनि ने सूत्र बनाया है—**ऊदनोदेशे** (६।३।९७) अर्थात् अनु+अप प्रयोग में अप के अकार को ऊत् आदेश किया है—अनु+ऊप=अनूप। यहां पाणिनि द्वारा ह्रस्व उकारादेश करके भी सवर्णदीर्घ द्वारा अनूप पद का अन्वाख्यान कर सकते थे, परन्तु दीर्घ ऊकारादेश का विधान पदकारों के अवग्रह अनु+ऊप को दृष्टि में रख कर किया, ऐसा महाभाष्य-कार का कहना है।

यहां पर यह विचारणीय है कि वैदिक संहिताओं के जितने भी पदपाठ मिलते हैं, उनमें किसी में भी अनूप शब्द का अनु+ऊप ऐसा अवग्रह नहीं मिलता। पदकारों का यह सामान्य नियम है कि जहां किसी शब्द में आदेश, आगम, वर्णव्यत्यय आदि होता है, उसमें अवग्रह नहीं किया जाता है। इस दृष्टि से अनूप शब्द में अव-ग्रह प्राप्त ही नहीं होता। साम का पदपाठ अवग्रह की दृष्टि से कुछ विशेष भिन्नता रखता है, फिर भी उसमें अनूप में अवग्रह नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में महाभाष्य-कार का दीर्घादेश के समर्थन में **अवग्रह में दोष नहीं होगा**—कैसे उपपन्न होगा। पतञ्जलि के समय में बहुत सी शाखाओं के पदपाठ विद्यमान थे। सम्भव है उनमें से किसी में अनूप शब्द में अवग्रह दर्शाया होगा, क्योंकि महाभाष्यकार जैसे प्रामाणिक विद्वान् का लेख कल्पित नहीं हो सकता।

पदकार और पाणिनीय व्याकरण के विरोध का एक उदाहरण हम पहले उद्-धृत कर चुके हैं—**प्रणङ् मर्त्यस्य**। पदकार शाकल्य प्रणक् को एकपद मानता है, तदनुसार यह पद 'पृची सम्पर्के' धातु से सम्पन्न होता है। पाणिनि के **मन्त्रे घस-ह्वरणश** नियम के अनुसार नक् क्रियापद बनता है, 'प्र' उपसर्ग पृथक् है। इस प्रकार प्र+णक् दो पद सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार पदकारों के पदच्छेद वहीं तक प्रामाणिक हैं जहां तक उनमें स्वर आदि का दोष न आता हो। उपलब्ध सभी पदपाठों के प्रवक्ता व्याकरणशास्त्र के

प्रवक्ता थे, इसलिए उन्होंने पदपाठों का प्रवचन स्वीय व्याकरण तंत्र के अनुसार किया था। पाणिनि का तंत्र उत्तरकालीन था। सभी व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता अपने-अपने ढंग से शास्त्रों का प्रवचन करते हैं, अतः पदपाठों में कुछ वैषम्य भी देखा जाता है। उसी प्रकार का वैषम्य पाणिनीय तंत्र की दृष्टि से भी प्रतीत होता है। इन सबको ध्यान में रखकर ही महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है—**न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्** अर्थात् पदकारों से उत्तरवर्ती व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ताओं को पदकारों के पीछे नहीं चलना चाहिए, अपितु व्याकरण के प्रवचन के पश्चात् भावी पदकारों को लक्षणशास्त्र का अनुगमन करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि मन्त्रों का संहितापाठ ही प्रामाणिक (स्वतः प्रमाण) है। पदपाठ ऋषियों के द्वारा प्रोक्त होने से परतः प्रमाण है। वेदभाष्यकार यदि कहीं पदपाठ की उपेक्षा करें तो वह दोषावह नहीं है, जब तक कि वेदभाष्यकार के व्याख्यानों में कोई अशुद्धि न हो। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी ऋग्वेदभाष्य में अनेक स्थानों पर पदपाठ को प्रमाण मानकर उससे विरुद्ध होने के कारण सायण के व्याख्यान को अशुद्ध कहा है (द्र०—ऋग्वेदभाष्य १।३४।४; १।३६।२०)। इसी प्रकार यजुर्वेदभाष्य में भी पदपाठ के विरोध से महीधर के व्याख्यान को अशुद्ध कहा है, (द्र०—५।६)।

आर्यसमाज के तथाकथित वेदज्ञों का कहना है कि वेदमन्त्रों पर जो स्वरचिह्न लगाये गये हैं, वे ऋषियों ने लगाये हैं। यदि इनको भी मन्त्रवत् अपौरुषेय मान लें तो उसमें सबसे बड़ी बाधा यह आती है कि स्वरों के विना श्लेषालंकार से मन्त्रों के जो अनेक अर्थ किये जा सकते हैं, वे नहीं किये जा सकेंगे, अर्थात् उदात्तादि स्वरों के कारण मन्त्रों के अर्थ सीमित हो जायेंगे। वस्तुतः उक्त कथन सत्य से परे है। वास्तविकता यह है कि ऐसा कथन वे ही महानुभाव करते हैं, जिनकी व्याकरण और स्वरशास्त्र में यत्किञ्चित् भी गति नहीं होती।

श्लेषालंकार के दो भेद हैं—अखण्डश्लेष और सखण्डश्लेष। अखण्डश्लेष में स्वर कहीं पर भी बाधक नहीं होता। अग्नि, इन्द्र आदि पदों के प्रकरणानुसार अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। सखण्डश्लेष में भी स्वर केवल वहीं बाधक होता है, जहां पर स्वरशास्त्र के नियम से तोड़ा नहीं जा सकता। यथा—**अरुणो मासकृत्** (ऋग्वेद १।१०५।१८) मन्त्र के संहितापाठ में मासकृत् मिला हुआ है (मूल ऋग्वेदसंहिता में मा सकृत् दो पदों के रूप में छापे हैं, वह वैदिक पाठ के विपरीत है)। मन्त्र में मास दोनों अनुदात्त हैं कृ उदात्त है। इसको 'मा सकृत्' दो भागों में विभक्त कर दिया जाय अथवा एक ही पद माना जाय, दोनों अवस्थाओं में स्वर समान ही रहता है।

इसलिए निरुक्तकार ने **मासकृत्** को एक पद ही मानकर **मासानां च अर्द्धमासानां च कर्त्ता** (निरुक्त ५।२१) रूप में व्याख्यान किया है। पदकार शाकल्य ने **मा सकृत्** दो पद के रूप में विभक्त किया है। एक पद मानने पर **मासकृत्** पद में **गतिकारकोप-पदात् कृत्** (६।२।१३८) नियम से उत्तरपद प्रकृतिस्वर होने से कृ उदात्त होता है, शेषभाग अनुदात्त हो जाता है। दो पद मानने पर 'मा' पद अस्मद् शब्द की द्वितीया का एकवचन है और वह **त्वामौ द्वितीयायाः** (८।१।२३) से अनुदात्त होता है। सकृत् पद **फिषोऽन्त उदात्तः** से अन्तोदात्त है। इस प्रकार के सखण्डश्लेषों में जहां स्वर बाधक न हो, यथेष्ट विभाग किया जा सकता है। जो लोग मन्त्रार्थ करते समय स्वर में व्यत्यय स्वीकार करते हैं, वे स्वरशास्त्र के नियम से पूरी तरह अभिज्ञ नहीं हैं। हां, पाणिनीय व्याकरण द्वारा किसी पद में यथेष्ट स्वर उपपन्न नहीं होता, तब पाणिनीयशास्त्र की दृष्टि से व्यत्यय शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। पाणिनीय व्याकरण में यद्यपि स्वरशास्त्र का विस्तृत निर्देश है, लगभग ५०० सूत्र हैं, परन्तु मन्त्रपठित यथेष्ट स्वर सिद्ध ही हो जावें, नहीं माना जा सकता। समासस्वरों के विषय में **समासस्य** (६।१।१२७) एक उत्सर्ग सूत्र है। इसके आगे १९९ अपवाद पाणिनि ने दर्शाये हैं। कात्यायन ने भी ५०-६० वार्तिक लिखे हैं। इतना सब होने पर भी समासस्वर-प्रकरण के अन्तिम सूत्र **परादिश्छन्दसि बहुलम्** (६।२।१९९) में भाष्यकार ने अवशिष्ट स्वरापवादों के ज्ञानार्थ लिखा है—

परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते।
पूर्वादयश्च दृश्यन्ते व्यत्ययो बहुलं ततः॥

वस्तुतः उदात्तादि स्वर मन्त्रार्थों के करने में अतिसहायक हैं। जहां स्वर की उपेक्षा की वहीं व्याख्याकार गड़बड़ा जाता है। वेङ्कटमाधव जैसे अप्रतिम स्वरशास्त्र का ज्ञाता भी स्वर की जरा सी उपेक्षा के कारण जो लिख बैठा—

बहुव्रीहेः स्वरं पश्यन्नर्थं तत्पुरुषस्य च।
अर्थे स्पष्टे स्वरं जह्याद् वरुणं वो रिशादसम्॥

यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इसी प्रकार पदकार शाकल्य की प्रसंगात् स्वर-विषयक एक भूल जो निरुक्त में दर्शाई है, उसका भी उल्लेख हम कर चुके। वेद के लब्धप्रतिष्ठ हिन्दीभाष्यकार स्वरज्ञान के अभाव में प्रायः सम्बोधन, प्रथमा विभक्ति के एकवचन और तिङन्त का, जहां शब्दों का स्वररहित एक जैसा रूप होता है, वहां स्वरज्ञान के अभाव में सुबन्त को तिङन्त मानकर और तिङन्त को सुबन्त मानकर अर्थ कर देते हैं। समानरूप वाले सुबन्त और तिङन्त का निर्णय स्वर से ही सम्भव है।

इस प्रकार हमने संक्षेप से वैदिक स्वरों की वेदार्थ में उपयोगिता और उसकी उपेक्षा से होनेवाले अर्थ का संक्षेप से निर्देश कर दिया। जिस प्रकार वेद में सुप्तिङ् आदि का कहीं व्यत्यय नहीं है, वैदिकभाषा की दृष्टि से वेदोक्त पद यथास्थान यथावत् साधु हैं, उसी प्रकार उदात्तादि स्वरों में भी व्यत्यय नहीं है। स्वरानुसार यथावत् वेदार्थ करने पर जहां गम्भीर और अस्फुट अर्थ स्पष्ट होता है, वहीं स्वर में व्यत्यय की कल्पना करके अर्थात् स्वर की उपेक्षा करके किया गया अर्थ अशुद्ध हो सकता है।

अन्त में वेङ्कटमाधव का कथन उद्धृत करते हुए लेख को समाप्त करते हैं—

अन्धकारे दीपिकामिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति॥

जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ

[यह लेख हमने 'ज्ञानपीठ, काशी' से प्रकाशित जैनेन्द्र व्याकरण (अभयनन्दी कृत महावृत्ति) के 'उपोद्घात' के रूप में सं० २०१३ वि० में लिखा था। उसमें अतिस्वल्प संशोधन करके यहां छाप रहे हैं। पुराने लिखे लेख में 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के प्रथम संस्करण की जहां-जहां पृष्ठ सं० दी थी, वहां सं० २०४१ के नवीन चतुर्थ संस्करण के अनुसार कर दिया है।]

संसार में वैदिक वाङ्मय के प्रादुर्भाव का आदि स्थान पुण्यभूमि भारत है। उसका विशाल संस्कृत वाङ्मय मुख्यतः तीन धाराओं में विभक्त है। इस वाङ्मय की समृद्धि में वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानों तथा आचार्यों ने मुक्तहस्त से सहयोग प्रदान किया है। भगवान् महावीर से पूर्व के जैन तीर्थङ्करों ने उपदेश और ग्रन्थ-रचना में किस भाषा का आश्रय लिया था, इसके प्रमाण अभी नहीं मिले। उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध अथवा ज्ञात नहीं। इसलिए उपलब्ध संस्कृत वाङ्मय में वैदिक वाङ्मय ही प्राचीनतम कहा जा सकता है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायी मनीषियों ने अपने विचारों को सर्वसाधारण तक पहुंचाने के लिए उपदेश और ग्रन्थ-रचना में तात्कालिक जनभाषा प्राकृत तथा पाली का आश्रय लिया। कालान्तर में, सम्भवतः विक्रम की प्रथम शती के लगभग जैन तथा बौद्ध आचार्यों ने भारतीय जनता के हृदय में संस्कृत के प्रति युग-युग से वर्तमान विशिष्ट अनुराग और आदर की भावना को अनुभव किया और उदारचेता होकर उन्होंने भी विद्वज्जनोपयोगी विशिष्ट ग्रन्थों की रचना के लिए संस्कृत भाषा को अपनाना आरम्भ किया।

नये युग के प्रवर्तक

इस नये युग के प्रवर्तक जैन सम्प्रदाय में आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर तथा बौद्ध सम्प्रदाय में भदन्त अश्वघोष थे। ये सब वैदिक सम्प्रदाय के विशिष्ट ज्ञाता थे। इसलिए उभय सम्प्रदाय के शास्त्रज्ञान की जो प्रौढ़ता इनके ग्रन्थों में उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन आचार्यों ने अपनी अगाध-विद्वत्ता के कारण अपने-अपने सम्प्रदायों में नये युग का सूत्रपात किया। इनका अनुकरण करके उत्तरवर्ती अनेक सुहृद् आचार्यों ने अपने-अपने उत्तमोत्तम ग्रन्थों द्वारा संस्कृत वाङ्मय को आगे बढ़ाया।

संघर्ष युग—दोनों सम्प्रदायों में संस्कृत भाषा के प्रति अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। प्रत्येक विषय पर संस्कृत में ग्रन्थ-रचनाएं होने लगीं। विक्रम की प्रथम शती से १२वीं शती तक का युग संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। इस काल में वैदिक, जैन और बौद्ध विद्वानों के पारस्परिक तार्किक वाद-प्रतिवाद ने वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र को, विशेषकर न्यायशास्त्र को परिवृंहित करने में विशेष योग प्रदान किया। इस काल में वैदिक न्यायशास्त्र की तो प्रवृत्ति ही बदल गई। वह अपने मूल प्रयोजन से हटकर अर्थात् प्रमेयनिर्णायक न रहकर केवल प्रमाण-लक्षण-निर्णय तक ही सीमित हो गया और अन्त में उसने नव्य न्याय के रूप में केवल बौद्धिक श्रम का रूप धारण कर लिया।

जैन व्याकरण-वाङ्मय

संस्कृतवाङ्मय में व्याकरणशास्त्र अपना प्रमुख स्थान रखता है। प्राचीन शास्त्रों में इसे स्वतन्त्र विद्यास्थान माना है। इसलिए जब जैन विद्वानों ने संस्कृत भाषा को अपनाया, तब जैन सम्प्रदाय में भी इस शास्त्र का महत्त्व बढ़ा। अनेक जैन आचार्यों ने व्याकरण के क्षेत्र में भी अनेक उत्तम कृतियां प्रदान कीं। उनमें से अधिकांश विकराल काल द्वारा कवलित हो गईं, अनेक ग्रन्थों का नाम भी स्मृति-पटल से नष्ट हो गया। कइयों का नाममात्र शेष रहा। बहुत स्वल्प कृतियां शेष बचीं। जो कृतियां कथञ्चित् कालकवलित होने से इस समय तक बच गईं वे ग्रन्थागारों में वेष्टनों में बन्धी, प्रकाश में आने की तिथि की प्रतीक्षा कर रही हैं। सम्भव है उनमें से अधिकांश कृतियां **'शीर्यते वन एव वा'** नियम के अनुसार विद्वज्जगत् को सुरभित न करके वनोपम ग्रन्थागारों में ही शीर्ण हो जायं। ईंट पत्थरों से बनी भौतिक कृतियों को बचाने अथवा उनके उद्धार की चिन्ता की अपेक्षा इन सांस्कृतिक और बौद्धिक कृतियों का बचाना, उनका उद्धार करना परम आवश्यक है। जो विद्वान् महानुभाव, धनी मानी श्रेष्ठी वर्ग तथा संस्थाएं इस कार्य में लगी हुई हैं, वे देश, जाति तथा धर्म की वास्तविक सेवा कर रही हैं। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर युगयुग उपार्जित प्राचीन वाङ्मय की रक्षा का भार मुख्यतया राज्य को ही वहन करना चाहिए, परन्तु सम्प्रति हमारे नेता इस ओर उदासीन हैं।

उपलब्ध जैन व्याकरण

जैन आचार्यों द्वारा लिखे गये ६-७ व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं। उनमें से केवल तीन व्याकरण प्रमुख हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और सिद्ध हैम। इनमें आचार्य देवनन्दी, अपर नाम पूज्यपाद, इतर नाम जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा प्रोक्त जैनेन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है।

इन प्रमुख तीन व्याकरणों के ग्रन्थ भी अभी तक पूरे प्रकाशित नहीं हुए। सबसे अधिक हैम व्याकरण के ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं[1]। शाकटायन व्याकरण केवल चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति सहित प्रकाशित हुआ है, (परिशिष्ट में मूल गणपाठ, लिङ्गानुशासन तथा धातुपाठ भी छपे हैं)। सूत्रकार की स्वोपज्ञ अमोघ महावृत्ति अभी तक लिखितरूप में ही क्वचित् उपलब्ध होती है[2]। जैनेन्द्र व्याकरण भी तृतीय अध्याय के द्वितीयपाद के ६०वें सूत्र तक अभयनन्दीविरचित महावृत्तिसहित कुछ वर्ष पूर्व लाजरस कम्पनी काशी से प्रकाशित हुआ था (अब वह भी दुर्लभ है)। यह प्रथम अवसर है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशी ने इस भारी कमी को पूर्ण करने का बीड़ा उठाया और वह उसे अभयनन्दी की महावृत्ति सहित प्रकाशित कर रहा है।

जैनेन्द्र से प्राचीन व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद ने अपने शब्दानुशासन में निम्न ६ पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है—

१. **गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम्** [१।४।३४]

२. **कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य** [२।१।९९]

३. **राद् भूतबलेः** [३।४।८३]

४. **रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य** [४।३।१८०]

५. **वेत्तेः सिद्धसेनस्य** [५।१।७]

६. **चतुष्टयं समन्तभद्रस्य** [५।४।१४०]

इन छः आचार्यों में से किसी का भी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। अनेक विद्वानों को इन आचार्यों के व्याकरण-शास्त्र-प्रवक्तृत्व में भी सन्देह है। जैसा कि जैन इतिहास-विशेषज्ञ श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' (पृष्ठ १२०) में लिखा था—

"इन छः आचार्यों में से किसी का भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है, परन्तु जान पड़ता है इनके अन्य ग्रन्थों में कुछ भिन्न तरह के शब्द प्रयोग किये गये

---

१. सम्प्रति हैम व्याकरण की केवल लघुवृत्ति सुप्राप्य है, अन्य सभी मुद्रित ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गये। इनका पुनर्मुद्रण अत्यन्त आवश्यक है।

२. यह महावृत्ति भी शीघ्र ही भारतीय ज्ञानपीठ काशी से ही प्रकाशित होगी।

होंगे और उन्हीं को व्याकरण-सिद्ध करने के लिए ये सब सूत्र रचे गये हैं।[1]

पं० फूलचन्द्र सि० शा० ने भी सर्वार्थसिद्धि की भूमिका में लगभग इसी मत का प्रतिपादन किया है।[2]

पाणिनीय व्याकरण में स्मृत शाकल्य आपिशलि शाकटायन आदि १० प्राचीन शाब्दिकों के विषय में भी अनेक विद्वानों की ऐसी ही धारणा है।

हमारे विचार में इस प्रकार की धारणाओं का मूलकारण भारतीय प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा समुत्पादित अविश्वास की भावना और अनर्गल कल्पनाएं ही हैं।

हम अपने संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में पाणिनि से पूर्ववर्ती आपिशलि काशकृत्स्न और भागुरि आदि अनेक शाब्दिक आचार्यों के सूत्र, धातु और गण के वचन उद्धृत[3] करके सिद्ध कर चुके हैं कि पाणिनि से प्राचीन आचार्यों के भी पाणिनि के समान ही सर्वांगपूर्ण व्याकरण थे।[4] अब तो काशकृत्स्न व्याकरण का

---

१. यद्यपि माननीय प्रेमीजी ने इस विचार की निस्सारता को समझकर अपने ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण में उक्त अंश निकाल दिया, पुनरपि जिनकी ऐसी धारणा अभी भी है, उनके विचारों के प्रधिनिधित्वरूप में उक्त पङ्क्तियां उद्धृत की हैं।

२. सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१।

३. देखो 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के तत्तत् प्रकरण।

४. श्री डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने "पाणिनिकालीन भारतवर्ष" (हिन्दी संस्करण) पृष्ठ ५ पं० २२,२३ पर पाणिनिपूर्ववर्ती व्याकरणों को विना किसी प्रमाण के एकाङ्की लिखा है। पृष्ठ २६ पं० ६ पर गणपाठ की सामग्री को पाणिनि की मौलिक देन बताया है, परन्तु इसके विरुद्ध पृष्ठ ३१ पं० १६ में भर्तृहरि के प्रमाण से पाणिनि-पूर्ववर्ती आपिशलि के गणपाठ की सत्ता भी स्वीकार की है। वस्तुतः श्री डाक्टर जी के ग्रन्थ का प्रथमाध्याय भावावेश में लिखा गया है, उसमें ऐतिहासिक अंश स्वल्प है। डा० कीलहार्न का भर्तृहरिकृत महाभाष्यटीकासंबंधी लेख हमें सुलभ नहीं हुआ। अतः नहीं कह सकते कि उसमें आपिशल गणपाठ का उल्लेख था, वा नहीं। परन्तु हमने अपनी भर्तृहरिकृत महाभाष्यटीका की प्रतिलिपि के आधार से 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १ पृष्ठ १५७ पर आपिशल गण-पाठ का उल्लेख किया है। तथा इसी ग्रन्थ के भाग १, पृष्ठ ४१०-४१७ पर महा-भाष्यटीका के इतिहासोपयोगी सभी वचन एकत्रित कर दिये हैं।

समग्र धातुपाठ चन्नवीर कविकृत कन्नडटीका सहित प्रकाश में आ गया है। उसमें काशकृत्स्न शब्दानुशासन के लगभग १४० सूत्र भी उपलब्ध हो गये हैं।[1] ये (धातुपाठ तथा सूत्र) न केवल उनके सर्वाङ्गपूर्ण होने के, अपितु पाणिनीय व्याकरण से अधिक विस्तृत होने के भी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

इसी प्रकार आचार्य पूज्यपाद के शब्दानुशासन में उद्धृत प्राचीन व्याकरणों के विषय में भी हमारी यही धारणा है कि उन आचार्यों ने भी अपने-अपने शब्दानुशासन रचे थे। उन्हीं के शब्दानुशासनों से आचार्य पूज्यपाद ने उनके मतों का संग्रह किया। इसके विपरीत कल्पना करना पूज्यपाद जैसे प्रामाणिक आचार्य को मिथ्यावादी कहना है (**आः शान्तं पापम्**)। जब हमने पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक शाब्दिक आचार्यों के बहुत से वचन प्राचीन ग्रन्थों में ढूंढ लिये, यहां तक कि आद्य शब्दतन्त्र-प्रणेता इन्द्र के भी '**अथ वर्णसमूहः**', '**अर्थः पदम्**' दो सूत्र उपलब्ध कर लिये,[2] ऐसी अवस्था में हमें पूर्ण निश्चय है कि यदि जैन वाङ्मय का सावधानतापूर्वक अवगाहन किया जाय तो इन आचार्यों के शब्दानुशासन के सूत्र भी अवश्य उपलब्ध हो जायेंगे।

आचार्य सिद्धसेन का व्याकरण-प्रवक्तृत्व—आचार्य सिद्धसेन के व्याकरणविषयक मत का उल्लेख आचार्य पूज्यपाद ने तो किया ही है; उसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनसे उनके व्याकरणप्रवक्ता होने की पुष्टि होती है। यथा—

१. अभयनन्दी जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्ति में एक उदाहरण देता है—'**उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः**' अर्थात् सब वैयाकरण सिद्धसेन से हीन हैं।

---

१. इन सूत्रों का प्रकाशन हम ने कर दिया है।

२. सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ९३-९४। महाभाष्य मराठी अनुवाद प्रस्तावना खण्ड (भाग ७, सन् १९५४) पृष्ठ १२५, १२६ पर श्री पं० काशीनाथ अभ्यङ्करजी ने हमारे द्वारा प्रथमतः (सन् १९५१) प्रकटीकृत दोनों सूत्रों का उल्लेख किया है। दूसरे सूत्र का पाठ भी हमारे द्वारा परिष्कृत ही स्वीकार किया है। लेखक ने अन्यत्र भी हमारे ग्रन्थ की पर्याप्त दुर्लभ सामग्री स्वीकार की है, परन्तु हमारे ग्रन्थ का कहीं निर्देश नहीं किया।

विशेष—इस लेख में जहां-जहां 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के पृष्ठों का निर्देश हमने किया था, उनके स्थान में संवत् २०४१ के छपे चतुर्थ संस्करण के अनुसार कर दिया है।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अभयनन्दी आचार्य सिद्धसेन को न केवल वैयाकरण ही मानता है, अपितु उस काल तक प्रसिद्ध वैयाकरणों में उसे सर्वश्रेष्ठ कहता है। यदि यह उदाहरण आचार्य पूज्यपाद के न्यास अथवा वृत्ति में भी हो, तब इसका महत्त्व बढ़ जाएगा।

२. अनेक ऐतिहासिकों का मत है कि 'क्षपणक' आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का ही नामान्तर था।[1] यदि यह सत्य हो (हमारा झुकाव इसी ओर है) तो आचार्य सिद्धसेन के व्याकरणप्रवक्तृत्व में सन्देह का कोई अवसर ही नहीं है। क्षपणक-व्याकरण, उसकी वृत्ति तथा उस पर लिखे गये महान्यास के अनेक वचन उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति, पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति तथा मैत्रेयरक्षितविरचित तन्त्र-प्रदीप आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।[2]

जैनेन्द्र व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दी ने जिस शब्दानुशासन का प्रवचन किया, वह लोक में जैनेन्द्र नाम से विख्यात है।

इस शब्दानुशासन का जैनेन्द्र नाम क्यों पड़ा, आचार्य पूज्यपाद का काल कौन सा है, जैनेन्द्र व्याकरण का मूल सूत्रपाठ कौन सा है, इस पर कितने व्याख्याग्रन्थ लिखे गये और आचार्य पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण के अतिरिक्त और कितने ग्रन्थ लिखे इत्यादि विषयों पर हम यहां विशेष चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि इन विषयों पर माननीय श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है, (यही अंश पुनः परिष्कृत करके 'जैनेन्द्र-व्याकरणम्' के आदि में पृष्ठ १७-३७ तक छपा है)। पश्चात् हमने भी अपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में विस्तार से विवेचना की है[3] (हमने श्री प्रेमी जी के ग्रन्थ से पर्याप्त सामग्री ली है।) इसलिए हम यहां केवल उतना ही अंश लिखेंगे, जो उक्त दोनों लेखों के पश्चात् परिज्ञात हुआ है।

जैनेन्द्र नाम का कारण—इस शब्दानुशासन को सर्वत्र जैनेन्द्र नाम से स्मरण किया है। इसके नामकरण के सम्बन्ध में श्री प्रेमीजी ने जैनग्रन्थों से जो कथाएं उद्धृत की हैं, वे प्रायः ऐतिहासिक तत्त्वरहित हैं। श्री प्रेमीजी भी उक्त कथाओं से

---

१. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, सीताराम जयराम तथा विश्वनाथ भारद्वाज कृत, सन् १९३३, पृष्ठ २४४।

२. द्र०—संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ६५६-६५७।

३. देखो पृष्ठ ३२३-३२८ तथा ४२१-४३१।

सन्तुष्ट नहीं हैं। हमारे विचार में इस नामकरण का निम्न कारण है—

आचार्य देवनन्दी का एक नाम जिनेन्द्रबुद्धि भी था, जैसा कि श्रवणबेल्गोल के ४०वें शिलालेख में लिखा है—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥

श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

अर्थात्—आचार्य का प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धि की महत्ता के कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवों ने उनके चरणों की पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

जिस प्रकार **'पदेषु पदैकदेशान्'** नियम अथवा **'विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्'** (४।१।१३९) वार्तिक के अनुसार प्राचीन ग्रन्थकार देव[1] अथवा नन्दी[2] नाम से देवनन्दी को स्मरण करते हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्र एक देश भी जिनेन्द्रबुद्धि अपरनाम देवनन्दी का वाचक है। अतः 'जैनेन्द्र' की व्युत्पत्ति होगी—**जिनेन्द्रेण प्रोक्तं जैनेन्द्रम्**। अर्थात् जिनेन्द्र = जिनेन्द्रबुद्धि = देवनन्दी द्वारा प्रोक्त व्याकरण।

आचार्य देवनन्दी का काल और उसका निश्चायक नूतन प्रमाण—आचार्य देवनन्दी के काल के विषय में ऐतिहासिकों का परस्पर वैमत्य है। यथा—

१—कीथ अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' में लिखता है—

The जैनेन्द्र व्याकरण ascribed to the Jinendra realy written by पूज्यपाद देवनन्दी perhaps was Composed C. 678. P. 432.

अर्थात् जैनेन्द्र व्याकरण सन् ६७८ (=७३५ वि०) के समीप लिखा गया।

२—श्री प्रेमीजी ने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवनन्दी का काल सामान्यतया विक्रम की षष्ठ शताब्दी निश्चित किया है। (देखो इसी ग्रन्थ के साथ मुद्रित उनका लेख)।

३—श्री आई० एस० पवते ने अपने 'स्ट्रक्चर आफ दी अष्टाध्यायी' में लिखा है—

'महामहोपाध्याय नरसिंहाचार्य ने कर्णाटक कविचरित के प्रथम भाग के प्रथम

---

१. जिनसेन तथा वादिराज सूरि 'देव' नाम से स्मरण करते हैं। देखो श्री प्रेमीजी का लेख, यही ग्रन्थ, पृष्ठ १९, टि० ३, ४।

२. इसके उद्धरण आगे लिङ्गानुशासन के प्रकरण में देंगे।

संस्करण में पूज्यपाद को ईस्वी सन् ४७० (=५२७ वि०) में बताया है और दूसरे संस्करण में सन् ६०० (=६५७ वि०) का। परन्तु मुझे २१-१२-१९३३ को लिखे एक पत्र में लिखा है कि पूज्यपाद ४५० ई० (=५०७ वि०) के आसपास हैं[1]।

४—हमने अपने व्याकरण शास्त्र के इतिहास में श्री प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणों के आधार पर आचार्य पूज्यपाद का काल विक्रम की षष्ठ शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना था। अब हम उसे ठीक नहीं समझते।

विक्रम की षष्ठ शताब्दी से पूर्व—अब हमें जो नूतन प्रमाण उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार आचार्य पूज्यपाद विक्रम की षष्ठ शताब्दी से पूर्ववर्ती हैं, यह निश्चित होता है।

कात्यायन ने एक विशिष्ट प्रकार के प्रयोग के लिए नियम बनाया है—**परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये** (महा० ३।२।११)। अर्थात्—ऐसी घटना जो लोकविज्ञात हो, प्रयोक्ता ने उसे न देखा हो, परन्तु प्रयोक्ता के दर्शन का विषय सम्भव हो (अर्थात् वह घटना प्रयोक्ता के जीवन-काल में घटी हो) उस घटना को कहने के लिए भूतकाल में लङ् प्रत्यय होता है।

पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस वार्तिक पर उदाहरण दिये हैं—**अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्**। वार्तिक के नियमानुसार साकेत (=अयोध्या) और माध्यमिका (=चित्तौड़ समीपवर्ती नगरी ग्राम) पर यह लोक-प्रसिद्ध आक्रमण पतञ्जलि के जीवनकाल में हुआ था। प्रायः सभी ऐतिहासिक इस विषय में सहमत हैं।

इसी प्रकार का नियम पाणिनि से उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याकरण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है और उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणों के साथ-साथ स्वसमकालिक किन्हीं महती घटनाओं का भी प्रायः निर्देश करते हैं। यथा—

अजयद् जर्तो हूणान्। चान्द्र[2] (१।२।८१)
अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्। जैनेन्द्र[2] (२।२।९२)

---

१. देखो, स्ट्रक्चर आफ दी अष्टाध्यायी, भूमिका, पृष्ठ १३।

२. यद्यपि ये उदाहरण क्रमशः धर्मदास तथा अभयनन्दी की वृत्ति से दिये हैं, परन्तु इन वृत्तिकारों ने ये उदाहरण निश्चय ही चन्द्र और पूज्यपाद की स्वोपज्ञ वृत्ति से लिये होंगे।

अदहदमोघवर्षोऽरातीन्। शाकटायन (४।३।२०८)

अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तिम्। हैम० (५।२।८)

इनमें अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं। आचार्य पाल्यकीर्ति (शाकटायन) महाराज अमोघवर्ष और आचार्य हेमचन्द्र महाराज सिद्धराज के काल में विद्यमान थे। इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु चान्द्र के जर्त और जैनेन्द्र के महेन्द्र नामक व्यक्ति को इतिहास में प्रत्यक्ष न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानों ने जर्त को गुप्त और महेन्द्र को मेनेन्द्र—मिनण्डर बनाकर अनर्गल कल्पनाएं की हैं। इस प्रकार की कल्पनाओं से इतिहास नष्ट हो जाता है। हमारे विचार में जैनेन्द्र का **'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्'** पाठ सर्वथा ठीक है. उसमें किञ्चिन्मात्र भ्रान्ति की सम्भावना नहीं है। आचार्य पूज्यपाद के काल की यह ऐतिहासिक घटना इतिहास में सुरक्षित है।

महेन्द्र और उसका मथुरा-विजय—जैनेन्द्र में स्मृत महेन्द्र गुप्तवंशीय कुमारगुप्त है। इसका पूरा नाम महेन्द्र कुमार है। जैनेन्द्र के **'विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्'** (४।१।१३९) वार्तिक अथवा **'पदेषु पदैकदेशान्'** नियम के अनुसार उसी को महेन्द्र अथवा कुमार कहते थे। उसके सिक्कों पर श्री महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं।[1]

तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ सूत्र में लिखा है—"यवनों पल्हिकों शकुनों (कुशनों) ने मिलकर तीन लाख सेना से महेन्द्र के राज्य पर आक्रमण किया। गङ्गा के उत्तरप्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेन के युवा कुमार ने दो लाख सेना लेकर उन पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटने पर पिता ने उसका अभिषेक कर दिया।"[2]

चन्द्रगर्भ सूत्र का महेन्द्र निश्चय ही महाराज कुमारगुप्त है और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। मञ्जु श्री मूलकल्प श्लोक ६४६ में श्री महेन्द्र और उसके सकारादि पुत्र (स्कन्दगुप्त) को स्मरण किया है।[3]

चन्द्रगर्भ-सूत्र में लिखित घटना की जैनेन्द्र के उदाहरण में उल्लिखित घटना के

---

१. श्री पं० भगवदत्त जी कृत भारतवर्ष का इतिहास (सं० २००३), पृष्ठ ३५४।

२. वही, पृष्ठ ३५४।

३. महेन्द्रनृपवरो मुख्यः सकाराद्यो मतः परम्।

साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र के उदाहरण में इसी महत्त्वपूर्ण घटना का संकेत है। उक्त उदाहरण से यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओं ने गङ्गा के आस-पास का प्रदेश जीतकर मथुरा को अपना केन्द्र बनाया था। इस कारण महेन्द्र की सेना ने मथुरा का ही घेरा डाला था।

महाभाष्य, शाकटायन तथा सिद्ध हैम व्याकरणों में निर्दिष्ट उदाहरणों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है, कि आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त अपर नाम महेन्द्रकुमार के समकालिक हैं। पाश्चात्य मतानुसार कुमारगुप्त का काल वि० सं० ४७०-५१२ (=४१३-४५५ ई०) तक था। अतः पूज्यपाद का काल अधिक से अधिक विक्रम की ५वीं शती के चतुर्थ चरण से षष्ठ शताब्दी के प्रथम चरण तक माना जा सकता है, इसके पश्चात् नहीं। भारतीय ऐतिहासिक काल-गणनानुसार गुप्तकाल इससे कुछ शताब्दी पूर्व ठहता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र के **'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्'** उदाहरण में महेन्द्र को मेनेन्द्र=मिनण्डर समझना भारी भ्रम है।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन

अब हम जैनेन्द्र व्याकरण के सम्बन्ध में संक्षेप से लिखते हैं—

जैनेन्द्र शब्दानुशासन का परिमाण—जैनेन्द्र शब्दानुशासन में ५ अध्याय, २० पाद और ३०६७ सूत्र (प्रत्याहार सूत्रों के बिना) हैं।

जैनेन्द्र का प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ—आचार्य पूज्यपाद के समय निश्चय ही पाणिनीय और चान्द्र शब्दानुशासन विद्यमान थे। पूज्यपाद ने अपने शब्दानुशासन की रचना पाणिनीय शब्दानुशासन के आधार पर की है, यह पाणिनीय चान्द्र तथा जैनेन्द्र शब्दानुशासनों की सूत्र-रचना और प्रकरण-विन्यास की तुलना से स्पष्ट है।[1] कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि पूज्यपाद ने चान्द्र शब्दानुशासन से भी कुछ सहायता ली है।

जैनेन्द्र में प्रत्याहारसूत्रों का सद्भाव—अभयनन्दी की महावृत्ति के साथ 'अ इ उ ण्' आदि प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैनेन्द्र शब्दानुशासन के मूल पाठ में ये अवश्य विद्यमान थे। इसमें निम्न हेतु हैं।

क—जैनेन्द्र सूत्रपाठ में जहां अनेक वर्णों का निर्देश करना होता है, वहां संक्षेपार्थ पाणिनीय अनुशासन के समान प्रत्याहारों का प्रयोग किया है। यथा—

---

१. जैनेन्द्र और पाणिनीय सूत्रों की तुलनात्मक सूची इस ग्रन्थ के अन्त में छपी है।

अच् (१।१।५६), इक् (१।१।१७), यण् (१।१।४५), ऐच् (१।१।१५), एङ् (१।१।७०)। ये प्रत्याहार पाणिनीय प्रत्याहारों के समान हैं। किस प्रत्याहार में कितने वर्णों का निर्देश समझना चाहिए अथवा प्रत्याहार कैसे बनाया जाता है, इसका नियम-प्रदर्शक "**अन्त्येनेतादिः**" सूत्र जैनेन्द्र शब्दानुशासन (१।१।७३) में विद्यमान है। इस सूत्र द्वारा अच् प्रत्याहारों का परिज्ञान तभी सम्भव है, जब ग्रन्थ के आरम्भ में पाणिनीय ग्रन्थवत् प्रत्याहारसूत्र पठित हों। अन्यथा '**अन्त्येनेतादिः**' सूत्र तथा इसकी वृत्ति कभी समझ में नहीं आ सकती।

ख—जैनेन्द्र १।१।४८ पर अभयनन्दी लिखता है—'**रन्त इति लणो लकारेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम्**।' अर्थात् 'रन्त' इस निर्देश में लण् सूत्र के लकार में पठित अकार से र प्रत्याहार लिया गया है। "लण्" यह पाणिनि के समान प्रत्याहारसूत्र ही है।

ग—अभयनन्दी १।१।३ सूत्र की वृत्ति के अनन्तर उदाहरण देता है—'अइउण् —णकारः।' अर्थात् 'अ इ उ ण्' सूत्र में 'ण्' इत् संज्ञक है। यहां भी पाणिनि के समान 'अ इ उ ण्' सूत्र को उद्धृत किया है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जैनेन्द्र व्याकरण के आरम्भ में भी प्रत्याहारसूत्र थे। हमने प्रत्याहार-सूत्रों के विषय में इस महावृत्ति के सम्पादक महोदय से पूछा था कि किसी हस्तलेख में ये सूत्र मिलते हैं, अथवा नहीं। श्री सम्पादक जी ने २६।६।५६ के उत्तर में लिखा—"प्रत्याहारसूत्रों का पाठ किसी भी हस्तलिखित प्रति में उपलब्ध नहीं है। मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी तथा शब्दार्णव-चन्द्रिका में कुछ हेर-फेर के साथ पाणिनीय व्याकरण सदृश (अ इ उ ण् आदि) दो प्रकार के सूत्र-पाठ मिलते हैं।"

हमारा विचार है कि प्रत्याहारसूत्रों की व्याख्या की आवश्यकता न समझकर[1] अभयनन्दी ने इनकी व्याख्या नहीं की। अव्याख्यात होने के कारण महावृत्ति के हस्तलेखों में इनका अभाव हो गया। अथवा यह भी सम्भव है—जैसे अन्यत्र कई स्थानों पर सूत्रों की वृत्ति उपलब्ध नहीं होती,[2] उसी प्रकार इन प्रत्याहारसूत्रों की भी व्याख्या नष्ट हो गई और व्याख्या के न रहने पर महावृत्ति के हस्तलेखों में सूत्र-पाठ का भी अभाव हो गया। जो कुछ भी कारण उनके अभाव का हो, परन्तु इतना निस्सन्दिग्ध है कि अभयनन्दी जैनेन्द्र प्रत्याहारसूत्रों से परिचित था।

सूत्रपाठ के पाठान्तर—महावृत्ति के साथ जो जैनेन्द्र सूत्रपाठ छपा है, उसमें

---

१. शाकटायन की चिन्तामणि वृत्ति में भी प्रत्याहारसूत्र व्याख्यात नहीं हैं।

२. पृष्ठ २८८, ३१७, ३२८।

तथा अभयनन्दी की व्याख्या में उद्धृत सूत्रपाठ में कतिपय पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। कई पाठान्तर अभयनन्दी की वृत्ति के गम्भीर अनुशीलन से विदित होते हैं। यथा—

क—अभयनन्दी ने १।१।८५ की व्याख्या में ५।१।७९ का पाठ उद्धृत किया है—**'वदव्रज' इत्यादिनैप्**। परन्तु ५।१।७९ पर सूत्रपाठ छपा है—**'व्रजवदल्वोऽतः'** (इस पर वृत्ति अप्राप्त है)।

ख—जैनेन्द्र १।२।११४ सूत्र का मुद्रित पाठ है—**साधकतमं करणम्**। इसकी व्याख्या में अभयनन्दी लिखता है—**'पुंल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? परिक्रयणम् (१।२।११२) इत्यनवकाशया संप्रदानसंज्ञया बाधा मा भूत्।'** अर्थात्—पुंल्लिङ्ग निर्देश क्यों किया·····।

इस सूत्र में दो पद हैं। दोनों ही नपुंसकलिङ्ग मुद्रित हुए हैं। ऐसी अवस्था में न तो शंका ही उपपन्न होती है और न उनका समाधान ही। क्योंकि **'नञ्बाध्य आसम्'** (१।२।९१) सूत्रानुसार नपुंसकलिंग से निर्दिष्ट संज्ञा का अनवकाश संज्ञा से बाध होता है। अतः 'करण' संज्ञा का नपुंसक से निर्देश होने के कारण अनवकाश सम्प्रदान संज्ञा (१।२।११२) से निश्चय ही बाध होगा। इस कारण प्रतीत होता है, अभयनन्दी का सूत्रपाठ **"साधकतमः करणः"** था, जो पीछे से विकृत हो गया। 'करणः' पुंल्लिग निर्देश होने पर ही **'पुंल्लिगनिर्देशः किमर्थः'** यह शंका तथा उसका समाधान उपपन्न हो सकता है। पुल्लिग निर्देश (करणः) होने पर अनवकाश संप्रदान संज्ञा से भी करण संज्ञा की बाधा नहीं होगी और **'शतेन परिक्रीतः'** प्रयोग भी उपपन्न हो जायेगा।

जैनेन्द्र में एक विवेचनीय स्थल—जैनेन्द्र व्याकरण लौकिक भाषा का व्याकरण है। इसलिए उसमें स्वर और वैदिक प्रक्रिया का अंश छोड़ दिया है। प्रथमाध्याय के प्रथम पाद में आचार्य ने तीन सूत्र पढ़े हैं—**कौवैतौ,उग्रः, ऊम्** (२५-२६) (यहां शुद्ध पाठ **ऊँ** चाहिए) इन सूत्रों के पाठ तथा इनकी वृत्ति से प्रतीत होता है कि इनका प्रयोगविषय लोकभाषा है। परन्तु इनका वास्तविक प्रतिपाद्य विषय वैदिक (पदपाठ) है। यह बात पाणिनि के **'संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उग्रः, ऊँ'** (१।१।१६-१७) सूत्रों से स्पष्ट है। पाणिनि ने प्रथम सूत्र में वैदिक सम्प्रदाय के पारिभाषिक **'अनार्ष इति'** का निर्देश किया है, (इसकी अनुवृत्ति अगले सूत्र में भी जाती है)। पदकारों द्वारा पदपाठ में प्रगृह्य आदि संज्ञा का निदर्शन कराने के लिए मन्त्र से बहिर्भूत जिस 'इति' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह अनार्ष इतिकरण कहाता है। इसी को उपस्थित भी कहते हैं। इस शब्द का व्यवहार भी पाणिनि ने ६।१।१२९ में किया

है। ये संज्ञाएं प्रातिशाख्यग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। पदपाठ में अनार्ष इतिकरण का प्रयोग कहां करना चाहिए, इसका प्रतिपादन प्रातिशाख्यों में विस्तार से किया है। ऋग्वेद के पदपाठ में शाकल्य ने प्रगृह्यसंज्ञक (जैनेन्द्र के अनुसार 'दि' संज्ञक) पद से परे सर्वत्र 'इति' शब्द का प्रयोग किया है। यथा—**अग्नी इति** (ऋ० ५।४५।४), **मेथेते इति**। (ऋ० १।११३।३) **युष्मे इति** (ऋ० ४।१०।८), **वायो इति** (ऋ० १।२।१), **ऊँ इति** (ऋ० १।२४।८), **गौरी इति** (ऋ० ६।१२।३)। पाणिनि ने शाकल्य के मत का अनुवाद अपने शास्त्र में किया है। इससे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के उक्त सूत्रों-द्वारा प्रतिपाद्य विषय भी वैदिक नियमों के अन्तर्गत आता है। इसलिए आचार्य को चाहिए था कि उसने जैसे पाणिनि के "**शे**" (१।१।१३) और "**ईदूतौ च सप्तमी**" (१।१।१८) सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय के लिए सूत्ररचना नहीं की, वैसे ही इनका भी समावेश न करता। समावेश करने से विदित होता है कि आचार्य ने इन सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय को लौकिक समझा है। परन्तु लोक में **वायो इति ऊँ इति** ऐसे प्रयोग उपलब्ध नहीं हैं।

भूल का कारण—इस भूल का कारण भगवान् पतञ्जलि की पाणिनीय **उञः ऊँ** (१।१।१७) सूत्र की व्याख्या है। पतञ्जलि ने शाकल्य ग्रहण को विकल्पार्थ मानकर और **उञः ऊँ** का योग-विभाग करके '**वायो इति वायविति, वाय इति, ऊँ इति उ इति विति**' इतने काल्पनिक रूप बनाये हैं। पतञ्जलि ने भी पारिभाषिक '**अनार्ष इति**' को '**लौकिक इति**' मान लिया, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु है यह समस्त प्राचीन वैदिक सम्प्रदाय के विपरीत।[1] इस विषय में भाष्यकार पतञ्जलि का अनुकरण करने से ही जैनेन्द्र में यह भूल हुई प्रतीत होती है।

जैनेन्द्र के सम्बन्ध में एक भ्रम—जैनेन्द्र शब्दानुशासन के सम्बन्ध में भ्रम है कि जैनेन्द्र ही प्रथम व्याकरण है, जिसमें एकशेषप्रकरण नहीं है। इसका कारण महावृत्ति में निर्दिष्ट '**देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्**' (१।४।९७) उदाहरण है। हमने 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' में भाग १, पृष्ठ ६६०-६६१) इस भ्रम का निराकरण किया है। जैनेन्द्र से प्राचीन चान्द्र में भी एकशेषप्रकरण नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्र शब्दानुशासन का पौर्वापर्य——आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक व्याख्या में कहीं पाणिनीय शब्दानुशासन के और कहीं स्वरचित शब्दानुशासन के सूत्र यत्र-तत्र उद्धृत किये हैं। इससे विदित होता है कि जैनेन्द्र शब्दानुशासन की रचना आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि के पूर्व ही कर ली थी।

---

१. इसकी विशद विवेचना के लिए देखो हमारे द्वारा सम्पादित 'अष्टाध्यायी-प्रकाशिका' का 'उञः ऊँ' (१।१।१७) सूत्र।

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १० सूत्र ४ की सर्वार्थसिद्धि टीका में आचार्य पूज्यपाद ने पञ्चमी विभक्ति के लिए स्वनिर्मित 'का' संज्ञा का निर्देश किया है। इससे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है, (सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१)।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन के खिलपाठ[2]

वैयाकरण वाङ्मय में शब्दानुशासन पद केवल सूत्रपाठ के लिए प्रयुक्त होता है। सूत्रपाठ को लघु बनाने के लिए उससे सम्बद्ध विस्तृत विषयों को सूत्रकार जिन ग्रन्थों में संगृहीत करते हैं, वे शब्दानुशासन के खिल अथवा परिशिष्ट कहाते हैं। प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासन के धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये चार खिल[1] होते हैं। इन्हें मिलाकर व्याकरण की पञ्चपाठी बनती है। जैनेन्द्र व्याकरण के भी ये चार खिल थे, (उणादि और लिङ्गानुशासन उपलब्ध नहीं हैं)।

धातुपाठ—आचार्य देवनन्दीप्रोक्त धातुपाठ का[2] मूल ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। गुणनन्दीप्रोक्त शब्दार्णव व्याकरण (जैनेन्द्र का परिवर्धित संस्करण) का चन्द्रिका टीकासहित जो संस्करण काशी से छपा है, उसके अन्त में जैनेन्द्र धातुपाठ भी मुद्रित है। वह धातुपाठ जिनेन्द्र (पूज्यपाद) प्रोक्त मूलरूप में है अथवा शब्दार्णव के समान परिवर्धित है, यह हम नहीं सकते। अभयनन्दी की महावृत्ति में जैनेन्द्र धातुपाठ के अनेक सूत्र[3] उद्धृत हैं, उनकी मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठ की तुलना से कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। परन्तु सम्प्रति मेरे पास मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठ नहीं है। अतः मैं इसके निर्णय में इस समय असमर्थ हूं।

मैं इसी वर्ष ६ अगस्त को काशी में भारतीय ज्ञानपीठ के व्यवस्थापक तथा महावृत्ति के सम्पादक महोदयों से मिला था (यह मेरा प्रथम मिलन था) और उन्हें ग्रन्थ के अन्त में जैनेन्द्र धातुपाठ छापने का सुझाव दिया था। दोनों महानुभावों ने बड़ी सहृदयता से मेरे सुझाव को स्वीकार किया, और वह इस ग्रन्थ के अन्त में दिया जा रहा है, (अभी छपा मेरे पास नहीं पहुंचा)।

धातुपारायण—आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ विवरण में

---

१. काशिका १।३।२ में खिल शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

२. श्रुतपाल ने जैनेन्द्र धातुपाठ की व्याख्या की थी। सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १२८।

३. प्राचीन परम्परानुसार 'भू सत्तायाम्' 'एध वृद्धौ' आदि वाक्य सूत्र माने जाते हैं। द्र०—अस्मत् संपादित क्षीरतरङ्गिणी, पृ० १, टि० २।

पृष्ठ १३२ पं० २० पर **नन्दिधातुपारायण** तथा पृष्ठ १३३ पं० २३ पर **नन्दिपारायण** उद्धृत किया है। इस नाम के साथ हैमधातुपारायण नाम की तुलना से प्रतीत होता है कि यह आचार्य देवनन्दी का अपने धातुपाठ पर स्वोपज्ञ विवरण रहा होगा।

गणपाठ—जैनेन्द्र गणपाठ अभयनन्दी की महावृत्ति में यथास्थान सन्निविष्ट है, पृथक् छपा नहीं मिलता।

उणादिसूत्र—जैनेन्द्र उणादिसूत्र का कोई हस्तलेख अभी तक हमारी दृष्टि में नहीं आया। महावृत्ति के सम्पादकजी से भी इसके विषय में पूछा था। उन्होंने २९।९। ५६ के पत्र में लिखा—"उणादिसूत्र तथा परिभाषाओं का भी संकलन कहीं नहीं उपलब्ध हो सका। लिङ्गानुशासन भी जैनेन्द्र का अनुपलब्ध ही है।"

अभयनन्दी की महावृत्ति में अनेक उणादिसूत्र उद्धृत हैं। कुछ प्राचीन पञ्चपादी से पूर्णतया मिलते हैं, कुछ में पाठान्तर है। अनेक सूत्र ऐसे भी हैं, जिनमें प्रत्यक्ष जैनेन्द्र संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है। इसलिए यह निश्चित है कि जैनेन्द्र प्रोक्त उणादिसूत्र भी थे। उदाहरण के लिए हम कुछ सूत्र उद्धृत करते हैं। यथा—

१—**तनोतेर्डउ: सन्वच्च**। पृष्ठ ३।

२—**अस् सर्वधुभ्य:**। पृष्ठ १७।

३—**कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्**। पृष्ठ ११८।

४—**वृतृवदिहनिकमिकषिभ्य: स:**। पृष्ठ ११८।

५—**अण्डो जृकृसृवृङ:**[1]। पृष्ठ ११९।

६—**गमेरिन्**। पृष्ठ ११९।

७—**आङि णित्**। पृष्ठ ११९।

८—**भुवश्च**। पृष्ठ ११९।

जैनेन्द्र उणादिसूत्रों का आधार—जिस प्रकार आचार्य पूज्यपाद ने अपने शब्दानुशासन के प्रवचन में पाणिनीय शब्दानुशासन का प्रधान आश्रय लिया, उसी प्रकार उणादिसूत्रों के प्रवचन में भी निश्चय ही किसी प्राचीन उणादि को मुख्य आधार

---

१. महावृत्ति का मुद्रित पाठ है—'अण्ड:। जृकृसृवृङ:'। यह अशुद्ध है। तुलना करो—'अण्डन् कृसृभृवृज:' (पञ्चपादी उ० १।११८॥ द० उ० ५।९॥) सूत्र से।

बनाया होगा। जैनेन्द्र उणादिपाठ के उपलब्ध न होने से यद्यपि हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि आचार्य ने किस प्राचीन उणादिपाठ को मुख्यता दी, पुनरपि हमारा अनुमान इस प्रकार है।

पाणिनीय सम्प्रदाय से संबद्ध मुख्यतया दो प्रकार के उणादिपाठ उपलब्ध होते हैं। एक है पञ्चपादी और दूसरा दशपादी।[1] पञ्चपादी-पाठ भी रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों के समान अनेक शाखाओं में विभक्त है। एक है औत्तर पाठ, दूसरा पश्चिमोत्तर, तीसरा दाक्षिणात्य। उज्ज्वलदत्त तथा तदाश्रित भट्टोजिदीक्षित आदि की वृत्तियां औत्तर पाठ पर हैं, (उज्ज्वलदत्त वंगीय था, अतः इसे वाङ्ग पाठ भी कह सकते हैं)। श्वेतवनवासी तथा नारायण की वृत्ति दाक्षिणात्य पाठ पर हैं। क्षीरस्वामी अपनी क्षीरतरङ्गिणी में पश्चिमोत्तर पाठ को उद्धृत करता है (इसे काश्मीर पाठ कह सकते हैं)। दशपादीपाठ पञ्चपादी के सम्भवतः पश्चिमोत्तर पाठ के आधार पर रचा गया है।[2] पञ्चपादीपाठ का भी मूल कोई त्रिपादीपाठ प्रतीत होता है।[3] उणादि के ये सभी पाठ आचार्य पूज्यपाद से प्राचीन हैं। अभयनन्दी ने १।१।७५ सूत्र की वृत्ति में एक जैनेन्द्र उणादिसूत्र उद्धृत किया है—"**अस् सर्वधुभ्यः**"।

पञ्चपादी का औत्तरपाठ—**सर्वधातुभ्योऽसुन्**। (उज्ज्वल० ४।१८८)
,, दाक्षिणात्य पाठ—**असुन्** (श्वेत० ४।१९४)
,, पश्चिमोत्तर पाठ—**असुन्** (क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ९३ पं० १६[4])

दशपादी का पाठ **असुन्** (९।४९)।

---

१. हमने इसका अनेक हस्तलेखों के आधार पर सम्पादन किया है। सरस्वती भवन ग्रन्थमाला काशी से (१९४२ में) यह प्रकाशित हुआ है।

२. हमने दशपादी-उणादि के उपोद्घात में दोनों पाठों तथा इनकी वृत्तियों का संक्षिप्त इतिहास १९४२ में लिखा था। उस समय पञ्चपादी के इतने विभिन्न पाठों का बोध हमें नहीं था। उणादिसूत्र और उनकी व्याख्याओं का विस्तृत इतिहास हम अपने सं० व्या० शास्त्र का इतिहास के दूसरे भाग में लिखेंगे।

३. पञ्चपादी पाठ के पादविभाग की निरुक्त शतपथ आदि प्राचीन ग्रन्थों के खण्ड अथवा कण्डिका विभाग से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि पञ्चपादी का मूल कोई त्रिपादी उणादिपाठ रहा होगा।

४. क्षीरतरङ्गिणी के सम्पादन के प्रारम्भ में हमें ज्ञान नहीं था, अतः हमने वहः दशपादी के पते दिये हैं।

इन सब सूत्रों की तुलना से स्पष्ट है कि जैनेन्द्र उणादिपाठ का मुख्य उपजीव्य औत्तर पाठ है, जिसमें जैनेन्द्र के **'सर्वधुम्यः'** के समान **'सर्वधातुभ्यः'** पद विद्यमान है। अन्य पाठों में **'सर्वधातुभ्यः'** पद है ही नहीं—

उणादिसूत्र-व्याख्या—आचार्य देवनन्दीकृत उणादिसूत्र-व्याख्या का हमें कोई साक्षात् प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु जिस प्रकार आचार्य ने अपने धातुपाठ की तथा लिङ्गानुशासन की व्याख्या[1] की उसी प्रकार उणादि की, व्याख्या भी अवश्य रची होगी।

लिङ्गानुशासन—आचार्य देवनन्दीप्रोक्त लिङ्गानुशासन का कोई ग्रन्थ हमारी दृष्टि में नहीं आया, परन्तु जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन था अवश्य। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—वामन अपने लिङ्गानुशासन के अन्त में प्राचीन आचार्य प्रोक्त लिङ्गानुशासनों का निर्देश करता हुआ लिखता है—**व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रं जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथान्यत्। लिङ्गस्य लक्ष्म·····॥३०॥** इसमें जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन का उल्लेख स्पष्ट है।

२—अभयनन्दी अपनी महावृत्ति १।४।१०८ में लिखता है—**गोमयकषायकार्षापणकुतपकवाटशंखादिपाठादवगमः कर्तव्यः।** अर्थात् गोमय आदि शब्द जिनमें उभयलिङ्गता देखी जाती है, उनका ज्ञान पाठ से कर लेना चाहिए।

यहां पाठ से अभिप्राय लिङ्गानुशासन का ही है, क्योंकि **'पुंसि चार्षर्चाः'**(१।४।१०८) सूत्र पर पाणिनि के समान जैनेन्द्र में कोई गण नहीं है। अतः इनका पाठ लिङ्गानुशासन में ही सम्भव हो सकता है।

३. आचार्य हेमचन्द्र ने अपने लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ विवरण में नन्दी के नाम से एक पाठ उद्धृत किया है—**"भ्रामरं तु भवेच्छुक्लं क्षौद्रं तु कपिलं भवेत्"**—इति **नन्दी**। पृष्ठ ८५ पंक्ति २५।

हमारे विचार में यह पाठ देवनन्दी के लिङ्गानुशासन का है और पूर्वोल्लिखित नियम के अनुसार यहां नन्दी शब्द से देवनन्दी का ग्रहण है। हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के सम्पादक पं० वेङ्कटराम शर्मा ने अपनी निवेदना में २३ प्राचीन लिङ्गानु-

---

१. लिङ्गानुशासन की व्याख्या का वर्णन आगे करेंगे।

शासनों का उल्लेख किया है।[1] उसमें संख्या १८ पर 'नन्दिकृत लिङ्गानुशासन' का निर्देश है। इससे भी हमारे विचार की पुष्टि होती है कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा नन्दी-नाम से स्मृत आचार्य देवनन्दी ही है।

लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था—हैमलिङ्गानुशासन-विवरण में उद्धृत पूर्व वचन से प्रतीत होता है कि देवनन्दीप्रोक्त लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था।

लिङ्गानुशासन-व्याख्या—आचार्य देवनन्दी ने अपने लिङ्गानुशासन पर कोई व्याख्या भी लिखी थी। हेमचन्द्र अपने लिङ्गविवरण में लिखता है—"**नन्दिनः गुणवृत्तेस्त्वाश्रयलिङ्गता स्वादुरोदनः, स्वाद्वी पेया, स्वादु पयः।**" आचार्य हेमचन्द्र ने यह पंक्ति अथवा अभिप्राय निश्चय ही जैनेन्द्रलिङ्गानुशासन की व्याख्या से लिया होगा।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

पूर्वलिखित धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन इन ४ खिलों के अतिरिक्त जैनेन्द्र शब्दानुशासन से संबन्ध रखनेवाले न्यूनातिन्यून तीन ग्रन्थ और थे। उनके नाम हैं—वार्तिकपाठ, परिभाषापाठ, शिक्षा।

वार्तिक-पाठ—अभयनन्दी की महावृत्ति में जैनेन्द्र शब्दानुशासन से संबन्ध रखनेवाले बहुत से वार्तिक व्याख्यात हैं। ये वार्तिक किसके हैं, यह अज्ञात है। इसी प्रकार महावृत्ति में समस्त वार्तिक व्याख्यात हैं अथवा उसमें काशिका के समान अधिक उपयोगी वार्तिकों का ही सन्निवेश है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैनेन्द्र वार्तिकपाठ का स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया।

आर्य श्रुतकीर्ति ने अपनी पञ्चवस्तुप्रक्रिया के अन्त में जैनेन्द्रशब्दानुशासन पर रचे गये, किसी भाष्यग्रन्थ की सूचना दी है। यह भाष्य इस समय अनुपलब्ध है। स्वयं आचार्य पूज्यपाद ने भी अपने शब्दानुशासन पर एक न्यास लिखा था, वह भी अप्राप्य है। अतः जैनेन्द्र से संबद्ध वार्तिकपाठ की रचना किसने की, यह अज्ञात है।

वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं—महावृत्ति में व्याख्यात वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं, क्योंकि उसमें स्थान-स्थान पर पातञ्जल महाभाष्य के समान वार्तिकों का निराकरण करके सूत्र-द्वारा कार्य का निर्वाह दर्शाया है। यथा—

---

१. अंग्रेजी में पृष्ठ ११ पर, संस्कृत में पृष्ठ ३४ पर।

उदित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यम्—भवती, अतिभवती, दाक्षिः। **नैतद् वक्तव्यम्**·····। पृष्ठ १५। यदि वार्तिक अभयनन्दी विरचित होते तो वह स्वयं अनर्थक वार्तिक रचकर उनका खण्डन न करता। इतना ही नहीं, अभयनन्दी से पूर्ववर्ती विद्यानन्द[1] जैनेन्द्र महावृत्ति १।४।३७ में पठित 'प्यखे का वक्तव्या' वार्तिक का अष्टसहस्री (पृष्ठ १३२) में **'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानात्'** इस रूप में अर्थतः अनुवाद करता है। 'प्य, ख' ये जैनेन्द्र के परिभाषिक प्रयोग हैं।

अभयनन्दी की वृत्ति में वार्तिकों के व्याख्यात होने तथा अष्टसहस्री में उद्धृत होने से इतना तो निश्चय है कि ये अभयनन्दी से प्राचीन हैं। हमारा विचार है कि व्याकरणसंबन्धी अन्य ग्रन्थों के समान वार्तिकपाठ भी आचार्य ने स्वयं रचा होगा।

परिभाषा-पाठ—परिभाषाएं व्याकरणशास्त्र का महत्त्वपूर्ण भाग हैं। परिभाषाएं दो प्रकार की हैं। कुछ सूत्रकार द्वारा स्वयं सूत्रों में पठित होती हैं। यथा—**इको गुणवृद्धी** (अष्टा० १।१।३) **इकस्तौ** (जैनेन्द्र १।१।१७)। कुछ सूत्र से बहिर्भूत होती हुई भी सूत्रकार-द्वारा स्वीकृत होती हैं। पाणिनीय व्याकरण से संबद्ध परिभाषाएं व्याडिकृत मानी जाती हैं।[2] भाष्यकार पतञ्जलि ने अनेक परिभाषाओं को सूत्रों से ज्ञापित किया है, अनेक को वे विना ज्ञापक के प्रमाण मान लेते हैं। अभयनन्दी की महावृत्ति में अनेक परिभाषाएं उद्धृत हैं[3]। कतिपय परिभाषाओं के ज्ञापक भी लिखे हैं। इन परिभाषाओं का पाठ पाणिनीय परिभाषाओं के समान होते हुए भी स्वतन्त्रानुसार परिवर्तित है। जैनेन्द्र-संबद्ध परिभाषाओं का प्रवक्ता कौन है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परिभाषापाठ का स्वतन्त्र ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया।

परिभाषाओं की व्याख्या—इन जैनेन्द्र परिभाषाओं की व्याख्या भी किसी प्राचीन ग्रन्थकार ने की थी। अभयन्दी १।१।९२ पर लिखता है—**सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति**। यहां **'वक्ष्यति'** क्रिया का कर्ता कौन है, यह अज्ञात है। परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि अभयनन्दी से पूर्व किसी ने परिभाषाओं की व्याख्या

---

१. देखो, श्री प्रेमीजी का 'देवनन्दी का जैनेन्द्र व्याकरण' लेख, यही ग्रन्थ पृष्ठ २४।

२. सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३०७–३११।

३. देखो महावृत्ति पृष्ठ ४५५, ४५६। इस सूची में कुछ परिभाषाएं रह गई हैं। यथा—पृष्ठ १२ पर उद्धृत—"अनुबन्धकृतमनेकाल्त्वं न" परिभाषा।

रची थी। इस प्रकार का विचार परिभाषावृत्ति में ही सम्भव हो सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण से संबद्ध परिभाषाओं की स्वयं ही रचना की और स्वय ही उनकी व्याख्या की। इसी प्रकार आचार्य पूज्यपाद ने भी स्वयं परिभाषापाठ और उसकी व्याख्या लिखी हो, यह सम्भव हो सकता है।

शिक्षा—अभयनन्दी ने १।१।२ की वृत्ति में लगभग ४० **शिक्षासूत्र** उद्धृत किये हैं। ये अधिकांश में आपिशल शिक्षासूत्रों से मिलते हैं[1]। पुनरपि इनका प्रवचन जैनेन्द्र व्याकरण की प्रक्रियानुसार किया हुआ है, यह दोनों की तुलना से स्पष्ट है। यद्यपि ये जैनेन्द्रसम्बन्धी शिक्षासूत्र किसके द्वारा प्रोक्त हैं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि जैसे आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी ने अपने-अपने शब्दानुशासनों से सम्बद्ध शिक्षासूत्रों का प्रवचन किया, इसी प्रकार सम्भव है, आचार्य देवनन्दी ने इन शिक्षासूत्रों का भी प्रवचन किया हो, इसका विशेष वर्णन हम **'शिक्षा का इतिहास'** नामक ग्रन्थ में करेंगे (पाण्डुलिपि प्रायः तैयार हो चुकी है)।[2]

आचार्य पूज्यपाद के अन्य ग्रन्थ

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने लेख में आचार्य पूज्यपाद के निम्न ग्रन्थों का उल्लेख किया है—

उपलब्ध ग्रन्थ—१. सर्वार्थसिद्धि, २. समाधितन्त्र, ३. इष्टोपदेश, ४. दशभक्ति।

अनुपलब्ध, परन्तु ज्ञातग्रन्थ—१. शब्दावतारन्यास, २. जैनेन्द्रन्यास, ३. वैद्यकग्रन्थ (नाम अज्ञात), ४. सार-संग्रह, ५. जैनाभिषेक।

वैद्यकग्रन्थ के सम्बन्ध में नये प्रमाण—१. आचार्य पूज्यपादरचित वैद्यकग्रन्थ का उल्लेख श्री प्रेमीजी के लेख के पृष्ठ १६, टि० १ पर उद्धृत श्रवणबेल्गोल के ४०वें शिलालेख के चतुर्थ श्लोक के तृतीय चरण के **'स्वाथ्यं यदीयम्'** पदों में भी मिलता है।[3]

---

१. देखो हमारे द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित 'शिक्षा-सूत्राणि' (आपिशल, पाणिनीय तथा चान्द्र)।

२. यह ग्रन्थ अभी तक (सं० २०४७) नहीं छप सका।

३. पूज्यपादकृतं योगं सिद्धिर्भवति निर्मितम्। तैलप्रयोगे (अज्ञातनामकर्ता)। सूचीपत्र सरस्वती महल लायब्रेरी, तंजौर, सन् १९३० जिल्द XVI., ग्रं सं २२३, पृष्ठ ७४७१।

२. जैन आचार्य उग्रादित्य-विरचित कल्याणकारक नामक ग्रन्थ में भी पूज्यपाद के वैद्यक ग्रन्थ का निर्देश है, ऐसा ज्ञात हुआ है (स्वयं नहीं देखा)।

आचार्य पूज्यपाद का नूतन परिज्ञातग्रन्थ—**छन्दःशास्त्र**—आचार्य ने छन्दःशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था, इसकी सूचना श्रवणबेल्गोलके ४०वें शिलालेख के चौथे श्लोक के तृतीय चरण के **'छन्दः'** पद से मिलती है। श्री प्रेमीजी से इसका संकेत रह गया प्रतीत होता है। जैनेन्द्र छन्दःशास्त्र का विस्तृत वर्णन हम अपने 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' में करेंगे। यह लिखा जा रहा है। अन्य दो प्रमाण प्रेमी जी के ग्रन्थ के अन्त में देखें।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपाद के व्याकरणातिरिक्त उपलब्ध और अनुपलब्ध ग्रन्थों की संख्या १० हो जाती है।

हमारे विचारानुसार आचार्यविरचित जैनेन्द्रव्याकरणसम्बन्धी निम्न ग्रन्थ थे—

जैनेन्द्र सूत्रपाठ, जैनेन्द्रन्यास, धातुपाठमूल, धातुपारायण, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, लिङ्गानुशासन-व्याख्या, वार्तिकपाठ, परिभाषापाठ और शिक्षासूत्र।

सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थों को ढूंढ़ने का प्रबल प्रयत्न होना चाहिए। ये ग्रन्थ निश्चय ही किन्हीं जैन ग्रन्थागारों में छिपे पड़े होंगे। उनका उद्धार परम आवश्यक है। धातुपाठ और गणपाठ के हस्तलेखों को भी उपलब्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिससे इनकी पाठशुद्धि में सहायता मिले।

जैनेन्द्र के व्याख्याग्रन्थ

जैनेन्द्र शब्दानुशासन पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। उनमें से जैनेन्द्रन्यास, भाष्य, अभयनन्दी की महावृत्ति, प्रभाचन्द्र का शब्दाम्भोजभास्कर न्यास, पञ्चवस्तु, लघुजैनेन्द्र और जैनेन्द्र प्रक्रिया नामक ग्रन्थों का उल्लेख श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने 'देवनन्दी का जैनेन्द्र व्याकरण' नामक लेख में किया है। इनमें से न्यास और भाष्य-ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में अभयनन्दी की वृत्ति ही सबसे प्राचीन है।

अभयनन्दी से प्राचीन अनेक वृत्तियां—अभयनन्दी ने महावृत्ति के आरम्भ में एक श्लोक लिखा है—

> यच्छब्दलक्षणमसुव्रजपारमन्यैरव्यक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः।
> तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम्।

अर्थात्—कठिनता से पार पाने योग्य जिस शब्दलक्षण को दरिद्रों ने व्याख्या करने में स्पष्ट नहीं किया, उस सम्पूर्ण शब्दलक्षण को अभयनन्दी मुनि सबके हृदयों को प्रिय लगनेवाले सुन्दर वाक्यों से स्पष्ट करता है।

उक्त श्लोक के पूर्वार्ध से स्पष्ट है कि अभयनन्दी से पूर्व इस जैनेन्द्र शब्दानुशासन पर ऐसी अनेक वृत्तियां बन चुकी थीं, जिनमें सूत्रों की पूर्ण स्पष्ट व्याख्या नहीं थी। ये व्याख्याएं लघुवृत्ति के रूप में थीं, यह **'दरिद्रैः'** पद से व्यक्त होता है।

अभयनन्दी का काल—अभयनन्दी का काल विवादास्पद है। डाक्टर बेल्वेल्कर ने अपने 'सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर' में अभयनन्दी का काल सन् ७५० (वि० ८०७) माना है, (पैराग्राफ ३०)। अभयनन्दी की महावृत्ति ३।२।५५ में भट्ट अकलंक (जिनका काल ८०० विक्रम माना जाता है) के **तत्त्वार्थवार्तिक** का उल्लेख है। इससे यह वृत्ति उसके बाद की है, यह निश्चित है। हमने अपने सं० व्या० शास्त्र का इतिहास ग्रन्थ में अभयनन्दी का काल विक्रम संवत् ९७५–१०३५ के मध्य में लिखा है (भाग १, पृष्ठ ६६४)। अभी इस विषय में अनुसंधान की आवश्यकता है।

अभयनन्दी की महावृत्ति—जैनेन्द्र व्याकरण के वाङ्मय में महावृत्ति का वही गौरवपूर्ण स्थान है, जो पाणिनीय व्याकरण में काशिका का है। यह महावृत्ति काशिका से भी अधिक विस्तृत है। इसका ग्रन्थपरिमाण १२ सहस्र श्लोक है। ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति के सम्बन्ध में पूर्वनिर्दिष्ट श्लोक में जो लिखा है, वह पूर्णतया सत्य है, उसमें यत्किंचित् अतिशयोक्ति नहीं है।

अभयनन्दी का पाण्डित्य—निश्चय ही अभयनन्दी व्याकरणशास्त्र में परम निपुण थे। उनका व्याकरण-विषयक-ज्ञान केवल जैनेन्द्र तक सीमित नहीं था, अपितु पाणिनीय व्याकरण में भी उनकी अप्रत्याहत गति थी। यह इस वृत्ति के सूक्ष्म अध्ययन से पदे-पदे स्पष्ट होता है। महावृत्ति में कई स्थल उनके व्याकरण-विषयक अभूतपूर्व पाण्डित्य का निदर्शन कराते हैं। यथा १।२।९९ सूत्र की व्याख्या में **"प्रविनय्य"** प्रयोग की सिद्धि के सम्बन्ध में जो विचार किया है, वह हमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

महावृत्ति के उपजीव्य ग्रन्थ—यद्यपि अभयनन्दी ने अपनी महावृत्ति की रचना में निस्सन्देह जैनेन्द्र न्यास, प्राचीन लघुवृत्तियां, पातञ्जल महाभाष्य आदि सभी ग्रन्थों से सहायता ली है, तथापि सूत्र-व्याख्याशैली और वाक्यविन्यास में काशिकावृत्ति का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है।

पतञ्जलि के पदचिह्नों पर—(क) पतञ्जलि ने जिस प्रकार पाणिनि और कात्यायन के प्रति सम्मान की भावना रखते हुए उनके सूत्र तथा वार्तिक की सूक्ष्म विवेचना करते समय पाणिनि और कात्यायन के गौरव से प्रभावित हुए बिना अपना निर्णय प्रकट किया है, उसी प्रकार अभयनन्दी मुनि ने भी अनेक स्थलों पर जैनेन्द्र वार्तिकों का निष्प्रयोजनत्व दर्शाया है। यथा—पृष्ठ १६ पर **"उगित् कार्यम्"** तथा पृष्ठ २६ पर **'दाणश्च सा'** वार्तिक का।

(ख) जैसे पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों से साक्षात् असिद्ध प्रयोगों का साधुत्व दर्शाने के लिए योगविभागरूपी कौशल दिखाया है। उसी प्रकार अभयनन्दी ने भी योगविभाग-द्वारा अनेक पदों का साधुत्व दर्शाने का प्रयत्न बहुत स्थानों पर किया है।

महावृत्ति की एक महती विशेषता—महावृत्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पाणिनि पतञ्जलि चन्द्र तथा पूज्यपाद द्वारा असंगृहीत प्राचीन व्याकरण-नियमों का यत्र तत्र संग्रह उपलब्ध होता है। यथा (१।२।१)—

'भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते।
इको यण्मिर्व्यवधानमनेकेषामिति संग्रहः॥[1]

अर्थात्—**'भूवादयो धुः'** (१।२।१) सूत्र में 'भू+आदयो' के मध्य में वकार का निर्देश व्याकरण का लक्षण बतलाने के लिए रखा गया है। अनेक आचार्यों के मत में **'इक् से परे यण् का व्यवधान होता है'**,[2] इस लक्षण का संग्रह वकार से दर्शाया है।

हमारी दृष्टि में अभी तक सबसे प्राचीन यही ग्रन्थ है, जिसमें **यण्व्यवधान-**

---

१. कलकत्ता के श्री पं० क्षितीशचन्द्रजी चट्टोपाध्याय ने 'टेक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर' (पृष्ठ ७१) में इस कारिका तथा महावृत्ति में आगे व्याख्यात दो चरणों का पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—"भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते। व्यवधानमिको यण्मिर्वायुवम्बरयोरिव॥ भूवो वार्थं वदन्तीति वदेरौणादिके इजि। भूवादय इति ज्ञेया भूवोऽर्था वादयोऽथवा।"

२. इस सन्धि तथा इससे पदसिद्धि-प्रक्रिया पर पड़नेवाले प्रभाव के लिए हमारा सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २८–३२ विशेषरूप से देखना चाहिए।

सन्धि का साक्षात् उल्लेख किया है।[1] आगे वृत्तिकार ने महाभाष्योक्त वकार के मंगलार्थत्व का खण्डन किया है। हमारे विचार में **'मङ्गलार्थः प्रयुज्यते'** लेख में पतञ्जलि का 'मंगल' का वह भाव नहीं है, जो जनसाधारण में प्रसिद्ध है। अपितु यहां पर अध्येता छात्रों का मंगल अभिप्रेत है। इसकी व्याख्या में स्पष्ट कहा है—**अध्येतारश्च मगलार्था यथा स्युः**। अध्येताओं का मंगल लक्षण-ज्ञान से ही सम्भव है।[2]

महावृत्ति मध्य-मध्य में त्रुटित—यद्यपि महावृत्ति का यह संस्करण पांच हस्तलेखों के आधार पर छपा है, परन्तु इसमें अनेक स्थलों पर कई-कई सूत्रों की व्याख्या खण्डित है। देखो पृष्ठ २८८, ३१७, ३५८। इससे स्पष्ट है कि ये पांचों हस्तलेख किसी एक ही मूल प्रति की प्रतिलिपियां हैं। अतः इसकी पूर्ति के लिए अन्य हस्तलेख प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

जैनेन्द्र व्याकरण तथा महावृत्ति का मुद्रण

आज से ४६ वर्ष पूर्व काशी की लाजरस कम्पनी की ओर से सन् १९१० में महावृत्तिसहित जैनेन्द्र व्याकरण का मुद्रण आरम्भ हुआ था। इसके सम्पादक थे—विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी। इसका मुद्रण तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के ६०वें सूत्र तक ही होकर रह गया। तब से यह परमोपयोगी ग्रन्थ अधूरा ही रहा। यह परम सौभाग्य का विषय है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशी ने इस ग्रन्थरत्न को प्रकाशन में लाने का महान् प्रयत्न किया। उसी का यह फल है कि ४६ वर्ष के अनन्तर यह ग्रन्थ पूरा छपकर प्रकाश में आया है। इसके लिए उक्त संस्था अत्यन्त धन्यवाद की पात्र है। इस संस्था ने इसी प्रकार के अनेक दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन करके समस्त भारतीयों, विशेषकर जैनमतानुयायियों का महान् उपकार किया है। हमारी यही कामना है कि यह संस्था भविष्य में भी इसी प्रकार अपना कार्य करने में समर्थ हो, दिन दूनी रात चौगुनी फले फूले।

महावृत्ति का नूतन संस्करण—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित महावृत्ति का यह संस्करण निस्सन्देह महान् परिश्रम का फल है। इसके सम्पादन में ५ हस्तलेखों

---

१. यद्यपि शाकटायन लघुवृत्ति (पृष्ठ २३) में यह नियम उल्लिखित है। उसका काल अनिश्चित है। अमोघवृत्ति में भी पृष्ठ १५ पर इसका उल्लेख है।

२. महाभाष्य की पंक्ति का यह अभिप्राय हमें महावृत्ति के प्रकाश में ही समझ में आया।

से सहायता ली गई है। इतना प्रयत्न करने पर भी इसके सम्पादन में कुछ कमियां रह गई हैं। उनकी ओर भी संकेत कर देना हम उचित समझते हैं, जिससे आगामी संस्करण में उसका परिमार्जन हो सके।

क—अनेक स्थानों पर उद्धृत जैनेन्द्र सूत्रों के पते देने रह गये हैं। यथा—पृष्ठ ११ पं० २—**जेरिति दीत्वम्**—**'जेः'** ४।३।२३४ का सूत्र है, यहीं पृष्ठ पं० १३—**शास इत्येवमादिषु**—**'शास'** यह ४।४।३३ का प्रतीक है।

ख—वृत्ति में उद्धृत उद्धरणों के पते देने पर रह गये। यथा—पृष्ठ २४ पंक्ति २६—**'एति जीवन्तमानन्दः'**। यह रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ३४ श्लोक ६ का तृतीय चरण है। पृष्ठ ११६ पं० ६ पर निर्दिष्ट **'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः'** कारिका महाभाष्य ३।३।१ की है। इसी प्रकार १।२।१२१ सूत्र पर उद्धृत कारिकाएं भी महाभाष्य की हैं।

ग—कई स्थानों पर कुछ अधिक सावधानता बर्ती जाती तो अनेक पाठ ठीक हो सकते थे। यथा—पृष्ठ ११६ पं० ३ पर मुद्रित **'अण्डः। जृक्ससृवृङः'** पाठ **'अण्डो जृक्ससृवृङः'** चाहिए। पृष्ठ ८ पं० ५-६—**'कृतः। कृतवान्। भूतवर्तमाने ·····'**। यहां **"कृतः। कृतवान्। "तः"** (२।२।८५) **भूत इति वर्तमाने·····"** पाठ चाहिए। **'भूत इति वर्तमाने'** आदि पदों द्वारा जिस सूत्र की वृत्ति लिखी है, वह **'तः'** (२।२।८५) सूत्र यहां त्रुटित है।

घ—अनेक स्थानों पर वृत्ति में उद्धृत जैनेन्द्रसूत्र तथा परिभाषा आदि को भिन्न टाइप में करना रह गया है।

ङ—कहीं-कहीं सम्पादकीय टिप्पणियों में भी भूल प्रतीत होती है। यथा—पृष्ठ १६ पं० १६ पर (४ **अन्यथा अनिदित इति उङः खस्य प्रतिषेधः स्यात्।**) पर टिप्पणी है—४. **कोष्ठस्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति। "अलुङः—ङिङत्यनिदितः" इत्यस्यात्राप्रवृत्तेः।** प्रतीत होता है, यह पंक्ति पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रिया की भ्रान्ति से लिखी गई है। **'हन्स्त'** इस अवस्था में **'त'** के परे रहने पर **'थस्ये तदादि गुः'** (जै० १।२।१०२) सूत्र से 'हन् स्' की 'गु' (पाणिनीय-अंग) संज्ञा है। जैनेन्द्र प्रक्रियानुसार २।१।३८ सूत्र से 'सि' प्रत्यय होता है, उसका इकार इत् है। गु के इदित् होने से **'हलुङः ङिङत्यनिदितः** (४।४।२३) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसकी प्रवृत्ति न होने से उङ् (=उपधा) के 'न्' का लोप नहीं हो सकता। अतः कोष्ठान्तर्गत पंक्ति सर्वथा शुद्ध है।

इन सब कमियों के रहने पर भी जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, वह निस्सन्देह महान् प्रयत्न का फल है। प्रथम बार इतना सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो गया, यह महान् संतोष की बात है।

ग्रन्थ के सम्पादन में कितना परिश्रम पड़ता है, यह भी भुक्तभोगी ही जान सकता है। हां, ग्रन्थ को सर्वाङ्गसुन्दर बनाने का लक्ष्य तथा उसके लिए सर्वविध प्रयत्न सम्पादक का अवश्य होना चाहिए। तत्पश्चात् जो कार्य हो जाये उससे सन्तुष्ट रहते हुए अगले संस्करण को सर्वात्मना श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न होना चाहिए।

निरुक्त (४)

[निघण्टु और निरुक्त के सम्बन्ध में यहां किञ्चिन्मात्र ही लिखा है। जो व्यक्ति इनके विषय में अधिक जानना चाहें, वे श्री पं० भगवद्दत्तजीकृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' के 'वेदों के भाष्यकार' नामक द्वितीय भाग के दशम, एकादश और द्वादश अध्याय में देखें।]

निरुक्त उस विद्या का नाम है, जिसके द्वारा शब्दों के निश्चित अर्थों का ज्ञान कराया जाता है। सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में लिखा है—

अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। षडङ्गप्रकरण।

अर्थात् अर्थ का बोध कराने के लिये निरपेक्ष=स्वतन्त्र पदसमूह जहां पढ़े गये हैं, वह निरुक्त है।

सायणाचार्य प्रदर्शित निरुक्त का उक्त लक्षण आपाततः उस ग्रन्थ की ओर संकेत करता है, जिसे सामान्यतया 'निघण्टु' शब्द से जाना जाता है। यास्क ने इसे 'समाम्नाय' कहा है। अनेक शोधकर्ता सायणाचार्य के निरुक्त के इस लक्षण को अशुद्ध मानते हैं। इसका कारण यह है कि वे निघण्टु और निरुक्त के सम्बन्ध में जो प्राचीन परम्परा है, उसे नहीं जानते। प्राचीन परम्परानुसार निघण्टु ही निरुक्त है, और जिस ग्रन्थ को हम सम्प्रति निरुक्त कहते हैं, वह 'निरुक्तभाष्य' है। इस पर आगे लिखा जाएगा।

निघण्टु के लिये निरुक्त शब्द का प्रयोग—कौषीतकि गृह्यसूत्र के भाष्यकार भवत्रात ने निघण्टु के लिये 'निरुक्त' शब्द का प्रयोग किया है। वह लिखता है—

सुवर्णनामधेयेषु लोहशब्दो आम्नातो निरुक्ते—लोहं कनकं काञ्चनम् इति। (कौ० गृ० १।२१।६)।

भवत्रात द्वारा उद्धृत निरुक्त का पाठ यास्कीय[1] निघण्टु के हिरण्यनामों (१।२)

---

१. वर्तमान में प्रसिद्ध वैदिक निघण्टु यास्कप्रोक्त है। आधुनिक शोधकर्ताओं ने इसे अन्यव्यक्तिरचित माना है। आधुनिक शोधकर्त्ताओं के मत की सप्रमाण आलोचना और इसके यास्कप्रोक्त होने के लिये देखिये पं० भगवद्दत्तविरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' का द्वितीय भाग 'वेदों के भाष्यकार' का दशम अध्याय (पृष्ठ १८२-१९२, जनवरी १९७६ का संस्करण)।

में उपलब्ध होता है।[1]

इतना ही नहीं, अथर्ववेदीय ७२ परिशिष्टों में एक कौत्सव्य का निघण्टु भी उपलब्ध होता है।[2] उसका अन्तिम पाठ है—**इति कौत्सव्य-निरुक्त-निघण्टुः समाप्तः**। इसमें निरुक्त शब्द का प्रयोग निघण्टु से पूर्व किया गया है। इसलिये सायणकृत निरुक्त का लक्षण यथार्थ एवं प्राचीन परम्परा के अनुसार सर्वथा युक्त है।

यास्क के द्वारा 'निघण्टवः' बहुवचन के प्रयोग का कारण—यास्क ने निरुक्त-भाष्य के आरम्भ में लिखा है—

समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते।

इसमें निघण्टु के लिये **निघण्टवः** बहुवचन का प्रयोग करने का कारण यह है कि निघण्टु के पांच अध्यायों में जो शब्द पठित हैं, उनके तीन वर्ग हैं। प्रथम तीन अध्यायों में एकार्थक अनेक शब्दों का संग्रह है। चतुर्थ अध्याय में अनेकार्थक एक-शब्दों का और पञ्चम अध्याय में दैवतनामों का संकलन है। लोक में कोश का पर्याय-भूत निघण्टु शब्द का प्रयोग उन ग्रन्थों के लिये होता है, जिनमें एकार्थक अनेक शब्दों का और अनेकार्थक एकशब्दों का संकलन हो अथवा दोनों में से किसी एक प्रकार के शब्दों का। दैवत शब्दों का संबन्ध वेद से है, अतः इनका संकलन वैदिक निघण्टु में ही मिलता है। यह भी संकलन सामान्य से एक प्रकार का कोश=निघण्टु ही है। यतः वैदिक निघण्टु में तीन प्रकार का संकलन है, इसलिये बहुचनान्त 'निघण्टवः' का निर्देश यास्क ने किया है।

आयुर्वेदीय निघण्टु—आयुर्वेद के वाङ्मय में भी निघण्टुशब्दवाच्य अनेक ग्रन्थ

---

१. ये पद इसी क्रम से कौत्सव्यप्रोक्त निघण्टु में भी उपलब्ध होते हैं। द्र०—खण्ड ६१।

२. इस कौत्सव्य 'निरुक्त निघण्टु' को नागराक्षरों में प्रथमवार श्री पं० वैद्य राम-गोपालजी शास्त्री ने लाहौर में छपवाया था। इसका नया संस्करण यास्कीय निघण्टु, भास्करराय विरचित वैदिककोष, तथा वेङ्कटमाधवकृत नामानुक्रमणी और आख्या-तानुक्रमणी के साथ **वैदिक-निघण्टु-संग्रह** नाम से एक सुन्दर संस्करण पं० धर्मवीर विद्यावारिधि ने प्रकाशित किया है। अन्त में सभी ग्रन्थों में पठित शब्दों की अर्थ-सहित विस्तृत शब्दसूची दी है। यह 'रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत हरयाणा) पिन १३१०२१' से उपलब्ध है।

उपलब्ध होते हैं। यथा—धन्वंतरि निघण्टु, भावप्रकाश निघण्टु। इनमें औषधियों के पर्यायवाची नामों का तथा उनके गुण-दोषों का संकलन होता है। अतः ये भी संकलन सामान्य से निघण्टु कहे जाते हैं।

यास्क ने **समाम्नायः समाम्नातः** के अनन्तर लिखा है—**स व्याख्यातव्यः**। अर्थात्, **'समाम्नायः समाम्नातः'** से आगे का जो ग्रन्थ है, वह भाष्यग्रन्थ है। सम्पूर्ण भारतीय प्राचीन परम्परा इस बात को स्वीकार करती है कि जिसे हम निघण्टु कहते हैं अथवा यास्क ने जिसे 'समाम्नाय' कहा है, वह निरुक्त है और आगे का सम्पूर्ण ग्रन्थ **निरुक्त-भाष्य** है। इतना ही नहीं, दुर्ग, स्कन्द प्रभृति प्राचीन टीकाकारों ने **समाम्नायः समाम्नातः** इत्यादि व्याख्याग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में जो अध्याय-संख्या दी है, उसमें निघण्टु के पांच अध्याय जोड़कर षष्ठ, सप्तम, अष्टम इत्यादि रूप में अध्याय की गणना की है। यथा— दुर्गाचार्य व्याख्या-ग्रन्थ के पहले अध्याय के अन्त में लिखता है—**इति·····आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृतौ षष्ठोऽध्यायः**। इसी प्रकार की गणना प्रत्येक अध्याय के अन्त में अष्टादश संख्या तक प्रवृत्त हुई है। स्कन्दस्वामी की भी निरुक्तटीका में यही गणना देखी जाती है।

इस अध्याय-गणना से दो बातें स्पष्ट होती है—

प्रथम—निरुक्त नाम पांच अध्यायात्मक ग्रन्थ का है और अगला **समाम्नायः समाम्नातः** से लेकर ग्रन्थ की समाप्ति तक का भाग **निरुक्त का भाष्य** है। सम्प्रति लोक में "निरुक्त-भाष्य" के लिए ही "निरुक्त" शब्द का प्रयोग होता है। निघण्टु के लिए निरुक्त शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। यह प्राचीन परम्परा के प्रतिकूल है।

द्वितीय—निघण्टु और निरुक्त-भाष्य के अध्यायों का एकीकरण करके अध्याय-संख्या का निर्देश करना इस बात का ज्ञापक है कि दोनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति के रचे हुए हैं। यदि नैरुक्तों की प्राचीन परम्परा में यह प्रसिद्ध होता कि निघण्टु का प्रवचन किसी अन्य आचार्य ने किया है और उसकी व्याख्या यास्क ने की है, तो व्याख्याग्रन्थ के साथ निघण्टु के अध्यायों की संख्या का सङ्कलन नहीं होता। जैसे अन्य ग्रन्थों में जहां व्याख्येय ग्रन्थ का और व्याख्यानग्रन्थ का प्रवचनकर्ता भिन्न-भिन्न होता है, वहां कहीं भी व्याख्याग्रन्थ के साथ व्याख्येय ग्रन्थ की अध्याय-संख्या नहीं जोड़ी जाती है। इस कारण आधुनिक शोधकर्ताओं ने जो निघण्टु का कर्ता यास्क से भिन्न व्यक्ति माना है, वह भारतीय परम्परा के विपरीत है। पाश्चात्य शोधकर्ताओं ने इस विषय में जितने हेत्वाभास उपस्थित किए हैं, उनका समाधान पण्डित भगवद्दत्तकृत "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" भाग-२ के दशम अध्याय में

"यास्क" के प्रकरण में देखें।[1]

सौभाग्य से प्राचीन संस्कृतवाङ्मय में दो ग्रन्थ अभी तक ऐसे सुरक्षित हैं, जिन के सूत्र और भाष्य के रचयिता एक हैं और उनके अध्यायों की संख्या भी सूत्रभाग और भाष्यभाग में सम्मिलित प्रयुक्त होती है। ये दो ग्रन्थ हैं—कौटिल्यकृत **अर्थशास्त्र** और वात्स्यायनकृत **कामसूत्र**।[2] इन दोनों का प्रथमाध्याय सूत्रात्मक है और अगला भाग तत्तत् सूत्रों का भाष्यरूप है। निघण्टुग्रन्थ के वचनों के लिए भी सूत्र शब्द का प्रयोग मिलता है। यथा—**अत्र अग्निर्नय इत्यस्य निघण्टुसूत्रस्य दुर्मदासो न सुरायाम्** (निरुक्त १।४) **इत्यनेनैव गतार्थतेति मन्यमानाः केचिदत्र निगमं नाधीयते। अपरे पुनः समाम्नायानुक्रमोऽयमिति मन्यमाना एतमत्र निगममधीयते।** (निरुक्त, दुर्गवृत्ति ३।१६)।

सूत्र शब्द को यदि समास (=संक्षेप) शैली के कथन और भाष्य को व्यास (=विस्तार) शैली के कथन का वाचक मानें तो महाभारत में समास-व्यासरूप से कहे गये निर्देश को भी सूत्र-भाष्य के नाम से कह सकते हैं।

चरक तथा सुश्रुत में यही सूत्र-भाष्य शैली अथवा समास-व्यास शैली ही उपलब्ध होती है, परन्तु उसमें प्रत्येक अध्याय के आदि में—

अथातो दीर्घजीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। (चरक सूत्रस्थान १।१)

अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। (सुश्रुत सूत्रस्थान २।१)

जो वचन है, आगे सम्पूर्ण अध्याय में उसी सूत्रोक्त विषय की व्याख्या है।

---

१. पं० भगवद्दत्तजी ने निघण्टु को यास्कप्रणीत सिद्ध करने को जो प्रमाण दिए हैं, उनमें हमारे द्वारा निर्दिष्ट व्याख्येय-व्याख्यान ग्रन्थ के अध्यायों का एकीकरण करके अध्यायसंख्या का निर्देश करना हेतु नहीं दिया है।

२. कामन्दकनीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षा नाम्नी टीका का रचयिता ने लिखा है—**भुवि विश्रुतः—न्यायकौटिल्यवात्स्यायनगौतमीयस्मृतिभाष्यचतुष्टयेन प्रकाशितपुरुषार्थचतुष्टयोपाय इति भुवि महीतले प्रख्यातः।** कामन्दकनीतिसार अ० १।

इसका भाव यह है कि न्यायादि चार शास्त्रों के भाष्यादि की रचना से यथाक्रम धर्म अर्थ काम और मोक्ष के उपायों का प्रकाशन किया है। न्यायभाष्य और कामसूत्र की रचना चाणक्य (चणकदेशोद्भव) ने वात्स्यायनगोत्र नाम से अर्थशास्त्र की विष्णुगुप्त नाम से तथा गौतमस्मृति का भाष्य असहाय नाम से किया था। असहाय शब्द एकाकी का पर्याय है। चाणक्य के लिये एकाकी शब्द का प्रयोग कामन्दकनीतिसार के आरम्भ में मिलता है—**एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः। आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्।**

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि में इसी शैली को अपनाया है। यथा—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः। अथाध्ययनाध्यापनविधिं वक्ष्यामः। सत्यार्थप्रकाश समुल्लास २-३ के आरम्भ में।

अथ गर्भाधानविधिं वक्ष्यामः। संस्कारविधि।

इन संस्कृतसूत्रों के आगे भाषा में जो कुछ लिखा गया है, वह पूर्वलिखित संस्कृतसूत्र का व्याख्याग्रन्थ ही है।[1]

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास और संस्कारविधि के सामान्यप्रकरण में उक्त प्रकार का संस्कृत में सूत्र क्यों नहीं उपलब्ध होता है, यह शोध का विषय है।

---

१. इसके लिये देखिये हमारे "मेरी दृष्टि में—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य" का "स्वामी दयानन्द सरस्वती की ग्रन्थलेखनशैली" प्रकरण, पृष्ठ ४२-४८।

वेदार्थ की प्रक्रिया के भेद से

निरुक्तशास्त्र का त्रेधा प्रवचन

[यद्यपि पूर्वलिखित उपोद्घात में प्राचीन नैरुक्त परम्परा के अनुसार निघण्टु का 'निरुक्त' नाम और 'समाम्नायः समाम्नातः' से लेकर अन्त तक ग्रन्थ का नाम 'निरुक्त-भाष्य' दर्शाया है। तथा यह भी लिखा है कि व्याख्येय और व्याख्याभागों के सम्मिलत अध्यायों की संख्या १ से १८ तक प्राचीन व्याख्याकार एवं उद्धरण-कर्ता प्रयोग करते हैं, तथापि अगले लेखों में सरलता एवं साम्प्रतिक प्रसिद्धि के अनुसार निरुक्तभाष्य के लिये 'निरुक्त' शब्द का तथा उसकी पृथक् अध्यायसंख्या का ही हम निर्देश करेंगे]।

निरुक्त विद्या के उस क्षेत्र का नाम है, जिसमें वैदिक शब्दों के निर्वचन द्वारा निश्चित अर्थ का निरूपण किया जाता है। यह निरूपण वेदार्थ की अधियज्ञ, अधिदैवत तथा अध्यात्म किसी भी प्रक्रिया के अनुसार किया जाता है। सम्प्रति जो यास्कीय निरुक्त उपलब्ध है, वह वेदार्थ की आधिदैविक प्रक्रिया को लक्ष्य में रखकर लिखा गया है। इसलिये सम्पूर्ण निरुक्त में जिन मन्त्रों वा मन्त्रांशों की व्याख्या उपलब्ध होती है, वह सब अधिदैवतविषयक ही है। क्वचित्-क्वचित् मन्त्र की अधिदैवत व्याख्या के अनन्तर अधियज्ञ और अध्यात्मप्रक्रियानुसारी मन्त्रार्थ भी दर्शाया गया है। इन अन्य प्रक्रियानुसारी मन्त्रव्याख्याओं की तुलना से हमारा यह मत सम्पुष्ट होता है कि निर्वचनशास्त्र (निरुक्त) सभी प्रक्रियाओं में समानरूप से प्रवृत्त होता है। इतना ही नहीं, वेदों की याज्ञिक व्याख्या करनेहारे सायण ने तथा व्यावहारिकी और पारमार्थिक व्याख्या करनेहारे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने[1] अपनी अपनी व्याख्याओं में पदे-पदे निरुक्त का ही आश्रय लिया है। इससे भी हमारे उक्त विचार की पुष्टि होती है। सम्प्रति याज्ञिक एवं आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी मन्त्रार्थ को प्रधान बनाकर प्रवृत्त हुआ कोई भी निरुक्तशास्त्र उपलब्ध नहीं होता। इस कारण लोक में निरुक्तशास्त्र को अधिदैवतविषयक ही मान लिया गया है। **अस्यवामीय** (ऋ० १।१६४) सूक्त का व्याख्याकार आत्मानन्द लिखता है—

---

१. इस विषय में 'मेरी दृष्टि में—स्वामी दयानन्द सरस्वती' ग्रन्थ पृष्ठ ९७-९८ देखें।

अधियज्ञं स्कन्दादिभाष्यम्, निरुक्तमधिदैवतम्। इदं तु अध्यात्मप्रधानम्। पृष्ठ ६० (लाहौर संस्करण)।

चतुर्दश निरुक्तकार—दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्तभाष्यवृत्ति (१।१३) में लिखा है—

निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्, व्याकरणमष्टप्रभेदम्॥

पुनः १।२० की वृत्ति में लिखता है—

व्याकरणमष्टधा, निरुक्तं चतुर्दशधा।

इन पाठों का तात्पर्य यह है कि निरुक्तशास्त्र **चौदह प्रकार** का है, अर्थात् चौदह आचार्यों ने निरुक्तशास्त्र का प्रवचन किया था। उनके नाम पं० भगवद्दत्तजी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' के द्वितीय भाग 'वेदों के भाष्यकार' के दशम अध्याय में इस प्रकार लिखे हैं—

१. औपमन्यव	५. आग्रायण	९. गालव
२. औदुम्बरायण	६. शाकपूणि	१०. स्थौलाष्ठीवि
३. वार्ष्यायणि	७. और्णवाभ	११. कौष्टुकि
४. गार्ग्य	८. तैटिकि	१२. कात्थक्य

इन १२ निरुक्तकार आचार्यों के नाम निश्चित हैं। तेरहवें आचार्य के नाम का उन्होंने साक्षात् निर्देश नहीं किया है, शाकपूणि के पुत्र की सम्भावना व्यक्त की है। निरुक्त १३।११ में इसका उल्लेख मिलता है।[1] यह भी सम्भव है कि तेरहवां निरुक्तकार कौत्सव्य हो। उसका 'निरुक्त निघण्टु' सम्प्रति उपलब्ध है।[2] चौदहवां आचार्य प्रसिद्ध यास्क है।[3]

पं० रामशंकर भट्टाचार्य (काशी) का कहना है कि यास्क ने **अथ निर्वचनम्** (२।१) लिखकर जिन विविध निर्वचनप्रकारों का उल्लेख किया है, वे संख्या में १४ चौदह हैं। निरुक्त निर्वचन का पर्याय है, अतः **निरुक्तं चतुर्दशधा** आदि का

---

१. ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः।·····आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः। निरुक्त १३।१०-११॥

२. इसके विषय में हम पूर्व पृष्ठ २६६ पर लिख चुके हैं।

३. पं० भगवद्दत्तजी ने इन सभी आचार्यों का यथाशक्य विवरण भी भाग २, पृष्ठ १६६-२०१ भी प्रस्तुत किया है।

संकेत निर्वचन के चौदह प्रभेदों की ओर है।[1]

हमारा मत है कि दुर्गाचार्य ने **निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्** के अनन्तर **व्याकरणमष्ट-प्रभेदम्** तथा **निरुक्तं चतुर्दशधा** से पूर्व **व्याकरणमष्टधा** का उल्लेख किया है। इनसे यह तो स्पष्ट है कि जिनका निर्देश 'प्रभेद' शब्द से किया है, उनका ही 'धा' प्रत्ययान्त से किया है। अष्टप्रभेद वा अष्टधा व्याकरणों की गणना इस प्रकार उपलब्ध होती है।

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

कविकल्पद्रुम के आरम्भ में।

इस तुलना से स्पष्ट है कि दुर्गाचार्य ने आठ प्रकार के व्याकरणों के समान ही चतुर्दश निरुक्तों का निर्देश किया है।

कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि यास्कीय निरुक्त में अनेक आचार्यों के नाम-निर्देशपूर्वक निर्वचन उद्धृत हैं। उनसे स्पष्ट है कि यास्क के समय अनेक निरुक्त-शास्त्र विद्यमान थे। यतः सम्प्रति उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, इसलिये यह कहना कठिन है कि किस आचार्य ने वेदार्थ की किस प्रक्रिया को प्रधानता देते हुए अपने शास्त्र का प्रवचन किया था। सौभाग्यवश यास्क ने 'प्राध्री सूक्त' के पांच मन्त्रों की व्याख्या में **कात्थक्य** और **शाकपूणि** आचार्यों के मतों का साथ-साथ उल्लेख किया है। यथा—

इध्मः—यज्ञे म इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः।
तनूनपात्—आज्यमिति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः।
द्वारः—गृहद्वार इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः।
वनस्पतिः—यूप इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः।

(निरुक्त ८।४ से २१ तक)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कात्थक्य आचार्य द्वारा प्रोक्त निरुक्तशास्त्र अधियज्ञ मन्त्रार्थप्रक्रिया को प्रधानता देकर लिखा गया था और शाकपूणि का निरुक्त अधि-दैवतप्रक्रियानुसारी था।

यास्क ने स्वयं सप्तम अध्याय में लिखा है—

---

१. यह बात पं० रामशंकर भट्टाचार्य ने बहुत वर्ष पूर्व अपने एक पत्र में लिखी थी।

अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति। इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुच इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत् समामनेत्। निरुक्त ७।१३॥

इसका तात्पर्य यह है कि याज्ञिक लोग विभिन्न विशेषणों से देवता को संयुक्त करके उनके लिए हवि का विधान करते हैं। अर्थात् वे लोग भिन्न-भिन्न विशेषण-युक्त एक ही देवता को भिन्न-भिन्न देवता मानते हैं। इसलिए याज्ञिक मतानुसार पठित निघण्टु में **इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे** अथवा **इन्द्रो वृत्रतुरः, इन्द्रो वृत्रघ्नः, इन्द्रोंऽहोमुक्** इत्यादि के रूप में देवताओं का सङ्कलन करते हैं। ऐसा सङ्कलन करने से बहुत विस्तार होने के कारण जो प्रधान स्तुतिनाम हैं, मैं उसी का सङ्कलन करता हूं।[1]

इससे स्पष्ट है कि कतिपय निघण्टुओं में याज्ञिक प्रक्रियानुसार एक ही देवता का भिन्न-भिन्न विशेषणों के साथ सङ्कलन किया गया था। याज्ञिकों के मत में तत्तद् विशेषणविशिष्ट देवता भिन्न-भिन्न माने जाते हैं और यागविधानकाल में भिन्न-भिन्न विशेषणविशिष्ट देवताओं के लिए भिन्न हवियों का विधान करते हैं। इसके अनुसार जब व्याख्येय ग्रन्थ निघण्टु में याज्ञिक मत को स्वीकार किया गया हो तो उसके व्याख्यानग्रन्थ में मन्त्रों का व्याख्यान भी निश्चय ही याज्ञिक प्रक्रियानुसार रहा होगा। याज्ञिक प्रक्रिया का भूत वेद-व्याख्याताओं के शिर पर इतना चढ़ा हुआ है है कि यास्कीय निरुक्त में अधिदैवत प्रक्रियानुसार व्याख्यात मन्त्रों का व्याख्यान भी दुर्ग, स्कन्द प्रभृति व्याख्याता ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग का निर्देश करके याज्ञिक पक्षानुसार ही करते हैं। यास्कीय अधिदैवत प्रक्रिया को उन्होंने प्रधानता नहीं दी।

अध्यात्म पक्ष के लिए यास्क ने निरुक्त ७।४ में संकेत किया है—**माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।** नैरुक्तों के मत में उस महान् आत्मा का प्रमुख नाम **अग्नि** है। उसी की विभिन्न नामों से स्तुति की जाती है। इसके लिए यास्क ने ऋग्वेद (१।१६४।४६) का मन्त्र उद्धृत किया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

---

१. याज्ञिक मतानुसार ऋषि-देवता-छन्दों का निर्देश करनेवाले ऋक्सर्वानुक्रमणी के प्रवक्ता कात्यायन मुनि ने भी याज्ञिक मतानुसार विशेषण विशिष्ट देवता के नामों का निर्देश न करके निरुक्तवत् प्रधान स्तुतिनामों का ही उल्लेख किया है।

ऋक्सर्वानुक्रमणी के प्रवक्ता कात्यायन ने उस महान् देवता का नाम सूर्य लिखा है।

स सूर्य इत्याचक्षते। स हि सर्वभूतात्मा। तदुक्तमृषिणा—सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ० १।११५।१) इति। तद्विभूतयोऽन्या देवताः। तदप्येतद् उक्तम्—इन्द्रं मित्रं वरुणमाहुः (ऋ० १।१६४।४६) इति। ऋक्सर्वा० खण्ड २।

इसी प्रकार निरुक्त के चौदहवें अध्याय के आरम्भ में भी उल्लेख मिलता है।

तेरहवें अध्याय में यास्क ने कतिपय देवताओं की **अतिस्तुतिपरक** व्याख्या का निर्देश किया है। चौदहवें अध्याय में **ऊर्ध्वगति** अर्थात् अध्यात्म विषय कतिपय मन्त्रों की व्याख्यासहित संगृहीत किया है। इससे प्राचीन नैरुक्तों की अतिस्तुति और ऊर्ध्वगति विषय का ज्ञान भले प्रकार हो जाता है।

१३वें १४वें अध्याय की प्रामाणिकता

निघण्टु का व्याख्यान बारहवें अध्याय पर पूर्ण हो जाता है। अतः कतिपय तथाकथित शोधमर्मज्ञ इन दो अध्यायों को यास्कप्रोक्त नहीं मानते, पीछे से किसी व्यक्ति द्वारा परिशिष्टरूप में जोड़ा गया अंश स्वीकार करते हैं। कतिपय हस्तलेखों[1] में १४वां अध्याय १३वें अध्याय के अन्तर्गत संगृहीत उपलब्ध होता है। निरुक्त के १३वें अध्याय की दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी दोनों ने व्याख्याएं की हैं।[2] इससे इस अध्याय की प्राचीनता और प्रामाणिकता स्पष्ट है। चौदहवें अध्याय के उद्धरण भी कतिपय प्राचीन आचार्यों ने उद्धृत किए हैं। हम उनके पाठ क्रमशः उद्धृत करते हैं—

१. दुर्गाचार्य ने निरुक्तवृत्ति ७।४ में "वक्ष्यति हि" लिखकर निरुक्त १४।३[3] (गुर्जर

---

१. आधुनिक शोधकर्त्ताओं का मत है कि निरुक्त के गुर्जर पाठ में १४वां अध्याय १३वें अध्याय के अन्तर्गत ही पठित है।

२. केरलवासी गार्ग्य गोपाल की "निरुक्तश्लोकवार्तिक" नाम्नी एक प्राचीन व्याख्या उपलब्ध हुई है। इसका एकमात्र हस्तलेख स्थान-स्थान पर खण्डित है। षष्ठ अध्याय के आगे व्याख्या नहीं मिलती। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि उसने १३-१४वें अध्याय की व्याख्या लिखी थी वा नहीं। उपलब्ध ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है। रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (१३१०२१), [सोनीपत-हरयाणा] से उपलब्ध है।

३. निरुक्त के १४वें अध्याय का पाठ लक्ष्मणस्वरूप के संस्करण के अनुसार दिया है।

पाठ[1] १३।१६) का "स एष महानात्मा सत्तालक्षणस्तत्परं तद् ब्रह्म स भूतात्मा सैषा भूतप्रकृतिः" पाठ उद्धृत किया है। "वक्ष्यति हि" निर्देश से स्पष्ट है कि दुर्गाचार्य ने १४वें अध्याय को यास्कप्रोक्त माना है।

विशेष—दुर्गाचार्य के पाठ में "अथैष" के स्थान में "स एष" पाठ है और "सत्त्वलक्षणः" के स्थान में "सत्तालक्षण" पाठ है। निरुक्त १४।३ का पूरा पाठ इस प्रकार है—

अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणस्तत्परं तद् ब्रह्म तत्सत्यं तत्सलिलं तदव्यक्तं तदस्पर्शं तदरूपं तदरसं तदगन्धं तदमृतं तच्छुक्लं तन्निष्ठो भूतात्मा। सैषा भूतप्रकृतिरित्येके।

सम्भव है दुर्गाचार्य ने प्राद्यन्त पाठ का निर्देश करके पूरे पाठ की ओर संकेत किया हो अथवा स्वकथनोपयोगी अंश का ही निर्देश किया हो। दोनों ही अवस्थाओं में यह स्पष्ट है कि दुर्गाचार्य का निरुक्त के उक्त १४।३ के पाठ से तात्पर्य है।

२. स्कन्दस्वामी (महेश्वर) ने भी निरुक्तटीका (अ० १, पाद १, खण्ड २) में निरुक्त १४।३ का पाठ उद्धृत किया है। द्र०—भाग १, पृष्ठ २६।

३. सायणाचार्य ने ताण्ड्य ब्रा० ४।८।३ के भाष्य में तथा च यास्कः लिखकर निरुक्त १४।६ (१३।१६) का "शुक्रातिरेके पुमान् भवति, शोणितातिरेके स्त्री भवति, द्वाभ्यां समेत नपुंसको भवति" पाठ उद्धृत किया है।

४. गर्भोपनिषद् के व्याख्याता नारायण ने निरुक्त १४।६ (१३।१६) का पाठ यास्क के नाम से उद्धृत किया है।

५. विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्यस्मृति की ऋजुमिताक्षरा विवृति ३।८३ में निरुक्त १४।६ (१३।१६) का पाठ जातः स वायुना·····निरुक्तस्याष्टादशेऽभिधानात् इत्यादि रूप में उद्धृत करता है।

६. दुर्गाचार्य ने निरुक्त ७।६ की वृत्ति में 'तदुक्तम्' लिखकर निरुक्त १४।८ (१३।२१) का 'दक्षिणायनात् पितृलोकम्' पाठ उद्धृत किया है।

७. स्कन्दस्वामी के सहयोगी महेश्वर ने भी निरुक्तटीका (७।६) में निरुक्त १४।८ का उक्त पाठ उद्धृत किया है। द्र०—भाग ३, पृष्ठ ५४।

---

१. गुर्जरपाठ में १४वां अध्याय १३वें अध्याय के अन्तर्गत है, अतः हमने सर्वत्र १४वें अध्याय के खण्ड का निर्देश करने के पश्चात् ( ) कोष्ठक में १३वें अध्याय की खण्डसंख्या का भी निर्देश करदिया है।

८. शंकरानन्द ने गीताभाष्य ८।२७ में निरुक्त १४।८,९(१३।२१,२२) का उत्तरायण दक्षिणायन विषयक पाठ उद्धृत किया है।

९. नैगेयशाखीय अनुक्रमणी में क्रमशः निरुक्त के निम्न पाठ उद्धृत किये हैं।

(क) पृष्ठ २८ पर लिखा है—**ब्रह्मा देवानां सौरीति नैरुक्ताः। ब्रह्मा देवानां** मन्त्र निरुक्त १४।१३ (१३।२६) में आदित्यपरक व्याख्यात है।

(ख) पृष्ठ २७ पर लिखा है—**द्वितीया सौमीति नैरुक्ताः**। द्वितीया से **सोमं गावो धेनवा** (साम २।१२०; पूर्णसंख्या ८६०) मन्त्र अभिप्रेत है। यह मन्त्र निरुक्त १४।१५ (१३।२८) में आदित्यपरक व्याख्यात है। अतः नैगेय अनुक्रमणी का **'सौमीति'** पाठ अशुद्ध है। यहां **'सौरीति'** शुद्ध पाठ होना चाहिये। तुलना करो—(क,ग) पर निर्दिष्ट पाठों और उनके विवरण के साथ।

(ग) पृष्ठ २१ पर लिखा है—**महत्तत् सौरीति नैरुक्ताः। महत्तत् सोमो०** मन्त्र निरुक्त १४।१७ (१३।३०) में व्याख्यात है। यहां भी सोम की आदित्यपरक व्याख्या की है।

(घ) पृष्ठ १४ पर लिखा है—**कोऽद्य कायीत्याह आश्वलायनो नैरुक्तानां तु सौरीति, ऐन्द्रीत्याह शौनकः।** यहां **कोऽद्य** पाठ अशुद्ध है, **को अद्य** ऐसा शुद्ध पाठ छापना चाहिए। यह मन्त्र निरुक्त १४।२५ (१३।३८) में आदित्यपरक व्याख्यात है।

यहां हमने नैगेय अनुक्रमणी के केवल चार पाठ उदाहरण के रूप में उद्धृत किये हैं।

१०. दुर्गाचार्य ने निरुक्तवृत्ति ३।२१ में **'वक्ष्यति हि'** लिखकर **क ईषते तुज्यते कः** मन्त्र का निर्देश किया है। यह मन्त्र निरुक्त १४।२६ (१३।३९) में व्याख्यात है।

११. दुर्गाचार्य ने निरुक्तवृत्ति १०।२३ में **'उदाहरिष्यति च'** लिखकर **'अथैतं महान्तमात्मानम्' अधिकृत्य क ईषते तुज्यते इति** पाठ उद्धृत किया है। **अथैतं महान्तमात्मानम्'** पाठ निरुक्त १४।१ (१३।१४) का है और **'क ईषते तुज्यते'** पाठ १४।२६ (१३।३९) का है। इस प्रकार यहां दुर्गाचार्य ने चौदवें अध्याय के प्रथम खण्ड से लेकर २६ खण्ड पर्यन्त २६ खण्डों का संकेत कर दिया है।

१२. सायणाचार्य ने ऋग्वेद १।१६४।२० के **द्वा सुपर्णा सयुजा** मन्त्र के भाष्य में निरुक्त १४।२९ (१३।४२) में उक्त मन्त्र के व्याख्यान को **द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ इति निरुक्तमनुसन्धेयम्** रूप में उद्धृत किया है।

अनेक शोधकर्ताओं का कहना है कि उक्त वचन सायणाचार्य का नहीं है। अन्यत्र सायणाचार्य ने निरुक्त का निर्देश **अनुसन्धेयम्** के रूप में नहीं किया है। किसी पाठक ने अपने हस्तलेख में उक्त पंक्ति हस्तलेख के मार्जिन पर लिखी होगी, वह कालान्तर में भाष्य में प्रविष्ट हो गई। अतः सायण के काल में निरुक्त का १४वां अध्याय प्रसिद्ध नहीं था।

इस आक्षेप के दो भाग हैं। प्रथम—सायणाचार्य की **इति निरुक्तमनुसन्धेयम्** इस प्रकार निर्देश करने की शैली नहीं थी। द्वितीय—सायण को निरुक्त के १४वें अध्याय का ज्ञान नहीं था, अर्थात् १४वां अध्याय सायण से भी पीछे की रचना है।

प्रथम आक्षेप का तो यह उत्तर है कि सायणाचार्य ने अन्यत्र भी इस शैली से निरुक्त का निर्देश किया है। यथा—**वीरो वीरयत्यमित्रान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो वीरयतेर्वा** (निरुक्त १।७) **इत्यन्तं निरुक्तमनुसन्धेयम्** (द्र०—ऋग्भाष्य २।११।२)। तथा अथर्वभाष्य १८।१।१५ में भी सायणाचार्य ने लिखा है—**अत्र बतो बलादतीतो भवति दुर्बलो बतासि** (निरुक्त ६।२८) **इत्यादि निरुक्तमनुसन्धेयम्**। क्या उक्त हेत्वाभास से यह माना जाये कि ये पाठ भी सायणाचार्य के नहीं थे और ये उसके भाष्य में पीछे से मिल गये हैं? तथा निरुक्त १।७ और ६।२८ का पाठ भी सायण के समय नहीं था? दूसरे आक्षेप का उत्तर तो यही है कि जब सायण से पूर्ववर्ती दुर्ग स्कन्द प्रभृति अनेक आचार्यों ने निरुक्त के १४वें अध्याय के उद्धरण दिये हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सायण को १४वां अध्याय ज्ञात नहीं था।

निरुक्त के १४वें अध्याय में कुल ३५ खण्डों में से २९ खण्डों के पाठ **वक्ष्यति, उदाहरिष्यति तदुक्तम्** आदि निर्देशों तथा प्रत्यक्ष यास्क वा नैरुक्त शब्दों द्वारा उद्धृत है। अतः १४वें अध्याय का तीन चौथाई भाग से अधिक अंश न केवल अतिप्राचीन है अपितु यास्क द्वारा ही प्रोक्त है, यह स्पष्ट है।

यहां हमने १४वें अध्याय की खण्डसंख्या डा० लक्ष्मणस्वरूप के संस्करण के अनुसार दी है। अन्य संस्करणों में कुछ खण्ड न्यूनाधिक और आगे-पीछे भी उपलब्ध होते हैं।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी तथा महेश्वर के समय निरुक्त का १४वां अध्याय विद्यमान था, तो उन्होंने उसकी व्याख्या क्यों नहीं की? इतना ही नहीं, दुर्ग और स्कन्द महेश्वर की व्याख्याएं गुर्जरपाठ पर हैं और गुर्जरपाठ में १४वां अध्याय १३वें अध्याय के अन्तर्गत उपलब्ध होता है।

इस विषय में हमारा विचार है कि दुर्ग और स्कन्द के समय निरुक्त के १४वें अध्याय का पाठ अत्यन्त विकृत हो चुका था, इसीलिये इन्होंने १४वें अध्याय की व्याख्या नहीं की। दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी ने अपनी व्याख्याओं में अन्यत्र भी निरुक्त के अनेक भ्रष्टपाठों की ओर संकेत किया है। दुर्गाचार्य ने तो कुछ स्थानों पर लिखा है—**सम्यक् पाठोऽन्वेष्यः, ततो योजनीयम्**

१४वें अध्याय के अन्त में पाठ है—

नमो ब्रह्मणे। नमो महते भूताय। नमो यास्काय। ब्रह्मशुक्लमसीय ब्रह्मशुक्लमसीय।

यह नमस्कारात्मक पाठ सम्भवतः उत्तरकालीन किसी नैरुक्त पाठक ने जोड़ा होगा। कुछ हस्तलेखों में **नमो यास्काय** से पूर्व **नमः पारस्कराय** पाठ अधिक है। पारस्कर देश का नाम है। अष्टाध्यायी ६।१।१५७ में निर्दिष्ट पारस्करादिगण में **पारस्करो देशः** गणसूत्र है। यह देशसम्बन्धी नाम पारस्करगृह्यसूत्रप्रवक्ता के रूप में उपलब्ध होता है। इसी गृह्यसूत्र का वृद्धपाठ कात्यायनगृह्यसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। अतः जैसे कात्यायन का देशसम्बद्ध नाम पारस्कर है वैसे ही क्या यास्क भी पारस्कर देशज था?

ब्रह्मशुक्लमसीय का तात्पर्य शुद्ध ब्रह्म है।[1] परन्तु यह श्लेष से शुक्लयजुः का संकेत भी हो सकता है। पारस्कर गृह्यसूत्र शुक्लयजुःसम्बन्धी है। ऐसी स्थिति में क्या यास्क भी शुक्लयजुर्वेदीय था? निरुक्त के ८वें अध्याय के खण्ड ५ से २१ तक जिन आप्री देवताओं का व्याख्यान किया है, उनके मन्त्र उसी क्रम से शुक्लयजुर्वेद के अ० २९ के २५ से ३६ तक मिलते हैं। अन्यत्र उसी क्रम से मन्त्र पठित नहीं हैं। हां तैत्तिरीयसंहिता में आप्री सूक्त का पाठ न होने पर भी तैत्तिरीयब्राह्मण के ३।६।३ में पठित आप्री सूक्त के मन्त्रों का क्रम वही है, जो शुक्लयजुर्वेद के २९ अध्याय के २५वें मन्त्र से ३६वें मन्त्र तक है। परन्तु तैत्तिरीयब्राह्मण के पाठ की अपेक्षा शुक्लयजुःसंहिता में नैरुक्त क्रम से मन्त्रपाठ उपलब्ध होना अधिक महत्त्व रखता है।

तैत्तिरीयसंहिता की काण्डानुक्रमणी में यास्क का सम्बन्ध कृष्णयजुः से दर्शाया

---

१. अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणस्तत्परं तद् ब्रह्म·····तच्छुक्लं·····। निरुक्त १४।३॥

है।[1] तैत्तिरीयसंहिता की यास्कीय सर्वानुक्रमणी के कुछ पाठ निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति की अप्रकाशित पेट्टा शास्त्री अपरनाम हृषीकेश की व्याख्या में उपलब्ध होते हैं। द्र०—प० भगवद्दत्तकृत "वैदिक वाङ्मय का इतिहास," भाग २, वेदों के भाष्यकार के दशम अध्याय के अन्त में, पृष्ठ १९९, सन् १९७६ का संस्करण।

ऐसी स्थिति में ब्रह्मशुक्लमसीय में शुक्ल ब्रह्म का तात्पर्य "शुद्ध ब्रह्म" अधिक उपयुक्त होगा। फिर भी इस पर विशेषरूप से विचार होना चाहिये, ऐसा हमारा मत है।

---

१. वैशम्पायनो यास्कैतां तथा प्राह पैङ्गये।
यास्कस्तित्तिरये प्राह उखाय प्राह तित्तिरिः॥
—काण्डानुक्रमणी, अध्याय ३, २५। (तै० सं०, भट्टभास्करभाष्य, मैसूर संस्क०, भाग १ के अन्त में)।

निरुक्त के लघु, वृद्ध तथा सस्वर-पाठ

इस प्रकरण में हम यास्कीय निरुक्त के लघु, वृद्ध और सस्वर पाठ के सम्बन्ध में संक्षेप से लिखते हैं।

लघुपाठ और वृद्धपाठ

यास्कीय निघण्टु और निरुक्त के दो पाठ उपलब्ध होते हैं। एक है लघुपाठ और दूसरा वृद्धपाठ। गुर्जरपाठ लघुपाठ है और महाराष्ट्रियपाठ वृद्धपाठ। आनन्दाश्रम, पुणे से प्रकाशित दुर्गवृत्ति के सम्पादक वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने अपनी भूमिका में इनका निर्देश किया है। डा० लक्ष्मणस्वरूप ने भी स्वसम्पादित निरुक्त की इंग्लिश भाषा में लिखी गई भूमिका में विस्तार से इन पाठों का उल्लेख किया है।

दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी की निरुक्तव्याख्याएं लघुपाठ पर हैं। इसका कारण यह है कि ये दोनों आचार्य गुर्जरदेशीय थे। सायणाचार्य ने अपने वेदभाष्यों में निरुक्त के वृद्धपाठ को ही उद्धृत किया है। लघुपाठ और वृद्धपाठ का यह अभिप्राय नहीं है कि लघुपाठ सर्वत्र ही वृद्धपाठ की अपेक्षा अल्पाक्षर है। कहीं-कहीं इसका विपर्यय भी देखा जाता है; किन्तु समूहावलम्बन से गुर्जरपाठ लघुपाठ है और महाराष्ट्रिय-पाठ वृद्धपाठ। इन दोनों पाठों में कहीं-कहीं खण्डविभागों में भी अन्तर देखा जाता है।

वैदिक वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों के वृद्ध और लघुपाठ उपलब्ध होते हैं। यथा—पाणिनीय अष्टाध्यायी के जिस पाठ पर वार्तिककार ने वार्तिक लिखे और पतञ्जलि ने भाष्य रचा, वह लघुपाठ है। जिस पाठ पर काशिकावृत्ति लिखी गई, वह वृद्धपाठ है। इसी प्रकार सूत्रात्मक तथा श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के भी लघु और वृद्ध-पाठ उपलब्ध होते हैं, तथा पाणिनीय धातुपाठ और गणपाठ के भी वृद्ध और लघु-पाठ हैं।

लघुपाठ और वृद्धपाठ का कारण—न्यूनातिन्यून पाणिनीय व्याकरण के लघु-पाठ और वृद्धपाठों का कारण स्वयं प्रवक्ता पाणिनि के एकाधिक प्रवचनों के कारण उत्पन्न हुए थे। पाणिनि ने अनेक बार शिष्यों को स्वशास्त्र का प्रवचन किया था, यह "**आ कडारादेका संज्ञा**" (१।४।१) सूत्र के पातञ्जल महाभाष्य से स्पष्ट है। इतना ही नहीं, अष्टाध्यायी के सूत्रों के जो विपुल पाठान्तर उपलब्ध होते हैं, उनमें

से भी अनेक पाठान्तर पाणिनि के विभिन्न प्रवचनों के कारण हुए हैं, ऐसा काशिका-वृत्तिकार आदि व्याख्याताओं के वचनों से जाना जाता है।

इसके प्रकाश में यह कहा जा सकता हैं कि निघण्टु और निरुक्त के जो लघुपाठ और वृद्धपाठ उपलब्ध होते हैं, वे मूलतः यास्क के विभिन्न प्रवचनों के कारण उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार खण्डों के पौर्वापर्य तथा कतिपय पाठान्तर भी प्रवचनभेद के कारण सम्भव हैं।

डा० लक्ष्मणस्वरूप और डा० राजवाड़े ने यास्कीय निरुक्त पर बहुत परिश्रम किया है। परन्तु डा० लक्ष्मणस्वरूप का निघण्टु और निरुक्त का संस्करण सर्वश्रेष्ठ है। डा० लक्ष्मणस्वरूप ने निघण्टु और निरुक्त के दोनों पाठों को दर्शाने के लिए वृद्धपाठ को [ ] कोष्ठक में दर्शाया है।

हमारा विचार है कि निरुक्त के पुनः सम्पादन की विशेष आवश्यकता है। इसके दो प्रधान कारण हैं। डा० स्वरूप के संस्करण के पश्चात् स्कन्दस्वामी (महेश्वर) और केरल निवासी गार्ग्यगोपाल की नई व्याख्याएं छप चुकी हैं। इनके पाठों का सहारा भी नये संस्करण में अपेक्षित है। दूसरा कारण यह है कि निरुक्त के जो संस्करण छपे हैं, वे प्रायः नागराक्षरों में लिखित हस्तलेखों के आधार पर छपे हैं। शारदालिपि और दाक्षिणात्य लिपियों में लिखे गए हस्तलेखों का आश्रय नहीं लिया गया है। इसके साथ-साथ ग्रन्थ-सम्पादन में इतिहास का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इतिहास पर बिना ध्यान दिये चाहे कितने ही परिश्रम से ग्रन्थ-सम्पादन किया जाये, उसमें महत्त्वपूर्ण त्रुटियां रह जाती हैं। इस विषय में हम एक प्रमाण उद्धृत करते हैं—

इतिहासज्ञान के बिना ग्रन्थ-सम्पादन में होनेवाली त्रुटियां—वाल्मीकीयरामायण की पश्चिमोत्तर शाखा का सम्पादन डी० ए० वी० कालेज, लाहौर की ओर से पर्याप्त परिश्रम से किया गया था। बड़ौदा नगरस्थ गायकवाड़ अनुसंधान विभाग की ओर से रामायण का जो पाठ प्रकाशित हुआ था, वह भी अनेक विद्वानों की देख-रेख में बड़े परिश्रम से सम्पादित किया गया है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु सम्पादक महोदयों के ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव के कारण इन संस्करणों में बहुत-सी भूलें हुई हैं। उदाहरण के लिए हम एक पाठ उद्धृत करते हैं। रामायण (मद्रास सं०) के अयोध्याकाण्ड के सर्ग ३२ में दो श्लोक छपे हैं—

कौसल्यां च सुमित्रां च भक्तः पर्युपतिष्ठति।
आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥१५॥[1]

---

१. द्र०—पश्चिमोत्तरशाखा, लाहौर सं०, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ३५ श्लोक १७॥ गायकवाड़ बड़ौदा सं०, अयोध्याकाण्ड सर्ग २९, श्लोक १३।

पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।
ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः ॥१८॥[1]

इन श्लोकों में तैत्तिरीय कठ कालाप आदि शाखाओं के अध्येताओं का उल्लेख मिलता है, जबकि भारतीय इतिहास से यह निश्चित ज्ञात है कि कठ, तित्तिरि आदि कृष्णद्वैपायन व्यास के प्रशिष्यों में हैं। जो आधुनिक मीमांसक वेद की शाखाओं को भी अनादि, अपौरुषेय मानते हैं, उनका भी कथन है कि पूर्वतः विद्यमान शाखाओं के किन्हीं व्यक्तियों द्वारा विशेष प्रवचन होने के कारण उनके साथ प्रवक्ताओं का नाम जुड़ जाता है। (द्रष्टव्य—**आख्या प्रवचनात्**, मीमांसा १।१।३० का शाबर-भाष्य)।

इस दृष्टि से ऊपर उद्धृत श्लोकों में जिन कठ, तित्तिरि आदि प्रवक्ताओं के नाम उल्लिखित हैं, वे वाल्मीकि के काल त्रेतायुग में हुए ही नहीं। ये ऋषि लोग द्वापर युग के अन्त में कृष्णद्वैपायन व्यास के शिष्य-प्रशिष्य थे। अतः इनका उल्लेख रामायण में कैसे हो सकता है? परन्तु रामायण के पश्चिमोत्तरशाखा के लाहौर संस्करण में तथा बड़ौदा के संस्करण में भी उक्त प्रथम श्लोक मूलपाठ के अन्तर्गत छापा गया है।

सस्वरपाठ

प्रतिज्ञापरिशिष्ट का एक वचन है—**तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्**।[2] अर्थात् वेदाङ्गों और उपाङ्गों का पाठ तानस्वर=एकश्रुति स्वर में है। पाणिनीय अष्टाध्यायी कुछ अपवादों को छोड़कर एकश्रुतिस्वर में है, यह सभी वैयाकरणों का मत है।[3]

अष्टाध्यायी के सस्वर हस्तलेख—हमने सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २४८-२४९ पर अष्टाध्यायी के तीन ऐसे हस्तलेखों का वर्णन किया है, जिन

---

१. मद्रास-संस्करण के १८वें श्लोक में पठित कठ-कालाप का निर्देश पश्चिमोत्तरशाखीय तथा बड़ौदा के सस्करण में उपलब्ध नहीं हुआ।

२. कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञापरिशिष्ट दो प्रकार का है। एक प्रातिशाख्य का परिशिष्ट है और दूसरा श्रौतसूत्र का। यहां उद्धृत प्रतिज्ञापरिशिष्ट कात्यायन प्रातिशाख्य का परिशिष्ट है। यह चौखम्बा, वाराणसी से बहुत काल पूर्व शुक्लप्रातिशाख्य के अन्त में कई परिशिष्टों के साथ छपा था।

३. द्र०—हमारा "संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास", भाग १, पृष्ठ २४७-२४९ (चतुर्थ संस्करण, वि० सं० २०४१)।

पर स्वरवत् चिह्न लगे हुए हैं, परन्तु स्वरशास्त्र की दृष्टि से स्वरचिह्न अशुद्ध ही हैं।

पाणिनीय शिक्षा का सस्वर पाठ—काशी से बहुत वर्ष पूर्व चौखम्बा सीरिज काशी से एक शिक्षा-संग्रह छपा था। उसमें पृष्ठ ३७८-३८४ तक श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का आर्च (ऋग्वेदीय) पाठ सस्वर छपा है।[1] इसमें स्वरचिह्न बहुत अस्तव्यस्त हैं। प्रतीत होता है, लेखकों और पाठकों की उपेक्षा के कारण यह अव्यवस्था हुई है। परन्तु इसके आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसका मूलपाठ सस्वर था।[2]

क्या निरुक्तशास्त्र सस्वर था—निघण्टु (निरुक्त मूल) का पाठ सस्वर है। निरुक्तशास्त्र (निरुक्तभाष्य) का पाठ क्या पहले सस्वर था? यह शङ्का इसलिये उत्पन्न होती है कि वर्तमान में निरुक्त का पाठ सस्वर नहीं है। परन्तु डा० लक्ष्मणस्वरूप (लाहौर) द्वारा अनेक हस्तलेखों के आधार पर बड़े परिश्रम से सम्पादित निरुक्त में मन्त्रपाठ के अतिरिक्त अनेक स्थानों में सस्वर पाठ छपा मिलता है। यथा—

१. निरुक्त २।४ में "**विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम**·····" इत्यादि ४ मन्त्रों या श्लोकों पर स्वरचिह्न हैं। वैद्यनाथ काशीनाथ द्वारा सम्पादित दुर्गटीका (आनन्दाश्रम, पूना) में केवल डेढ़ मन्त्र या श्लोक पर स्वरचिह्न है, वह भी अशुद्ध है।

२. निरुक्त ३।४ में "**अङ्गादङ्गात् सम्भवसि·····शरदः शतम्**" तथा "**अविशेषेण पुत्राणां·····स्वायम्भुवोऽब्रवीत्**" पाठ पर स्वरचिह्न छपे हैं। प्रथम पाठ सामन्त्रब्राह्मण का है। उसका सस्वरपाठ कहीं उपलब्ध नहीं होता है। दूसरा पाठ स्मृति का श्लोकात्मक है।

निरुक्त दुर्गटीका (आनन्दाश्रम) में इन पर स्वरचिह्न नहीं हैं।

३. निरुक्त ३।१६ में उपमार्थीय 'वत्' के उदाहरण **ब्राह्मणवद् वृषलवत्** पर स्वरचिह्न उपलब्ध होते हैं—**ब्राह्मणवद् वृषलवद्**। पहले उदाहरण में स्वर के नियम से "ब्रा" भी अनुदात्त होना चाहिए। सम्भव है, यहां अनुदात्त का चिह्न नष्ट हो गया हो। 'वृषलवत्' में स्वरचिह्न युक्त हैं।

आनन्दाश्रम की छपी दुर्गटीका में स्वरचिह्न नहीं हैं।

४. निरुक्त १४।६ (१३।१९) में **मृतश्चाहं पुनर्जातः** आदि ३ श्लोकों पर स्वरचिह्न हैं।

---

१. द्र०—सं० व्या० शा० का इतिहास, दूसरा भाग १, पृष्ठ २५८।

२. इसी शिक्षासंग्रह का नया संस्करण सं० २०४६ में "सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय" वाराणसी से छपा है। इसमें पाणिनीय शिक्षा का सस्वर पाठ नहीं छापा गया है।

आनन्दाश्रम की छपी दुर्गटीका में ढाई श्लोकों पर स्वरचिह्न हैं, अन्तिम पंक्ति पर नहीं हैं। दोनों पाठों में स्वरचिह्न समान हैं,परन्तु कुछ पदों पर स्वरचिह्न अशुद्ध हैं। यथा—मृतः, **योनिसहस्राणि, स्तनाः, पितरस्तथा** आदि।

५. हमारे पास निरुक्त अ० ५ के अन्त और अ० ६ के आरम्भ के दो पत्रे (४ पृष्ठ) हैं। इन पर पत्रासंख्या ४९ तथा ५१ है। ये हमें सं० १९९१ में गंगा में प्रवाहित कुछ वैदिकग्रन्थों के पत्रों के बण्डल में मिले थे।

इन कतिपय उदाहरणों से सिद्ध होता है कि पहले किसी समय निरुक्त का पाठ सस्वर था। **ब्राह्मणवद् वृषलवत्** तथा **इत्यपि निगमो भवति** अंशों पर स्वरचिह्न उपलब्ध होना विशेष महत्त्व रखता है।

इन पत्रों में सस्वर मन्त्रपाठ के अतिरिक्त निम्न पदों पर भी स्वरचिह्न मिलते हैं—

पत्रा ४९ (ख)—१.	**आ कुचितो भवतीति वा।**	निरुक्त ५।२८
२.	**आगच्छत्विन्त्यागच्छत्विति।**	,, ,,
३.	**पापकमिति नैरुक्ताः।**	निरुक्त ६।१
पत्रा ५१ (क)—४.	**मृदुरुदरेष्विति वा।**	निरुक्त ६।४
५.	**हवामहे इत्यपि निगमो भवत्यृदुपे।**	,,
६.	**व्याख्यास्यामः।**	,,
७.	**पुलुकामः पुरुकामः।**	,,
८.	**इत्यपि निगमो भवति।**	,,
९.	**भूयैत्तु इत्यपि निगमो भवति।**	,,
१०.	**क्रिमयो भवन्ति।**	,,
११.	**वेषस् इत्यपि निगमो भवति।**	,,
१२.	**माऋजीक् इत्यपि निगमो भवति।**	,,
१३.	**इन्द्रशत्रुरित्यपि निगमो भवति।**	,,
१४.	**वक्षतीत्यपि निगमो भवति।**	,,
पत्रा ५१ (ख)—१५.	**मिमाना इत्यपि निगमो भवति।**	निरुक्त ६।६
१६.	**धुंयज्वेत्यपि निगमो भवति।**	,,
१७.	**ईक्ष ईशिषे।**	,,

१८. राजनित्यपि निगमो भवति । निरुक्त ६।६

१९. वर्यमित्यर्थः । निरुक्त ६।७

२०. अस्मानित्यर्थः । ,,

२१. अस्माभिरित्यर्थः । ,,

इनमें ११, १२, १३, १४, १५,१६, १७ संख्यावाले उद्धरण विशेष महत्त्व के हैं। इनमें मन्त्र के अन्तिम अक्षर का जो स्वर है, उसे भी उत्तरपद के स्वर की दृष्टि से परिवर्तित किया गया है। संख्या १९, २०, २१ के उद्धरण मन्त्रपद के व्याख्यारूप हैं, पर इन पर भी स्वरचिह्न हैं। 'इत्यपि निगमो भवति' में निगम शब्द को सर्वानुदात्त दर्शाया है। सम्भव है यहां 'म' के नीचे लगा अनुदात्त का चिह्न 'ग' पर होना चाहिये। 'भवति' को सर्वत्र आद्युदात्त दर्शाया है। स्वतन्त्र पद का यह स्वर ठीक है, परन्तु पद से परे होने के कारण इसे सर्वानुदात्त होना चाहिये। सम्भव है अपि के योग में भी सर्वानुदात्त का निषेध स्वीकार किया गया हो।

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी समय पूरा निरुक्तग्रन्थ सस्वर रहा हो और उसी के छुट-पुट अंश यत्र-तत्र सस्वर बच गये हों।

निरुक्त के विषय में

पाश्चात्यों के मानस-पुत्रों की अनधिकार चेष्टा

[यह लेख पूज्य गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने सं० २०१३ (सन् १९५६) में 'निरुक्त विषय में पाश्चात्यमत की मौलिक भूल वा अनधिकार चेष्टा, पाश्चात्यों के मानस-पुत्र (भारतीय स्कालर)' शीर्षक से लिखा था और यह वेदवाणी के मार्गशीर्ष सं० २०१३ के वेदाङ्क (वर्ष ९ अङ्क १-२) में छपा था। हम उसे थोड़ासा शीर्षक बदलकर ज्यों का त्यों इस संग्रह में इसलिये छाप रहे हैं कि हमारे पाठक 'निरुक्त के विषय में पाश्चात्यशीक्षादीक्षित क्या विचार रखते हैं' यह जान सकें। यद्यपि इस लेख को छपे २५ वर्ष हो गये हैं, पुनरपि अभी तक पाश्चात्य-मतानुयायियों के द्वारा निरुक्त पर किये गये आक्षेपों का किसी आर्य विद्वान् ने उत्तर नहीं दिया है।

पाश्चात्यमतानुयायियों ने यास्क को पागल, उसके निर्वचनों को उन्मत्त प्रलाप बताया है। पूज्य गुरुवर्य के निधन के पश्चात् मैं ट्रस्ट के कार्य में इतना उलझ गया कि निरुक्त के सम्पूर्ण निर्वचनों की यथावत् परीक्षा करके उनकी युक्तियुक्तता सिद्ध करने में अक्षम रहा। सन् १९८१ के अक्टूबर मास की २५-२६ तारीख तक 'वाराणसी' में पञ्चम विश्वसंस्कृत सम्मेलन हुआ था। उसमें पढ़ने के लिये कि यास्कीय-निर्वचनानि उन्मत्तप्रलपितानि शीर्षक एक लेख लिखकर भेजा था। ठीक अवसर पर रुग्ण हो जाने से वाराणसी न जा सका। इस संक्षिप्त लेख में (जो आगे छापा जा रहा है) पाश्चात्यमतानुयायी के समाधान के शास्त्रीय मार्ग का उल्लेख कर दिया है। यु० मी०]

निरुक्त वेद के छः अङ्गों में एक प्रधान अङ्ग है। 'षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' (महाभाष्य) इस आप्तवचनानुसार वेद का यथार्थ ज्ञान उसके अङ्गों के अध्ययन द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। सृष्टि के आदि में किसी व्याकरण या निरुक्तादि की आवश्यकता नहीं थी, जैसा कि वर्तमान में भी माता-पिता द्वारा बोली जानेवाली भाषा के लिये व्याकरण की कुछ आवश्यकता नहीं पड़ती, माता-पिता के व्यवहार से ही साधु-असाधु शब्दों का ज्ञान बच्चों को प्रायः हो जाता है। जब मानवसमाज की बुद्धि में ह्रास होने लगा, ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय··· (निरु० १।२०) तब ऋषियों ने निरुक्तादि ग्रन्थों की रचना की।

निरुक्त का अर्थपूर्वक पठन-पाठन न जाने कितनी शताब्दियों से लुप्तप्राय हो चुका था कि युगनिर्माता आचार्य दयानन्द ने अपने भाष्य में पदे-पदे व्याकरण तथा इसमें निरुक्त के प्रमाण देकर, और कम से कम सायणाचार्य के पश्चात् कई शताब्दियों के अनन्तर निरुक्त का पुनरुद्धार किया, वास्तव में तब से इसका अर्थतः पठन-पाठन पुनः प्रारम्भ हुआ। विद्याक्षेत्र काशी में भी कुछ वर्ष पहले तक इसका अर्थतः पठन-पाठन सर्वथा नहीं था। हां प्राचीन ऋग्वेदी ब्राह्मणों में निरुक्त को कण्ठस्थ करने की प्रथा तो रही, जो अब तक भी जीवित चली आ रही है। पर अर्थसहित वे भी नहीं पढ़ते, परीक्षा में क्रम से निरुक्त पाठ्यक्रम में हो जाने पर भी अर्थतः इसका पठन-पाठन बहुत ही कम है। पौराणिक समुदाय में यह मिथ्या मय प्रायः होने लगता है कि निरुक्त पढ़नेवाला आर्यसमाजी हो जाता है। काशी के विद्वानों में (एक-दो को छोड़ कर) निरुक्त का पढ़ानेवाला भी नहीं होगा, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगी।

यह बात माननी पड़ेगी कि आचार्य दयानन्द के पश्चात् यूनिवर्सिटियों में संस्कृत के विभिन्न अङ्गों पर खोज (रिसर्च) का उपक्रम अङ्गरेजी राज्य में हुआ। जिसका वास्तविक उद्देश्य योरोप में भाषामत (हम इसे भाषा-विज्ञान न कहकर भाषामत कहना ही समुचित समझते हैं) के प्रति अत्यन्त तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तो इन विदेशियों ने अङ्गरेजी राज्य की सहायता से सब यूनिवर्सिटियों में तथा ओरियण्टल कान्फ्रेंस द्वारा ऐसी योजना भारत में सर्वत्र चलाई कि शिक्षाविभाग के उच्च से उच्च अधिकारी को योरोप जाकर डिग्री लेनी पड़े, क्योंकि योरोप से लौटने पर ही इन्हें बड़ी-बड़ी पदवियां दी जाती थीं। स्वभावतः डिग्री लेने का प्रलोभन योरोपीय विचारधारा की पूरी दासता का कारण बना और यह एक बहुत सोची समझी हुई सफल योजना सिद्ध हुई। शिक्षाविभाग में योरोपीय विचारधारा की क्षमता का समस्त भारत में व्यापक राज्य हो गया। इसी योजनानुसार डी० लिट् या पी० एच० डी० की डिगरियों का जाल सारे भारत में फैल गया। भारतीयों में भारतीय विचारधारा का ज्ञान लुप्त हो ही चुका था, रहा सहा भी लुप्त हो गया। प्राचीन परम्परा के विश्वासी पण्डितों में व्याकरण की प्रमुखता हो चुकी थी, जो अब तक भी है, अन्य विषयों का ज्ञान बहुत ही कम रह गया था, काशी में १५००० में से १४००० छात्र केवल व्याकरण की ही परीक्षा बीसों वर्ष से देते आ रहे हैं। ये योरोपीय विचारधारा का प्रतिरोध (मुकाबला) क्या करते। उधर यूनिवर्सिटियों में एम० ए० में तथा उसके पश्चात् किसी विषय पर निबन्ध (थीसिस) लिखना अनिवार्य कर दिया गया। निस्सन्देह योरोपीय विद्वानों वा उनके अनुयायी भारतीय स्कालरों की दृष्टि से तो यह बहुत लाभकर हुआ। पर यदि यही उपक्रम संस्कृत साहित्य अध्ययन

करने-कराने वालों में चलता या अब भी चले तो देश का महान् लाभ हो सकता है। निस्सन्देह मार्ग यही पकड़ना होगा, चाहे जब भी पकड़ा जाये।

यूनिवर्सिटियों की योजना से जहां भारतीय विचारधारा का प्रायः लोप हो गया या हो रहा है, वहां इतना लाभ भी हुआ कि हमारे शास्त्रों की ऊहापोह तो होने लगी, जो बीच के काल में बन्द हो चुकी थी। इस दृष्टि से हमें विदेशी विद्वानों वा उनके अनुगामियों का कृतज्ञ भी होना चाहिये, क्योंकि उनके द्वारा अपने वेदशास्त्रों के प्रति अत्यन्त विरोधी विचार—ऋषिमुनियों को एकदम बेहूदा (absurd) आदि शब्दों से निस्संकोच सम्बोधित करनेवाले[1] कतिपय विदेशियों के मानसपुत्र—भारतीय रिसर्चस्कालर उत्पन्न हो गये हैं, जिनके मिथ्या लचर सिद्धान्तों की आलोचना करने का अवसर या साहस हमारे जैसे थोड़ीसी अङ्गरेजी (जो बहुत कुछ भूल भी चुकी है) जाननेवाले को भी हो रहा है। भारत स्वतन्त्र होने पर भी अङ्गरेजी पढ़े लिखे (चाहे वे संस्कृत भी पढ़े हों) मस्तिष्क की दासता में विदेशीय विचारधारा से पादाक्रान्त वा पराभूत हो जाते हैं तथा हो रहे हैं। हमारा विचार है कि यह मानसिक दासता भी भारत से दूर होगी, इसमें समय लगेगा और इसके लिये भारतीयों को घोर तपस्या करनी पड़ेगी। तभी ऐसा होगा।

निरुक्त पर किये गये अब तक के प्रयत्न

जहां तक हमें ज्ञात है, निरुक्त पर निम्नाङ्कित प्रयत्न समय-समय पर हुए हैं—

(१) राथ ने १८४६ ई० में निरुक्त का सम्पादन और जर्मनानुवाद किया।

(२) १८८२ ई० में पं० सत्यव्रत सामश्रमी कलकत्ता ने निरुक्त दुर्गवृत्तिसहित का सम्पादन किया। १८९१ ई० में निरुक्तालोचन भी लिखा।

(३) १८९१ ई० में जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता ने निरुक्त दुर्गटीकासहित छापा।

(४) १८९२ ई० के पश्चात् वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मूल निरुक्त छपा।

---

१. सब स्कालर ऐसे नहीं। इनमें भी भारत स्वतन्त्र हो जानेपर भारतीय संस्कृति-सभ्यता-साहित्य वा भारतीय परम्परा में हार्दिक प्रेम वा श्रद्धा रखनेवाले कुछ-एक विद्वान् हैं, जो भारतीय ढङ्ग से विचारने लगे हैं। उन्हें प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण गहराई से स्वयं समझना चाहिये और अपने छात्रों को पूर्णतया बताना चाहिये। योरोपीय विचारों की दासता का नाश करना चाहिये।

(५) १९१२ ई० में वेङ्कटेश्वर बम्बई में पं० शिवदत्त दाधिमथ द्वारा निरुक्त दुर्गटीका छपी।

(६) १९१६ ई० में पं० रामप्रपन्नशास्त्री लाहौर द्वारा (५ अध्याय) छपा।

(७) १९१८ ई० में पं० भडकमकर रामकृष्ण सम्पादित दुर्गटीकासहित बम्बई में छपा।

(८) १९२१ ई० में डा० लक्ष्मणस्वरूप लाहौर इङ्गलिशानुवाद भूमिकासहित इङ्गलैण्ड में छपा।

(९) १९२१ से १९२६ ई०—डा० वै० का० राजवाड़े (अत्युत्तम दुर्गवृत्ति सं०) आनन्दाश्रम पूना में छपा।

(१०) १९२४ ई० में निरुक्त का हिन्दी अनुवाद पं० राजारामशास्त्री द्वारा लाहौर में छपा।

(११) १९२५ ई० में निरुक्तभाषाटीका—पं० चन्द्रमणिजी—गुरुकुल काङ्गड़ी में छपा।

(१२) (i) १९२७-२८ में मूलनिरुक्त डा० लक्ष्मणस्वरूप लाहौर द्वारा बम्बई में छपा।

(ii) निरुक्त स्कन्दटीका डा० लक्ष्मणस्वरूप द्वारा लाहौर में छपा।

(१३) १९२८ ई० निरुक्त (?) डा० स्कोल्ड संस्करण।

(१४) १९३० में पं० मुकुन्द झा बख्शी कृत टीका—निर्णयसागर बम्बई।

(१५) पं० सीतारामशास्त्री-भिवानी-कृत हिन्दीटीका।

(१६) १९४० ई० में निरुक्त मूलसंस्करण—डा० वै० का० राजवाड़े—भण्डारकर इं० पूना में प्रकाशित।

(१७) (i) १९३७ ई० में निरुक्तसमुच्चय पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा—लाहौर में छपा।

(ii) १९३८ ई० में निरुक्तसमुच्चय डा० कूहननराज द्वारा मद्रास में छपा।

(१८) १९५२ ई० में—निरुक्त (दुर्गवृत्ति सहित) बी० डी० त्रिवेदी द्वारा मौर्य संस्करण—कलकत्ता में छपा।

(१९) १९५२ में Vedic .Etymology डा० फतेहसिंह द्वारा कोटा में छपा।

(२०) १९५३ में Etymology of Yask डा० सिद्धेश्वरवर्मा द्वारा होशियारपुर में छपा।

निरुक्त आदि ऋषि-मुनियों के बनाये ग्रन्थों के प्रति इन योरोपीय मतवाले भारतीय रिसर्चस्कालर कहे जानेवाले विद्वानों के विचार कितने भ्रामक, भारतीयताविरोधी, अज्ञानपूर्ण हैं, यह हमारे द्वारा प्रदर्शित आगे के पूर्वपक्ष से विदित होगा।

डा० वै० का० राजवाड़े (पूना) का घोर पूर्वपक्ष

(i) "The Nirukta method is a strange one, it hardly deserves the name of शास्त्र or science". —भूमिका पृ० ४०, ४१

अर्थात् निरुक्त का ढंग इतना विचित्र है कि इसे शास्त्र=विज्ञान वा विद्यास्थान का नाम नहीं दिया जा सकता।

(ii) "It is not a science but travesty of Science".

—भूमिका पृ० ४१

अर्थात् यह (निरुक्त) विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान की हंसी है।

(iii) "The Nirukta method of derivation is simply an aberration or a waste of the human intellect."

—भूमिका पृ० ४१

अर्थात् निरुक्त का निर्वचन का प्रकार एक भ्रममात्र है, या मानवमस्तिष्क का व्यर्थ प्रयोग है।

(iv) "I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day."

—भू० पृ० ४१

अर्थात् मैं साहस से कह सकता हूं कि निरुक्त की निर्वचनविधि बेहूदा (मूर्खतापूर्ण) है, और फिर भी आजतक यह अपना स्थान बनाये हुये है अर्थात् प्रतिष्ठित है।

(v) "The reasons, given for derivations, are wrong because the theory of derivation is wrong". —भू० पृ० ४१

अर्थात् निर्वचन के लिये दिये गये हेतु गलत (अशुद्ध) हैं, क्योंकि निर्वचन का सिद्धान्त ही गलत है।

(vi) "The base derivations on the indirect senses of words can never be called scientific." —भू० पृ० ४२

अर्थात् शब्दों के आन्तरिक अर्थ के आधार पर निर्वचन करना कभी भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता ।

(vii) "But the derivations given by Yaska have nothing to do with sound laws." —भू० पृ० ४२

अर्थात् यास्कप्रदर्शित निर्वचन ठोस नियमों पर आश्रित नहीं हैं ।

(viii) "Numbers of etymologies in the Nirukta seem senseless because they are based on a wrong theory of derivations··· On account of this theory numbers of derivations are really inventions." —भू० पृ० ४३

अर्थात् निरुक्त में बहुत संख्या में निर्वचन मूर्खतापूर्ण हैं, क्योंकि वह निर्वचन के गलत सिद्धान्त पर आश्रित हैं·····इस सिद्धान्त के आश्रय से बहुत से निर्वचन घड़े गये हैं ।

(ix) "Words whose derivations are sensible are limited in number." —भू० पृ० ४३

अर्थात् जिन शब्दों का निर्वचन युक्त है, ऐसे संख्या में अत्यल्प हैं ।

(x) "Popular etymologies are not based on any theory or principle, they are mere fun. But the etymologies in the Nirukta obey a theory, they observe certain principles, it is these principles that are responsible for unnatural derivations, in brief these principles are wrong." —भू० पृ० ४४

अर्थात् प्रसिद्ध निर्वचन किन्हीं सिद्धान्तों व नियमों पर आश्रित नहीं होते, पर निरुक्त में दर्शाये गये निर्वचन किन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित हैं । यही सिद्धान्त हैं जो अस्वाभाविक निर्वचनों के लिये उत्तरदायी हैं, सारभूत यह है कि ये सिद्धान्त ही गलत (असत्य) हैं ।

सामान्य विवेचन

हम समझते हैं, इससे अधिक निरुक्त व यास्क के विरुद्ध क्या कहा जा सकता है । डा०राजवाड़े ने निरुक्त पर बहुत परिश्रम किया, यह बात तो माननी ही चाहिए ।

उनका आनन्दाश्रम वाला संस्करण निस्सन्देह अत्यन्त उपयोगी है। इसके लिये हमारे मन में उनके प्रति बहुत प्रशंसा के भाव रहे हैं। यह सब होते हुए हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे नया मोमन (मुसलमान) बहुत बार और बहुत जोर-जोर से बांग देता है, इसी प्रकार डा० राजवाड़े योरोपीय भाषामत (विज्ञान) वालों के नये शिष्य होने के नाते उनसे भी आगे बढ़ गये हैं, जैसा कि डा० स्कोल्ड के विचारों से पता लगता है। सम्भव है, जब डा० राजवाड़े ने देखा कि एक भारतीय रिसर्च स्कालर (डा० लक्ष्मणस्वरूप) ने भारतीय संस्कृति-सभ्यता तथा परम्परा के प्रति बहुत कुछ उत्तम विचार अपने निरुक्तसम्बन्धी लेखों में व्यक्त किये हैं, उन्होंने यास्क के प्रायः सब निर्वचनों को ठीक ही नहीं बताया, अपितु सोदाहरण उन्हें तथाकथित भाषाविज्ञान के नियमों वा कसौटी द्वारा परीक्षण करके भी ठीक और सुदृढ़ बतलाया (जैसा कि हम आगे दर्शायेंगे), तब तो डा० राजवाड़े को यह सब असह्य हुआ और उन्होंने डा० स्वरूप प्रदर्शित प्रायः सभी विचारों का घोर खण्डन करने के विचार से ही सन् १९४० वाले संस्करण में सब विष उगला। जिसका बहुत कुछ निराकरण डा० सिद्धेश्वर वर्मा द्वारा Etymology of Yaska (यास्क के निर्वचनों का परीक्षण) नामक पुस्तक द्वारा हो जाता है। यह सब पाठक हमारे अगले उद्धरणों से भली-भांति समझ जायेंगे।

रिसर्चस्कालरों द्वारा राजवाड़े के आक्षेपों के उत्तर

पूर्वोक्त अनियंत्रित और अविवेकपूर्ण आक्षेपों के उत्तर में प्रथम हम विदेशीय पद्धति से पढ़े और डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त तथा लब्धप्रतिष्ठ कतिपय विदेशीय तथा भारतीय रिसर्च स्कालरों के विचार उपस्थित करते हैं। अपना सिद्धान्तोत्तर हम आगे चलकर अन्त में उपस्थित करेंगे। विदित रहे कि इनके कतिपय अयुक्त विचारों की आलोचना भी हमें करनी है, पर एक रिसर्चस्कालर के उत्तर में उसी की श्रेणी के रिसर्चस्कालर का उत्तर बड़े महत्त्व का हो जाता है, जबकि इन्होंने भाषामत (विज्ञान) के सिद्धान्तों (जो अभी तक अधूरे-अयुक्त और अविवेकपूर्ण हैं) की कसौटी पर ही राजवाड़े के विचारों की अयुक्तता सिद्ध की है, वा सिद्ध होती है। वे विचार निम्न प्रकार हैं—

१—डा० भण्डारकर

(१) **डा० आर० जी० भण्डारकर**—"said that Yaska has laid down correct rules for derivation."

अर्थात् यास्क द्वारा प्रदर्शित निर्वचन ठीक नियमों पर आश्रित हैं (४।२६-२८ Wilson Philological lectures १९१४ सं०) (देखो राजवाड़े भू० पृ० ४१)।

२—डा० स्कोल्ड

(२) डा० स्कोल्ड—"I am convinced that not only a great part of the etymologies of Nirukta but even a much greater part of the modern etymologies than is commonly believed, are popular etymologies." —देखो रा० भू० पृ० ४४

अर्थात्—मैं निश्चय से कह सकता हूं कि निरुक्त के निर्वचनों की एक बहुत बड़ी संख्या जितनी कि समझी नहीं जाती, लोकसम्मत है, अपितु वर्त्तमान समय के निर्वचनों की एक बड़ी संख्या भी लोकसम्मत है। —भूमि० पृ० १३-१४

(ii) "In the first period of etymological studies in Western Europe the European scholars profited to a great extent, by the work of Niruktakara, and it is quite certain, that it has not yet yielded all it might be able to yield." —भू० पृ० ४४

अर्थात्—निर्वचनसम्बन्धी खोज के प्रारम्भ में पश्चिमी योरोप के स्कालरों ने बहुत सीमा तक निरुक्तकार के कार्य से लाभ उठाया है और यह सर्वथा निश्चय है कि इस (निर्वचनशास्त्र) से अभी तक सब कुछ (ज्ञान) नहीं निकाला जा सका है, सम्भव है आगे निकाला जा सके।

(iii) "We ought rather to be astonished because the Nirukta contains so many and true etymologies as it does."
—भू० पृ० ४३

अर्थात्—हमें और भी आश्चर्य होता है कि निरुक्त में इतनी अधिक संख्या में और ठीक (युक्तियुक्त) निर्वचन मिलते हैं (निरु० १८१-२९-३२)।

३—डा० लक्ष्मणस्वरूप

(३) डा० लक्ष्मणस्वरूप—

(1) "Yaska is the first to claim a scientific foundation and also the first to formulate general principles for etymology."
—निरु० भू० पृ० ६४, पं० १९

अर्थात् यास्क ने सर्वप्रथम निर्वचन के सामान्य नियमों का निर्माण किया और वैज्ञानिक आधार पर किया।

(2) "Taking both the East and the West together, Yaska is the first writer on etymology. He is also the first to treat it as science by itself." —निरु० भू० पृ० ५६, पं० २७

अर्थात् पूर्व तथा पश्चिम दोनों की दृष्टि से यास्क निर्वचनशास्त्र पर सबसे प्रथम लिखनेवाला है, इसे वैज्ञानिक घोषित करनेवाला भी यही सर्वप्रथम है।

(3) "It cannot be denied that his method is scientific and notwithstanding his remote antiquity, surprisingly modern. This scientific spirit so evident in the Nirukta, could be developed by a sientific training only." —नि० भू० पृ० ५६, पं० २

अर्थात्—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस (यास्क) का ढंग वैज्ञानिक है, और इस पर भी इसकी छिपी हुई प्राचीनता, आश्चर्यरूप में सामयिक है। निरुक्त में ऐसी स्पष्ट वैज्ञानिकता वैज्ञानिक शिक्षण के द्वारा ही समुचित हो सकती है।

(4) "He is altogether free from fanaticism bigotry and intolerance, when he meets Kautsa's adverse criticism of what he believes to be the revealed hymns but gives rational answers to the verious points of objection. He is actuated by a scientific spirit, even when he is dealing with gods.....Further his treatment of synonyms and homonyms is also scientific."

—भू० पृ० ५६, पं० ७

अर्थात्—उस (यास्क) में धर्मान्धता, स्वमताग्रह तथा असहनशीलता सर्वथा नहीं है, क्योंकि हम उसे अपने वेद अपौरुषेय जैसे सिद्धान्त के विरोधी कुत्स के विविध आक्षेपों का विवेकपूर्ण उत्तर देते पाते हैं। देवताओं के विषय में भी उनका समाधान वैज्ञानिक है।.....उसका पर्यायवाची तथा भिन्नार्थक शब्दों का निरूपण भी वैज्ञानिक है।

(5) (i) "If their meanings are the same their etymologies should be the same. If the meanings are different, the etymologies should also be defferent.

The principle is on the whole sound, for in every language

there occurs the phenomenon that words of different origin often assume the same form."

—भू० पृ० ५८, पं० ३१

अर्थात् - यदि अर्थ वही है तो निर्वचन भी वही, वैसा ही होना चाहिये। यदि अर्थ भिन्न है तो निर्वचन भी भिन्न होना चाहिये। यह सिद्धान्त पूर्णरूप से ठीक (सुदृढ़) है, क्योंकि हर एक भाषा में सिद्धान्त है कि भिन्न स्रोत वाले शब्द वही रूप ग्रहण करते हैं। (उदाहरणार्थ डा० स्वरूप ने संस्कृत-अङ्गरेजी-फ्रैंच-जर्मन भाषाओं के उदाहरण विपुल मात्रा में दिए हैं)।

(ii) "Comparative philology furnishes the best examples to illustrate Yaska's remark that often there is hardly any resemblance between a word and its derivation forms."

—भू० पृ० ५७, पं० ३७

अर्थात्—तुलनात्मक भाषाविज्ञान हमें यास्क के इस सिद्धान्त को समझाने के लिये अनेक उदाहरण उपस्थित करता है कि एक शब्द और उसके निर्वचन में कठिनाई से ही एकरूपता मिलेगी।

(6) "Yaska's rule therefore is sound."

—भू० पृ० ६३, पं० ३

अर्थात्—अतः यास्क का नियम ठीक (सुदृढ़) है।

(7) "From the twentieth section of the same chapter, it is evident that Yaska believes the vedic hymns to be revealed."

—भू० पृ० ७१, पं० ३१

अर्थात्—प्रथमाध्याय के बीसवें खण्ड से यह स्पष्ट है कि यास्क का वेद के अपौरुषेयवाद में पूर्ण विश्वास था।

पाठकवृन्द ! आप देख रहे हैं कि डा० भण्डारकर निरुक्तकार यास्क द्वारा प्रदर्शित निर्वचनों और उसके सिद्धान्तों को ठीक मानते हैं। डा० स्कोल्ड जो एक योरोपीय विद्वान् हैं, वह भी न केवल यास्क के निर्वचनों को बहुत संख्या में ठीक तथा युक्तियुक्त मान रहे हैं, अपितु उसके पीछे के अन्य निर्वचनों को भी ठीक समझते हैं। और आगे भी उससे बहुत कुछ लाभ उठाया जाना चाहिये, ऐसा समझते हैं।

डा० स्वरूप के उद्धरण

डा० स्वरूप के उपर्युक्त प्रायः उद्धरण सभी बहुत उपयुक्त और भारतीय

विचारधारा के प्रायः अनुकूल हैं। हमें उनसे ऐसी आशा नहीं थी। हम समझते हैं डा० स्वरूप के ये विचार उस विचारधारा का परिणाम हैं, जो लाहौर में उस समय की (रिसर्च प्रणाली में) नई क्रान्ति के रूप में विचारों का जो सूत्रपात डी० ए० वी० कालेज पुस्तकालय में हो रहा था, जिसका श्रेय मुख्यतः वैदिक वाङ्मय के उद्भट विद्वान् पं० भगवद्दत्त जी को दिया जा सकता है। हमें डा० स्वरूप की भूमिका में प्रायः सभी विचार ठीक प्रतीत हुए। हम समझते हैं कि डा० राजवाड़े के उत्तर में डा० स्वरूप के उद्धरण ही पर्याप्त हैं। उनसे ही उत्तर हो जाता है। पर हमने इस विचार से लिखा कि डा० स्वरूप को डा० राजवाड़े के उत्तर में कुछ लिखना चाहिये था, पता नहीं क्यों नहीं लिखा। सम्भव है वे लिखते। इतने में हमारे सामने डा० सिद्धेश्वर वर्मा के विचार आये, जिनसे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। पर अन्त में कुछ दुःख भी हुआ। क्योंकि अन्तिम विचारधारा में ये राजवाड़े के ही साथी हैं।

हम इसे अर्द्धजरतीय समझते हैं। ठीक भी और नहीं भी ठीक। अतः यहां हमने पहले अन्य स्कालरों के विचार दिये हैं, अन्त में डा० सिद्धेश्वर वर्मा के वे विचार उपस्थित करते हैं, जिसे हम एकदेशी उत्तर समझते हैं। जिन्हें हम डा० राजवाड़े के उत्तर में उपयुक्त समझते हैं। सो निम्न प्रकार हैं।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा का उत्तरपक्ष

(1) "now the following reasons will show that Yaska's etymologies are based on the whole, on sound phonetic laws and that inspite of their primitive crudities they fully deserve the name of etymologies."

अर्थात्—अब हम ऐसे हेतु उपस्थित करेंगे जिनसे यह स्पष्ट हो जायेगा कि यास्क के निर्वचन, सामूहिकरूप में विचार करने पर, दृढ़ (ठीक) नियमों पर आश्रित हैं, और उनके प्राचीन (पुराने) तथा अप्रौढ़ होने पर भी, वे पूर्णतया निर्वचन कहे जाने के योग्य हैं।

(Etymology of Yaska पृ० १०)

(2) "Yaska's etymologies had a sound phonetic basis.

From the above date one could be in position to judge how for 'the derivations given by Yaska have nothing to do with sound laws.' On the other hand it will now be sufficiently evident that the phonetic basis of Yaska's etymologies was

sufficiently sound and that we, consequently, can speak of the etymologies (or etymology) of Yaska."

—यास्क एटीमालोजी पृ० १५-१६

अर्थात्—यास्क के निर्वचन ठीक (सुदृढ़) आधार पर आश्रित हैं। ऊपर प्रदर्शित सिद्धान्तों से मनुष्य निर्णय कर सकता है कि यह बात कहां तक सत्य है कि 'यास्क-प्रदर्शित निर्वचन दृढ़ भित्ति पर आश्रित नहीं हैं'। इसके विपरीत यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है कि यास्क के निर्वचनों का आधार पर्याप्त दृढ़ नियमों पर अवलम्बित है, और तदनुसार हम उन्हें यास्क के निर्वचन हैं, ऐसा कह सकते हैं।

(3) "Such etymologies of Yaska cannot be called unscientific for that age, but primitive."

अर्थात्—यास्क द्वारा प्रदर्शित ऐसे निर्वचन उस समय के लिये "अवैज्ञानिक" नहीं कहे जा सकते, हां उन्हें केवल प्राचीन (पुराने) भले ही कहा जा सकता है।

—एटीमा० पृ० १९

(4) "The theory that all nouns were derived from verbs dominated the etymologies of Yaska. This theory was logically correct, for when we name a thing, we, logically speaking, predicate something about it, and that predicate is often expected to some form of a verb." —एटीमा० पृ० २१

अर्थात्—यह सिद्धान्त है कि सब शब्द धातुज हैं, यास्क के निर्वचनों पर इसी का अधिकार है। यह सिद्धान्त तर्कानुसार तो ठीक है, क्योंकि जब हम किसी वस्तु का नाम रखते हैं, तो तर्कानुसार हम उसके विषय में कुछ निर्देश करते हैं, उस निर्देश की प्रायः धातु के रूप में आशा की जाती है।

(5) "But inspite of its crudities it cannot be called unscientific, it was rather a primitive science." —एटीमा० पृ० २१

अर्थात्—इसका अधूरापन होते हुए भी, इसे अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इसे प्राचीन (पुराना) विज्ञान भले ही कहा जावे।

(6) "but nevertheless they can be called 'primitive' but, neither 'absurd' nor unscientific." —एटीमा० पृ० २९

अर्थात्—पर तथापि ये प्राचीन (पुराने) तो कहला सकते हैं, पर बेहूदा

(मूर्खतापूर्ण) नहीं, न ही अवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं।

(7) "There is a large number—199 according to my calculation of Yaska's etymologies, the exact evolution of which belongs to future rasearch". —एटीमा० पृ० २९

अर्थात्—मेरी गणनानुसार एक भारी संख्या में (१९९) यास्क के निर्वचन ऐसे हैं, जो भावी खोज का विषय हैं।

(8) (i) यास्क के २२३ निर्वचन ऐसे हैं जो तुलनात्मक भाषाविज्ञान को सर्वथा स्वीकृत हैं। —एटीमा० पृ० ३९-५४

(ii) ".....phonologically sound but semantically unacceptable."

अर्थात्—३७ निर्वचन ऐसे हैं, जो उच्चारण विज्ञान की रीति से तो ठीक हैं, पर अर्थानुसार स्वीकृत नहीं हो सकते। —एटीमा० पृ० ५४ से ५८

(iii) "partly acceptable to comparative philology."

अर्थात्—२८ निर्वचन ऐसे हैं जो आंशिकरूप में तुलनात्मक भाषाविज्ञान के अनुसार मानने योग्य हैं। —एटीमा० पृ० ५८-६०

(iv) ".....probably acceptable to comparative philology."

अर्थात्—८९ निर्वचन ऐसे हैं जो प्रायः तुलनात्मक भाषाविज्ञान को स्वीकृत हैं। —एटीमा० पृ० ६१-६७

(v) "Possibly acceptable to comparative philology."

अर्थात्—५२ निर्वचन ऐसे हैं, जो सम्भवतः तुलनात्मक भाषाविज्ञान को स्वीकृत हैं।

(vi) "Words the derivation of which indicate popular etymologies."

अर्थात्—४२ ऐसे निर्वचन हैं जिन्हें लोकसम्मत निर्वचन कहना चाहिये। —एटीमा० पृ० १००-१०५

स्वयं डा० सिद्धेश्वर वर्मा के शब्दों में—

"According to our calculations, Yaska has offered 1289 etymologies, of which 849 are more or less primitive. 224 would

be acceptable to comparative philology and 225 are obscure··· 38 are phonologically sound but semaintically unacceptable, 28 would be partly (acceptable) 88 probably and 55 possibly acceptable to comparative philology, 147 are possitively primitive owing to the unadvanced stage of linguistic science or inadequate investigation of vedic texts; 111 are particularly dominated by the theory of the verbal origin of nouns, 7 read verbs even in suffixes, 55 read single letters as condensed words, 42 indicate popular etymologies....." —एटीमा० पृ० १६

अर्थात्—हमारी गणनानुसार यास्क ने १२८९ निर्वचन दिखाये हैं। जिनमें ८४९ तो न्यून वा अधिक प्राचीन कहे जा सकते हैं। २२४ निर्वचन वर्त्तमान तुलनात्मक भाषाविज्ञान को स्वीकृत हैं। और २२५ दुर्बोध हैं। इनमें ३८ ऐसे हैं, जो उच्चारण के सिद्धान्तों की दृष्टि से ठीक (सुदृढ़) हैं, पर नये उच्चारण के सिद्धान्तों के अनुसार माननीय नहीं, २८ आंशिक रूप से स्वीकरणीय हैं,८८ प्रायः स्वीकरणीय हैं, ५५ सम्भवतः स्वीकार करने योग्य हैं, (तुलनात्मक भाषाविज्ञान को इन्हें मानना पड़ेगा)। १४७ ऐसे हैं, जो यास्क के समय में भाषाविज्ञान के न रहने से या वेद की गहरी खोज की अपेक्षा रखने से निश्चय ही प्राचीन कहे जा सकते हैं। १११ ऐसे हैं जो 'नाम धातुज हैं' इस सिद्धान्त पर आश्रित हैं। ७ ऐसे हैं जिनके प्रत्ययों में धातु (क्रियावाचीपद) दर्शाये गये हैं। ५५ ऐसे हैं, जिनके एक अक्षर को भी समान रूप में दिखाया गया है। ४२ ऐसे हैं, जिन्हें लोकसम्मत निर्वचन कहा जायगा···"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि डा० राजवाड़े के सभी आक्षेपों का उत्तर डा० सिद्धेश्वर वर्मा जी के उपर्युक्त उद्धरणों से ही सिद्धान्ततः हो जाता है। इस उत्तर में विशेषता यह है कि डा० वर्मा ने भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों वा नियमों के आश्रय से ही यास्क के सब निर्वचनों का विवेचन किया है। एक प्रकार से डा० वर्मा ने तो यास्क के सब निर्वचनों को ही मान लिया है। जो २२५ दुर्बोध बताये हैं, उनमें भी १९९ तो भावी खोज का विषय माने हैं। (देखो एटीमा० पृ० २९)।

यह डा० सिद्धेश्वर वर्मा का उत्तरपक्ष हमने दिखाया। यास्क के निर्वचन बेहूदा हैं, यह एक विद्यास्थान वा विज्ञान कुछ नहीं, निर्वचन के सिद्धान्तों वा नियमों पर आश्रित नहीं, ये निर्वचन समय और बुद्धि का नाशमात्र हैं, यास्कप्रदर्शित नियम वा सिद्धान्त ही गलत (अशुद्ध) हैं, यास्क के निर्वचन मूर्खतापूर्ण हैं, इत्यादि भद्दे और असभ्यता तथा अदूरदर्शितापूर्ण मिथ्या आक्षेपों के उत्तर में राजवाड़े के अपनी

बिरादरी के (भाषाविज्ञानवादी) विद्वान् द्वारा बहुत प्रौढ़तापूर्ण उत्तर डा० सिद्धेश्वर के उपर्युक्त उद्धरणों से ही हो जाता है। मुझे तो सन्देह है कि राजवाड़े भाषाविज्ञान के भी विद्वान् थे या नहीं। यदि वह इस विषय को पढ़े थे तो उन्होंने इसके मर्म को कुछ भी न समझकर ही अनाप-शनाप निरुक्त के निर्वचनों के विषय में लिख डाला। इसके उत्तर में डा० सिद्धेश्वर वर्मा का कार्य बहुत उपयुक्त कहा जा सकता है, क्योंकि इन्होने अपने भाषाविज्ञान का आश्रय लेकर उपर्युक्त सब लिखा। इस विषय में हम उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाश करते हैं। पाठकों ने ऊपर देखा कि डा० भण्डारकर, डा० स्कोल्ड तथा डा० लक्ष्मणस्वरूप निरुक्त के निर्वचनों को ठीक ही समझते हैं, अपितु उनकी दृष्टि में यास्क के निर्वचनों का भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी ऊंचा स्थान है। यह बात हमारे द्वारा दर्शाये उनके उपर्युक्त उद्धरणों से सर्वथा स्पष्ट है।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा का पूर्वपक्ष

जहां हमने डा० सिद्धेश्वर वर्मा के अनेक उद्धरण इस विषय में दिये, जिनसे डा० राजवाड़े के आक्षेपों का मौलिक उत्तर हो जाता है, वहां हम यह भी दर्शाना चाहते हैं कि डा० सिद्धेश्वर वर्मा को भी राजवाड़े के प्रायः सभी आक्षेपों में सर्वथा अनास्था नहीं; अपितु मूलतः उन सब आक्षेपों को वह ठीक समझते हैं। यह अलग बात है कि यदि डा० राजवाड़े यास्क के प्रायः सभी निर्वचनों को बेहूदा आदि समझते हैं तो डा० सिद्धेश्वर उनमें से ५५ को ही बेहूदा मूर्खतापूर्ण (absurd) समझते हैं। राजवाड़े यदि उन्हें ९९ प्रतिशत गलत—मूर्खतापूर्ण समझते हैं तो डा० सिद्धेश्वर १५ प्रतिशत। दोनों में इतना ही भेद हम समझते हैं। अतः अपना अन्तिम सिद्धान्तपक्ष दिखाने से पहले हमें डा० सिद्धेश्वर के पूर्वपक्षी विचारों को भी अपने पाठकों के समक्ष उपस्थित कर देना उपयुक्त होगा। सो वे विचार निम्न प्रकार हैं—

(1) "..... Shows that he (Yaska) had a passion a craze for etymology." —एटीमा० पृ० ३

अर्थात्—इनसे प्रगट है कि यास्क का निर्वचन करने वा दिखाने का जोश, पागलपन (झक या सनक) की सीमा तक पहुंच चुका था।

(2) "Yaska was so much of an etymologist that his craze for etymology overpowered enslaved and crushed his imagination, for poverty of his imagination is remarkable. Owing to this serious defect, he is driven, not only to offer superfluous

and unnecessary, but also loose, unsound and even wild etymologies. It does not seem to have occurred to him that the meaning of a word could be metaforically extended. Even with a metaforically meaning, he felt the need of a separate etymology. The following illustrate Yaska's lack of imagination."

—एटीमा० पृ० ८

अर्थात्—यास्क इस प्रकार का भारी निर्वचनकर्त्ता था कि निर्वचन करने में उसके पागलपन ने उसकी विचारशक्ति को, कल्पनाशक्ति की कमी के कारण परे फैंक दिया, दास बना दिया, और कुचल दिया था, यह बात ध्यान देने योग्य है। उसकी इसी भारी कमी के कारण उसके निर्वचन न केवल व्यर्थ और अनावश्यक हैं, अपितु शिथिल और दोषपूर्ण हैं और भद्दे भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके सामने यह बात आई ही नहीं कि एक शब्द के अर्थ लक्षण से भी बढ़ सकते हैं। लाक्षणिक अर्थ के होते हुए, उसे पृथक् निर्वचन करने की आवश्यकता हुई। निम्नांकित उदाहरण यास्क की विचारशक्ति की कमी के द्योतक हैं—

(आगे ४ उदाहरण दर्शाये हैं।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा का एक यही उद्धरण पर्याप्त है, यह दिखाने के लिये कि यह भी राजवाड़े के मौसेरे भाई हैं। आक्षेपों में मात्रा की ही कमी है, वैसे दोनों को बराबर ही समझना चाहिये।

(3) "The theory that all nouns were derived from verbs..."

This theory was logically correct,.....But this theory was psychologically wrong, for it ignored that imaginative element in the formation of language, which attributes names to things by mere resemblance or extention of sound or sense. It must be admitted that the great blunder committed by Yaska and other etymologists of his school was the adherence to this theory.....

—एटीमा० पृ० २१

अर्थात्—नाम धातुज हैं, यह सिद्धान्त तर्कानुसार तो ठीक है·····परन्तु यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गलत (अशुद्ध) है, क्योंकि इसने भाषा के निर्माण में उस विचार वा पूर्णतत्त्व की अवहेलना कर दी, जो नामों को पदार्थों के साथ उच्चारण या अर्थ की समता वा प्रवृद्धि को बताता है। यह मानना पड़ेगा कि यास्क

तथा उसकी श्रेणी के अन्य निर्वचनकर्त्ताओं की भारी भूल का अवलम्बन यह सिद्धान्त (theory) था·····।

(4) "This theory has made Yaska's derivations very hazy, lifeless and indefinite....." —एटीमा० पृ० २२

अर्थात्—इस सिद्धान्त ने यास्क के निर्वचनों को बहुत धुन्धले, निर्जीव और अनिश्चित बना दिया है।

इन उद्धरणों से हम कह सकते हैं कि डा० राजवाड़े यास्क के निरुक्तशास्त्र की गहराई तक नहीं पहुंचे, ऊपर-ऊपर का उनका ज्ञान चाहे कितना भी रहा हो, उनका परिश्रम अकथनीय और प्रशंसनीय रहा, क्योंकि राजवाड़े ने दुर्ग का बहुत परिश्रम-साध्य संस्करण दिया। परिशिष्टों की झड़ी लगा दी। ३ अध्याय में एक-एक निर्वचन पर बहुत परिश्रम किया। पर यह सब होते हुए भी इसे हम बाह्य परीक्षण या ऊपर-ऊपर का ज्ञान ही कहेंगे। निरुक्त का मर्म डा० राजवाड़े नहीं समझे, यही कहना पड़ता है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो विवेचन किया, उसकी उत्कृष्टता तथा प्रशंसा वा गहरे परिश्रम को भुलाया नहीं जा सकता, पर यह सब होते हुए भी हम कह सकते हैं कि डा० सिद्धेश्वर वर्मा भी निरुक्तशास्त्र या यास्क के मर्म को नहीं समझ सके, वा यास्क के हृदय तक नहीं पहुंच सके। इसके लिये अब हम अपना अन्तिम सिद्धान्त पक्ष उपस्थित करते हैं, पहला उत्तर एकदेशी उत्तर ही समझा जायेगा।

अन्तिम हमारा सिद्धान्तपक्ष

विदित रहे कि यदि डा० राजवाड़े वा डा० सिद्धेश्वर वर्मा यह बात स्पष्ट लिख दिये होते कि यास्क के निर्वचन वा निर्वचन के सिद्धान्त वा नियम वर्त्तमान तुलनात्मक भाषा (मत) विज्ञान के सिद्धान्तों वा नियमों की दृष्टि से ठीक नहीं बैठते या गलत हैं,(डा० वर्मा ने तो कुछ-कुछ निर्देश किया है पर वह अति साधारण और स्वल्प है) तब तो हमें कुछ भी कहना नहीं था। यास्क के सिद्धान्त वा नियम भाषामत (विज्ञान) के सामने ठीक बैठें या न बैठें, वेदाङ्ग होने से निरुक्त का महत्त्व कम नहीं हो सकता। पर इन्हें बेहूदा—मूर्खतापूर्ण आदि कहना तो अपनी अज्ञता ही प्रकट करना है। इसीलिये अब हम अपना सिद्धान्तपक्ष उपस्थित करते हैं।

इस विषय में पूर्वोक्त दर्शाये पर्वपक्ष के उत्तर में यास्क के ही शब्दों तथा हृदय-गत विचारों द्वारा ही हम सिद्धान्तपक्ष उपस्थित करेंगे। पर इससे पहले भारतीय परम्परा वा वेदार्थप्रक्रिया के कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों के विषय में भी कुछ विचार पाठकों के समक्ष रखना आवश्यक और लाभकर समझते हैं।

हमारी दृष्टि में कोई भी व्यक्ति चाहे वह भारतीय हो या अभारतीय, संस्कृत

का विद्वान् हो या रिसर्चस्कालर, वेदार्थ तक नहीं पहुंच सकता, चाहे वह यास्क का दर्शाया हो वा किसी का। तब तक उसकी आस्था वेद या वेदार्थ में नहीं हो सकती। जबतक वह ईश्वरवाद—सृष्टिकर्तृत्वादि गुण-वेद का अपौरुषेयत्व-भाषा की उत्पत्ति में ईश्वर को कारणता-वा विकासवाद के स्थान में ह्रासवाद का सिद्धान्त न माने-तथा आप्त प्रमाण-इन सिद्धान्तों में आस्था न रखता हो। ये सिद्धान्त भारतीय परम्परा वा वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त हैं, ये परस्पर इतने अनिवार्यतया सम्बद्ध हैं कि एक के मानने पर दूसरे को अनिवार्यतया मानना ही पड़ेगा[1]।

यह भी समझ लेना होगा कि ऋषि-मुनियों ने जो वेदार्थ समझा; वह निश्चय ही हमारे लिये मार्गदर्शक है। यास्क ने लिखा—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च।"

अर्थात्—ऋषि साक्षात्कृतधर्मा हुए। उन्होंने अन्य असाक्षात् धर्मवालों को उपदेश द्वारा मन्त्र पढ़ाये। उपदेश के लिये (असमर्थता के कारण) ग्लानि करते हुए अन्यों ने इस (निरुक्त) शास्त्र का (प्रणयन होने पर) अभ्यास किया···और वेद और वेदाङ्गों का अभ्यास किया (निरु० १।२०)। ऋषियों ने निरुक्तादि वेदाङ्गों की रचना शक्तियों का ह्रास होने पर की, और ऋषि कहते ही उनको हैं, जिन्हें अपने विषय का साक्षात् ज्ञान होता है।

जब एक व्यक्ति ईश्वर को ही नहीं मानता—तो वह वेद को क्या मानेगा? ऋषियों को क्या मानेगा? यास्क, पाणिनि आदि उसके सामने हेय हैं।

भाषा की उत्पत्ति

ऐसी अवस्था में भाषा की उत्पत्ति पर ऐसे लोग किसी निश्चय पर कदापि नहीं पहुंच सकते। इस विषय में तुलनात्मक भाषामत (विज्ञान) के कतिपय विद्वानों के विचार भी हम उपस्थित करते हैं—

(१) **कोलम्बिया विश्वविद्यालय का महोपाध्याय एडगर स्टूटिवेण्ट** लिखता है—

"After much futile discussion linguist have reached the

---

१. पाठक हमारे इन विचारों को विस्तार से **"वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त"** नामक लघु पुस्तिका में देख सकते हैं।

conclusion that the data with which they are concerned yield little or no evidence about the origin of human speech."

अर्थात्—बहुत व्यर्थ वादविवाद के पश्चात् भाषाविद् इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि एतद्विषयक प्रस्तुत सामग्री का आधार मानवबोली की उत्पत्ति के विषय में कोई साक्ष्य नहीं देता।

(An introduction to Linguistic science p. 40 new haven 1948).

(२) इटली का मेरियोपाई लिखता है—

"If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved."

अर्थात्—यदि कोई एक बात है, जिस पर सब भाषाविद् पूरे सहमत हैं, तो वह है, कि मानव बोली की उत्पत्ति की समस्या अभी तक पूर्त्ति को प्राप्त नहीं हुई। —The story of language p. 14, London 1952.

(३) अमेरिका का जे० वैण्ड्रएस लिखता है—

".....the problem of the origin of language does not admit of any satisfactory solution."

अर्थात्—मानवभाषा की उत्पत्ति की समस्या का कोई सन्तोषजनक निष्कर्ष नहीं है (J. vendres, language P. 315 London 1952)।[1]

(४) डा० बाबूराम सक्सेना—

'फिर इस जटिल समस्या (भाषा की उत्पत्ति) का क्या हल है? अल्पज्ञानी मनुष्य के ज्ञान की वर्त्तमान स्थिति में इस समस्या का हल नहीं सूझता। इसी कारण पिछली पीढ़ी के भाषा वैज्ञानिकों ने इस प्रश्न को उठाया तो, पर टाल दिया था और यह कहा था, कि इससे हमें सरोकार नहीं, हम तो जैसी भाषा पाते हैं, उसका अध्ययन करते हैं और उसके मूल तत्त्वों तक पहुंचने की कोशिश करते हैं, भाषा की उत्पत्ति का विषय तो दर्शन के क्षेत्र में आता है"।

—सामान्य भाषाविज्ञान पृ० १५

---

१. उपर्युक्त तीनों उद्धरणों के लिये देखें 'भाषा का इतिहास' पं० भगवद्दत्तजी कृत पृ० २, १९५६

(५) डा० श्याम सुन्दरदास काशी लिखते हैं।

(i) "यह कल्पना करना कि मनुष्यों ने बिना भाषाविज्ञान के ही इकट्ठे होकर अपनी व्यवस्था पर विचार किया, और कुछ संकेत स्थिर किये, सर्वथा हास्यास्पद प्रतीत होता है।" —भाषाविज्ञान पृ० ३१, १९५०

(ii) "विद्वानों ने भाषा उत्पत्ति के विषय में इतने भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है कि अनेक भाषावैज्ञानिक इस प्रश्न को छेड़ना मूर्खता अथवा मनोरञ्जन समझते हैं।" —भाषाविज्ञान पृ० ३१

(६) स्वयं राजवाड़े लिखता है—

"The origin of language is enveloped in mystery."

अर्थात्—भाषा की उत्पत्ति का विषय अभी तक अन्धकार में छिपा है।

—भूमिका पृ० ३९

जब भाषाविज्ञान वाले अभी तक 'भाषा की उत्पत्ति' की समस्या ही हल नहीं कर पाये, तब उत्तरोत्तर ह्रासवाद सृष्ट्युत्पत्ति, वेद की अपौरुषेयता, ईश्वरवाद जैसे मौलिक और आधारभूत सिद्धान्तों के विषय में ये लोग बात छेड़ना कब चाहेंगे। छेड़नेवाले को भी पागल कह देंगे। पर उनके ऐसा कह देने मात्र से तो इन विषयों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। बिल्ली के आंख बन्द कर लेने मात्र से तो वह भेड़िये से बच न जायेगी। इन विषयों पर इन्हें विचार करना ही होगा। चाहे जब भी करें।

अतः जब भाषाविज्ञानियों के सिद्धान्त वा नियम ही अभी तक निश्चित नहीं हो पाये, तो राजवाड़े जैसों के अविवेकपूर्ण प्रलाप का क्या मूल्य हो सकता है? इन्हें अब भारतीयता के ज्ञान के लिये भारतीय गुरुओं के चरणों में बैठना होगा।

यास्क के निर्वचनों का मूल आधार

उपर्युक्त बाह्य विवेचना के पश्चात् अब हम डा० राजवाड़े तथा डा० सिद्धेश्वर वर्मा के मूलभूत आक्षेपों के सम्बन्ध में यास्क अथवा उसके निर्वचनों का आन्तरिक दृष्टि से विवेचन करते हैं—

गहरी दृष्टि से देखने पर पता लगता है कि यास्क की भूमिका (अ० २ पाद १) के अनन्तर **'अथ निर्वचनम्'** से आरम्भ करके नैगमकाण्ड (अ० ६) की समाप्ति तक ही निरुक्त, निर्वचनशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इसमें नैघण्टुक काण्ड के पश्चात् नैगमकाण्ड की और भी विशेषता है।

यास्क नैगमकाण्ड के प्रारम्भ में लिखते हैं—

"एकार्थमनेकशब्दमित्युक्तम्। अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः। अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्" (निरु० ४।१)।

अर्थात्—एकार्थवाले अनेक शब्द कह चुके। अब यहां से अनेकार्थवाले एक शब्दों के विषय में कहेंगे, और ऐसे निगम (वेद शब्द) कहेंगे जिनका संस्कार (प्रकृति प्रत्यय विभाग) अज्ञात है।

(१) इसमें सर्वप्रथम 'जहा' को यास्क ने लिखा है, और 'जहा जघान इत्यर्थः' ऐसा लिखा। इस विषय में दुर्ग लिखता है—

"अनवगतसंस्कारान् अविज्ञातसंस्कारान् इत्यर्थः। येषां प्रकृतिप्रत्ययादिसंस्कारो न साकल्येन ज्ञायते, तांश्च निगमान् अत्रैव व्याख्यास्यामः।·····'जहा' इति। आह—किमेतदनवगतसंस्कारमुतानेकार्थम्? उच्यते—अनवगतसंस्कारम्। कथम्? 'जघान' इत्येवमवस्थितेन अवगतसंस्कारेण योऽर्थ उच्यते स च 'जहा' इत्यनेनानुपपन्नसंस्कारेणोक्तो भवति। अत्र हन्तेश्च जहातेश्च सन्देह इति भाष्यकारेणावधृतम्—'जघानेत्यर्थः' इति। आह—कुतः पुनर्विशेषावधारणम्—हन्तेरेवात्र रूपम्, न पुनर्जहातेः इति। उच्यते निगमात्—" —दुर्ग पृ० २६६ वेङ्कटेश्वर सं०

अर्थात्—"अनवगतसंस्कार का अर्थ है, जिसका संस्कार न जाना जाये, ऐसे मन्त्रगत पदों का यहां (नैगमकाण्ड में) व्याख्यान करेंगे।·····'जहा'—क्या यह अनवगतसंस्कार है या अनेकार्थ है? कहते हैं—अनवगतसंस्कार है यह। कैसे? अवगतसंस्कार वह है, जिसका प्रकृति प्रत्यय स्पष्ट दीख रहा है, क्योंकि जघान (लिट् का रूप है, हन् से प्रथम पुरुष एकवचन में बनता है) इस सुनिश्चित अवगत संस्कार से जो अर्थ कहा जाता है, इस अर्थ को ही अनुपपन्न संस्कार जिसका प्रकृति प्रत्यय विदित नहीं हो रहा—इस 'जहा' शब्द के द्वारा यहां अर्थात् मन्त्र में कहा गया है। इस मन्त्र में सन्देह यह उत्पन्न हो रहा है कि यह 'जहा' शब्द हन् धातु (मारना) से बना है या हा (ओहाक् त्यागे) छोड़ने अर्थवाले धातु से बना है? इसलिये 'जघान' इसका अर्थ बताया गया है। फिर पूछते हैं कि यह निश्चय कैसे हो कि यहां हन् धातु का ही रूप है, ओहाक् का नहीं? कहते हैं कि मन्त्र से यह निश्चय हुआ"। दुर्गाचार्य ने सारी बात को स्पष्ट कर दिया है। इसमें अधिक व्याख्या की कुछ भी आवश्यकता नहीं।

हमारा कहना यहां यह है कि मन्त्र के सब पदों के अर्थ पर जब गहरा विचार किया जाता है, तब 'जहा' का अर्थ 'जघान' यही ठीक बैठता है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्। जहा को अस्मदीषते ॥

ऋ० ८।४५।३७॥

यहां इस मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार ने 'जहा' का अर्थ 'जघान' किया है और **"अपापकं जघान कमहं जातु, कोऽस्मदीषते पलायते"** ऐसा लिखा है। **'अपापकं'** यह अध्याहार किया है। यही अर्थ दुर्ग स्कन्द तथा सायणाचार्य ने किया है। दुर्ग और स्कन्द ने प्रकरणप्राप्त 'मा न एक०···वधीर्मा शूर भूरिषु' ऋ० ८।४५।३४ का प्रकरणप्राप्त अर्थ करके उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ किया है, (ऐसा ही स्कन्द ने भी किया है)। आगे दुर्ग लिखता है—

"एवमेतस्मिन् मन्त्रे प्रकरण-पूर्वोत्तरपदाविरोधशब्दसारूप्य-अर्थोपपत्तिभिर्हन्तेरेव विशेषेणार्थोऽवतिष्ठते न जहातेः। जहातौ ह्येतस्मिन् कल्प्यमाने प्रकरणम्, पूर्वोत्तराणि च पदानि विरुध्यन्ते शब्दसारूप्येऽपि सति। तस्मान्नात्र जहातेरवकाशोऽस्ति, पारिशेष्यात्, हन्तेरेव तद्रूपमित्युपपन्नं भवति।"

अर्थात्—इस प्रकार इस मन्त्र में प्रकरण, पूर्वपद और उत्तरपद विरोध न होने से—शब्दसमानता और अर्थ की उपपत्ति इन कारणों से हन्ति=हन् धातु का अर्थ ही विशेषरूप से स्थित होता है, जहाति=ओहाक् धातु का नहीं। 'ओहाक्' के अर्थ की कल्पना करने पर प्रकरण—तथा पूर्वपद और उत्तरपदों का विरोध पड़ता है। इसलिये यहां 'जहाति' धातु के अर्थ का अवकाश नहीं। शेष बचे 'हन्' धातु का रूप ही ठीक बैठता है। —दुर्ग पृ० २६६

स्कन्द लिखता है—

"एवमत्र मा नो वधीरित्यत्र वधप्रतिषेधलक्षणोपालम्भत्वादस्या ऋचो जहेत्यस्यार्थस्योपपत्तेः शब्दसारूप्याच्च जघानेत्यर्थ इत्युपपन्नम्॥"

—स्कन्दटीका, नि० ४।१२, पृ० १६०

इसका अर्थ भी पूर्ववत् ही है।

पाठक विचारें। यहां ऋ० ८।४५ सूक्त का यह ३७वां मन्त्र है। दुर्ग और स्कन्द ने दर्शाया कि इसी सूक्त के ३४वें मन्त्र में **'वधीर्मा शूर भूरिषु' 'मा वधीः'** मत मारो, का प्रकरण चल ही रहा है। उधर ४०वें मन्त्र में भी **'परिबाधो जहि मृधः' "भिन्धि विश्वा अप द्विषः"** में **'जहि'** भी हन् का ही रूप है। **"भिन्धि"** भी उसी अर्थ को कहता है। किञ्च मन्त्र में आये पदों के पूर्व पर के विचार करने पर **"जहा"** का अर्थ यहां मारना ही ठीक बैठता है। तथा अन्य पदों के अर्थों पर विचार करने में भी 'जहा' का मारना अर्थ ही यहां ठीक बैठता है। 'जहा' और 'हन्' में शब्द-सारूप्य भी है।

हमारा इसमें कहना यह है कि आध्यात्मिक आधिदैविक और अधियज्ञ किसी भी प्रकार का अर्थ किया जावे, 'जहा' का 'जघान' अर्थ ही ठीक बैठता है। रिसर्च-स्कालरों को चाहिये कि वे इस मन्त्र वा इस नैगमकाण्ड प्रकरण में आये इन शब्दों के अर्थ पूर्वापरादि में कुछ दूसरे करके दिखायें। हमारा कहना यह है कि पूर्वापरादि के विचार से यहां और अर्थ हो ही नहीं सकता। यह यास्कादि के कहने का तात्पर्य है।

राजवाड़े ने निरुक्त टिप्पणी (आनन्दाश्रम सं० पृ० ११३) में—"अत्र 'जहा' याहीत्यर्थे स्यात्। याहीति न कोऽप्यनाकृष्टः·····" यह जो कहा सो ठीक नहीं। क्योंकि इस सूक्त के ३४वें तथा ४०वें मन्त्र में 'वधीः' तथा 'जहि' का प्रकरण होने से यहां 'हन्' का ही अर्थ ठीक है, दूसरा नहीं, पूर्वापराविरोध प्रकरण की उपपत्ति होने से।

(२) श्रुष्टि निरुक्त ६।१२—"श्रुष्टीति क्षिप्रनाम आशु अष्टीति"। निरुक्त ६।१२॥

अत्र दुर्गः—"श्रुष्टी-इत्यनवगतम्।···श्रुष्टीत्यस्य आश्वशनम् इत्यवगमः।··· एवमत्र यागस्य विघ्नभयात् क्षिप्रस्येष्टत्वात् श्रुष्टि इति क्षिप्रनाम इत्युपपद्यते। अन्यत्र (निरुक्त ६।२२) हि वक्ष्यति 'श्रुष्टीवरीः=सुखवतीः' इति तस्मादेतदनेकार्थमपि भवति"। अर्थात् 'श्रुष्टी' अनेकार्थ है, अनवगतसंस्कार भी है। निरुक्तकार ने यहां इसका निर्वचन "आशु अशनम्" किया है।

अब सिद्धेश्वर वर्मा इस शब्द पर क्या कहते हैं, सो देखिये—

"Words the etymologies of which are absurd.....श्रुष्टि...is traced to आशु=अश् lit, that which reaches soon. Actually as P. W. suggests, it is an extension of the meaning of hearing viz complaisant, quick from श्रुष् 'to hear', which is a secondary form of श्रु"। —एटी० पृ० १२२

भाव यह है कि "श्रुष्टि शब्द की व्युत्पत्ति यास्क ने आशु+अश् धातु से की है। जो absurd (बेहूदा वा मूर्खतापूर्ण) है। क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति 'श्रु' धातु से तो कुछ हो भी सकती थी।" अब हम यास्कप्रदर्शित मन्त्र देते हैं, जो इस शब्द के निर्वचन के उदाहरण के रूप में दिया गया है—वह इस प्रकार है—

ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः सुवस्थ विश्वे अभि सन्ति देवाः।
तां अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम्॥

ऋ० ७।३९।४॥

यहां 'हे अग्ने तान् उशतो अध्वरे श्रुष्टी यक्षि (लेटि रूपम्, लिङर्थे लेट्) यज इत्यर्थः' ऐसा अर्थ दुर्ग-स्कन्द और सायणाचार्य ने किया है। प्रकरण-पूर्वापराविरोध तथा अर्थोपपत्ति से 'श्रुष्टी' का अर्थ यहां पर क्षिप्र=शीघ्र ही ठीक बैठता है। यद्यपि इसके अन्न, सुख आदि अन्य अर्थ भी हैं, पर यहां पर क्षिप्र अर्थ ही उपयुक्त बैठता है। ऐसी अवस्था में यास्क ने इसके अन्दर से 'आशु' अर्थ निकाला है, तब 'अश्' व्याप्त्यर्थक धातु का अर्थ ही आगे ठीक बैठता है। 'अश् भोजने' आदि का नहीं। क्योंकि उसमें प्रकरण ठीक नहीं बैठता। यह बात उणादि—बहुलम्—तथा पृषोदरादीनि के बतानेवाले पाणिनि का यथार्थज्ञान रखनेवालों की ही समझ में आ सकती है। व्यापक वैदिक वाङ्मय जाननेवाले ऋषियों के सामने व्यापक प्रयोग थे, इसी से उन्होंने ऐसे-ऐसे निर्वचन किये।

(३) **अन्नम्**—"**अन्नं कस्मादानतं भूतेभ्योऽत्तेर्वा···**" निरु० ३।९॥ **अत्र दुर्गः—अन्नं कस्मात्—उच्यते—आ आभिमुख्येन ह्येतत् नतं प्रह्वीभूतं भवति भोजनाय भूतानाम्। अत्तेर्वा अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते** (तै० उ० २।२) **इत्युक्तम्**" ('दुर्ग' पृ० १९५)। यहां दुर्ग ने यास्कानुसार आ+नम् तथा 'अद्' दोनों धातुओं से 'अन्न' शब्द की व्युत्पत्ति की है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने 'अन्न' शब्द को—absurd (बेहूदा-मूर्खतापूर्ण) शब्दों की सूची में गिनाया है।

—देखो एटीमा० पृ० ११६

"He tries to explain the phonological structure of the word by adding that the prefix 'आ' has been shortened to 'अ' here, but even then the modification of नम् to न remains unexplained. (एटीमा० पृ० ११८ तथा ४)। डा० राजवाड़े ने भी (भूमिका पृ० ३० LXX) में ऐसा ही आक्षेप किया है।

हमारा कहना यह है कि अद् धातु से तो अन्न बन ही जाता है। बनाया भी है। पर जहां 'अद्' का अर्थ नहीं घटता, वैदिक वाङ्मय के उन स्थलों के लिये यास्क ने ऐसे निर्वचन दिखाये हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में 'अन्न' के विषय में कहा है—

"अन्नं सावित्री। गो० पू० १।३३॥ अन्नं विराट्। कौ० ९।६॥ अन्नं वै सुरूपम्। कौ० १३।३॥ यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवता॥ श० ७।५।१।२९॥ अन्नं वा अयं प्रजापतिः।"

इन सब अर्थों में 'अद्' धातु का अर्थ नहीं घटता। आनतं भवति=आ+नम् का अर्थ ठीक घटता है। इसीलिये यास्क-पतञ्जलि आदि ने ऐसे निर्वचन करके अर्थ दर्शाये। यहां दो मार्ग हैं, या तो धातुओं का अनेकार्थत्व माना जावे या फिर भिन्न-

भिन्न धातुओं से निर्वचन किया जावे। पाणिनि, पतञ्जलि और यास्क ने दोनों प्रकार माने हैं।

(४) आशा—निरु० ६।१।।

यहां यास्क लिखते हैं—"आशा दिशो भवन्त्यासदनात्। आशा उपदिशो भवन्त्यभ्यशनात्" यहां दुर्ग लिखता है—"आशाभ्यः' इत्यनवगतमनेकार्थं च। 'आसदनात्' इत्यवगमः।" यहां 'आशा' शब्द का निर्वचन यास्क ने आ+सद् तथा आ+अश् धातुओं वा दो क्रियावाची शब्दों से दिखाया है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने 'आशा' शब्द को "Words the etymologies of which are absurd". दिखाया है।

अर्थात्—जिन शब्दों के (यास्क द्वारा दिखाये) निर्वचन बेहूदा (मूर्खतापूर्ण) हैं, उनमें इस शब्द को भी दिखाया है। (देखो एटीमा० पृ० ११६)। निरुक्तकार ने जो मन्त्र इस निर्वचन का अर्थ प्रकरण और पूर्वापराविरोध और अर्थोपपत्ति वा अनेकार्थता को ध्यान में रखते हुए दिया है, सो वह मन्त्र हम दर्शाते हैं—

"इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्योऽभयं करत्। जेता शत्रून् विचर्षणिः।।"

ऋ० २।४१।१२।।

पाठकवृन्द इस मन्त्र के पदों को परस्पर विचारें तो यहां 'आशा' का अर्थ 'दिशा' ही ठीक बैठता है। यद्यपि 'अश्' धातु से भी अर्थ ठीक बैठ सकता है। परन्तु उपदिशा और दिशा में तो प्रवृत्तिनिमित्त का कुछ अन्तर है। अतः यह भेद दिखाने के लिये यास्क ने दोनों में दो प्रकार की व्युत्पत्ति दिखाई। यदि दोनों दिशा और उपदिशा एक होतीं तो एक ही दिखा सकते थे। शेष रहा यह कि आ+सद् का आश कैसे बना सो पृषोदरादीनि से यह सब बनते हैं, सभी वैयाकरण जानते हैं। जिनके मत में कांए-कांए आदि के अनुकरण से शब्द बने, वे भले ही इस पर आक्षेप कर सकते हैं। शब्दों का अनेकार्थत्व और नाम को धातुज माननेवाले भिन्न-भिन्न अर्थों में भिन्न-भिन्न धातुओं से निर्वचन दिखायेंगे ही, इसमें आश्चर्य की बात ही कुछ नहीं। यह तो उनका भूषण है दूषण नहीं, दूषण देखनेवालों के नेत्र में दोष है, जो दूर होना चाहिये।

(५) निरु० ४।१६।। "व्यन्तः"—इत्येषोऽनेककर्मा। यस्माद् धातोरयं शब्दो निष्पद्यते, स धातुरनेककर्मा=अनेकार्थः। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु इति। तद्यथा—

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवः श्रव आपन्नमृक्तम् ।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्त संदृष्टौ ॥
ऋ० ६।१।४॥

.....एवमेतस्मिन् मन्त्रे 'पदं' 'देवस्य' 'नमसा' 'व्यन्तः' 'श्रवस्यवः' 'श्रवः' 'आपन्' इत्येतेषां पदानामेकवाक्ययोगात् 'व्यन्तः' इत्यस्य शब्दस्य पश्यत्यर्थतोपपद्यते ।"

अर्थात् इस मन्त्र में उपर्युक्त ७ पदों की एकवाक्यता को लक्ष्य में रखकर 'व्यन्तः' का अर्थ यहां पर 'पश्यन्तः जानाना'—देखते हुए या जानते हुए—यह है। यदि इसका कोई दूसरा अर्थ करेंगे तो शेष पदों के अर्थों के साथ समन्वय नहीं हो सकता। समूहावलम्बन से पदों का जो अर्थ ठीक बैठेगा, वही उपयुक्त हो सकता है। **अर्थनित्यः परीक्षेत** का कितना अच्छा उदाहरण है। 'वी' के अनेक अर्थ हैं, यहां कौन-सा अर्थ उपयुक्त है, यह बात अर्थ के अधीन है, जिस पर यास्क ने सबसे अधिक बल दिया है। और अर्थ भी हो तो सकते हैं पर इस मन्त्र में नहीं। क्योंकि यदि हम इस अर्थ को छोड़कर और अर्थ करने लगेंगे तो शेष बचे ६ पदों के अर्थ गड़बड़ा जायेंगे। सो यहां 'व्यन्तः' का 'पश्यन्तः जानानाः' ही अर्थ करना होगा। क्या रिसर्चस्कालर कोई दूसरा अर्थ करके घटा सकते हैं? प्रकरण वा देवतादि देखकर दूसरा अर्थ क्या करेंगे? ऊपर के जितने भी उदाहरण हमने उपस्थित किये हैं, सबमें यही बात यास्क ने घटाई है। कोई भी घटाकर देख ले। वह-वह अर्थ ही उपर्युक्त सब स्थलों में संगत बैठता है। यह दूसरी बात है कि तीनों प्रक्रियाओं में मन्त्रों के अर्थ होने पर वैसी-वैसी योजना की जायेगी। तदनुसार निर्वचन भी भिन्न हो सकते हैं। इस स्थल में दुर्ग लिखता है—

"मन्त्रपरिज्ञानादेव ह्यग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानं याथात्म्यतो दृश्यते ।"

दुर्गाचार्य "अग्नि" शब्द का सब प्रक्रियाओं में अर्थात्—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आधियज्ञिक अर्थ होता है, यह स्पष्ट कह रहे हैं, जो निरुक्तकार का सिद्धान्त है। देखो स्कन्द निरुक्तटीका ७।५, पृ० ३६—

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।

अर्थात्—सब दर्शनों (प्रक्रियाओं) में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये। क्योंकि स्वयं भाष्यकार (यास्क) ने सब मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है, यह दिखाने के लिए (निरु० १।२० में) **अर्थं वाचः पुष्पफलमाह** अर्थ को वाणी का

पुष्प फल कहा है। इत्यादि वचनों में तीन प्रकार के अर्थों की प्रतिज्ञा की है।

(६) निरु० ५।३—**श्वात्रम्**। मन्त्र इस प्रकार है—

यो होतासीत् प्रथमो देवजुष्टो यं समाञ्जन्नाज्येना वृणानाः।
स पंतत्रीत्वरं स्था जगद् यच्छवात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः॥
ऋ० १०।८८।४॥

दुर्ग कहता है—

"श्वात्रम्—इत्येतदनवगतम्। आशु अतनं भवति इति शब्दसमाधिः। क्षिप्रनाम इत्यभिधेयवचनम्।·····एवमेतस्मिन् मन्त्रे 'श्वात्रम्' इत्येतत् क्षिप्रनाम। पतत्रि-स्थावर-जङ्गमानां क्षिप्रदहनादग्निः किमन्यत् कुर्यात्? तस्मादुपपद्यते क्षिप्रनामेति।"
—दुर्ग पृ० ३६०

अर्थात्—यहां उपर्युक्त मन्त्र में 'श्वात्रम्' यह पद अनवगतसंस्कार है। 'आशु अतनम्' इस निर्वचन द्वारा इसका समाधान है। क्षिप्र इसका अर्थ है।·····(मन्त्र के सब पदों का अर्थ दिखा देने पर)·····इस प्रकार पतत्रि–स्थावर जंगमों के सम्बन्ध से अग्नि क्षिप्र=शीघ्र दहन कर देता है, इससे अतिरिक्त और क्या अर्थ यहां समन्वित हो सकता है। इसलिये 'श्वात्र' का अर्थ यहां 'क्षिप्र' ही ठीक बैठता है। यहां राजवाड़े निरु० टिप्पणी पृ० १५७ पर 'श्वात्रं जगच्छब्दस्य विशेषणम्' है। यह लेख इसलिये ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकरण तथा पूर्वापर के अविरोध से 'आशु' अर्थ ही उपयुक्त है।

(७) निरु० ५।१—**सस्निम्**—**"संस्नातं मेघम्" इति यास्कः।**

अत्र दुर्गाचार्यः—"सस्निम्" इत्येतदनवगतम्। अर्थाप्रतीतिरप्यनवगम इत्युच्यते। लक्षणासम्पन्नश्च संस्कारः खल्वपि अविज्ञानमित्युच्यते। तत्रैवं सति क्वचित् प्रकृत्यादेः संस्कारस्यानवगमः। क्वचिदर्थाप्रतीतिरेव, क्वचिदुभयस्याप्यनवगमः, यथास्मिन्नेव सस्निमिति न विज्ञायते। किमप्युक्तं भवति? प्रकरणादत्र मेघाभिधेयम्। अन्यत्रान्यो-ऽपि कश्चित् स्यात् प्रकरणविशेषादेव, एवं सर्वत्रैवोपेक्षितव्यम्। प्रकरणसामर्थ्या-च्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजते।"

'सस्निम्'—यह पद अनवगत है। जहां अर्थ की प्रतीति न हो, वह भी 'अन-वगम' कहलाता है। लक्षण (सूत्र) से सम्पन्न न होनेवाला (न बननेवाला) संस्कार (प्रकृति प्रत्यय सम्बन्ध) भी अविज्ञान=अनवगम कहलाता है। इसमें ऐसा होने पर कहीं तो प्रकृति आदि के सम्बन्ध का अनवगम (न जानना) कहलाता है। कहीं अर्थ की अप्रतीति ही, और कहीं पर दोनों (प्रकृत्यादि तथा अर्थ) की अप्रतीति ही

अनवगम कहलाता है। जैसा कि इस मन्त्र में 'सस्निम्' पद का पता नहीं लग रहा है। तात्पर्य क्या है ? सो यह है कि प्रकरण से यहां 'मेघ' अर्थ है। अन्य मन्त्र में इस शब्द का अन्य अर्थ भी हो सकता है, प्रकरण विशेष के कारण सब जगह ऐसा होता है, यह समझ लेना चाहिये। प्रकरण के सामर्थ्य से शब्द भिन्न अर्थ को भी कहने लगता है। (दुर्ग पृ० ३४६)। दुर्ग का यह कथन सर्वथा स्पष्ट और सत्य है।

सस्निमवन्दिच्चरणे नदीनामपावृणोद् दुरो अश्मव्रजानाम्।
प्रासां गन्धर्वो अमृतानि वोचदिन्द्रो दक्षं परि जानादहीनाम्॥

ऋ० १०।१३९।६॥

इस मन्त्र का दुर्गाचार्य का अर्थ हम यहां देना चाहते थे। पर लेख दीर्घकाय हो जाने के कारण छोड़ते हैं। दुर्गटीका में यह अर्थ देख लेवें।

यहां विचार यह है कि 'सस्नि' शब्द मेघ अर्थ में न लोक में विदित है, न ही निघण्टु में मेघ-नामों में पढ़ा है। इस मन्त्र में यास्क ने इसका अर्थ (संस्नातं मेघम्) मेघ किया है। सो यहां इसका मेघ अर्थ कैसे हुआ या हो सकता है ? इस प्रश्न के उपस्थित होने पर यास्क ने नैगमकाण्ड में पञ्चमाध्याय के आरम्भ में सर्वप्रथम इसको **अनवगत संस्कार** मान कर इसकी व्युत्पत्ति की है। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि यास्क–दुर्ग–स्कन्द आदि नैरुक्त लोगों के मत में मन्त्र में आये अन्य पदों के पूर्वापर प्रकरण आदि के आधार पर एक शब्द अन्य अर्थों का वाचक भी हो जाता है, केवल अकेला पढ़ने से उक्त अर्थ को नहीं कहता। अर्थात्—**प्रकरणादि के आधीन होने से शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं**, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यास्क ने किया तथा, दुर्ग स्कन्दादि भी इस सिद्धान्त का बड़ी प्रबलता से प्रतिपादन कर रहे हैं। यहां भिन्न अर्थ का तात्पर्य जो सामान्यतया प्रसिद्ध अर्थ समझा जाता है या समझा जा सकता है, उससे भिन्न अर्थ है।

इस प्रकरण में यह स्थल दुर्गाचार्य का निरुक्तकार (यास्क) के हृदय की बात बहुत ही स्पष्टरूप में रखने से बड़े महत्त्व का है। हमारा कहना यही है कि यहां इस मन्त्र के प्रकरण-पूर्वापरार्थाविरोध-अर्थोपपत्ति आदि को लक्ष्य में रखते हुए 'सस्नि' का अर्थ 'मेघ' ही होगा, (आध्यात्मिकादि में 'मेघ' का अर्थ भिन्न हो सकता है, यह दूसरी बात है, आध्यात्मिक आदि में सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ भिन्न हो ही जायेगा)। अतः 'संस्नातं' निर्वचन वा व्युत्पत्ति सर्वथा ठीक है। ऐसे निर्वचनों को absurd (मूर्खतापूर्ण-बेहूदा) कहना तो सर्वथा अनुचित है ही, obscure (दुर्बोध या अस्पष्ट) कहना भी अनुचित ही कहा जायेगा। क्योंकि जब यास्क ने स्वयं इन्हें

'अनवगतसंस्कारों' में मान लिया हो तो फिर obscure कहकर दोष दर्शाना तो बुद्धिमत्ता नहीं कहा जा सकता। यदि अनवगत का अर्थ भी दुर्बोध या अस्पष्ट ही है, तो दोष दिखाना और भी हास्यापद ही कहा जायेगा।

पाठक दुर्ग के इस मन्त्र में आये अन्य पदों का परस्पर सम्बन्ध भी उसके भाष्य से देखें। स्कन्दटीका से भी देख सकते हैं। नहीं तो सायणभाष्य से देख लें, स्पष्ट विदित हो जाता है कि मन्त्र के प्रकरण, आगे-पीछे के शब्दों और अर्थ की उपपत्ति से यहां 'सस्नि' का अर्थ 'मेघ' ही ठीक बैठता है। इसी प्रकार हमारे दर्शाये उपर्युक्त सब अनवगत शब्दों के विषय में भी यही बात स्पष्ट समझ में आ जाती है। यही बात सम्पूर्ण नैगमकाण्ड में यास्क द्वारा दर्शाये अनवगत शब्दों के विषय में है, यही दर्शाना हमारे इस लेख का मुख्य प्रयोजन है।

जब अनवगतसंस्कारवाले इन शब्दों की यह बात समझ में आ जाती है, हृदय में बैठ जाती है, तो इससे निम्नाङ्कित मूलभूत सिद्धान्त स्वतः वा अर्थापत्ति से निकलते हैं—

(१) **"अर्थनित्यः परीक्षेत"** (निरु० २।१)

अर्थात्—निर्वचन करने में अर्थ की प्रधानता से निर्वचन करना चाहिए। यहां यह विदित रहे कि हम यास्क के दिखाये निर्वचनों पर निर्वचनों की समाप्ति नहीं मानते हैं, अपितु उन्हें उपलक्षणमात्र समझते हैं। अर्थात्—अर्थ को लक्ष्य में रखकर अन्य निर्वचन भी किये जा सकते हैं, करने ही चाहिये। हां प्रकरण-पूर्वापरा-विरोध और अर्थ की उपपत्ति आदि इन सब बातों का हमें पूरा ध्यान रखना होगा।

(२) अर्थ की प्रधानता से प्रकरणादि के आधार पर शब्द व्याकरणादि में प्रकृति प्रत्यय द्वारा दर्शाये अर्थ से भी भिन्न अर्थ देता है, क्या इससे स्पष्ट सिद्ध नहीं हो जाता कि यास्क ने ठीक लिखा है कि—

"अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यतेऽर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारो-देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्। स्वार्थसाधकं च।"

—निरु० १।१५

अर्थात्—इस (निरुक्त या निर्वचनशास्त्र) के बिना मन्त्रों में अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। जो अर्थ को नहीं जानता (नहीं समझ रहा) उसको केवल प्रकृति प्रत्यय का संस्कार (सम्बन्ध ज्ञानमात्र) अर्थ तक नहीं पहुंचा सकता। इसलिये यह (निर्वचनशास्त्र) एक विद्यास्थान (विज्ञान वा साइंस) है तथा व्याकरण की पूर्ति

करता है, जहां व्याकरण नहीं पहुंच सकता, मन्त्र का अर्थ करने में वहां निरुक्त उस कमी को पूरा करता है, मन्त्र के अपने अर्थ को (यह निरुक्त) सिद्ध करता है।

क्या अनवगतसंस्कारवाली उपर्युक्त बात समझ में आ जाने पर **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** तथा **'व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्' 'विद्यास्थानम्'** ये सब बातें स्वयं ही सिद्ध नहीं हो जातीं ? रिसर्चस्कालर जड़ (मूल) को न पकड़कर पत्तों को देखते हैं, अतः इनकी बुद्धियां यथार्थ तत्त्व पर न पहुंचकर इधर-उधर मटक रही हैं। **'स्वयं नष्टः परान् नाशयति'** ये स्वयं इन रहस्यों को न जानते हुए (जानें भी कैसे ?) इन विषयों के (अङ्गरेजी राज्य की देन से) प्रमाणभूत आचार्य माने जा रहे हैं। ये लोग कुछ न जानते हुए भी सर्वज्ञकल्प समझे जा रहे हैं। **अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः** की उक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं।

(३) इतना ही नहीं अपितु अनवगतसंस्कार को मानकर प्रकरणादि से अर्थ के उपर्युक्त सिद्धान्त को मानकर यास्क का निर्वचनप्रकार भी बुद्धि में ठीक बैठ जाता है। वह निम्नाङ्कित है कि—**"अथ निर्वचनम्। तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात् न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्"**। निरु० २।१॥

अर्थात्—अब निर्वचन का (प्रकार) कहते हैं। जिन पदों में स्वर (उदात्तादि) और संस्कार (प्रकृति प्रत्ययादि विभाग) सङ्गत हों और क्रियावाची धातु के विकार से अन्वित (सुसम्बद्ध) हों, (जैसे पाठक-पाचक आदि) उनका तो उस प्रकार से निर्वचन कर दे। यदि अर्थ ठीक न बैठता हो और क्रियासम्बन्धी धातु का विकार (रूप) भी ठीक न बैठ रहा हो तो 'अर्थ नित्य है' इसको परीक्षण द्वारा अच्छी तरह देखे। किसी वृत्ति (अर्थ इति दुर्गः) सामान्य से निर्वचन करे। (उक्त) सामान्य के न होने पर अक्षरवर्ण सामान्य से निर्वचन करे। ऐसा न करे कि निर्वचन ही न करे, (अर्थात्) प्रकृति प्रत्यय विभाग का आदर न करे, (प्रकृति प्रत्यय के ज्ञात होने पर ही निर्वचन हो सकता है, जैसाकि कोरे वैयाकरण समझते हैं, इसी पर न बैठा रहे—'व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्' का यही अभिप्राय है)। अर्थ में संशय होते रहते हैं, अर्थ के आधीन विभक्तियों को बदल लेना चाहिये।"

अनवगतसंस्कार में नैगमकाण्ड का उपर्युक्त सिद्धान्त समझ में आ जाने पर अनायास अर्थात् यह स्वयं सिद्ध है कि निर्वचन तो हर अवस्था में करना ही चाहिए, क्योंकि अर्थ प्रधान होने से निर्वचन के पीछे अर्थ नहीं होगा, अर्थानुसारी निर्वचन

होगा, जो प्रकरणादि से ठीक बैठेगा। इसके रहस्य वा वास्तविक स्थिति को आर्ष वैयाकरण ही समझ सकता है,क्योंकि यह व्याकरणज्ञान से आगे का ज्ञान है,जो व्याकरण नहीं जानता, वह यास्क के निर्वचनों को भी नहीं समझ सकता। इस मूलभूत सिद्धान्त को न समझकर ही डा० राजवाड़े निम्न प्रकार लिखते हैं—

(i) "Derivation is not at all necessary for that purpose, to insist that every noun in sanskrit shall be derived by any device whatsoever is irrational". —राजवाड़े भूमिका पृ० ३६

अर्थात्—निर्वचन उक्त प्रयोजन (अर्थ) दिखाने के लिये सर्वथा आवश्यक नहीं। इस बात पर बल देना कि संस्कृत में हर एक 'नाम' का निर्वचन किया ही जायेगा, चाहे कुछ भी कल्पना करनी पड़े—यह एक मूर्खतापूर्ण बात है।

(ii) "However though a word may be, it must be made amenable to a root. It was on account of this terrible injunction that so many underivable words have been derived."

अर्थात्—कितना भी कठिन शब्द हो,उसे किसी धातु से अवश्य बनाना चाहिए। इस घोर शास्त्राज्ञा का ही परिणाम है कि बहुत से निर्वचन के अयोग्य शब्दों का भी निर्वचन किया गया है।

(iii) अनुपसन्नाय, अवैयाकरणाय—पर राजवाड़े लिखता है—"Their theory was not to be questioned....."

"It was a great science and one who wanted to study it must know that it was great, those who were ignorant to this greatness were not worthy of the name of student, vide अनिदंविदे But one is constrained to say that the Nirukta is not a science and that implicit faith in its truth is impossible."

अर्थात्—यह (निरुक्त) एक बड़ा विज्ञान है और जो व्यक्ति इसका अध्ययन करना चाहता है, उसे इस बात को जानना चाहिये। जो नहीं जानते वे विद्यार्थी होने योग्य नहीं। परन्तु विवशता से कहना पड़ता है कि निरुक्त एक विज्ञान नहीं और इसकी सत्यता में असन्दिग्ध विश्वास हो ही नहीं सकता।

—राज० भूमि० पृ० ४०

(iv) "It is not right to say that every noun is root-born... The Nairukta's insistence on the derivation of every declinable from a root or roots is nothing but extremism, it is a kind of

fanaticism and therefore serves no purpose,.....I venture to say that the Nirukta-method of derivation is absurd, and yet has held its ground to this day."

—रा० भू० पृ० ३६-४०

अर्थात्—यह कहना ठीक नहीं कि हर एक नाम धातुज (धातु से उत्पन्न होने-वाला) है।·····नैरुक्तों का यह आग्रह कि हर एक नाम धातु से वा धातुओं से उत्पन्न होता है, यह एक प्रकार की मतान्धता है, अतएव इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।···मैं साहस से कह सकता हूं कि निरुक्त का निर्वचन-प्रकार मूर्खतापूर्ण (बेहूदा) है, और इसकी जड़ अभी तक जमी हुई है।

इसका उत्तर यही है कि भाषाविज्ञान के योरोपीय तथा उनके शिष्य भारतीय यूनिवर्सिटियों के हैड (अध्यक्षों) ने योरोपीय ढंग पर लिखना स्वीकार करनेवालों को ही बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त किया वा कराया। उनसे हर विषय में योग्य विद्वानों को नियुक्त नहीं किया। भारतीय संस्कृति और साहित्य पर कुठाराघात करनेवाले इन डाक्टरों की एक भारी सेना भारतवर्ष में भारतीय संस्कृति के विरोध में खड़ी कर दी गई है। यह तो सौभाग्य की बात समझनी चाहिए कि इनमें कुछ एक पूर्णतया अभारतीय नहीं बने। जब पुनः योरोप के विद्वान् भारतीयों के पास आकर ज्ञानोपार्जन करेंगे और भारत उन्हें कम से कम संस्कृत और हिन्दी में 'प्रमाण-पत्र' देगा, तब हम समझेंगे कि भारत ने वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त की।

अब हम डा० सिद्धेश्वर वर्मा के इस विषय के कुछ शेष पूर्वपक्ष के विचार भी उपस्थित करते हैं—

उपर्युक्त विषय में डा० सिद्धेश्वर वर्मा के आक्षेप

(i) "The theory that all nouns were derived from verbs··· dominated the etymologies of Yask···—but this theory was psychologically wrong,.....it must be admitted that the great blunder committed by Yaska and other etymologies of his school was the adherence to this theory." —एटीमा० पृ० २१

अर्थात्—'नाम धातुज हैं' यास्क के निर्वचनों में इसी का बोलबाला है। पर यह सिद्धान्त मनोविज्ञान की दृष्टि से गलत है·····यह मानना ही पड़ेगा कि यास्क तथा अन्य नैरुक्तों की सबसे भारी भूल यह है कि वह 'सब नाम धातुज हैं' इस सिद्धान्त का अवलम्बन करते हैं।

(ii) In many cases Yaska himself gives many alternative etymologies for such words, so that he himself is not sure of these etymologies". —एटीमा० पृ० २९

अर्थात्—अनेक स्थलों में यास्क निर्वचन करते हुए 'वा' शब्द द्वारा निर्वचनों में विकल्प दिखाता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उसे अपने दिखाये निर्वचनों पर विश्वास नहीं है ।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा को यह भी पता नहीं कि 'वा' समुच्चायार्थक भी होता है। पता नहीं शास्त्री होते हुए भी डा० वर्मा ने निरु० १।४ पर ध्यान क्यों नहीं दिया। वहां लिखा है—"अथापि समुच्चयार्थे भवति ।"

एक विशेष विचार

एक विशेष बात यह है कि डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने जो विवेचन किया है, उसकी एक तालिका भी उन्होंने उपस्थित की है, जो बहुत अच्छा कार्य किया है। वह गणना इस प्रकार है – २२३ ऐसे निर्वचन हैं, जो वर्त्तमान तुलनात्मक भाषा-विज्ञान वालों द्वारा स्वीकृत या स्वीकरणीय हैं।

३७ उच्चारणविज्ञान द्वारा ठीक हैं +२८ आंशिक स्वीकृत+८९ प्रायः स्वीकृत+५२ सम्भवतः स्वीकृत+१४७ प्राचीन हैं+४८ प्रसिद्ध निर्वचन हैं=६७८ तो स्वीकरणीय हैं।

(ii) अब रहे आक्षेपार्ह। इनमें से—

१४ निर्वचन Contaminations भ्रष्टता वाले हैं+११machanical+२० poverty of imagination विचारशून्य+३२ primitive and erroneous पुराने और दोषपूर्ण+५९ absurd बेहूदा (मूर्खतापूर्ण)+२२५ obscure दुर्बोध हैं=३६१ पूर्णतया आक्षेपार्ह हुए।

(iii) १११ नाम धातुज मानकर हैं+७ अन्त में धातुज+५१ अर्चों के कारण +८० loose vowels+३६ loose consonents+४ insuals+२१ both vowels and consonents=३१० कुल।

=कुल जोड़—१२८९ है। जिनमें आधे (६१८) तो स्वीकरणीय हैं। ३१० धातुज सिद्धान्त के कारण हैं। शेष ३६१ आक्षेपार्ह रह जाते हैं। इनमें भी डा० सद्धेश्वर वर्मा ने १९९ ही माने हैं।

एक दूसरी दृष्टि

एक दूसरी दृष्टि से भी हम वर्माजी वा राजवाड़ेजी के आक्षेपों पर विचार

उपस्थित करते हैं। हमारा कहना है कि इनके आक्षेप जितने भी हैं, वे प्रायः करके अनवगतसंस्कार नैगमकाण्ड वा नैघण्टुककाण्ड पर ही हैं। जब हमारा उपर्युक्त प्रदर्शित अनवगत-संस्कार-प्रकरण माना जाये वा समझ में आ जाता है तो ये सब आक्षेप अपने-आप मिट जाते हैं। हमने इसका जहां तक परीक्षण किया, हमें यही विदित हुआ कि इन महानुभावों के प्रायः (अधिकतर) आक्षेप इसी उपर्युक्त प्रकरण के हैं, जो मन्त्रों के पूर्वापर पदों, अर्थाविरोध, और अर्थोपपत्ति से विशिष्ट अर्थ को देते हैं, तदनुसार ही उनका निर्वचन होना उपयुक्त है, जिसे समझने में ये असमर्थ रहे हैं। डा० वर्मा की तालिका को देखने से निम्न प्रकार विवेचन है—Type A. में १४ में से १० नैघण्टुक तथा नैगमकाण्ड के आक्षेपार्ह पद हैं, ४ दूसरे हैं+B. में ११ में से ८, C. में २० में से ११+D. में २२३ में से १६२ नैघण्टुक नैगम हैं +E. ३७ में से ३०+F. २८ में मे २१+G. ८९ में से ६७+H. ५२ में से ३१ + I. १४७ में से ११३+J.१११ में से ९१+K. ७+L. ५१ में से ३५+M ४२ में से २७+N. ८० में से ५४+O. ३६ में से २५+P. २+Q. २+R. २१ में से १४+S. ३२ मेंसे २६+T. ५९ में से ५०+U. २२५ में सो १७५=१२८९ में ९६० नैघण्टुक तथा नैगमकाण्ड के निर्वचन हैं। शेष ३२९ अन्य हैं। इस प्रकार एक चौथाई अन्य निर्वचनहैं,तीन चौथाई ऐसे हैं,जो नैघण्टुक तथा नैगमकाण्ड के हैं। इनमें भी नैगमकाण्ड के ही अधिक हैं,जिन पर आक्षेप उठाया गया है। इसका मूलकारण है कि इन अनवगतसंस्कारवाले निर्वचनों में प्रकरणादि के आधार पर ही अर्थ होगा—यह सब बात न समझकर ही इतने आक्षेपार्ह निर्वचन डा० वर्मा ने दिखाये हैं। डा० राजवाड़े का वश चले तो वह तो निरुक्त को न जाने कहां सात समुन्दर पार फैंक दे।

हमारा यहां पुनः यही कहना है कि यास्क के निर्वचनों के विरोध में डा० राजवाड़े के प्रायः सभी आक्षेपों का उत्तर 'अनवगतसंस्कार' विषयक हमारे पूर्वनिरूपित प्रकरण से हो जाता है। प्रकरणादि द्वारा वह-वह अर्थ की नित्यता वहां-वहां करना अनिवार्य है। अतः अर्थ की नित्यता,निर्वचन करना ही चाहिये, नहीं करना सो नहीं, नाम सब धातुज हैं, 'वा' शब्द समुच्चयार्थक है, वैयाकरण को ही निर्वचनशास्त्र पढ़ाना, ये सभी सिद्धान्त निश्चितरूप से ठीक बैठ जाते हैं। जो धारणायें हमने अपने लेख के प्रारम्भ के भाग में दी हैं, उनमें आस्था होने पर ही वेद का यथार्थज्ञान हमारी दृष्टि में हो सकता है।

इस प्रसङ्ग में धातुओं का अनेकार्थत्व, धातुओं का आकृतिगणत्व, पाणिनि पतञ्जलि तथा निरुक्त का परस्पर समन्वय, उणादि तथा पृषोदरादिगण की व्यवस्था आदि ग्रन्थियां भी अनवगतसंस्कार विषय के समझ में आने से स्वयं खुल जाती

हैं। शाकटायन का तो निरुक्त परिवार में परिगणन हो जाता है, गार्ग्य का नहीं। सो यह सब विषय अर्थात् इनका समन्वय व्याकरण-शास्त्र और निरुक्तशास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ, भाषाविज्ञान जैसे अनिश्चित सिद्धान्तोंवाले विषय के जाल या चक्र में फंसे हुए ये बेचारे योरोप के रिसर्चस्कालर नहीं समझ सकते तो इनके अनुगामी ये भारतीय स्कालर क्या समझेंगे।

सोचने की बात है कि यदि प्रकृति प्रत्यय विभाग द्वारा किये गये निर्वचन ही ठीक होते, शेष सब गलत या अमाननीय (इन लोगों के मत में मूर्खतापूर्ण आदि) होते तो भला व्याकरणशास्त्र था ही, पाणिनि ने प्रकृति प्रत्यय सम्बन्ध दर्शाया ही था, फिर निरुक्तशास्त्र अलग वेदाङ्ग की क्या आवश्यकता थी। और उणादिसूत्र—पृषोदरादीनि—धातु का अनेकार्थत्व-धातुओं का आकृतिगणत्व-बहुलं छन्दसि इत्यादि तथा महाभाष्यकार द्वारा नामों को धातुज मानना तथा प्रकृति प्रत्यय की ऊहा करना और उधर निरुक्त का अनवगतसंस्कारों के निर्वचन दिखाना—इनका समन्वय अन्य किसी भी प्रकार से नहीं लग सकता। हमारी दृष्टि में तो अनवगतसंस्कारों के निर्वचनों को दिखाना निर्वचनविद्या है, निर्वचनशास्त्र है, इसी का नाम निरुक्त है। अन्य सब गौण वर्णन है। कहा भी है—

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च तौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगः तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥"
(काशिका पृषोदरादि सूत्र में)

जहां वैयाकरणों में पाणिनि, पतञ्जलि ने ऐसे शब्दों के लिये भ्वादि आदि गणों को आकृतिगण माना, उणादयो बहुलम् एक शास्त्र अलग बना दिया—इतना लम्बा चौड़ा बना देने पर भी अन्त में 'बहुलम्' रख दिया। जो उनकी (अज्ञ रिसर्चस्कालरों द्वारा) अज्ञता का बोधक नहीं, अपितु गम्भीर बहुज्ञता और सूक्ष्मेक्षिका का परिचायक है। वर्त्तमान रिसर्चस्कालरों को **बहुलं छन्दसि—'बाऊला छन्दसि'** दिखता है, पाणिनि, पतञ्जलि ही इसके मर्म तक पहुंचे थे। **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'** भी इसी **'अनवगतसस्कार'**कड़ी की माला का एक दाना है, जो गार्ग्य की श्रेणी में आ जाता है। चाहे तो कुछ शब्दों को रूढि मान लिया जावे वा उन्हें भी पृषोदरादीनि-उणादयो बहुलम् के अन्तर्गत मान लिया जावे। इसमें भेद कुछ भी नहीं पड़ता। इसीलिये महाभाष्यकार ने कहा है—

"बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः। तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते, न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते। प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्। प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः। कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्। कार्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि। किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः। किं च कारणं प्रायेण समुच्चिताः, किं च कारणं कार्याणि सशेषाणि कृतानि

न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि। नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्चौणादिकाः सुसाधवः कथं स्युः ? नाम च धातुजमाह निरुक्ते। नाम च धातुजमेवाहुः नैरुक्ताः। व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति। अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः, कथं तत्र भवितव्यम् ? यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्। प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः। प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या।" —अ० ३।३।१ महाभाष्ये

इसका संक्षेपार्थ इतना ही है कि "उणादि में प्रकृति तथा प्रत्यय सब नहीं पढ़े हैं। न ही कार्य सब कह दिये। ये सब प्रायः कहे हैं। नाम सब धातुज होते हैं। जहां विशेष अर्थ भासित न हो, वहां प्रकृति, प्रत्यय की कल्पना कर लेनी चाहिये यही शास्त्र की आज्ञा है।" कहिये अनवगतसंस्कारों में निर्वचन अवश्य करना चाहिये और महाभाष्य के उपर्युक्त वचन में है कुछ भेद ? प्रकारान्तर से दोनों ने एक ही बात कही है। व्याकरण और निरुक्त का कैसा उत्तम समन्वय है। निरुक्त ने इस कार्य को खुलकर किया, इतना ही भेद कहा जा सकता है। इसीलिये यह अलग शास्त्र के रूप में ऋषियों द्वारा प्रचरित हुआ।

यौगिकवाद, शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता, धातुओं का अनेकार्थत्व, त्रिविध प्रक्रिया (सब मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक-आधिदैविक-अधियज्ञ आदि सब प्रक्रियाओं में होते हैं), देवतावाद, वेद में इतिहास-व्यत्यय और पदपाठ आदि की व्यवस्था के लिये पाठ हमारी बनाई यजुर्वेदभाष्य विवरण की भूमिका पृ० ७१ से ९६ तक में देखें। लेख दीर्घकाय हो जाने से उनका विवेचन हम यहां नहीं करते।

निरुक्त के सब निर्वचनों पर हम अवसर मिलने पर कभी विचार करना चाहते हैं। डा० फतहसिंह कोटा ने वैदिक निर्वचनों पर कुछ विचार किया, पर हम उसे अभी ठीक समझ नहीं सके हैं, इसीलिये इस विषय में अधिक विचार नहीं किया जा सकता। विद्वन्महानुभाव भी इस विषय पर अपने विचार उपस्थित करें।

हम यह नहीं चाहते हैं कि इन विषयों पर कोई विचार ही न करे। या इस पर ग्रन्थ ही न लिखे जावें। यास्क आदि की आलोचना न की जावे सो भी नहीं। हम यह कहते हैं कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों या नियमों की कसौटी पर (जो अभी स्वयं अनिश्चित हैं) आप यास्क का परीक्षण करेंगे तो भला वह ठीक उत्तर ही कैसे दे सकता है ? जबकि उभयत्र विचारप्रणाली भिन्न है। और हजारों वर्षों के लेख को आज के अनिश्चितताप्रधान वादों वा सिद्धान्तों की कसौटी पर परखना मूर्खता-अज्ञता वा अयुक्तता ही कहा जावेगा या कुछ और ? यदि उसी कसौटी पर परखना ही है तो इतना तो लिखना चाहिए कि यास्क वा कोई अन्य वर्त्तमान तुलनात्मक भाषाविज्ञान की कसौटी पर ठीक नहीं उतर रहा। और

फिर उस अवस्था में जब तुम्हारी कसौटी ही परखने योग्य है कि वह ठीक भी है या नहीं। इतना ही नहीं, न जाने जब से भाषाविज्ञान की शैली चली तब से कितनी बदल चुकी है। अनिश्चित से निश्चित की परीक्षा करते हो। यथार्थ ज्ञान हो कैसे!!! इसीलिये हम इसे पाश्चात्यों की मौलिक भूल तथा अनधिकार चेष्टा कहते हैं। अब इन्हें भारतीय पूर्वजों के औरस पुत्र बनना चाहिये, न कि विदेशियों के !!! अन्त में भारतीय रिसर्चस्कालरों की सेवा में भी हम नम्र निवेदन करेंगे कि वह समझें कि भारत अब स्वतन्त्र हो गया है। विदेशियों की मस्तिष्कदासता अब भारत में अधिक समय तक सह्य न रह सकेगी। उन्हें अपने पदों पर रहते हुए भारतीय नवयुवकों को तथा स्वयं भारतीय परम्पराओं के प्रति समादर उत्पन्न करना चाहिये। अपने ऋषि-मुनियों की बातों को सहसा ग़लत या मूर्खतापूर्ण कहने का दुःसाहस तथा अनधिकार चेष्टा न करना चाहिये। मार्जन रखना चाहिये कि अभी हमारी समझ में नहीं बैठ रहा। विश्व में सारी बुद्धि योरोप या अमेरिका आदि में ही पहुंच गई है, भारत निर्बुद्धि ही रह गया, सो बात नहीं। हम तो उस दिन की प्रतीक्षा में हैं (और हम समझते हैं कि वह दिन दूर नहीं) जब विदेशी यहां भारत में आकर डिग्रियां लेंगे।

प्राचीन वाङ्मय, भारतीय संस्कृति-सभ्यता और साहित्य में निष्ठा रखनेवाले भारतीयों का भी कर्त्तव्य है कि वे अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के ऊंचे साहित्य का गहरा अध्ययन भारतीय दृष्टि से करें और भारतीयता के विरोधी विचारों के उत्तर के लिये गम्भीर तथा विवेचनात्मक अध्ययन करें। भिन्न-भिन्न विषयों में भिन्न-भिन्न विद्वान् जुट जावें। क्या आर्यसमाज इस ओर कुछ करेगा? योजनायें बनाने मात्र से तो काम नहीं चलेगा। धियो यो नः प्रचोदयात् !!!

निरुक्तकार यास्क और उसके निर्वचन काल्पनिक नहीं

[डा० राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा के द्वारा यास्क और उसके निरुक्त पर थोपे गये दोषों की निवृत्ति के मार्गदर्शन के लिये ही यह लेख लिखा गया है]।

हमने पूर्व पृष्ठ २८६ से ३२२ तक पूज्य गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का 'निरुक्त के विषय में पाश्चात्यों के मानस-पुत्रों की अनधिकार चेष्टा' शीर्षक एक विस्तृत लेख छापा है। उसमें उन्होंने दर्शाया है कि पाश्चात्यशोधकर्ताओं के मानस पुत्र जिन्होंने गुरुपरम्परा से किसी शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, वे अपने ऊपरी सतही अल्पज्ञान के कारण अहंकार में आकण्ठ निमग्न भारतीय वाङ्मय के प्रमाण-भूत आचार्यों तथा उनके द्वारा प्रोक्त शास्त्रों की कैसी घोर निन्दा करते हैं। भर्तृ-हरि ने सत्य ही कहा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित् किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

शास्त्रकारों ने कहा है— **विद्या ददाति विनयम्** (विद्या से मनुष्य विनीत होता है)। अतः विद्या के क्षेत्र में जो अभिमानी है, उसने निश्चय ही गहराई में बैठकर शास्त्र के वास्तविक तत्त्व को नहीं समझा। जो लोग विनीतभाव से गुरुचरणों में न पैठकर पुस्तकाधीनी होते हैं वा अनुवाद आदि के द्वारा शास्त्र को जानना चाहते हैं, वे निश्चय ही उस शास्त्र के मर्म को नहीं समझ सकते।

श्री गुरुवर्य ने डा० राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा के निरुक्तकार यास्क और उनके निर्वचनों के सम्बन्ध में जो मत प्रतिपादित किये हैं, उनके मूल में एक ही अज्ञान काम कर रहा है और वह अज्ञान है कि यास्क ने निर्वचनों के द्वारा तत्तत् शब्द की प्रकृति का निर्देश किया है। इस मूलभूत अज्ञान के कारण जब उन्होंने देखा कि यास्क ने जिन शब्दों के निर्वचन द्वारा प्रकृति का निर्देश किया है, उस प्रकृति से वह शब्द उपपन्न ही नहीं हो सकता, तब उन्होंने सर्वदा निन्दति

सूचीकारं शुष्कस्तनी नारी सुभाषित के अनुसार अपने अज्ञान की ओर तो ध्यान नहीं दिया, किसी प्राचीन परम्परा से पठित विद्वान् से जानने की चेष्टा नहीं की और यास्क तथा उसके निर्वचनों को अशुद्ध उन्मत्तप्रलाप आदि लिख डाला।

यह मूलभूत दोष इतना व्यापक हो गया है कि आज जो भी निरुक्त वा उसमें निर्दिष्ट निर्वचनों के संबन्ध में लिखता है, वह निर्वचनीय शब्द के आगे √ चिह्न देकर धातु का निर्देश करता है। डा० लक्ष्मणस्वरूप द्वारा सम्पादित निरुक्तपद-सूची के अन्तर्गत निर्वचनीय पदों की सूची में प्रत्येक शब्द का इसी प्रकार से निर्देश किया है।

व्याकरण और निरुक्त का एक प्रयोजन नहीं है

उक्त मूलभूत दोष का कारण यह है कि ये लोग व्याकरण और निरुक्त का एक क्षेत्र समझ बैठे हैं। जबकि ये दोनों दो विभिन्न विद्याओं के प्रज्ञापक हैं। व्याकरण का क्षेत्र प्रधानरूप से शब्द के प्रकृति-प्रत्यय का बोध कराना है, जहां-कहीं वह अर्थ का भी बोध कराता है, वहां वह गौणरूप से निर्देश करता है। निरुक्त का प्रयोजन है—मुख्यरूप से शब्द के अर्थ का बोध कराना। इस प्रक्रिया में कहीं-कहीं मूल प्रकृति का निर्देश भी किया है। तात्पर्य यह कि निरुक्त व्याकरण से उत्तर विद्यास्थान है। अतएव यास्क ने **नावैयाकरणाय** (२।३) अर्थात् 'अवैयाकरण को निरुक्त का उपदेश न करें' निर्देश किया है। इसी प्रकार अन्यत्र लिखा है—

अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतीयतो नात्यन्तं स्वर-संस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य च कार्त्स्न्यम् (१।१५)।

अर्थात् निरुक्त के बिना मन्त्रों में अर्थ का ज्ञान नहीं होता। अर्थ के ज्ञान के बिना वास्तविकरूप में पद के स्वर और संस्कार नहीं जाने जा सकते। यह स्वतन्त्र विद्या का स्थान है और व्याकरण की पूर्णता करनेवाला है।

तात्पर्य यह है कि व्याकरण और निरुक्त दो स्वतन्त्र विद्यास्थान हैं।

व्याकरण और निरुक्त दो विद्याएं

शास्त्रों में १४ अथवा १८ विद्याओं की गणना की है। उनमें छहों वेदाङ्ग स्वतन्त्र विद्यास्थान माने गये हैं।[1] यदि व्याकरण और निरुक्त का एक ही प्रयोजन

---

१. वायुपुराण ६१।७८ में १४ विद्याएं इस प्रकार गिनाई हैं—'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।'

होता, तो ये दो स्वतन्त्र विद्यास्थान न माने जाते। समान प्रयोजन मानने पर निरुक्त व्याकरण का परिशिष्ट मात्र बन जाता है।

स्पष्ट है कि व्याकरण और निरुक्त दोनों शास्त्रों के अपने भिन्न-भिन्न प्रयोजन हैं।

व्याकरण और निरुक्त के कार्यक्षेत्र का पार्थक्य—यतः व्याकरण और निरुक्त दो पृथक् स्वतन्त्र विद्याएं हैं, इसलिये इनका कार्यक्षेत्र भी पृथक्-पृथक् ही होना चाहिये, न कि एक।

व्याकरण का कार्यक्षेत्र—पाणिनि ने अपने शास्त्र के प्रथम सूत्र **अथ शब्दानुशासनम्**[1] से अपने शास्त्र का प्रयोजन साधु शब्दों का अनुशासन=बताया है। शब्दों के प्रकृतिप्रत्यय के विभाग द्वारा अनुशासन अर्थ की सर्वथा उपेक्षा करके नहीं हो सकता। इसलिये व्याकरण-प्रवक्ता को शब्दों के अर्थों की भी अपेक्षा करनी पड़ती है। यतः व्याकरण का मुख्य प्रयोजन शब्द-निर्वचन होता है, अतः वह अर्थनिर्देश को प्रधानता नहीं देता। अनेकार्थक शब्द के किसी एक सामान्य अर्थ को निमित्त मानकर वह प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा शब्द का निर्वचन कर देता है।

निरुक्त का कार्यक्षेत्र—निरुक्त का कार्य है—**अर्थनिर्वचन**। शब्द-निर्वचन निरुक्त का प्रयोजन नहीं है। प्राचीन आचार्य निरुक्तशास्त्र के इस प्रयोजन का प्रतिपादन बड़े स्पष्ट शब्दों में करते हैं। यथा—

१—**निरुक्तवृत्तिकार दुर्ग** (५०० वि० पू०)—आचार्य दुर्ग निरुक्त की वृत्ति में लिखता है—

तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानम् अर्थ-निर्वचनम्। व्याकरणं तु लक्षण-प्रधानम्। १।१५॥

अर्थात्—इसलिये स्वतन्त्र ही है यह निरुक्त विद्या का स्थान, अर्थनिर्वचनशास्त्र व्याकरण तो लक्षण=शब्दप्रधान[2] है।

अगले ७९वें श्लोक में—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और सामवेद की गणना करके १८ विद्याएं दर्शाई हैं। यह गणना भी अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

१. यह पाणिनि का ही सूत्र है। इसकी सप्रमाण विशद विवेचना हमने 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १४४-१४५ में की है।

२. 'लक्ष्यतेऽनेनार्थ इति' इस व्युत्पत्ति से लक्षण का अर्थ है शब्द और लक्ष्य का वाच्य।

२—**प्रपञ्चहृदयकार का मत**—प्रपञ्चहृदय ग्रन्थ का अज्ञातनामा लेखक लिखता है—

तान्यवयवप्रत्यवयवविभागपूर्वकं स्वरवर्णमात्रादिभेदेनार्थनिर्वचनाय निर्वचनानि। षडङ्ग-प्रकरण, पृष्ठ २९।

अर्थात्—अवयव प्रत्यवयव के विभागपूर्वक स्वर-वर्ण और मात्रादि के भेद से अर्थ के निर्वचन के लिये निरुक्तशास्त्र के निर्वचन हैं।

३—**सायण** ऋग्भाष्य के उपोद्घात में निरुक्तशास्त्र का प्रयोजन लिखता है—

एकैकस्य पदस्य संभाविता अवयवार्थास्तत्र निश्शेषेणोच्यन्त इति व्युत्पत्तेः।
षडङ्ग-प्रकरण

अर्थात्—प्रत्येक पद के सम्भावित अवयवार्थ वहां (निरुक्तशास्त्र में) निश्शेष-रूप से कहे गए हैं।

निर्वचन शब्द का अर्थ ही 'अर्थान्वाख्यान' है—वस्तुतः निर्वचन शब्द का अर्थ अर्थान्वाख्यान ही है, शब्दान्वाख्यान नहीं। यथा—

४—**अनन्तभट्ट** भाषिकसूत्र ३।६ की व्याख्या में लिखता है—

निर्वचनं नाम अर्थस्यान्वाख्यानम्।

अर्थात्—निर्वचन शब्द अर्थान्वाख्यान (=अर्थ का कथन) का वाचक है।

५—**निरुक्त का अन्तःसाक्ष्य**—निर्वचन शब्द प्रधानतया अर्थान्वाख्यान का ही वाचक है। इसके लिये हम निरुक्त का अन्तःसाक्ष्य भी उपस्थित करते हैं। यथा—

क—निरुक्त में पचासों स्थानों पर शब्द का निर्वचन करके, और उदाहरणार्थ द्वितीय ऋक् उदाहृत करने से पूर्व लिखा मिलता है—

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय।

अर्थात्—पूर्व-प्रदर्शित अर्थ को अधिक स्पष्टता से प्रकट करने के लिये उत्तरा ऋक् उपस्थित की जाती है।

निरुक्त में जहां-जहां **तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय** लिखा है, वहां निर्वचन का अर्थ **अर्थान्वाख्यान** के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। शब्दान्वाख्यान अथवा धातुनिर्देश की तो सम्भावना ही नहीं है।

ख—निरुक्त में अन्यत्र भी निर्वचन शब्द का प्रयोग 'अर्थान्वाख्यान' अर्थ में मिलता है। यथा—

अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति ७।२४॥

अर्थात्—द्वादशकपाल आदि में निर्दिष्ट कपालसंख्या से वैश्वानर शब्द के अर्थ के निश्चय में सहायता नहीं मिलती।

निर्वचन शब्द का अन्य अर्थ—यद्यपि निरुक्त में निर्वचन शब्द का अर्थ 'अर्थान्वाख्यान' ही है, तथापि निरुक्त के सहयोगी व्याकरणशास्त्र में निर्वचन-शब्द का अर्थ 'शब्दान्वाख्यान' अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-निर्देश है।

एक शास्त्र में उभयार्थक का प्रयोग—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ग्रन्थकार किसी शब्द का पारिभाषिक अर्थ स्वयं लिख देते हैं, पुनरपि उस शब्द का प्रयोग स्व-अनभिप्रेत अर्थात् लोकप्रसिद्ध अथवा अन्यशास्त्र-प्रसिद्ध अर्थ में कर देते हैं। यथा—

क—पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।१।१६२ में 'गोत्र' शब्द का 'पौत्र-प्रभृति अपत्य' अर्थ में संकेत[1] करके भी अष्टा० ४।२।३९ आदि[2] अनेक स्थानों में लोकप्रसिद्ध 'अनन्तर अपत्यरूप' अर्थ में भी गोत्र शब्द का व्यवहार किया है।

ख—इसी प्रकार **बहुगणवतुडति संख्या** (अष्टा० १।१।२४) सूत्र द्वारा कृत्रिम अथवा पारिभाषिक संज्ञा का विधान करके भी **संख्याया अतिशदन्तायाः कन्** (अष्टा० ५।१।२२) में लोकप्रसिद्ध एक द्वि आदि संख्या का भी ग्रहण माना है।

इसी दृष्टि से शास्त्रकारों का कथन है—

उभयगतिः पुनरिह भवति। महाभाष्य १।१।२३॥

अर्थात्—व्याकरण में कृत्रिम अथवा पारिभाषिक संज्ञाओं के रूप में प्रसिद्ध शब्द कहीं-कहीं लोकप्रसिद्ध अर्थ का भी ग्रहण कराते हैं।

यथा व्याकरणे तथा निरुक्ते—जिस प्रकार व्याकरण में स्वपारिभाषिक संज्ञाओं से पारिभाषिक अर्थ के अतिरिक्त लोकप्रसिद्ध अर्थ का भी बोध होता है, उसी प्रकार निरुक्त में भी अर्थान्वाख्यान के लिये परिभाषित निर्वचन शब्द से कहीं-कहीं शब्दान्वाख्यानरूप अर्थ का निर्देश भी उपलब्ध होता है। यथा—

तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नाना निर्वचनानि।
निरुक्त २।७॥

अर्थात्—यदि वे (समान) शब्द समान अर्थ के वाचक हों, तब उनका निर्वचन

---

१. अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्॥ अ० ४।१।१६२॥

२. गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्य·····॥ अ० ४।२।३९॥

(शब्दान्वाख्यान=प्रकृति-निर्देश) समान होगा। यदि अर्थ भिन्न-भिन्न है, तो निर्वचन (प्रकृतिनिर्देश) भी भिन्न-भिन्न होगा।

इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि निर्वचन शब्द का अर्थ निरुक्त में शब्दान्वाख्यान (प्रकृतिनिर्देश) ही है। केवल शब्दान्वाख्यान अर्थ मानने पर पचासों स्थानों में प्रयुक्त **'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय'** तथा **'अनिर्वचनं कपालानि'** आदि वाक्यों में व्यवहृत 'निर्वचन' शब्द का कोई संगत अर्थ उपपन्न ही न होगा। अतः निरुक्त में निर्वचन शब्द के दोनों अर्थ प्रत्येक व्यक्ति को मानने पड़ेंगे।

प्रश्न इतना ही है कि—निरुक्त में निर्वचन शब्द का मुख्य अर्थ क्या है—अर्थान्वाख्यान अथवा शब्दान्वाख्यान? पूर्व उद्धृत प्रमाणों के प्रकाश में हमारा विचार है कि निरुक्त में निर्वचन शब्द का मुख्य अर्थ अर्थान्वाख्यान ही है, शब्दान्वाख्यान नहीं। वह तो पर-तन्त्र अभिप्रेत गौण अर्थ है।

भिन्न-भिन्न नामों से निर्देश—साधारण जनों को भ्रम न होवे इसलिये व्याकरण बोधित शब्दनिर्वचन के लिये **व्युत्पत्ति** शब्द का और व्याकरण के लिये **व्युत्पत्ति-शास्त्र** शब्द प्रयुक्त किया जाता है और निरुक्त के अर्थनिर्वचनों के लिये **निर्वचन** तथा निरुक्त के लिये **निर्वचनशास्त्र** का प्रयोग होता है।

निरुक्त का वास्तविक नाम—अज्ञानवश हम जिस शास्त्र का निरुक्त नाम से व्यवहार करते हैं, उसका वास्तविक नाम तो **निर्वचन-शास्त्र** है।[1] निरुक्त शब्द निघण्टु का वाचक है।[2] अतएव **समाम्नायः समाम्नातः** (१।१) से आरम्भ होनेवाले ग्रन्थ के लिये प्राचीन ग्रन्थों में **निरुक्तभाष्य**[3] शब्द का व्यवहार होता है। निरुक्त-

---

१. 'अथ निर्वचनम्' (२।१) का अर्थ है—यहां से 'निर्वचन' नामक शास्त्र का आरम्भ जानना चाहिये। तुलना करो—'शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्'। महा० १।१।१॥

२. निघण्टु के लिये निरुक्त नाम का व्यवहार अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यथा—'सुवर्णनामधेयेषु लोहशब्द आम्नातो निरुक्ते—लोहं कनक काञ्चनमिति'। कौषीतकि गृह्य मन्त्रार्थ-विवरण, पृष्ठ ६६। 'कौत्सव्य निघण्टु के अन्त का पाठ है—'इति कौत्सव्यनिरुक्तनिघण्टुः समाप्तः।' पृष्ठ ४२। सायण ने भी ऋग्भाष्य के उपोद्घात में षडङ्ग-प्रकरण में 'निघण्टु' के लिये निरुक्त शब्द का ही व्यवहार किया है। अगली टिप्पणी भी देखो।

३. निरुक्त के व्याख्याकार दुर्ग प्रभृति प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'निरुक्त-भाष्य-वृत्तौ' शब्दों द्वारा 'समाम्नायः समाम्नातः' से आरभ्यमाण भाग को निरुक्त-भाष्य

भाष्य के लिये निरुक्त पद का व्यवहार लाक्षणिक तथा अर्वाक्कालिक है।

यास्कीय निर्वचनों का स्पष्टीकरण

निरुक्त में एक शब्द के अनेक निर्वचन—यतः निरुक्त अथवा निर्वचन शास्त्र का मुख्य प्रयोजन शब्द के विभिन्न अर्थों का निदर्शन कराना है, अतः एक शब्द के जितने मुख्य अर्थ होते हैं, वह उन सब अर्थों का निर्वचन=कथन करता है। शब्द के वाच्यरूप अनेक अर्थों का द्योतन जहां एक धातु से सम्भव नहीं होता, वहां वह उन अर्थवाली, परन्तु यथासम्भव समानरूपवाली अनेक धातुओं का आश्रयण करता है। इस तत्त्व को यास्क स्वयं प्रकट करता है—

तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि।
नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानि ॥२।७॥

अर्थात्—यदि वे शब्द समानार्थक हों तो उनका निर्वचन भी समान होगा। यदि भिन्न अर्थवाले हैं, तो निर्वचन भी भिन्न होंगे। अर्थ का अनुसरण करके ही निर्वचन करना चाहिये।

इसी सिद्धान्त के अनुसार निरुक्त में अनेकार्थक शब्दों के अनेक धातुओं से निर्वचन किए हैं।

निरुक्त के 'वा' शब्द का अर्थ—निरुक्त में जहां एक शब्द के अनेक निर्वचन किए हैं, वहां प्रत्येक निर्वचन के साथ 'वा' शब्द का प्रयोग मिलता है। यह 'वा' शब्द समुच्चयार्थक है। एक शब्द के विभिन्न अर्थों की दृष्टि से किए गए निर्वचनों का समुच्चय करता है। पाश्चात्य तथा तदनुयायी लेखक निरुक्तस्थ इस 'वा' शब्द को संदेह-द्योतक मानते हैं और प्रकट करने की चेष्टा करते हैं कि निरुक्त के समय में शब्दों के मूल अर्थ लुप्त हो गये थे। इसलिये निरुक्तकार ने अनेक निर्वचन करके, 'ये निर्वचन सन्देहात्मक हैं' यह स्वयं प्रकट कर दिया।

पाश्चात्य लेखकों की भूल—पाश्चात्य तथा तदनुगामी भारतीय लेखक निरुक्त

कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि दुर्गादि निरुक्त शब्द को निघण्टु का ही पर्याय मानते हैं।

तुलना करो—कौटिलीय अर्थशास्त्र के लिये कौटिल्य-भाष्य शब्द (कामन्दक-नीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षिणी टीका के आरम्भ में), तथा अर्थशास्त्र के अन्त में—'चकार सूत्रं च भाष्यं च'। अर्थशास्त्र का प्रथमाध्याय सूत्रभाग है, द्वितीय अध्याय से उसका भाष्यग्रन्थ। इसी प्रकार पञ्चाध्यायात्मक निघण्टु-निरुक्त सूत्रग्रन्थ है। 'समाम्नायः समाम्नातः' से उसके भाष्यग्रन्थ का आरम्भ होता है।

शास्त्र के वास्तविक प्रयोजन को न समझकर उसे शब्द-निर्वचन-शास्त्र समझते हैं। और वे इस शास्त्र की इसी दृष्टि से परीक्षा करते हैं। अपने अज्ञान के कारण निरुक्त शास्त्र और उसके निर्वचनों के सम्बन्ध में वे किस प्रकार के विचार प्रकट करते हैं, इसके उदाहरण के लिये हम डा० वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े तथा डा० सिद्धेश्वर वर्मा के कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं।

राजवाड़े प्रदर्शित निरुक्त-मत की भ्रान्ति—डा० राजवाड़े ने निरुक्त की भूमिका में लिखा है—

1—The Nirukta method is a strange one, it hardly deserves the name of शास्त्र or science. —भूमिका पृ० ४०, ४१[1]

अर्थात्—निरुक्त का ढंग विचित्र है। यह शास्त्र=विज्ञान वा विद्यास्थान नाम के योग्य नहीं है।

2—It is not a science but travesty of Science.

—भूमिका पृ० ४१

अर्थात्—वह (निरुक्त) विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान का उपहास है।

3—The Nirukta method of derivation is simply an aberration or a Waste of the human intellect. —भूमिका पृ० ४१

अर्थात्—निरुक्त का निर्वचन-प्रकार एक भ्रममात्र है या मानवबुद्धि का व्यर्थ प्रयोग।

4—I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day.

—भू० पृ० ४१

अर्थात्—मैं कहने का साहस करता हूं कि निरुक्त की निर्वचनविधि मूर्खतापूर्ण है। और फिर भी आजतक यह अपना स्थान बनाए हुए है, अर्थात् प्रतिष्ठित है।

5—Numbers of etymologies in the Nirukta seem senseless, they are based on a wrong theory of derivation.....on account of this theory numbers of derivations are really inventions. —भू० पृ० ४३

---

१. डा० राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा के उद्धरण वेदवाणी के वेदाङ्क वर्ष ६ (१९५६ ई०) में मुद्रित आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के लेख से लिये हैं। यह लेख वैदिकों के लिये अवश्य पठनीय है।

अर्थात्—निरुक्त में बहुत संख्या में निर्वचन भावरहित हैं, क्योंकि वे निर्वचन के अशुद्ध सिद्धान्त पर आश्रित हैं।·····इस मत के कारण बहुत से निर्वचन वस्तुतः कल्पित अथवा घड़े गए हैं।

6—Words whose derivations are sensible are limited in number. —भू० पृ० ४३

अर्थात्—जिन शब्दों का निर्वचन युक्त हैं, ऐसे संख्या में अत्यल्प हैं।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा प्रदर्शित निरुक्त-मत की भ्रान्ति—डा० सिद्धेश्वर वर्मा भी 'इटिमोलोजि आफ यास्क' में यास्क की निरुक्तियों के विषय में लिखते हैं—

1—Shows that he (Yaska) had a passion, a craze for etymology.

अर्थात्—इनसे प्रकट हैं कि यास्क का निर्वचन करने वा दिखाने का उत्साह पागलपन (झक या सनक) की सीमा तक पहुंच गया था।

2—Yaska was so much of an etymologist that his craze for etymology overpowered enslaved and crushed his imagination, for poverty of his imagination is remarkable. Owing to this serious defect, he is driven, not only to offer superfluous and unnecessary, but also loose, unsound and even wild etymologies. It does not seem to have occurred to him that the meaning of a word could be metaphorically extended. Even with a metaphorical meaning, he felt the need of a separate etymology. —पृ० ८

अर्थात्—यास्क इतना अधिक निर्वचन-कर्त्ता था कि उसके निर्वचन के पागलपन ने उसकी कल्पना को दबाया, दास बनाया और कुचल दिया। उस की कल्पना की दरिद्रता विलक्षण है। इस गम्भीर दोष के कारण वह न केवल व्यर्थ और अनावश्यक, प्रत्युत ढीले, सारहीन और सत्य से परे निर्वचन देता है। प्रतीत होता है, उसे सूझा ही नहीं, कि किसी शब्द का अर्थ लक्षणा आदि से भी विस्तृत हो सकता है। लाक्षणिक अर्थ होते हुए भी उसे पृथक् निर्वचन की आवश्यकता हुई।

राजवाड़े और सिद्धेश्वर वर्मा का महान् अज्ञान—निरुक्तशास्त्र के वास्तविक प्रयोजन से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण डा० राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा को कितनी भ्रान्ति हुई और उन्होंने प्राचीन आर्ष प्रामाणिक तथा विद्यास्थान निरुक्त

के विषय में बिना समझे बूझे कैसे अनर्गल प्रलाप किये, इसका स्पष्टीकरण अगली पंक्तियों से होगा।

सिद्धेश्वर वर्मा की एक और भ्रान्ति—डा० जी लिखते हैं—"प्रतीत होता है, उसे [यास्क को] सूझा ही नहीं कि किसी शब्द का अर्थ लक्षणा आदि से भी विस्तृत हो सकता है" (इटिमो० पृष्ठ ८)।

डा० जी के लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने मूल निरुक्तशास्त्र को गम्भीरतापूर्वक पढ़ने का कभी प्रयास ही नहीं किया। सम्भव है उनका निरुक्त-विषयक ज्ञान अधिकतर अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी टिप्पणियों पर आश्रित हो। इसलिए उन्हें निरुक्त के वे स्थल न सूझे हों, जहां यास्क ने शब्दों के लक्षणा आदि से विस्तृत अर्थों की मीमांसा की है। भला यास्क जैसे प्रामाणिक आचार्य की पैनी दृष्टि से यह साधारण सी बात कैसे ओझल रह सकती थी? वह इस तत्त्व को भले प्रकार जानता था। उसने अनेक स्थानों पर शब्दों के लाक्षणिक अर्थों की विवेचना की है। इसके लिए हम निरुक्त का एक ही उदाहरण उपस्थित करना पर्याप्त समझते हैं। पाद शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क लिखता है—

पादः पद्यतेः। तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपाद-सामान्यादितराणि पदानि। निरु० २।७॥

अर्थात्—पाद शब्द का अर्थ है, जिससे गति की जाए (अर्थात् पैर)। उस (पैर) के रखने से (जहां पैर रखा गया उस स्थान को) पद कहते हैं।[1] पशुओं के (चार) पैर कारण हैं जिसमें, ऐसा प्रभाग (चतुर्थ भाग) भी पाद कहाता है। प्रभागपाद की सामान्यता से अन्य (अवयव) भी पद कहाते हैं।

अब कहिए डाक्टर जी! यास्क को लक्षणा आदि से अर्थ के विस्तृत होने का ज्ञान था वा नहीं? यास्क ने पादशब्द के लाक्षणिक अर्थों का प्रदर्शन करते हुए उन अर्थों के लिए धातु से निर्वचन नहीं दर्शाये। इसलिए आपका "लाक्षणिक अर्थ होते हुए भी उसे पृथक् निर्वचन की आवश्यकता पड़ी" लेख भी वस्तुस्थिति से सर्वथा विपरीत है।

यास्कीय निर्वचनों की युक्तता—निरुक्तशास्त्र वस्तुतः शब्द-निर्वचनशास्त्र नहीं है। इसलिए शब्दों की मूल प्रकृतियों का निदर्शन कराना इस शास्त्र का लक्ष्य नहीं

---

१. (सोमक्रयिण्याः) सप्तमं पदं गृह्णाति (मीमांसा-भाष्य ४।१।२५ में शबर द्वारा उद्धृत) वाक्य में पद शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में है।

है।[1] अपितु निरुक्त का प्रयोजन शब्दों के अर्थों का निर्वचन=अन्वाख्यान करना है। अतएव यास्क ने एक शब्द के मुख्य वृत्ति से जितने विभिन्न अर्थ प्रसिद्ध थे, उन अर्थों के निर्वचन के लिए जितनी विभिन्न धातुओं का निर्देश किया, वह युक्तियुक्त है। उसमें कोई दोष नहीं। हम प्रसंगात् पूर्वनिर्दिष्ट 'द्वार' पद के यास्कीय निर्वचनों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

यास्कीय द्वार पद के निर्वचन की युक्तता—यास्क ने द्वार पद का निर्वचन किया है—

द्वारो जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, वारयतेर्वा ॥८।६॥

अर्थात्—द्वार शब्द के तीन अर्थ हैं—**जवति (जु)**, **द्रवति (द्रु)** और **वारयति (वारि)** धातुओं का।

द्वार शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। यथा—

क—यह आगरा द्वार[2] (दरवाजा) है, यह देहली द्वार।

ख—पानी ने बांध में से निकलने का द्वार (रास्ता) बना लिया।

ग—दरवाजा बन्द करो।

इन अर्थों को व्यक्त करने के लिए यास्क ने द्वार शब्द के अर्थ-निर्वचन में तीन धातुओं से संकेत किया है।

क—आगरा द्वार आदि प्रयोगों में द्वार शब्द का अर्थ है—नगर के परकोटे का वह स्थान, जहां से जव=वेगपूर्वक अर्थात् निर्बाध गमनागमन हो, इस अर्थ में पाणिनि का सूत्र है—

अभिनिष्क्रामति द्वारम्—(अष्टा० ४।३।८६) स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं द्वारम्, माथुरं द्वारम्।

अर्थात्—स्रुघ्न और मथुरा के लिए नगर के परकोटे में से जिस स्थान से निकले, वह स्रौघ्न और माथुर द्वार कहाते हैं।[3]

---

१. डा० राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने निरुक्तशास्त्र को व्याकरण के समान शब्द-निर्वचन अर्थात् तत्तत् शब्दों का मूल प्रकृति-निदर्शक ग्रन्थ समझकर उस पर पूर्व निर्दिष्ट आक्षेप किये हैं।

२. देखो अगली टिप्पणी।

३. यह अभिप्राय काशिका आदि वृत्तिकारों के अनुसार है। सूत्र के स्वारस्य के अनुसार हमारे विचार में यहां द्वार पद का अर्थ 'मार्ग' समझना चाहिये (मार्ग अर्थ में भी द्वार शब्द का प्रयोग होता है)। जो मार्ग स्रुघ्न की ओर अभिनिष्क्रमण करता है, वह स्रौघ्न द्वार=मार्ग होता है। फारसी का 'दर्रा' पद मार्गवाची द्वार शब्द का विकार है।

यद्यपि नगर प्रकोट के द्वारों में प्रायः कपाट भी होते हैं, तथापि यह आवश्यक नहीं कि ऐसे स्थानों पर कपाट भी लगे हों।

ख—दूसरे प्रयोग में द्वार उस सूक्ष्म मार्ग का वाचक है, जिसमें से पानी आदि द्रव द्रव्य स्रवित होते हैं। इस दूसरे अर्थ को व्यक्त करने के लिए यास्क ने द्रवति (द्रु गतौ) धातु का निर्देश किया है।

आवश्यक—काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नडटीका (पृष्ठ ७३) के अनुसार द्वार की मूल प्रकृति **द्वृ वरणे** धातु के द्वरति पद का अर्थ 'छिद्र बनाता है' ही है।

ग—तीसरे अर्थ में द्वार शब्द का अर्थ कपाट (किवाड़) है, जो बन्द किए जाते हैं। इसलिए 'द्वारं पिधेहि' वाक्य के अर्थ में 'कपाटं पिधेहि'=किवाड़ बन्द करो—वाक्य का भी प्रयोग होता है। द्वार शब्द के किवाड़ अर्थ को व्यक्त करने के लिए यास्क ने **वारयति** (वृ संवरणे) धातु का निर्देश किया है।

यास्क के द्वार पद के निर्वचनों की इस विवेचना से स्पष्ट है कि यास्क विभिन्न क्रियाओं के द्वारा शब्दों के विभिन्न अर्थों की ओर संकेत करता है न कि उन शब्दों की मूल प्रकृतियों की ओर। निर्वचन प्रसंग में यास्क द्वारा व्यवहृत 'वा' पद समुच्चयार्थक है, यह पूर्व लिख चुके हैं।

यहां यास्क के 'द्वार' पद के निर्वचनों की संगति एवं युक्तियुक्तता हमने निरुक्त शास्त्र के अर्थनिर्वचनता के सिद्धान्त का आश्रय लेकर दर्शाई है। यह 'निरुक्तशास्त्र की अर्थनिर्वचनता' हमारी कोई निजी कल्पना नहीं है। यह निरुक्तशास्त्र का मौलिक सिद्धान्त है। निरुक्तकार के विभिन्न निर्वचन इसी सिद्धान्त पर आधृत हैं। इस विषय में हम यहां निरुक्तकार यास्क का एक अत्यन्त स्पष्ट एवं निर्णायक प्रमाण उद्धृत करते हैं—

निरुक्त निर्वचनों की अर्थ-निर्वचनता में प्रमाण—निरुक्त (७।१३) में छन्दों के नामों के निर्वचन-प्रसङ्ग में 'विराट्' पद का निर्वचन करते हुए यास्क ने लिखा है—

विराट् विराजनाद्वा, विराधनाद्वा[1], विप्रापणाद्वा·····।

यास्क ने 'विराट्' पद के तीन निर्वचन दिखाए हैं। निरुक्त को शब्दनिर्वचन समझनेवाले पाश्चात्य तथा उनके अनुगामी विद्वान् कहेंगे कि यास्क विराट् पद के निर्वचन के विषय में स्वयं सन्दिग्ध है। अतएव वह कभी 'वि' पूर्वक 'राज्' धातु से

---

१. दैवत ब्रा० ३।१२ में 'विराधनाद्वा' अंश मुद्रण दोष से नहीं छपा। सायण भाष्य में 'त्रिभ्यो धातुभ्यः' का उल्लेख है।

इसका निर्वचन करता है, तो कभी 'वि' पूर्वक 'राध्' धातु से और कभी उसकी बुद्धि 'वि' 'प्र' पूर्वक 'आप्' धातु तक दौड़ लगाती है। तो क्या ये निर्वचन यास्क की सन्दिग्ध स्थिति के द्योतक हैं? कदापि नहीं। तो क्यों फिर उसने एक शब्द के तीन विभिन्न निर्वचन किए? यास्क आगे स्वयं इसका उत्तर देते हुए लिखता है—

विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा, विराधनाद् ऊनाक्षरा, विप्रापणाद् अधिकाक्षरा।

अर्थात्—छन्दःशास्त्र के अनुसार 'विराट्' पद तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है—सम्पूर्णाक्षर, ऊनाक्षर, और अधिकाक्षर।

अर्थगत इन तीन भेदों को दृष्टि में रखकर 'विराट्' शब्द के उपर्युक्त तीन विभिन्न निर्वचन किये गये हैं। किसी सन्देह के कारण नहीं। अर्थभेद ही निर्वचन-भेद का प्रयोजक है[1], सन्देह नहीं।

आचार्य सायण 'नैरुक्त निर्वचन अर्थनिर्वचन हैं' इसे निस्सन्दिग्धरूप से जानता था। वह दैवत ब्राह्मण (३।१३) के **विराड् विरमणाद् विराजनाद् (विराधनाद्[2])** वा की व्याख्या में स्पष्ट लिखता है—**धातुत्रयस्यार्थस्य तस्मिन् संभवात्।**

निरुक्तकार का यह निर्वचन-भेद-सम्बन्धी स्पष्टीकरण उन लोगों की आंखें खोल देनेवाला है, जो निरुक्त के निर्वचनों में प्रयुक्त 'वा' शब्द को समुच्चयार्थक न मानकर सन्देहार्थक समझते हैं। अर्थनिर्वचन के **तानि चेत्समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानि** (२।७) इस सिद्धान्त का यह कितना ज्वलन्त उदाहरण है! उपर्युक्त सिद्धान्त और प्रमाण के रहते क्या अब भी पाश्चात्य तथा तदनुगामी भारतीय विद्वान् निरुक्त को 'शब्द-निर्वचन' का शास्त्र मानकर नैरुक्त निर्वचनों को मूर्खतापूर्ण कहने का दुःसाहस करेंगे?

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचना से यह भले प्रकार स्पष्ट हो गया कि यास्क के निर्वचन सर्वथा यथार्थ हैं। उन में किसी प्रकार का दोष नहीं। अतः डा० राजवाड़े और डा० सिद्धेश्वर वर्मा के निरुक्तविषयक उद्गार बाललीला मात्र हैं। एतद्-विषयक पाण्डित्य तो उन्हें छुआ भी नहीं।

ब्राह्मणोक्त निर्वचन

ब्राह्मणग्रन्थों में बहुत्र अनेक शब्दों के निर्वचन मिलते हैं। वे भी अर्थप्रधान

---

१. द्र०—तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि। निरुक्त २।७॥

२. पं० जीवाराम के संस्करण में यह कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं है। सम्भवतः आगे के दो अक्षरों के साम्य के कारण दृष्टिदोष से छूट गया है।

हैं। विशेषकर जिनके अन्त में **'इत्याचक्षते परोक्षेण'** निर्देश है, वे अर्थ-निर्वचन ही हैं। यहां हम एक निर्वचन उद्धृत करते हैं—

तमिन्धं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण।

अर्थात्—उस दीप्त (प्रज्वलित वा प्रकाशित) होनेवाले को 'इन्द्र' कहते हैं, परोक्षरूप से।

इस पर कुछ लोगों का कहना है कि पहले इन्द्र के लिये 'इन्ध' शब्द का व्यवहार होता था, वही उत्तरकाल में इन्द्ररूप में परिवर्तित हो गया।

वस्तुतः यह कल्पनामात्र है। इस निर्वचन का तात्पर्य यह है कि इन्द्र का स्वरूप प्रदीप्त होना है। धातुपाठ में 'इदि' धातु, जिससे इन्द्र शब्द निष्पन्न होता है, का अर्थ 'परमैश्वर्य' मिलता है, प्रकाशित होना अर्थ धातुपाठ में पठित नहीं है। अतः **बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति** नियम के अनुसार इदि के 'प्रकाशित होना' अर्थ का निर्देश करने के लिये ही **'तमिन्धं सन्तं'** कहा है। यतः 'इदि' का यह अर्थ प्रत्यक्ष पठित नहीं है, अतः कहा—**परोक्षेण** अर्थात्—'इदि' का दीप्ति अर्थ जो परोक्ष है, उसे दर्शाना यहां प्रयोजन है। इस प्रकार ब्राह्मणों के निर्वचन भी अर्थनिर्वचन ही हैं।

किं यास्कीय-निर्वचनानि उन्मत्तगीतानि[1] ?

[लेखोऽयं वाराणस्यां सम्पन्नं 'पञ्चम-विश्वसंस्कृत-सम्मेलने' (२१-२६ अक्टूबर, १९८१) पठनाय लिखित आसीत् ।]

भगवता यास्केन प्रोक्तं निरुक्त-शास्त्रं शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्तछन्दोज्योति-षाख्येषु षट्सु वेदाङ्गेषु चतुर्थे स्थाने परिगण्यते । षडङ्गेषु निरुक्तव्याकरणयोर्द्वयोः शास्त्रयोः संख्यानादिमे द्वे स्वतन्त्रे विद्ये इति स्पष्टं विज्ञायते । श्लोकात्मिकायाम् ऋक्शाखीयायां पाणिनीयशिक्षायां षण्णामपि वेदाङ्गानां षड्भिः शरीराङ्गैः साम्य-मित्थं प्रदर्श्यते—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥४१॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥४२॥

यथा पृथक्-पृथक् कार्यकारीणि शरीराङ्गानि परस्परं भिन्नानि भवन्ति, तथैव शिक्षादीनां षडङ्गानामपि पृथक्-पृथक्कार्यं भिन्नत्वं चोक्तश्लोकाभ्यां विस्पष्टमुक्तं भवति । एतेन श्रोत्रमुखरूपयोर्निरुक्तव्याकरणयोः पृथक्-पृथग् विद्यास्थानत्वमञ्जसा व्यज्यते ।

संस्कृतवाङ्मये चतुर्दशविद्या अष्टादशविद्या वा स्वीक्रियन्ते । तत्र चतुर्दश-विद्या एवं विन्यियन्ते—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्यास्त्वेताश्चतुर्दश[2] ॥ वायुपुराण ६१।७८॥

---

१. इस लेख का हिन्दी अनुवाद नहीं दिया जा रहा है, परन्तु पूर्वमुद्रित पूज्य गुरुवर्य के लेख को ध्यान में रखकर प्रस्तुत लेख के विषय को स्वतन्त्र लेख के रूप में लिखकर छापा जा रहा है ।

२. अयं श्लोकः किञ्चित्पाठभेदेन विष्णुपुराणेऽपि (अंश ३, अ० ६, श्लोक० २९) पठ्यते ।

दयानन्दसरस्वतीस्वामिनस्तु चत्वारो वेदाः, चत्वार उपवेदाः, षडङ्गानि संगृह्य चतुर्दश विद्या इत्याहुः।[1]

पूर्वोद्धृतासु वायुपुराणोक्तासु चतुर्दशविद्यासु चतुर उपवेदान् परिगण्य अष्टादशविद्यास्तत्रैवाग्रिम-श्लोक उच्यन्ते।[2]

उक्तविद्यास्थान-परिगणनेनापि निरुक्तव्याकरणयोः पृथग् विद्यास्थानत्वमुक्तं भवति। निरुक्तप्रवक्ता यास्कोऽपि निरुक्तव्याकरणयोः स्वतन्त्रं विद्यास्थानत्वं मनुते। तथा ह्याह—

अथापीदमन्तरेणार्थप्रत्ययो न विद्यते।·····तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च ॥१।१५॥

अन्यत्रापि निर्वचनशास्त्रानधिकारिणः परिगणयन्नाह—**नावैयाकरणाय** (२।३) इति अर्थाद् यो व्याकरणशास्त्रं न वेत्ति तस्मै निरुक्तशास्त्रं नाध्यापनीयम्। एतेन निरुक्तशास्त्रं व्याकरणादुत्तरा स्वतन्त्रा विद्या इत्युक्तं भवति।

निरुक्तव्याकरणयोः पृथग्विद्यास्थानत्वे किमनयोः कार्यक्षेत्रमिति विचार्यते। तत्र व्याकरणस्य प्रयोजनं प्रकृतिप्रत्ययविभागेन शब्दस्वरूपस्य प्रतिपादनम् अर्थात् शब्दस्य साधुत्वान्वाख्यानम्। निरुक्तशास्त्रस्य तु प्रयोजनं शब्दात्मकेन शरीरेण सह योऽनुस्यूतोऽर्थरूप आत्मा तस्य निश्चयेन वचनम्। यद्यपि शब्दसाधुत्वान्वाख्यानेऽपि **हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ** (अष्टा० ३।२।२५) **नौ वृ धान्ये** (अष्टा० ३।३।४८) इत्यादिषु अर्थो निर्दिश्यते, तथापि तस्य निर्देशोऽन्वाचयरूपेण, न प्राधान्येन। शब्दस्वरूपान्वाख्यानस्यैव तत्र मुख्यता। एवं निरुक्तेऽर्थनिर्वचनेऽपि न शब्दस्वरूपस्योपेक्षा भवितुमर्हति तदनुस्यूतत्वादर्थस्य, तथापि न तत्र शब्दस्वरूपनिदर्शनं विवक्षितम्। अत एव '**अथ निर्वचनम्**' इत्यधिकृत्य '**अर्थनित्यः परीक्षेत**' (२।१) इत्युक्तम्। अस्यायमर्थः—अर्थे नियतः सन् अर्थात् लोकादिभ्यः पूर्वं शब्दस्यार्थम् अर्थान् वा यथावद् विदित्वा तस्य निर्वचनं कुर्यात्—अस्य शब्दस्यास्मिन्नर्थे प्रवृत्तौ किं कारणमिति ब्रूयात्[3]।

---

१. चत्वारो वेदाश्चत्वार उपवेदाः षडङ्गानि च मिलित्वा चतुर्दशविद्याः (यजुर्वेदभाष्य ९।३४)। इत्थमेव सं० १९२७ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते विज्ञापनेऽपि निर्देश उपलभ्यते (द्र०—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृ० १-३, तृतीय संस्क० सं० २०३७)।

२. वायुपुराण ६१।७९॥ वि० पु० अंश ३, अ० ६, श्लो० २९०।

३. अयमर्थोऽग्रे "विराट्" आदिशब्दानां निर्वचनव्याख्यया स्पष्टो भविष्यति।

एवं च निरुक्तव्याकरणयोर्विषयभेदे सत्यपि आधुनिकाः पाश्चात्या विपश्चितस्तदनुयायिनो भारतीयाश्च निरुक्तव्याकरणयोर्विषयभेदमजानन्तो निरुक्तशास्त्रोक्तनिर्वचनानामपि तत्तच्छब्दस्य मूलप्रकृतिनिदर्शने तात्पर्यम् इति मन्यन्ते। सत्येवं स्वाज्ञानाद् नैरुक्तनिर्वचनानां तात्पर्यमगृह्णन्तस्तानि बहुधा दूषितवन्तः। एतन्निदर्शनार्थं प्रसिद्धतमानां त्रयाणां विदुषां यास्कीयनिर्वचनविषयका लेखा संक्षेपणोपन्यस्यन्ते—

१—तत्र खलु मैक्डानलो ब्रवीति—'यास्ककाले वैदिकपदानां वास्तविकोऽर्थो विलुप्त आसीत्। स तु यथा कश्चिदन्धकाराक्तं प्रकोष्ठेऽभीष्टं वस्तु ग्रहीतुमितस्ततो हस्तं चालयति, तादृगेव प्रयतते। तत्र प्रयतमानोऽपि तमर्थमनधिगम्यैव शब्दस्य बहुभ्यो धातुभ्यो व्युत्पत्तिं प्रदर्श्य तद्विषये सन्देहद्योतनाय वा शब्दं प्रयुङ्क्ते। यथा—'विराड् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा' (निरु० ७।१३) इति।

२—अपरः खलु पाश्चात्यमतानुयायी डा० राजवाड़े स्वसम्पादितनिरुक्तशास्त्रस्योपोद्घाते ब्रूते—

क—'नैतन्निरुक्तशास्त्रं विज्ञानात्मकम् अपितु विज्ञानस्योपहासकम्[1]।

ख—मयैतत् कथयितुं साहसः क्रियते यन्निरुक्तस्य निर्वचनविधिर्मूर्खतापूर्णः। सत्यप्येवमिदमद्य यावद् विद्यास्थाने प्रतिष्ठितमित्येवाश्चर्यकरम्।[2]

ग—निरुक्ते बहूनि निर्वचनानि भावरहितानि कल्पितसिद्धान्ताश्रयणेनैव तदीयानि बहूनि निर्वचनान्यशुद्धानि। यानि त्वस्य शुद्धानि निर्वचनानि तेषां संख्या त्वल्पीयसी।[3]

३—इत्थमेवानेकभाषाविद् डा० सिद्धेश्वरवर्माऽप्याह—

क—यास्कस्य निर्वचनोत्साह उन्मत्तत्वसीमां प्राप्तोऽभूत्।[4]

ख—तस्य निर्वचनविषयकोन्मत्तता तस्य बुद्धिमपि नाशितवती। तस्य निर्वचनकल्पनादारिद्र्यं च विलक्षणम्। एतेन गम्भीरदोषेण तस्य निर्वचनानि व्यर्थानि, अनावश्यकानि साररहितानि, सत्याच्च दूरं गतानि सन्ति। यास्क एतावदपि न बुद्धवान् यत्कस्यचिच्छब्दस्य लक्षणयापि कश्चिदर्थो लोके प्रथते। स लाक्षणिकस्याप्यर्थस्य पृथङ्निर्वचनाय प्रयतते।[5]

---

१. निरुक्तोपोद्घात, पृष्ठ ४१। २. तत्रैव, पृ० ४१।
३. तत्रैव, पृष्ठ ४३। ४. एटीमोलोजी आफ यास्क, पृष्ठ ३।
५. तत्रैव पृष्ठ ८।

ग—अस्मद्गणनानुसारं यास्केन १२९८ संख्यकानि निर्वचनान्युक्तानि। तत्र २२४ संख्यकान्येव निर्वचनान्याधुनिकभाषाविज्ञानसम्मतानि। २२५ संख्यकानि निर्वचनानि दुर्बोधानि सन्ति। ७६२ संख्यकानि प्रारम्भिकस्थितियुतानि अर्थाद् अविकसितानि सन्ति।[1]

य एते निरुक्तशास्त्रविषयकाः केचन दोषाः पुरस्तान्निर्दर्शितास्ते सर्वेऽपि व्युत्पत्तिनिर्वचनयोर्भेदं व्याकरणनिरुक्तशास्त्रयोश्च व्यापारक्षेत्रभेदम् अपरिज्ञायैवोद्भासिताः सन्ति। एते खलु त्रयोऽपि महानुभावा निरुक्तशास्त्रं व्युत्पत्तिशास्त्रम् अर्थाद् व्याकरणवत् प्रकृतिनिर्धारकं शास्त्रं मन्यन्ते। वस्तुतस्तु व्युत्पत्तिशास्त्रं तु व्याकरणशास्त्रमुच्यते। तत्रैव धातोः प्रातिपदिकाद्वा शब्दा व्युत्पाद्यन्ते। निरुक्तं तु निर्वचनशास्त्रम्। तच्च प्रतिशब्दं यथासम्भवमेकमनेकान् वाऽर्थान् ब्रूते। न हि तत्र शब्दानां प्रकृतिभूता धातवो निर्दिश्यन्ते। अपि तु कस्य शब्दस्य कस्मिन्नर्थे कस्माद्धेतोः प्रवृत्तिरस्तीत्येव चिन्त्यते। अत एव निरुक्तवृत्तिकृता भगवता दुर्गाचार्येणोक्तम्—

तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानम् अर्थनिर्वचनम्। व्याकरणं तु लक्षणप्रधानम्।
नि० वृ० १।१५॥

सायणाचार्योऽपि ऋग्वेदभाष्यस्योपोद्घाते निरुक्तशास्त्रस्य प्रयोजनम् अर्थनिर्वचनमेवाह—**एकैकस्य पदस्य सम्भविता अवयवार्थास्तत्र निश्शेषेणोच्यन्त इति [निरुक्तशब्दस्य] व्युत्पत्तेः।**

वस्तुतो निर्वचनशब्दस्यार्थोऽर्थान्वाख्यानमेवास्ति। अनन्तभट्टो भाषिकसूत्रव्याख्यान एवमाह—**निर्वचनं नामार्थस्यान्वाख्यानम्** (३।६)।

निरुक्तकारेणापि 'निर्वचनशब्दस्य प्रयोगोऽर्थान्वाख्यानार्थमेव विहितः। स हि यत्र क्वापि तत्तच्छब्दस्यार्थनिदर्शनाय काञ्चिद् ऋचमुदाहृत्यापराम् ऋचमुदाहरति, तत्र सर्वत्र ऋगुदाहरणात्पूर्वं **'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय'** इति निर्दिशति। एतादृशेषु स्थलेषु निर्वचनशब्दस्यार्थान्वाख्यानमन्तरा नान्यः कश्चिदर्थः सम्भवति। यतो हि तादृशेषु स्थलेषु न शब्दस्यान्वाख्यानं दृश्यते।

एवम् **अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति** (७।२४) इति यास्कवचनस्याप्ययमेवार्थः—द्वादशकपालादिषु या कपालसंख्या निर्दिश्यते न सा वैश्वानरशब्दस्यार्थनिश्चये साहाय्यं विदधाति।

---

१. एटीमोलोजी आफ यास्क, पृष्ठ १६। परन्त्विह निर्दिष्टा विविधनिर्वचनसंख्याः स्वयं ग्रन्थकारेणोपोद्घाते १२ तमे पृष्ठे संशोधिता उपात्ताः।

यत्तु मैक्डानलमहोदयेनोक्तं तदप्यविचारितरमणीयमेव । नैव यास्कस्य काले वैदिकपरम्पराया उच्छेदः समजायत इति भारतीयपरम्परया भारतीयैतिह्येन च विस्पष्टं व्यज्यते । अतः **'एकस्य शब्दस्य बहुभ्यो धातुभ्यो व्युत्पत्तिं प्रदर्श्य सन्देह-द्योतनाय यास्को वा शब्दं प्रयुक्तवान्'** इत्युक्तिरपि तस्य चिन्त्यैव ।

इदानीं नैरुक्तनिर्वचनान्यर्थप्रदर्शनायैव प्रवृत्तानि, न तत्तच्छब्दस्य प्रकृतिनिदर्शनायेत्यस्यार्थस्य स्पष्टतायै द्वयोः शब्दयोर्यास्कीयनिर्वचनान्युदाहृत्य यथाशास्त्रं व्याख्यायन्ते—

विराट्—विराट्शब्दस्य यास्केनैवं निर्वचनानि प्रदर्श्यन्ते—

विराड् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा (७।१३) इति इमानि विराट्-शब्दस्य निर्वचनानि यस्मिन् सन्दर्भे पठ्यन्ते, तत्र पूर्वत्रोत्तरत्र च छन्दसां प्रकरणं विद्यते । तेनात्र कृतनिर्वचनो विराट्शब्दश्छन्दोनाम इति विस्पष्टम् । छन्दःशास्त्रेषु विराट्शब्दः त्रिष्वर्थेषु प्रयुक्तः । तथा हि—

१—दशसंख्यायाम् । यथा—**विराजो दिशः** (पिङ्गलसूत्र ३।५) । अस्यायमर्थः—**'पाद इत्यनुवर्त्तते । यत्र क्वचिद्वै राजपाद इत्युच्यते, तत्र दशाक्षरः प्रत्येतव्यः'** (हलायुधवृत्तिः) इति । दश संख्या पूर्णसंख्याया उपलक्षिका लोके विज्ञायते ।

२—द्व्यक्षरन्यूने छन्दसि । तथा चोक्तं पिङ्गलाचार्येण—**द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ** (३।६०) । एतद्विवृण्वन् हलायुध आह—**'न्यूनाधिकग्रहणमनुवर्त्तते । द्वाभ्यामक्षराभ्यां न्यूनाधिकाभ्यां गायत्री यथाक्रमं विराट् स्वराट् संज्ञा भवति । एवमुष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम्'** इति ।

३—एकादशाक्षरात्मके त्रिपादयुते (११×३=३३ अक्षरात्मके) अनुष्टुप्-छन्दसि । यथाह ऋक्सर्वानुक्रमणीकारः कात्यायनः—**दशकास्त्रयो विराड् एकादशका वा** (परि० ६।७-८) । अस्यायमर्थः—**'यस्मिन्ननुष्टुभि दशाक्षरपरिमितास्त्रयः पादाः, एकादशाक्षरमिता वा त्रयः पादा भवन्ति सा अनुष्टुप् विराड् इत्युच्यते ।**

एवं छन्दःशास्त्रेषु त्रिष्वर्थेषु प्रयुज्यमानस्य विराट्शब्दस्यैव भगवता यास्केन **विराड् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा** इति निर्वचनानि प्रदर्शितानि । उक्तानि निर्वचनानि यास्कः स्वयमेव व्याख्यातवान्—**विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा, विराधनादूनाक्षरा, विप्रापणाद् अधिकाक्षरा ।**

एतेन हस्तामलकवद् विस्पष्टं भवति यद् विराट्शब्दस्य प्रकृतिः विपूर्वो राजृधातुः, विपूर्वो राधधातुः, विपूर्वः आप्लृधातुरस्तीत्यत्रार्थे न यास्कस्याभिप्रायः । अपि

त्वेकस्मिन् विराट्शब्दे विपूर्वकस्य राजृधातोर्योऽर्थः (विराजते पूर्णाक्षरत्वाद् विशेषेण प्रकाशते दीप्यते), अपरस्मिन् विपूर्वस्य राधधातोर्योऽर्थः (विगतं राधनं संसिद्धिर्यस्मात्), अन्यस्मिन् विपूर्वस्याप्लृधातोर्योऽर्थः (विशेषेण प्रापणमर्थादाधिक्यं यस्मिन्)स इह प्रदर्श्यते।

अयमेवाभिप्रायः सायणाचार्येणाप्युक्तः—**धातुत्रयार्थस्य तत्र संभवात्** (द्र०—दैवत ब्राह्मण खं० ३, विराट्शब्दव्याख्यानम्)।

उक्तार्थस्य दाढर्यायैकस्य द्वारशब्दस्य यास्कीयनिर्वचनान्यपीहोपस्थाप्यन्ते—

द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा। निरु० ८।६॥

भगवता यास्केन निरुक्तो द्वारशब्दो लोके त्रिष्वर्थेषु प्रयुज्यते 'द्वारं पिधेहि' इत्यत्र द्वारशब्दो कपाटार्थे। स्रौघ्नं द्वारम्, माथुरं द्वारम् (यथा लोकभाषायाम् 'अजमेरीदरवाजा' 'आगरादरवाजा')। अत्र नगराणां प्राचीरेषु निर्मितं यद् यद् द्वारं यस्य यस्य नगरस्याभिमुखं भवति,तस्य तस्य नगरस्य नाम्ना तत्तद् द्वारं व्यपदिश्यते। तदुक्तं पाणिनिना—**अभिनिष्क्रामति द्वारम्** (अष्टा० ४।३।८६)। एतादृशेषु द्वारेषु यद्यपि कपाटानि भवन्ति, तथापि तानि रात्रिदिवम् उद्घटितान्येव तिष्ठान्त (केवलं युद्धकाल एव तान्यपिधीयन्ते)। अत एतादृशेन द्वारेणाप्रतिहतं गमनागमनं भवति। इत्थमेव जलावरोधेषु यदा जलं प्रस्रवणाय सूक्ष्मं मार्गं निर्माति, तदा 'जलेन प्रस्रवणाय द्वारं विहितम्' इति लोके प्रयुज्यते। अस्मिन्नेवार्थे लोकभाषायामपि 'पानी ने रास्ता बना लिया' इति व्यवह्रियते।

एवं च द्वारशब्दो लोके येषु त्रिष्वर्थेषु प्रयुज्यते तान् समीक्ष्यैव भगवता यास्केन द्वारशब्दस्य **'जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा'** इति त्रीणि निर्वचनान्युच्यन्ते। अत्र 'जवतेर्वा' इति निर्वचनमप्रतिहतगत्या यतो गमनागमनं भवति तादृशं द्वारशब्दमभिलक्षयति। यथा स्रौघ्नं द्वारम्, माथुरं द्वारम्। 'द्रवतेर्वा' इति निर्वचनं द्रवद्रव्याणां निस्सरणाय यत् सूक्ष्मं छिद्रं समुत्पद्यते, तद् बोधयति। 'वारयतेर्वा' इति निर्वचनं द्वारशब्दस्य कपाटार्थं ब्रवीति।

यत्तु मैक्डानलमहोदयेन 'यास्केन निर्वचनप्रसङ्गे प्रयुज्यमानो वा शब्दः सन्देहस्य द्योतकः' इत्युक्तं तदप्यविचारितरमणीयमेव। नहि 'वा' शब्दः सन्देहस्य द्योतन एव प्रयुज्यते, अपितु विकल्पसमुच्चयावप्यस्यार्थौ इति कोषकारा अभिदधति। तेन एकः शब्दो यत्रानेकार्थो भवति तत्र प्रत्येकमर्थं बोधनाय विविधनिर्वचनानि प्रदर्शयन् यास्को वा शब्दं प्रयुङ्क्ते। यथा—यदा विराट्शब्दो दशाक्षरे प्रयुज्यते तदा तस्य पूर्णाक्षरत्वाद् विशेषेण राजनं प्रकाशनमर्थः, यदा द्व्यक्षरन्यूने छन्दसि प्रयुज्यते तदा तस्य विगतराधनमर्थः, अथाधिकाक्षरे छन्दसि, तदा सामान्यप्राप्तेर्विशेषेणाधिकाक्षर प्राप्तिस्तस्यार्थः। एवं चार्थत्रयमुद्दिश्य प्रदर्श्यमानेषु त्रिषु निर्वचनेषु वाशब्दो

विकल्पार्थकः, यद्वा समुच्चयार्थक उपपद्यते न तु तस्याऽऽशङ्काद्योतनं प्रयोजनं भवितुमर्हति। अपि च, निर्वचनशब्दस्य योऽर्थः—**'निश्चयेन वचनम्'** तत्र सन्देहस्यावकाश एव नास्ति, कुतस्तस्याऽऽशङ्काद्योतकत्वं सम्भवेत्।

प्राङ् निर्दिष्टैर्मैक्डानलप्रभृतिभिर्यास्कीयनिर्वचनेषु ये दोषा उपन्यस्तास्ते सर्वेऽपि तेषामज्ञानमूलका एव। सर्वप्रथमं पाश्चात्यैर्विद्वद्भिर्यास्कीयनिर्वचनानि तत्तच्छब्दस्य मूलप्रकृतेर्निदर्शकानि इति मतमुपस्थापितम्, तदेव पाश्चात्यशिक्षादीक्षिता भारतीया अपि विद्वांसोऽन्धपरम्परान्यायेन परिबृंहितवन्तः। यदि नैरुक्तनिर्वचनानामपि मूलप्रकृतेर्निदर्शनमेव प्रयोजनममविष्यच्चेन्न तद् व्याकरणाद् अभेत्स्यत। तथा सति निरुक्तव्याकरणयोः वेदाङ्गेषु पार्थक्येन परिगणनं नाभविष्यत्। पाश्चात्त्या विपश्चितस्तदनुयायिनश्च उभयोर्वेदाङ्गयोरेकमेव प्रयोजनमिति मन्यमानाः स्वयं भ्रान्ताः सन्तः पारोवर्यविदो नीरजस्तमसो यास्कस्य निर्वचनानां दूषणे प्रवृत्ता बभूवुः। यथा त्वस्माभिर्भारतीयविदुषां मतेन यास्कीयनिर्वचनानामर्थनिदर्शनं प्रयोजनमिति व्याख्यातं तथा सति सर्वेऽपि दोषाः परिहृता भवन्ति।

यदपि डा० सिद्धेश्वरवर्मणोक्तम्—स यास्क एतावदपि न बुद्धवान् यत्कस्यचिच्छब्दस्य लक्षणयाऽपि कश्चिदर्थः प्रथते लोके। स लाक्षणिकार्थस्यापि पृथङ् निर्वचनाय प्रवर्तते इति। एतदप्यविचारितरमणीयम्। नहि क्वचिद् यास्को लाक्षणिकस्यार्थस्य निर्वचने प्रावर्त्तत। सामान्यादिकारणैर्यस्य पदस्यार्थान्तरे प्रवृत्तिर्भवति न तत्र यास्को निर्वक्ति, अपितु सामान्यादिकारणैरेव तस्यार्थान्तरप्राप्तिं निदर्शयति। तद् यथा—

पादः पद्यतेः। तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः।
प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि। निरु० २।७।

इह प्रथमं द्विपदां चतुष्पदां च यः पादरूपः शरीरावयवः तस्य पद्यतेर्निर्वचनमुक्तम्। यतो हि द्विपादः पद्भ्यां चतुष्पादश्च पद्भिः स्थानान्तरं यान्ति। तत्र गमनरूपोऽर्थो विद्यते। परन्तु **सोमक्रयण्याः सप्तमे पदे जुहोति** इत्यत्र यत् पदशब्दस्यार्थः स लाक्षणिकः। यत्र स्थाने सोमक्रयण्या गवा सप्तमं पदं निधीयते, तस्मिन् स्थाने जुहोतीति श्रुत्यर्थः। अत एव तमर्थं द्योतयितुं यास्केन **तन्निधानात् पदम्** इत्युक्तम्। अस्यायमर्थः—सोमक्रयण्याः गोः पादस्य निधानात् तत्स्थानमपि पदशब्देनोच्यते। प्रस्थपरिमाणस्य चतुर्थो भागोऽपि लोके 'पाद' (पाव) इत्युच्यते। तत्र प्रवृत्तिकारणं यास्केन **'पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः'** इत्यनेनोक्तम्। चतुष्पदां एकोऽवयवो यथा पाद इत्युच्यते तथा प्रस्थादीनां चतुर्थो भागोऽपि पादशब्देनोच्यते सामान्यात्। एतेन ग्रन्थेषु अध्यायानां प्रविभक्ताश्चत्वारो भागा अपि पादा इत्युच्यन्ते। परन्तु क्वचिद्

अध्यायेषु अष्टौ पादा अपि भवन्ति यथा पूर्वमीमांसायाः तृतीयषष्ठदशमाध्यायेषु। तत्र पादशब्दस्य प्रवृत्तिकारणं यास्को व्याचष्टे — **प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि।** यथा प्रस्थस्याध्यायस्य च पादस्तस्यैकोऽवयवो भवति तथैव अवयवत्वसामान्याद् अष्टमादिषु भागेष्वपि पादशब्दः प्रवर्त्तते। एतेनैव पञ्चपाद्या दशपाद्याश्चोणादि-पाठस्य पादा व्याख्याताः।

प्रसङ्गात् साहित्यशास्त्रसम्राजां मम्मटादीनां लक्षणाप्रसङ्गे उदाहृते द्वे उदाहरणे विचार्येते। कुशलः—**कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणयोगात्**[1]। विश्वनाथस्तु मम्मट-वचः खण्डयन्नाह—**तदन्ये न मन्यन्ते कुशाग्रादिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्ष-रूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्, अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यश्च प्रवृत्तिनिमित्तम्**[2] इति। वस्तुतः कुशलशब्दस्य 'कर्मणि कुशल' इति व्युत्पत्तिरेव न कश्चिद् वैयाकरणो ब्रूते। एवमेव **प्रवीणशब्दस्य प्रकृष्टो वीणायाम्**[3] इत्यत्रापि ज्ञेयम्। यदा तादृशी व्युत्पत्ति-र्वैयाकरणैर्न क्रियते तर्हि अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् इति वचन-मपि चिन्त्यम्। अपि च **'अपि कुशलं भवत.' 'कुशलान्न प्रमदितव्यम्'** इत्यत्र आरोग्यार्थे कथमपि लक्षणा न सम्भवति। वैयाकरणास्तु **'कुश वैदुष्यारोग्ययोः'** इति सौत्रधातोः 'कल' प्रत्ययं विधाय कुशलशब्दं व्युत्पादयन्ति[4]। एवं प्रवीणशब्दोऽपि वैयाकरणानां मते प्रपूर्वाद् गत्यर्थाद् वीधातोर्णक्प्रत्ययान्त औणादिकः[5]। गतेश्च ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति त्रयोऽर्थाः। तेन प्रकर्षेण वेत्ति जानातीति प्रवीण दक्षो निष्णात इत्यर्थः।

एतेन कुशलप्रवीणशब्दयोर्मुख्यार्थत्वे सम्भवति न लक्षणाऽऽश्रयितुयोग्या, न च अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तमिति समयोऽपि न्याय्यः।

इत्थमस्मिन् निबन्धे निरुक्तशास्त्रस्यार्थान्वाख्यानं प्रयोजनं न शब्दस्य मूलप्रकृते-र्निदेश इति परम्पराप्राप्तनैरुक्तव्याख्यादृशा संक्षेपेण सोदाहरणं निर्दिश्य व्युत्पत्तिशास्त्रं निरुक्तमिति मन्यमानैर्यैर्नैरुक्तनिर्वचनेषु विविधा दोषा निदर्शितास्तेषां समाधानमार्ग इहेङ्गितः। उक्तदिशा नैरुक्तनिर्वचनानां व्याख्याने समस्ता अपि समुद्भाविता दोषा निराकर्त्तुं शक्याः।

---

१. काव्यप्रकाश २।६ व्याख्यायाम्। २. साहित्यदर्पण २।५ व्याख्यायाम्।

३. कोषव्याख्याकारा अपि प्रायेणेत्थमेव व्युत्पादयन्ति।

४. दशपाद्युणादिवृत्तिः ८।६॥

५. प्रकर्षेण वीयते गम्यते प्रवीणः (हैमोणादि १८३) इति णक् इत्यभिधान-चिन्तामणिव्याख्यायां हेमचन्द्राचार्यः कर्मणि व्युत्पादयति।

ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि यानि निर्वचनान्युपलभ्यन्ते तेषामपि व्याख्यानस्यायमेव मार्गः। यथा **तमिन्धं सन्तमिद्रमित्याचक्षते परोक्षेण** इत्यत्र नास्यायमर्थः—पुरा इन्द्रशब्दस्य स्थाने इन्धशब्दं प्रयुञ्जते स्म, कालान्तरेण तस्यैव इन्द्र इति रूपान्तरं बभूव। अपितु इन्धमिव इन्धधातोर्यो दीप्त्यर्थः स इदि परमैश्वर्ये इत्यस्यापि ज्ञेयः। तेनेह इन्द्रशब्दस्य दीप्त्यर्थो व्याख्यात इत्येव तात्पर्यम्। धातवश्चानेकार्थाः, धातुपाठे निर्दिष्टा अर्था उपलक्षणमात्रमिति समेषां वैयाकरणानां राद्धान्तः। अतएव सायणाचार्येण विपूर्वस्य राजृ दीप्तौ इत्यस्य दीप्तिः, न्यूनता, विशेषप्राप्तिश्च त्रयोऽप्यर्थाः स्वीकृताः—**धातुत्रयस्यार्थस्य तत्र सम्भवात्** (दैवत ब्रा० ३।१२ भाष्यम्)। इत्यलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु॥

निरुक्ते निर्दिष्टः

विश्वकर्मणो भौवनस्य इतिहासः

यद्यपि भगवान् यास्को निरुक्ते मन्त्राणामाधिदैविकं व्याख्यानमवलम्ब्य प्रवृत्तः, तथापि तस्य काले मन्त्रार्थव्याख्यातृणां ये ये सम्प्रदायाः प्रवृत्ता आसन्, तेषामपि स महता कण्ठेन तत्र-तत्र निर्देशं कृतवान्। तत्रैकः पन्था ऐतिहासिकानामप्यवर्तत। भगवता यास्केन "**तत्र इतिहासमाचक्षते**"[1] इति निर्देशपुरःसरं बहुत्र ऐतिहासिकानां मतं संगृहीतम्। इतिहासविदामेवैको भेद आख्यानविदामप्यासीत्। तेषामपि निर्देशो निरुक्ते यत्र-तत्र समुपलभ्यते। अस्माभिस्तु अनयोर्विभागः सूक्ष्मचिन्तनेनैवं समधिगतः—यत्र खलु पुरुषसम्बद्धं किञ्चिद् वृत्तमुपन्यस्यते तत्र यास्कः **तत्रेतिहासमाचक्षते** इति वाक्यनिर्देशपुरःसरमैतिहासिकपक्षमुपन्यस्यति, यत्र तु पुरुषेतरप्राणिसम्बद्धं यद्वाऽचेतनतत्त्वसम्बद्धं वृत्तमुपस्थापयति तत्र **इत्याख्यानम्** इति ब्रूते। क्वचिदनयोः साङ्कर्यमपि दृश्यते। यथा—**यमी यमं चकमे, तां प्रत्याचचक्ष इत्याख्यानम्** (निरुक्त १२।३४)।

विश्वकर्मणो भौवनस्येतिहासः

विश्वकर्मा इति पदं कौत्सव्यनिघण्टौ (खण्ड १३७) यास्कीयनिघण्टौ (५।४) च मध्यमस्थानीयासु देवतासु पठ्यते। विश्वकर्मणो व्याख्याने निरुक्तकारेण **विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता** इत्येवं निर्वचनं प्रदर्शितम्। तत्र तावदिदं चिन्तनीयं कोऽयं विश्वकर्मा

---

१. निरुक्ते तत्रेतिहासमाचक्षते' इति पञ्चकृत्व उक्तम्—द्र०—२।१०, २।२४; ६।२३; १०।२६; १२।१०॥

एषु पञ्चस्थानेषु २।१० स्थले निर्दिष्टेस्येतिहास्य विषये पूज्यपादानां तत्रभवतां गुरुवर्याणां पण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासूनां **'देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप'** इत्याख्या पुस्तिका द्रष्टव्या। निरुक्ते १२।१० स्थाने निर्दिष्टस्येतिहासस्य विषयेऽस्मत्सतीर्थस्य धर्मदेवनिरुक्ताचार्यस्य **'त्वाष्ट्री सरण्यू के आख्यान का वास्तविक स्वरूप'** इत्याख्या पुस्तिका द्रष्टव्या। **'मेरी दृष्टि में—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य'** इत्याख्ये ग्रन्थे ११३ पृष्ठतः १४० पृष्ठपर्यन्तम् अनेकेषाम् आख्यानेतिहासानां संक्षेपतः स्वरूपं निर्दर्शितम्।

मध्यमस्थानीयः ? तत्र निरुक्तव्याख्याता दुर्गाचार्य आह—**वाय्वात्मकत्वात् सर्वचेष्टानां (कर्ता) मध्यमः**। स्कन्दस्वामिनः सहयोगी निरुक्तव्याख्याता महेश्वर आह—**विश्वकर्मा मध्यस्थानं वायुर्वृष्टिद्वारेणावस्थितः शम्बरः। सर्वचेष्टानां तल्लीनत्वात्**। एवं द्वावपि व्याख्यातारौ मध्यमस्थाने अवस्थितो वायुर्विश्वकर्मा इत्याहतुः। निर्वचनानन्तरं यास्केन तद्विषयिणी **विश्वकर्मा विमना** (१०।८२।२) इत्यृग् उदधृत्य प्रथमम् अधिदैवतव्याख्यानं विहितम्, तत उत्तरम् अध्यात्माक्षे **विश्वकर्मा विभूतमना** (आत्मा) इत्येवमात्मपरं व्याख्यानं निदर्शितम्।

इत उत्तरम्—**'तत्रेतिहासमाचक्षते। विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार।'** इत्येव विश्वकर्मणो भौवनस्य कश्चिदितिहास उक्तः।

उक्त इतिहासे निर्दिष्टानां पदानां प्रतिपदं विचारस्तूत्तरत्र वर्त्तयिष्यते। पूर्वं तावद् अस्य इतिहासस्य धुर्यं ऋतुवाचकं पदं **'सर्वमेध'** इति तस्य शतपथब्राह्मणं कात्यं श्रौतसूत्रं चानुरुध्य अतिसंक्षेपेण विवरणं प्रस्तूयते—

शतपथे पुरुषमेधस्यानन्तरं सर्वमेधस्य विधानमुपलभ्यते (काण्ड १३, अध्याय ७, ब्राह्मण ५)। कात्यायनश्रौतसूत्रे **सर्वमेधः सर्वकामस्य** (२१।२।१) इत्यनेन सर्वकामस्य यजमानस्य सर्वमेध उक्तः। शतपथे (१३।७।५।१) **श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति** इति सर्वमेधस्य फलं श्रूयते। आपस्तम्बश्रौतसूत्रे तु **राजा यजते यः कामयेत सर्वमिदं भवेयात्** (२०।२५।३) इत्येवं सर्वमेधस्याधिकारी राजेत्युक्तम्।

अयं सर्वमेधोऽहीनान्तर्गतो दशरात्रः ऋतुः। अस्य अप्तोर्यामे सप्तमेऽहनि सर्वजातीय स्थाबरजङ्गमरूपं यज्ञार्हं सर्वं वस्तुजातमेकैकसङ्ख्यं हूयते (श० १३।७।१।६)। कर्काचार्यस्तु **पुरुषोऽश्वो गौरविरजः** (श० ६।२।१।१४) इति प्रकृत्य **एतावन्तो वै सर्वे पशवः** इति वचनात् सर्वशब्देन उक्तान् पुरुषादीन् पञ्चपशूनां ग्रहणमनुमनुते। अत्रैव सप्तमेऽहनि ओषधिवनस्पतीनां संभरणं कृत्वा आहवनीये प्रक्षिप्यन्ते सर्वप्रकारकं चान्नं हूयते।

निरुक्तकारेण विश्वकर्मणः पितुर्नाम 'भौवनः' इति तद्धितप्रत्ययान्तेन पदेन 'भुवनः' इति सूचितम्। ऋग्वेदे विश्वकर्मणो द्वे सूक्ते स्तः (मण्डल १०, सूक्त ८१-८२)। तयोः कस्मिंश्चिदपि मन्त्रे न सर्वमेधस्य विज्ञापकं किञ्चित्पदं श्रूयते। न च पितुर्नाम भुवन आसीद् इति विज्ञायते। मन्त्रेषु 'भुवन'शब्दस्तु असकृद् वर्तते, परन्तु न स विश्वकर्मणः पितृवाचकः सम्भवति। मन्त्रेषु भुवनशब्दो लोकपर्यायः। तदर्थक एव भूतशब्दोऽपि तत्र निर्दिश्यते। इत्थमेव निरुक्ते **सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार** इति यदुक्तं तस्यापि मन्त्रेषु न किञ्चि-

ल्लिङ्गमुपलभ्यते । अर्थात् मन्त्रेषु न विश्वकर्मणः पितुर्नाम श्रूयते न च सर्वमेधकृतोः चर्चा वर्तते । अपि च **सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार । आत्मानमपि अन्ततो जुहवाञ्चकार** इत्यस्य निर्देशोऽपि 'सति कुड्ये चित्रम्' इति न्यायेन सर्वमेधाभावे न सङ्गच्छते ।

अस्मन्मते तु शतपथकारेण सर्वमेधकृतोर्विधानं कृत्वा तदन्ते **'तेन हैतेन विश्वकर्मा भौवन ईजे'** इति यत्पुराकृत्तं निर्दिष्टम्, तदनुसृत्य अयमितिहासः प्रकल्पितः । यत्तु निरुक्ते **सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार । आत्मानमपि अन्ततो जुहवाञ्चकार** इत्युक्तम्, तस्य मूलं सर्वमेधकृतोरारम्भे निर्दिष्टे **हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनि** इत्याद्यर्थवादवाक्येऽन्वेष्टुं शक्यते । परन्त्वर्थवादानाञ्च स्वार्थे प्रामाण्यं नास्तीति मीमांसकाः संगिरन्ते । अत इदमपि न प्रमाणपदवीमारोहति ।

यदि कश्चिद् इतिहासांशोऽर्थवादवचनेन परिकल्पितुं शक्यते चेत् **'ब्रह्मणा स्वयम्भुवा स्वात्मनि भूतानि जुहवाञ्चक्रे आत्मानं च भूतेषु'** इति वक्तुं शक्यते ।

उक्तनिर्देशानन्तरं भगवता यास्केनोक्तम्—

तदभिवादिन्येषऽर्भवति—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत् (ऋ० १०।८१।१) इति ।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥
(ऋ० १०।८१।६) निरुक्त १०।२५-२७

दुर्गाचार्यस्तु निरूढसंज्ञकाद् अहीनात् सर्वमेधाद् भिन्नमिमं सर्वमेधं मन्यते । तस्यायं भावो निरूढसंज्ञकस्य सर्वमेधस्य सप्तमे अप्तोर्यामसंज्ञके अन्ये **'स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार'** इति आत्महोमस्य अविधानान्नोपपद्यते दर्शनतस्तु सर्वमुपपद्यते । **'सभूतानि विशेषान् सामान्यात्मनि जुहाव पश्यन् सामान्यं चात्मानं विशेषे जुहाव पश्यन् सर्वकर्मसु स्वयमेव'** । अयमात्मयाजीत्युच्यते । यमधिकृत्य पृष्टं **'तदाहुः । आत्मयाजी श्रेया३न् देवयाजी३** (शत० ब्रा० ११।२।२।१३) **इति'** । यथा चैतदेवमधिदैवविद आत्मवित् श्रेयान्यमधिकृत्य **'विश्वकर्मा विमना आद्विहायाः'** इतीयमृगात्मगत्या निरुक्ता तस्यैवार्थस्येतिहासोक्तस्याभिवादिनी आभिमुख्येन वादिनी **'एषा ऋग्भवति'** (निरु० १०।२६) इत्युक्तवान् ।

एवं च दुर्गाचार्यमते 'सर्वमेध'शब्दस्य निरूढसंज्ञकस्य सर्वमेधयागेन न कोऽपि सम्बन्धः । महेश्वरस्तु दशरात्रं सर्वमेधयागमेव मन्यमान आह—

तस्याप्तोर्यामः सप्तममहर्भवति । तस्मिन् सप्तमेऽनि 'सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुध्यै'

इति वचनात् सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। सर्वशब्देन चात्मनोऽपि ग्रहणात्।

भगवता यास्केन पञ्चकृत्वः **तत्रेतिहासमाचक्षते** इति निर्दिश्य इतिहासा निर्दिष्टाः। तत्रेति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च पूर्वोक्तं परामृशति। अतोऽत्र चिन्तनीयं यदत्र 'तत्र' पदं कमर्थं परामृशति ? इतिहासनिर्देशात् पूर्वं भगवता यास्केन 'विश्वकर्मा' पदस्य निर्वचनं प्रदर्शितम्। तदनु विश्वकर्मविषयकी **विश्वकर्मा विमना** (ऋ० १०।८२।२) इत्याद्यृगुद्धृता। प्रथमं तेन नैरुक्तसमयेन तस्याधिदैविकोऽर्थो विवृतः, तदनु च स तस्या एवर्चं अध्यात्मपक्षमाश्रित्य व्याख्यानं प्रदर्शितवान्। सत्येवं तत्रेतिपदेन विश्वकर्मण अध्यात्मपक्ष एव परामर्शयितुं शक्यते। अत एव दुर्गाचार्येणोक्तम्—

'इत्यात्मगतिमाचष्टे'—अमुना प्रकारेण वर्ण्यमान एष मन्त्र आत्मगतिमाचष्टे प्रख्यापयति। यथा चेयमात्मगतिवाचिका ऋक् 'तत्र' एतस्मिन्नर्थे 'इतिहासमाचक्षते' आत्मविद इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण।

इत्युक्त्वा तत्र तत्र निरुक्ते निर्दिष्टान् इतिहासानभिलक्ष्य इतिहासस्य परिभाषा एवं प्रदर्शिता—

यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थं आख्यायते दिष्ट्युदितार्थावमासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थस्तदर्थप्रतिपत्तृणामुपदेशपरत्वात्। (१०।२६)

दुर्गाचार्येण यदितिहासलक्षणमुक्तम्, तस्य **ऋचैवादृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता** इति यास्कीयवचने मूलमन्वेष्टुं शक्यते। यास्कीयवचनस्यायं भावः—

दृष्टार्थस्य दिष्ट्या दृष्टो मन्त्रार्थो येनर्षिणा तस्य परेभ्योऽल्पमतिभ्यो ये साक्षाद् वर्ण्यमानं विज्ञातुमसमर्थास्तेभ्यस्तमर्थं बोधयितुमाख्यानसंयुक्ता आख्यानेन केनचित् काल्पनिकेन इतिवृत्तसदृशेन संयोज्य प्रकथने प्रीतिर्भवति, यतस्तादृशोपायेन अल्पमतयोऽपि मया वर्ण्यमानं तत्त्वमधिगन्तुं समर्था भविष्यन्ति।

सार्वजनीनमेतत् तथ्यं यत् कस्यचिद् गभीरस्य तत्त्वस्य प्रवचने यदा कश्चिद् विद्वान् प्रवर्तते तदा अल्पमतीन् श्रोतॄन् तद्बोधयितुकामस्य तस्य काल्पनिकस्य आख्यानस्य साहाय्यमवलम्ब्य प्रवचने प्रीतिर्भवति।

इत्थं यास्केन विश्वकर्मणो भौवनस्य य इतिहासो निर्दिष्टः, स काल्पनिकः, तदर्थप्रतिपत्तृणामुपदेशपरत्वात्। इत्यलमतिविस्तरेण।

भारतीयं भाषा-विज्ञानम्

[आधुनिक भाषाविज्ञान का क्षेत्र शब्द-उच्चारण, शब्द-स्वरूप और शब्दार्थ से सम्बद्ध है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने इन तीनों क्षेत्रों के विषय में शिक्षा व्याकरण और निरुक्तसंज्ञक तीन वेदाङ्गों की रचना की है। यतः तीनों वेदाङ्गों के साथ भारतीय भाषाविज्ञान का सम्बन्ध है, अतः इस लेख को निरुक्त के प्रकरण में छाप रहे हैं।

यह लेख बड़ौदा की 'संस्कृत विद्वत्सभा' में अगस्त १९६० में पढ़ा था। उसके पश्चात् 'गुरुकुल पत्रिका' (मई, जून, जुलाई १९६१) में छपा था। पुनः परिशोधितरूप में यह लेख 'अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्' लखनऊ से प्रकाशित 'Ludwik Sternbach Filicitation Volume' में छपा था।]

इदं तावद् विचार्यते—किमिदं भाषाविज्ञानमिति। तत्रापि का भाषा, किं च तस्या विज्ञानम्, किं च तदीय भारतीयं स्वरूपम्। तत्र तावत् भाषापदमेव विचार्यम्। भाषाशब्दो वैयाकरणैः 'भाष व्यक्तायां वाचि' इत्यस्माद् धातोर्व्युत्पाद्यते। तेन भाष्यतेऽर्थजातं परस्मै बोध्यतेऽनया सा भाषा। तत्र व्यक्तवाक्त्वस्य धात्वर्थान्तर्वृत्तत्वाद् भाषापदेन स्फुटवर्णध्वनिरेव गृह्यते न ध्वनिमात्रम्। तथा सति इङ्गितचेष्टितादीनां तु कथाऽपि दूरेऽपास्ता। सा च व्यक्ता वाक् मनुष्याणामेव। तस्याश्च भाषायाः पदान्येव मूलम्। पदान्येव सहत्य वाक्यं जनयन्ति। वाक्यान्येव संहत्य सन्दर्भम्। अत एव व्याकरणेन पदसंस्कार एव विधीयते। निरुक्तेन च पदानामेवार्थो निरुच्यते। तेषां च व्याकरणबोधितसंस्काराणां निरुक्तोपलक्षितार्थनिर्वचनानां पदानां वाग्व्यवहारकाले यथेष्टं सम्बन्धो भवति। तदुक्तं खलु भगवता पतञ्जलिना[1]—पदानामार्थैः सह सम्बन्धः स्वाभाविको वाऽस्तु साङ्केतिको वा। उभयथाऽपि पदानामर्थैः सहात्यन्तिकः सम्बन्धः सर्वैरेवोररीक्रियते। अतो भाषाविज्ञाने पदपदार्थयोरुभयोरपि समानरूपेण विचारः क्रियते।

विज्ञानं नाम कस्यचिदपि विषयस्य विशिष्टं ज्ञानमुच्यते। तच्चैकस्यापि विषयस्य विषयान्तरसाहाय्यमन्तरा न सम्भवति। तथा चोक्तं भगवता सुश्रुतेन[2]।

---

१. 'पदान्येव संस्कृत्य संस्कृत्योत्सृज्यन्ते, तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति। पात्रमाहर, आहर पात्रमिति वा' महा० १।१।१॥

२. एकं शास्त्रमधीयानो न गच्छति शास्त्रनिर्णयम् इति। सुश्रुतसूत्रस्थान ४।६॥

एवमेव नैकस्यापि कस्याश्चिद् भाषाया विशिष्टं ज्ञानं भाषान्तराणां परिज्ञानमन्तरा सम्भवति। अत एकस्या भाषाया विज्ञानाय विविधा भाषा अवश्यं वेदितव्याः। अत एव परमशब्दशास्त्रज्ञेन खलु भगवता कात्यायनेनोक्तम्—**अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्म** इति। अर्थाद् यावत्प्रतिशब्दं तत्सम्भवान् अपशब्दान् न जानाति न तावत् तच्छब्दस्य वास्तविकं तत्त्वं बोद्धुं कश्चिदपि समर्थो भवितुमर्हति। इदं च वाक्यकारीयं वचनं तत्र भगवता दयानन्दसरस्वतीस्वामिना स्वीये सत्यार्थप्रकाश एवं व्याख्यायते—

'कोई देश की भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता, किन्तु कुछ गुण ही होता है। **अपशब्दपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः** यह व्याकरण महाभाष्य का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि अपशब्द ज्ञान अवश्य करना चाहिये, क्योंकि उनके पढ़ने से व्यवहारों का उपकार होता है और संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है। जितनी देशों की भाषा जानें उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है, क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़ के देशभाषा सब होती है। इससे इनके ज्ञान से परस्पर संस्कृत और भाषा के ज्ञान में उपकार ही होता है। इसी हेतु महाभाष्य में लिखा है - अपशब्दज्ञानपूर्वक शब्दज्ञान में धर्म होता है अन्यथा नहीं। क्योंकि जिस पदार्थ का संस्कृत शब्द जानेगा और उसके भाषाशब्द को न जानेगा तो उसके यथावत् पदार्थ का बोध और व्यवहार भी न चलेगा।'[1]

अपि च तत्रभवता मीमांसकशिरोमणिना भगवता जैमिनिनाऽपि मीमांसायाः प्रथमाध्यायस्य तृतीये पादे म्लेच्छप्रसिद्धार्थं प्रामाण्याधिकरणं पिकनेमाधिकरणं चाऽधिकुर्वता विविधभाषाणां परिज्ञानेन स्वभाषासूत्सन्नप्रयोगाणां शब्दानाम् अर्थपरिज्ञानं विधेयमिति सुनिपुणं प्रतिपादितम्। एतन्न्यायेनैव 'जजि युद्धे' इत्यस्य घञि-प्रत्यये निष्पन्नस्यास्मद्वाङ्मयेऽप्रयुज्यमानस्य पारसीकभाषायां युद्धार्थे लब्धव्यवहारस्य 'जङ्ग' शब्दस्य युद्धार्थता परिगृहीतव्यैव। तस्यैव कुत्वाभावे 'जञ्ज' शब्दस्य वरयात्रारूपः पञ्जाबीभाषायां प्रसिद्धोऽर्थोऽपि ग्रहीतुं शक्य एव। कुत्वभावाभावाभ्यामर्थभिन्नता भोग्यभोज्यादिषु दृष्टव्यवहारा। एतेनैव च न्यायेन आर्येषु पवित्रार्थेऽप्रसिद्धस्यापि 'पाक' शब्दस्य पारसीकभाषायां पवित्रार्थे प्रयोगदर्शनात् पाकशब्दस्य पवित्रार्थोऽपि सम्भावनीय एव[2]। इत्याद्यृग्वर्णेष्वसकृच्छ्रूयमाणः पाकशब्दः पवित्रार्थक एव। पवित्रार्थास्वीकारे नह्येतासामृचामर्थसामञ्जस्यमञ्जसोपपद्यते।

भाषावैज्ञानिकेन तावदिदमप्यवधेयम्, यद् बहवः संस्कृतशब्दा देशजातिप्रस्थान-

---

१. स० प्र० सन् १८७५ का संस्करण, समु० ११, पृष्ठ ३२७।

२. यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे। अनृतेभिर्वचोभिः। ऋ० ७।१०४।८॥

भेदान्नियतविषया अभूवन् देशभेदाद् यथा—रुद्रस्य 'भव' इति नाम बाहीकाः प्रायुञ्जन्त, 'शर्व' इति प्राच्याः। तदुक्तं शतपथब्राह्मणे—[1]एवमेव **'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते'** इत्युक्तं महाभाष्ये[2]। जातिभेदाद् यथा—अश्वस्य 'हयः' इति नाम देवेष्वेव प्रयोगमलभत, 'वाजी' इति गन्धर्वेषु, 'अर्वा' इत्यसुरेषु, 'अश्वः' इति मनुष्येषु। तदुक्तं बृहदारण्यकोपनिषदि—**हयो भूत्वा देवानवहत्, वाजी गन्धर्वान्, अर्वा असुरान्, अश्वो मनुष्यान्** इति[3]। साम्प्रतिकोऽरबदेशो मिश्रदेशश्च पुराऽसुरैरेवाधिष्ठितावास्तामिति पुराणेभ्यः परिज्ञायते। अरबदेशोऽद्य यावद् अश्वेभ्यः प्रसिद्धो वर्तते। अरब इति नामाप्यश्ववाचकेन 'अर्वा' शब्देन साक्षात् सम्बद्धमिवोपलक्ष्यते। अत एव भगवता पतञ्जलिना शब्दव्यवहारविषयं परिगणता **'त्रयो लोकाः'**[4] इत्युक्तम्। इमे त्रयो लोका देवासुरमनुष्यजातिरूपा एव। प्रस्थानभेदादपि शब्दो भिद्यते। यथा—'पृतन्यतः' इति 'पृतनायतः' इति यजुषि। 'मूर्च्छाय' इति चरके, 'मूर्च्छा' इत्यन्यत्र।

शब्दानां देशजातिप्रस्थानभेदेषु नियतवृत्तत्वपरिज्ञानेन तत्तद्देशीयानां संस्कृतशब्दैस्तुलना, तदपभ्रंशत्वपरिज्ञानं च सुकरं भवति। यथा संस्कृतभाषायाम् अर्ध-नेम-सामिशब्दाः समानार्थकाः। तत्रार्धशब्दस्यैव 'अद्धा' 'आधा' इत्यपभ्रंशौ साम्प्रतिकभाषासु प्रयुज्येते। नेमशब्दस्य म्लेच्छेष्वेव प्रयोग आसीदिति मीमांसायाः पिकनेमाधिकरणेन विज्ञायते।[5] अस्य म्लेच्छेषु प्रयुज्यमानस्य 'नेम' शब्दस्य अवेस्तायां 'नएम' इति पारसीकभाषायां 'नीम' इति च रूपान्तरं प्रयुज्यते। 'नीम हकीम खतरे जान' इति लोकोक्तिः प्रसिद्धैव। एवम् आङ्ग्लभाषायां प्रयुज्यमानं सेमि (SEMI) पदं 'सामि' शब्दस्यैव रूपान्तरमिति सुवचम्। लैटिनभाषायां प्रयुज्यमानं ORDO पदमर्धशब्दस्य रूपान्तरमिति स्पष्टं विज्ञायते।

अपि च, न केवलं पर्यायशब्दा एव देशजातिप्रस्थानभेदान्नियतविषया दृश्यन्ते, अपितु मूलभूताः प्रकृतयः, तदुत्पन्ना विकृतयश्चापि नियतविषयाः समवलोक्यन्ते। देशभेदाद् यथा—शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेवाभाष्यत। तस्मिन्पन्नः क्रुदन्तः 'शव' शब्दोऽस्माभिर्व्यवाह्रियत व्यवह्रियते च[6]। एवं 'कानीन' शब्दस्य प्रकृतिः 'कनीना'

---

१. 'भव इति बाहीकाः शर्व इति प्राच्याः' इति १।७।३।८॥

२. १।१।१॥ ३. १।१।३॥

४. महा० १।१।१॥ ५. १।३।६॥

६. द्र०—निरुक्त २।२

पारसीकदेशेष्वेव पुरा लब्धप्रचाराऽऽसीत्। जेन्द-अवेस्तायां तस्यैव 'कईनीन' इत्यपभ्रंशः समुपलभ्यते[1]। अस्मात् 'कनीना' शब्दान्निष्पन्नोऽपत्यार्थकः 'कानीन' शब्द आर्येष्वेव प्रयुज्यते। एवं प्रस्थानभेदादपि यथा—'उष् दाहे' 'घृ क्षरणदीप्त्योः' अनयोर्धात्वोस्तिङन्तानि पदानि वेदेष्वेवोपलभ्यन्ते। लौकिकवाङ्मयेऽनयोः 'उष्णम्' 'घृतम्' इत्यादयः कृदन्ताः शब्दा एव प्रयुज्यन्ते। एतदेव सर्वमभिसमीक्ष्य भगवता महाभाष्यकारेण पतञ्जलिना 'सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः' इत्यारभ्य 'वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकम् इत्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः' इत्यन्ते सन्दर्भे शब्दस्य महतो महीयान् प्रयोगविषयो निर्दिष्टः।

एतदेवाभिप्रेत्य एकस्या एव संस्कृतभाषायाः सकाशात् कथं विभिन्ना देशभाषाः समजायन्त इत्यस्य कारणानि निदर्शयन्तो दयानन्दस्वामिन आहुः—

'एक पदार्थ के बहुत नाम हैं। जैसे कि **रमा, क्षमा, क्षा, क्षोणी, क्षितिः, अवनिः, उर्वी, पृथ्वी, मही, रिपः, अदितिः, इडा, निर्ऋतिः, भूः, भूमिः, पूषा, गातु गोत्रा** ये २१ नाम पृथिवी के हैं (निघण्टु १।१)। सो भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न-अपभ्रंश होने से भिन्न-भिन्न भाषा बन जाती है।'[2]

भाषाविज्ञानस्य प्रादुर्भावः—भाषाविज्ञानं नाम शास्त्रमनयोरेव शताब्द्योः पाश्चात्यैर्विद्वद्भिरिदं प्रथमतयोपज्ञातम् इति प्रथते लोकव्यवहारः। परं नेयं प्रसिद्धिर्यथार्थं भजते। पाश्चात्यदेशेष्वस्य शास्त्रस्येदानीमुपज्ञानं शक्यते स्वीकर्तुम्, परन्तु भारतीयाः प्राचीनाः शब्दशास्त्रविचक्षणा आचार्या भाषाविज्ञानशास्त्रेण परः सहस्रवर्षेभ्यः प्राङ् न केवलं परिचिता एवासन् अपि त्वस्मिञ्छास्त्रे परमनिपुणतां भजन्ते स्म। तैरेतच्छास्त्रस्य सुबोधाय विभिन्नान्यङ्गान्यधिकृत्य बहुविधानि शास्त्राणि विरचितान्यभूवन्। यथा—

शब्दस्य ध्वनिमात्रमङ्गमादाय **शिक्षाशास्त्रं** नाम प्रथमं वेदाङ्गं प्रोचुः। अत्र कः शब्दः, कथमुच्चारणीयः, के च तस्य यथावदुच्चारणाय स्थान-करण-प्रयत्ना अपेक्ष्यन्ते, के च तत्रोच्चारणदोषाः, उच्चारणदोषाणां कानि कानि निमित्तानि, केन च दोषेणोच्चार्यमाणः कः शब्दः किं रूपान्तरं भजते, उच्चारणाङ्गानां विकृतेः परिरक्षणाय कावाहारविहारौ सेवनीयौ इत्येवमादयो बहवो विषयास्तत्र मीमांसिताः।

उच्चारणदोषेण कथं वर्णान्तरनिष्पत्तिर्जायत इति निदर्शनायैकमुदाहरणमिहोपस्थाप्यते। संस्कृतपदे वर्तमानो यकारः प्राकृतभाषायां जकाररूपेण विपरिणमते,

---

१. ह ओमयश्त ६।२३—'ह ओमा तास्-चित् या कइनीनो'।

२. स० प्र० सन् १८७५ का संस्क० समु० ७, पृष्ठ ३१५।

जकारश्च यकाररूपमापद्यते। यथा—यशोदा—जशोदा, यमुना—जमुना, जानाति—याणदि, जनपद—यणपद। एतादृग्वर्णपरिवर्तनकारणानां निदर्शकः कश्चिच्छिक्षाग्रन्थस्थः श्लोको भगवता पतञ्जलिना महाभाष्य उद्धृतः[1]।

एतस्मिन् श्लोके ध्वनिपरिवर्तकानि द्वादश दोषरूपाणि कारणान्युपन्यस्तानि। अत्र स्वरपदं वर्णमात्रोपलक्षकं द्रष्टव्यम्। दोषात्मकेषु द्वादशकारणेषु 'निहतं' नाम प्रयत्नाधिक्यम्, 'अर्धकं' नाम प्रयत्नाल्पत्वं द्वौ दोषावुपन्यस्तौ। आभ्यामेव दोषाभ्यां यकारजकारयोः परस्परं परिवर्तनं जायते। यतो हि यकारजकारयोरन्तः-प्रयत्नवर्जं स्थानकरणबाह्यप्रयत्नादिकं सर्वं समानम्। अत ईषत्स्पृष्टप्रयत्नजे यकारे उच्चार्यमाणे यदि निहतं नाम प्रयत्नाधिक्यं स्यात् तर्हि ईषत्स्पृष्टत्वस्य पूर्णस्पृष्टत्वरूपे विपरिणामे उच्चार्यमाणा यकारध्वनिः स्पृष्टप्रयत्नजन्यजकारध्वनौ विपरिणमते। तथा सति यकारस्य जकारापत्तिर्जायते। एवमेव स्पृष्टप्रयत्नजन्ये जकारे उच्चार्यमाणे यद्यर्धकं नाम प्रयत्नाल्पत्वं स्यात् तर्हि स्पृष्टत्वस्येषत्स्पृष्टत्वरूपे विपरिणामे जकारध्वनेर्यकारध्वनौ विपरिणामो जायते। तेन जकारो यकारतामापद्यते। अत एव प्राचीनैः शास्त्रकारैरुच्यते—एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति। इह च वाग्वज्रो भूत्वा यजमानं हिनस्ति। तथा चोक्तमाप्तैः—

स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् इति—

शब्दस्य स्वरूपमुपादाय **व्याकरणशास्त्रं** नाम द्वितीयं वेदाङ्गं प्रवृत्तम्। तत्र प्रकृतिप्रत्ययविभागकल्पनया शब्दस्य यत्साधुरूपं तद् व्याख्यायते। शब्देन च सह य आत्यन्तिकरूपेण सम्बद्धोऽर्थस्तं प्रधानीकृत्य **निरुक्तशास्त्रं** नाम तृतीयं वेदाङ्गं लब्धास्पदं बभूव। तत्र कस्य शब्दस्य कः कौ के वाऽर्थाः, कथं च तस्य प्रवृत्तिरिति विचिन्त्यते। येयं व्याकरणे शब्दस्वरूपचिन्ता, न सार्थपरिज्ञानमन्तरा सम्भवति। एवमेव निरुक्ते याऽर्थविचारणा, सापि न शब्दस्वरूपमुज्झित्य कथंचिदुपपद्यते। अतो व्याकरणशास्त्रं शब्दस्यार्थं कोडीकृत्यैव शब्दस्वरूपपरिज्ञापनाय प्रवर्तते, न शब्दार्थप्राधान्येन भाषते। एवमेव निरुक्तशास्त्रमपि शब्दस्वरूपं क्रोडीकृत्यैव तदर्थनिदर्शनाय प्रयतते, न शब्दस्वरूपं प्राधान्येन ब्रूते। अत एवोक्तं भगवता यास्केन—**व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च**[2]।

एवं षट्सु वेदाङ्गेषु शिक्षा-व्याकरण-निरुक्ताख्यानि यथाक्रमं ध्वनिं शब्दस्वरूपं तदर्थं च व्याचक्षाणा भाषाविज्ञानशास्त्रैकदेशभूतानि संहत्य कार्त्स्न्येन भारतीयं भाषा-

---

१. ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतमथो ध्मातं विकम्पितम्।
सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः ॥१।१।१॥

२. निरुक्त १।१५॥

विज्ञानं ब्रुवन्ति। इमानि शिक्षादीन्यपि प्रस्थानभेदेन बहुधा भिन्नानि। (प्राकृताद्यपभ्रंशभाषाणां व्याकरणानामप्यत्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्यः)। एभ्योऽतिरिक्तान्यपि कानिचिच्छास्त्राणि सन्ति यत्र प्रसङ्गाद् भाषाविज्ञानान्तर्गताः केचन विषयाश्चिन्त्यन्ते। यथा मीमांसाशास्त्रम्, भरतनाट्यशास्त्रम्, प्रातिशाख्यादीनि च। एतेषां शिक्षादीनां च व्याख्याग्रन्था अपि क्वचिन्महत्साहाय्यमाचरन्ति।

अस्मिन् भाषाविज्ञानविषये पाश्चात्यानां भारतीयानां च विदुषां केषुचिद् विषयेषु भूतत्वाकाशमिव महदन्तरमुपलभ्यते। यथा—

पाश्चात्या विपश्चितो विकासमतमाश्रयमाणा आदिमानवं ज्ञानरहितं भाषारहितं च पशुधर्माणमातिष्ठन्ते। तेषां मते मानवैर्बोः कालाद् अनन्तरं कथञ्चिद् भाषा प्रकल्पिता। मानवानामाद्यो वाग्व्यवहारः कथं प्रारभत, कथं च भाषाया उत्पत्तिरभूद् इत्यत्र प्रायेण सर्वेऽपि पाश्चात्या भाषाविदो विप्रवदन्ते। साम्प्रतिकास्तु 'जे० वैण्ड्रिएस' प्रभृतयो वाग्व्यवहारारम्भकारणं निपुणतया अन्विष्यमाणा अपि यदा तज्ज्ञातुं नाशक्नुवन् तदा ते 'आदौ भाषाया उत्पत्तिः कथमभवद् इत्यस्य भाषाविज्ञानेन सह न कश्चित् सम्बन्धः' इत्येतादृशं वादं प्रारभन्ते[1]।

अपि च, पाश्चात्यैर्विपश्चिद्भिः संसारस्य निखिला भाषा विभज्य ये वर्गाः प्रकल्पिताः, तदनुसारमास्माकीना सुरभारती भारोपीयवर्गे (इण्डोयोरोपियनवर्गे) परिगण्यते। भारोपीयवर्गस्थानामपि ग्रीकलैटिनप्रभृतीनां प्राचीनानां भाषाणां सहोदरीयं सुरभारती इति प्रकल्प्य तासां मातृस्थानीया काचिदन्या भाषाऽऽसीद् येदानीमस्तित्वं न भजते इति सिद्धान्तितम्। एकेन खलु पण्डितम्मन्येन कल्पनामात्रप्रसूतायां तथाकथितमातृत्वे प्रतिष्ठापितायां भाषायां कथाप्येका निबद्धा। गच्छति काले चतुष्षष्टितमोत्तरैकोनविंशतिशते (१९६४) वैक्रमाब्दे यदा 'बोघाजकोई' स्थानतः ह्यूह्यूगोविल्क्यनाम्ना पुरातत्त्वविदा भूगर्भतः, तेषां मतानुसारमेव विक्रमतश्चतुश्शतकपुरातन्यः कीलकाक्षराङ्किताः काश्चन हित्तीभाषामय्यो मुद्रा उपलब्धास्ततः प्रभृति ग्रीकलैटिनभाषाभिः सहैव सुरभारत्यपि काल्पनिक्या आदिभाषाया दौहित्री पदं प्रापिता।

---

1. The statement that the problem of the origin of language is not a linguistic order always provokes surprise. It is true nevertheless. —J. Vendryes, Language, p. 5.

For the present, the whole question of the origin of language must be ruled out of the sphere of scientific consideration for lack of evidence. —Found of Lang. P, 40.

वस्तुतस्तु पाश्चात्यविद्वद्भिर्महता प्रयत्नेन स्थापितमेतन्मतं तेषां नूतनेनानुसन्धानेनैव प्रामाण्यकोट्या बहिष्कृतं भवति। 'ग्रे' नामा कश्चिद् भाषाविज्ञो भिन्नासु भाषासु प्रयुज्यमाना नामविभक्तीः परिगणयन्नाह—'भारोपीयभाषासु संस्कृतेऽष्टौ नामविभक्तयः श्रूयन्ते, ग्रीकलिथुएनियनभाषयोः सप्त, हिट्टाइटस्लेविकभाषयोः षट्, लैटिनट्यूटेनिकभाषयोः पञ्च, एल्वानियनभाषायां चतस्रः, आर्मिनियनप्राचीनायरिशभाषयोस्तिस्र एवावशिष्टाः'[1] इति।

अनेन नामविभक्तीनां ह्रासद्योतकेनैतिह्येन सुरभारती नैव ग्रीकलैटिनभाषयोः समकक्षायां समकाले वा स्थातुमर्हति। यतो हि ग्रीकभाषायां सप्त, लैटिनभाषायां च पञ्चैव नामविभक्तयः श्रूयन्ते। एवमेव सुरभारत्या मातृपदे स्थापिता हित्ती (हिट्टाइट) भाषाऽपि न तत्पदमलङ्कर्तुं समर्था, यतो हि तस्यां षडेव नामविभक्तय उपलभ्यन्ते। विभक्तीनां चैष ह्रासः कालक्रममपेक्षते। तस्मात् कालक्रमानुसारम् उत्तरोत्तरोत्पद्यमानासु भाषास्वेव विभक्तीनां ह्रासक्रमः सम्भवति। अतो ग्रीकलैटिनसंस्कृतादयो भाषाः समकालिका इति पाश्चात्यमतं सर्वथा निर्मूलमेव। अपि च, यदि ग्रीकलैटिनसंस्कृतप्रभृतीनां मातृस्थाने प्रतिष्ठापितायां हित्तीभाषायां षडेव विभक्तयस्तर्हि तत्प्रसूतासु विभक्तीनां ह्रासस्तु शक्यते व्याख्यातुम्, उत्तरत्र सर्वत्र ह्रासस्य दर्शनात्। परन्तु संस्कृतभाषायां द्वयोः, ग्रीकभाषायां चैकस्या नामविभक्त्या वृद्धिः कथं नाम सम्भवेत्? नैव पाश्चात्या भाषाविदः समस्याया एतस्याः समाधानं कर्तुं शक्ताः। तस्मात् संस्कृतग्रीकलैटिनप्रभृतीनां परस्परं स्वसृत्वं समकालिकत्वं, हित्तीभाषायाश्च तासां मातृत्वं पूर्वकालवर्तित्वं वा नैव तर्कनिकषं सहते।

यच्चापि पाश्चात्यभाषाविदो ब्रुवते—"भारोपीयभाषाणां याऽऽदिमा भाषाऽऽसीत् तस्याम् अर्ध-एकार-अर्ध-ओकारयोः श्रवणमासीत्। तयोरर्धैकारौकारध्वन्योः ग्रीक-

---

1. In Indo-European, we find eight distinct case-forms in Sanskrit; Greek and Lithuanian have seven; Hitite and Old Church Slavic, six; Latin and Teutonic, five (Old French and Modern English, only two); Albanian, four : and Armenian and Old English, three. This reduction in the number of case-forms, with the result that some of them take over the functions of one or more others, gives rise to the linguistic phoneme now known as syncretism. The reason for this seems to be phonetic decay of the characteristic case-endings.

—Gray, p. 201.

लैटिनादिभारोपीयभाषाभिर्यथावत् संरक्षणं विहितम्, परन्तु संस्कृतभाषायां तयोरर्धैकारौकारयोः 'अकार' ध्वनौ परिवर्तनमभूत्। यथा ग्रीकभाषायाः 'एस्ति' पदे लैटिनभाषायाः 'एस्त' पदे चार्धैकारः श्रूयते। तस्यैव संस्कृतभाषायाः 'अस्ति' पदेऽकारः समजनि।"

अत्रेदं विचार्यम्—किं वस्तुतोऽर्धैकारौकारयोरेव संस्कृतभाषायाम् अकारध्वनौ परिवर्तनमभूत्, उत भारोपीयग्रीकलैटिनादिभाषासु अकारस्यैव अर्धैकारौकारयोः परिवर्तनं समजनि? एवं विचार्यमाणे पाश्चात्यानां भाषाविदामुक्तमतं न कथमपि न्याय्यपथमनुसरति। तत्र तावत् तत्रभवन्तो यां भारोपीयभाषाणामादिभाषां मातृभाषां व्यवस्थापयन्ति कल्पयन्ति वा, सैव शशशृङ्गायते। अतः शशशृङ्गायमानाया भाषाया एव सत्ता न शक्यते प्रमाणीकर्तुम्, कुतस्तस्याम् अर्धैकारौकारयोः सद्भावं कश्चित् सुचेताः शक्नोति कल्पयितुम्। तस्मात् सर्वोऽप्ययं विचारः साध्यसमहेत्वाभासकोटौ निपतति। तत्र तावत् त्रयं साध्यम्। प्रथमं कल्पिताया आदिभाषायाः सत्ता तत्स्वरूपं साध्यम्। द्वितीयं तस्याम् अर्धैकारौकारध्वनी आस्तामिति साध्यम्। तृतीयं तावेवार्धैकारौकारध्वनी अकारध्वनौ परिणतौ इति साध्यम्। एवं सर्वत्र साध्यपरम्परायां सत्यामपि पाश्चात्यानां भाषामतं विज्ञानपदवीं प्रतिष्ठितं प्रतिष्ठापितं वेत्येव महदाश्चर्यं वरम्।

वयं तु ब्रूमः—संस्कृतभाषास्थ एवाकारध्वनिर्ग्रीकादिभाषासु अर्धैकारौकारध्वनौ परिणत इति। कुत इति चेत्? **सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके** इत्यापिशलपाणिनीयशिक्षानियमात्। यदाऽकार एवाशक्त्या तालुस्थानादुच्चार्यते तदा स किञ्चिद् इकारध्वनिसाम्यं भजते। यदा कण्ठतालुभ्यामुच्चार्यते तदार्धैकारध्वनिसाम्यं लभते। यदा स एव कण्ठोष्ठाभ्यामुच्चार्यते तदार्धौकारध्वनिसाम्यं भजते। प्रत्यक्षदृश्यमेतत्, नात्र काचित् कल्पना। पण्डितशब्दो रोहतकादिप्रदेशे 'पिण्डित'सदृश उच्चार्यते। एवं खच्चरशब्दः क्वचित् छुच्चरसाम्यं गच्छति। बङ्गदेशजानामकारस्यार्धौकारसदृशमुच्चारणं तु सार्वजनीनम्, न तत् किमपि वक्तव्यमपेक्षते। एवमेव ग्रीकदेशीयानां ह्रस्वाकार उच्चारयितव्ये अर्धैकारौकारोच्चारणं स्वाभाविकमस्ति। एतत् प्रमाणी कर्तुं केषांचित् शुद्धभारतीयशब्दानां ग्रीकजनानामुच्चारणं निदर्श्यते। यथा 'मधु' शब्दं ग्रीकदेशवासिनः 'मैथ्यु' (METHU) रूपेण, 'मथुरा' शब्दं 'मेथोरा' (METHORA) रूपेण 'दशार्ण' शब्दं 'दोसोर्न' (DOSORNA) रूपेण उच्चारयामासुः। यदा तावत् तेषामयं बाङ्गानामिव स्वाभाविक उच्चारणदोष इतिहाससिद्धः, तर्हि तैरेव 'अस्ति' आदि पदस्थोऽकारोऽन्यभारतीयपदस्थाकार इवार्धैकारौकारध्वनौ न परिवर्तितः स्यादित्यत्र को नाम सचेता विश्वसेत्। एवं च पूर्वनिर्दिष्टेन शिक्षानियमेन 'अस्ति' पदम् 'एस्ति' रूपेण परिवृत्तम् अग्निपदं च लैटिनभाषायां 'इग्निस्' रूपेण, प्राचीनलिथुएनियनभाषायां 'उङ्निस्' रूपेण, स्लैवानिकभाषायां च 'ओग्निस्'

रूपेण विपरिवृत्तमुपलभ्यते। भारतीया अपि सामगाने 'अग्न आयाहि' इति मन्त्रस्थम् 'अग्नि' पदम् 'आग्नाई' इत्येवं रूपेणोच्चारयन्ति।

भारतीयास्तु विपश्चितः सृष्टेरादावेव परेशकृपयाऽऽद्यानामृषीणां हृदयेषु दैव्या वेदवाचः प्रादुर्भावं मन्यन्ते। तयैव च वेदवाचाऽऽद्यानां मानवानां वाग्व्यवहारः प्राचलत्। इयमेव दैवी वाग् उत्तरकालमभिधातृणामशक्त्यादिभिरनेकैः कारणैरपभ्रश्यमाना नानारूपाणि जग्राह। तदुक्तम्—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्[1]। इति

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति[2] इति चर्ग्वर्णः[3]।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ इति मनुः[4]

देवी वाग्व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः।

इत्याह वाग्विदामलङ्कारभूतः प्रमाणितशब्दशास्त्रो भर्तृहरिः।

प्राचीना मिश्रदेशीया यूनानदेशीयाश्चापि विद्वांसः कस्यांचिद् दैव्यां वाचि विश्वसन्ति स्म।

एवं च भारतीयानां प्राचां भाषावैज्ञानिकानां मते मानवानामादिभाषा दैवीवागेवासीत्। एषैव सुरभारती भारोपीयाणां भाषाणामपि माताऽऽसीदिति मतं योरोपदेशे सर्वप्रथमं फ्राइड्श्लैगल नामा जर्मनदेशीयो भाषाविद् घोषयाञ्चकार। तदनु ईसाईयहूदीमतपक्षपातनिमग्नैर्बिभ्यद्भिः[5] कैश्चिद् बॉपवॉडमरमैक्समूलरप्रभृतिभिर्वि-

---

१. ऋ० १०।७१।३॥

२. पशवः पशुसदृशा अनासादितज्ञानाः सामान्यजना इत्यर्थः। तथा च श्रूयते सद्यो विवाहितायै 'आशीर्मन्त्रे—'वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः'। अथर्व १४।२।२५॥

३. ऋ० ८।१००।११॥

४. १।२१॥

5. Custodians of the Pentateuch were alarmed by the prospect that Sanskrit would bring down the Tower of Babel. To anticipate the danger, they pilloried Sanskrit as priestly fraud, a kind of pidgin classic conducted by Brahmins from Greek and Latin elements. —The Loom of L, p. 174.

पश्चिद्भिः श्लैगलप्रतिष्ठापितं सत्यं मतमुत्सादयितुं प्रयत्नोऽकारि[1]। यथा सूर्यप्रकाशो न मेघानां घटाटोपैः सर्वकालं निवारयितुं शक्यः, यथा वा खग्रासग्रस्ते सूर्ये प्रसृतोऽन्धकारो न सर्वकालं स्थातुं शक्तः, एवमेव पाश्चात्यैर्विबुधैर्महता प्रयत्नेन सुरभारत्या भारोपीयाणां भाषाणां जननीपदं दूरमपास्ते सत्यपि तेषामनुसन्धानेनैवैतत् सत्यं प्रकटीभवति यदियं सुरभारत्येव भारोपीयभाषाणां जननीस्थानीया। 'ग्रे' नाम्नो भाषाविदः पूर्वोद्धृतो भारोपीयभाषासु विद्यमानानां नामविभक्तीनां परिगणको लेखः फ्राईड्श्लैगलघोषितं मतमेव शब्दान्तरैः प्रतिष्ठापयति, भारतीयं च मतमुपोद्बलयति।

नैतावदेव, वैदेशिकभाषाविद्भिः प्रकल्पिताः सेमेटिकहिमेटिकादिरूपा भाषावर्गा अपि सर्वथा अविश्वसनीया एव। पाश्चात्यविदुषां मतानुसारं सेमेटिकवर्गस्थानां भाषाणां भारोपीयवर्गस्थाभिर्भाषाभिः सह न दूरतोऽपि सम्बन्धः। परन्तु सेमेटिकवर्गपरिगणिता अरबीभाषा बहुषु विषयेषु भारोपीयवर्गे परिगणितया संस्कृतभाषया सादृश्यं धत्ते। अरबीभाषायामद्यापि संस्कृतवदेव त्रीणि वचनानि, तद्वदेव नाम्नामाख्यातजत्वनियम उपलभ्यते। यत्तु खलु त्रिवचनत्वं संस्कृतभाषातः साक्षात् प्रसूतासु भाषास्वपि नोपलभ्यते, तदेवारबीभाषायां परिदृश्यमानमसाधारणसादृश्यं किं न तयोः कञ्चित् सम्बन्धं द्योतयति। भारतीयैतिह्यानुसारं तु अरबदेशीया असुराणां वंशजाः[2]। असुराश्च देवानां ज्येष्ठा भ्रातर आसन्। त उत्तरकालं स्वीयगर्हितकर्मणा देवत्वं विहायासुरत्वं प्राप्ताः। एतच्चैतिह्यमसुराणां कृते प्रयुज्यमाने 'पूर्वे देवाः'[3] शब्दे निगूढमस्ति। एषामसुराणां सुरभारत्येव मातृभाषाऽऽसीत्। असुरेष्वेवाश्ववाचकं 'अर्वा' पदं लब्धव्यवहारमासीदिति बृहदारण्यकोपनिषद्वचसा प्रतिपादितं पुरस्तात्। एतदेव सर्वमभिसन्धाय भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना प्रत्यपादि—

---

1. One of his pupils was a brilliant young German, Friedrich Schlegel. In 1808, Schlegel published a little book, 'Uber die Sprache and Whisheit der Inder. (On the Language and Philosophy of the Indians). This put Sanskrit on the Continental map Much that is in Schlegel's book makes us smile today, perhaps most of all the author's dictum that Sanskrit is the mother of all languages.

—Badmore, The Loom of L., P. 174.

२. द्र०—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ९१, ९२ (द्वि० सं०)।

३. द्र०—अमरकोशेऽसुरनामानि।

'संस्कृत के बिगड़ने से गिरीश (=ग्रीस) लाटीन अङ्गरेज और अरब देश वालों की भाषा बनाई।'[1]

एतस्मिन् वचने 'अरब देश वालों की भाषा' इति पदानि विशेषतो द्रष्टुमर्हाणि सन्ति।

सेमेटिक-हिमेटिक-आर्लिकप्रभृतीनां भाषावर्गाणां मिथ्यात्वं पाश्चात्यविदुषामपि ज्ञानगोचरी संजातम्। अत एव 'ग्रे' नामा विपश्चिद् ब्रवीति—'आगमिष्यति स कालो यदा सम्प्रति पृथक्त्वेन स्वीकृताः प्रधानभूता भाषापरिवाराः (इण्डोयोरोपियन-हिमेटिक-सेमेटिक-आर्लिकप्रभृतयः) कस्याचिदेकस्यैव वंशस्य सिद्धा भवेयुः'[2] इति।

अतिविपुला सुरभारती

प्राक्कालिका सुरभारती शब्दतोऽर्थतश्चातिविपुलाऽऽसीत्। सा उत्तरोत्तरं मनुष्याणां मेधाया ह्रासाद् धारणाशक्तेः क्षयाद् दर्पप्रमादाशक्त्यादिभिरपभ्रंशत्व-प्रवृत्तेर्म्लेच्छत्वप्रादुर्भावाच्चोत्तरोत्तरं ह्रसन्ती भगवतः पाणिनेः काले शब्दतोऽर्थतो देशतश्चात्यन्तं संकोचं प्राप्तवती। तस्या अतिह्रासप्राप्तायाः अपि सुरभारत्या भगवता पाणिनिनाऽत्यन्तं संक्षिप्तं शब्दानुशासनं प्रोक्तम्। तदुक्तं महाभारतव्याख्यात्रा देवबोधेन—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥ इति

यस्याः किल सुरभारत्याः सप्तद्वीपायां वसुमत्यां कदाचिद् व्यवहार आसीत्, सा सम्प्रति स्वदेशेऽपि लोकव्यवहाराद् बहिर्भूता केवलं वाङ्मयमेव कृताश्रया विश्राम्यति। तत्रापि

गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्रेषु दिनत्रयं च।
अमी समाघ्राय च न्यायवादान् समागताः कुक्कुटपादमिश्राः॥

इत्येवं भूतानामस्माकं कियान् सुरभारत्या परिचय इति वयं सर्व एव विजानीमः।

---

१. स० प्र० सन् १८७५ का संस्क०, पृष्ठ ३०९।

2. In theory, it is by no means impossible that great language-groups of the world now regarded as unconnected (Indo-European, Hamitio-Semetic, Arabic, etc.) may yet be found to be genealogically related. —Gray; p. 302.

इदमत्रावधेयम्—यदि हि नाम वयं सुरभारतीप्रणयिनः, प्राचीनानामाप्तानां वचनेषु श्रद्दध्मः, तेषां च वचःप्रामाण्येन संस्कृतभाषाया एव सर्वभाषाजनीत्वं स्वीकुर्मश्चेद् अस्माकमेवेदं कर्त्तव्यं संजायते, यद् वयं पाश्चात्यविद्वद्भिर्बहुशाखात्वं प्रापितं भाषाविज्ञानं च यथाशास्त्रं परिष्कृत्य स्वमातृभाषां सुरभारतीं तस्मिन्नेव सर्वभाषाजननीपदे प्रतिष्ठापयेम, यत इयं दैवी वाक् पाश्चात्यैर्भाषाविद्भिर्महता प्रयासेन सर्वभाषाजननीपदात् प्रच्याव्यात्यन्तं दूरमपास्ता। पुनस्तां सर्वभाषाजननीपदे प्रतिष्ठापयितुमस्माभिरत्यन्तं प्रयत्नः कर्तव्यो भविष्यति। तदर्थं च त्रिविधः प्रयत्नोऽस्माभिर्विधेयः—

प्रथमं तावत् पाश्चात्यभाषाशास्त्रं सम्यगनुशील्य तच्छिद्राणि सूक्ष्मदृशावलोक्य च तत्र तथा प्रहर्तव्यं यथा न तद्दोषोद्धारः कथमपि सम्भवेत्।

द्वितीयम्—भारतीयभाषाविज्ञानस्य स्कम्भभूतानां शिक्षाव्याकरणनिरुक्तविषयाणां यावन्तोऽपि ग्रन्था उपलभ्यन्ते तेषां सर्वेषां मूलग्रन्थानां तथाविधाऽभिनवा व्याख्या विधेया ययैते शिक्षा-व्याकरण-निरुक्तविषयका ग्रन्थाः पाश्चात्यमतानुयायिभिर्बहुधा दूषिताः पुनर्निर्मलतां भजेरन्।

अष्टाध्यायीनिरुक्तादिग्रन्थविहितान् लोपागमवर्णविकारादिनियमान् उपादायैव पाश्चात्या विपश्चितो ब्रुवन्ति यद् यास्कपाणिनिप्रभृतिभिर्ये व्युत्पत्तिनियमा उच्यन्ते तैः संस्कृतभाषायामपि प्राकृतादिभाषावद् उत्तरोत्तरं महत्परिवर्तनमभूत्। एतत् परिवर्तनं निदर्शयितुमेते विद्वांस ऋग्वेदादारभ्य शतपथब्राह्मणमहाभारतस्वप्नवासवदत्ताभिज्ञानशाकुन्तलादीन् ग्रन्थानुपस्थाप्य संस्कृतभाषागतं परिवर्तनं प्रत्यक्षं प्रदर्शयन्ति। वस्तुतः को नाम चक्षुष्मान् एषु ग्रन्थेषु प्रत्यक्षं प्रतीयमानं भाषाभेदं मिथ्येति प्रभवेद् वक्तुम्। यदि हि सुरभारत्यां तादृक् परिवर्तनं स्वीक्रियते तर्हीयमपि प्राकृतादिभाषाणां समाना स्यात्। दुःखस्य त्वेतन्महत्कारणं यद् भारतीया अनभिज्ञशास्त्रतात्पर्या वैयाकरणाः 'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इति वदन्तः कालभेदात् सञ्जायमानं प्रयोगभेदं समर्थयन्ते।

यद्यस्माभिः सुरभारत्यां प्राकृतादिभाषावत् परिवर्तनं न स्वीक्रियते तर्हि साक्षात् परिदृश्यमानस्य पाश्चात्यैः पण्डितैरुपस्थापितस्य च परिहाराय अष्टाध्यायीनिरुक्तग्रन्थयोस्तादृशी व्याख्या विधेया ययोपलभ्यमानं निदर्श्यमानं च परिवर्तनं दुर्जनसन्तोषन्यायेन स्वीकृत्यापि समाहितं भवेत्।

यावदस्माभिः सुरभारत्याः परिचयो लब्धः, पाश्चात्यभाषाविज्ञानमधीतम्, स्वीयानि च शास्त्राणि सूक्ष्मदृशाऽवलोकितानि, तदनुसारं दृढतया शक्यत एतद् वक्तुं, यत् सुरभारत्यामद्य यावत् प्राकृतादिभाषावत् किञ्चिदपि परिवर्तनं नाभूत्। यदपि

परिवर्तन प्रतीयते तदपि प्रतीयमानमेव, न तु वास्तविकम्। तस्याश्च प्रतीतेरेकमेव कारणम्, यदियं सुरभारती पुराकाले शब्दतोऽर्थतश्चातिविपुलाऽऽसीत्। तस्यामुत्तरोत्तरं शब्दतोऽर्थश्च ह्रासोऽभवत्। तथा सति कस्यचिच्छब्दस्य कदाचिल्लोपोऽभवत्, अपरस्य चापरकाले। तेन कस्यचित् शब्दस्य प्रकृतिरेवावशिष्टा, कस्यचिद् विकृतिरेव। एवं यथाक्रममुत्सन्नमानाया भाषायास्तत्तत्कालनिबद्धेषु ग्रन्थेषु भाषाभेदस्य प्रतीतिः स्वाभाविक्येव। सुरभारत्याः सर्वस्मिन्नपि वाङ्मये न तादृशमेकमप्युदाहरणं निदर्शयितुं शक्यते, यस्य पुराकालेऽन्यथा प्रयोगो बभूव, उत्तरकाले च तदेव विपरिणम्य प्रयुज्यमानमपि सुरभारत्या अङ्गं स्यात्। वयं तु सुरभारत्या सह पालिप्राकृतादिभाषाणां तुलनां विधाय एतन्निश्चितवन्तो यद् यस्यापि सुरभारतीशब्दस्य कथमप्यपभ्रंशो लोके लब्धप्रचारोऽभूत् तत्कालमेव तस्य साधुशब्दस्य प्रयोगोऽपि शिष्टैः स्वीयभाषायां परित्यक्तः। येन तद् द्वारा तत्सम्बद्धापभ्रष्टशब्दस्य शिष्टभाषायां न कथमपि भवेत्। अन्यथा पालिप्राकृतादिभाषासु अपभ्रंशरूपेण प्रयुज्यमानस्य पुरा च संस्कृतभाषायां निर्बाधतया लब्धप्रचारस्य तृतीयाबहुवचनस्य भिस औत्तरकालिकेषु संस्कृतग्रन्थेषु प्रयोगः कथं नोपलभेत। एवमेव पाणिनीये धातुपाठे भ्वादौ पठ्यमानस्य कृञ्धातोः पुरा प्रयुज्यमानानां करत्यादिरूपाणां लौकिकसंस्कृतग्रन्थेषु प्रयोगः कुतो न दृश्येत (पाणिनीयधातुपाठे भ्वादिगणाद् भूधातोर्निष्कासनं सायणाचार्येण कृतमिति माधवीयधातुवृत्तित ऋग्भाष्यात्[1] च ज्ञायते)। अतो विज्ञायते 'अनभिधानान्न प्रयुज्यते' इति वैयाकरणानां नियमे पूर्वनिर्दिष्टमेव कारणं न कारणान्तरम्।

एवं चातिविपुलायाः सुरभारत्या उत्तरोत्तरं ह्रासवशात् परिज्ञायमाना परिवृत्तिर्न वास्तविकी, अपितु भ्रान्तिमूलैव।[2]

तृतीयम्—यावान् सुरभारत्याः शब्दराशिरस्माभिरधिगतपरिचयो विद्यते, न तावतैव देश-देशान्तराणां भाषाणां तुलनां विधायेमां देववाणीं सर्वभाषाजननीपदं प्रतिष्ठापयितुं शक्नुमः। एतदर्थं दैव्या वाचः संस्कृतस्यातिप्राचीनकालिकं विपुलस्वरूपम्, यदिदानीं बहुधा विनष्टं तस्य समुद्धाराय प्रथममस्माभिः प्रयतनीयम्। सन्ति नः सकाशे प्राचीनमहर्षिभिः सुरक्ष्यास्मभ्यं प्रत्तास्तादृशा उपायाः, यैरनायासेनैव तस्या विपुलस्वरूपस्य समुद्धारं कर्तुं शक्नुमः।

---

१. १।८२।१॥

२. एतद्विषयस्य विस्तरेण परिज्ञानार्थमस्मदीयं 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास' इति ग्रन्थस्य प्रथमोध्यायः परिशीलनीयः।

तत्र प्रथमं पाणिनीयं व्याकरणमेव महत्साहाय्यमत्राचरति परन्त्वष्टाध्याय्यास्तादृशी व्याख्या कर्तव्या भविष्यति यया विनष्टशब्दराशेः समुद्धारः स्यात् (एतादृश्या व्याख्यायाः स्वरूपमग्रे निदर्शयिष्यते)। अपरं च, यावदस्माकं संस्कृतस्य प्राचीनं वाङ्मयमुपलभ्यते, तत्र तादृशाः प्रयोगा अन्वेषणीया ये पुरालब्धप्रचारा सन्तोऽप्युत्तरकालमप्रयुज्यमानतां गताः। एतादृशान् एव प्रयोगान् अर्वाचीना वैयाकरणाश्छान्दसान् आर्षान् सौत्रान् वा मत्वा न केवलमुपेक्षन्ते, अपितु प्रकारान्तरेण तेषामपशब्दत्वमुद्घोषयन्ति। तथा चाह शब्दकौस्तुभे भट्टोजिदीक्षितः—

"कथं सखिना पतिना पतौ ? अत्र हरदत्तः—'छन्दोवद् ऋषयः कुर्वन्ति' इति। अस्यायमाशयः—असाधव एवैते त्रिशङ्वाद्ययाज्ययाजनवत् तपोमाहात्म्यशालीनां मुनीनाम् असाधुप्रयोगोऽपि नातीव बाधत इति।"

एवं हरदत्तोऽप्याह—'इतिहासपुराणेष्वपशब्दा अपि सन्ति' इति।

आः शान्तं पापम्, शान्तं पापमिति। ये हि नाम सर्वज्ञकल्पाः शिष्टा महर्षयः शब्दार्थेषु मर्यादात्वेन स्वीक्रियन्ते महाभाष्यकृता त एवापशब्दान् प्रयोक्ष्यन्तीति को नाम सचेताः श्रद्दधीत। यदि हि वयमेव महाभारतपुराणादिषु अपशब्दान् स्वीकुर्मस्तर्हि किमपराद्धं महाभारतादिग्रन्थनिर्मातृन् चारणभाटादिशब्दैः समयमाणैः पाश्चात्यविद्वद्भिः ? तस्माच्छान्दसानामार्षाणां सौत्राणां वा प्रयोगाणामपशब्दत्वाग्रहस्त्वप्रामाणिक एव। एवं चैतादृशशब्दानामन्येऽपि समानरूपाः शब्दा ऊहनीयाः। पाणिनीयव्याकरणस्य वैज्ञानिक्या व्याख्यया, प्राचीनव्याकरणोपलब्धैः नियमैः, प्राचीनवाङ्मयोपलब्धशब्दसमूहेन चास्याः सुरभारत्या अतिप्राचीनं विपुलं स्वरूपमनायासेनैवोपस्थापयितुं शक्यते।

पाणिनीयव्याकरणस्य कीदृशी वैज्ञानिकी व्याख्या विधातव्या, कथं च तयोत्सन्नानां प्रयोगाणां पुनरुद्धारस्य सम्भव इति प्रदर्शनाय केषाञ्चित् सूत्राणां तादृशी व्याख्या प्रस्तूयते—

अस्ति ह्येकं पाणिनीयं सूत्रम्—**कन्यायाः कनीन च**[1]। अत्र च कन्याशब्दादपत्यार्थेऽण्प्रत्ययो विधीयते। कन्याशब्दस्य स्थाने कनीनादेशश्च क्रियते। एवं कानीनपदं व्युत्पाद्यते। यदि नामास्य सूत्रस्यैतदेव तात्पर्यं, यत् कानीनपदं कन्याशब्दस्यैव ताद्धितं रूपम्, तर्हि को नाम भाषावैज्ञानिकोऽत्र श्रद्धास्यति। नहि कन्याशब्दादणि आञ्जस्येन कानीनपदं सिध्यति। ताद्धितेन नियमेन तु कानीनस्य प्रकृतिः कनीना एवेति निःसंशयं शक्यते वक्तुम्। वस्तुतस्तु भगवान् पाणिनिरिममेवार्थं द्योतयितुं

१. अष्टा० ४।१।११६॥

कन्याशब्दस्य स्थाने मूलप्रकृतिभूतं 'कनीन' प्रातिपदिकमादिशति। भगवतः पाणिनेः काले कानीनशब्दस्य प्रयोगस्तु विद्यमान आसीत् परन्तु तत्प्रकृतेः 'कनीना' शब्दस्य लोके व्यवहारो नासीत्। अतः पाणिनिः कनीनाशब्दस्य समानार्थकं लोके व्यवह्रियमाणं कन्याशब्दमुपादाय तस्मादण्प्रत्ययं विधाय लुप्तां मूलप्रकृतिं तत्स्थान आदिष्टवान्।

इदमपरं सूत्रम्—**मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च**[1]। अस्यायमर्थः—मनुशब्दादपत्येऽर्थे अञ्यतौ प्रत्ययौ भवतः, तस्य षुगागमश्च। मनोरपत्यं मानुषः मनुष्यः। अत्रापि नैव ताद्धितेन नियमेन मनुष्यमानुषयोर्मनुशब्दः प्रकृतिर्भवितुमर्हति। मनोरपत्यं तु मानव एव, न मनुष्यो मानुषश्च। मनुष्यमानुषशब्दयोस्तु षकारान्ता 'मनुष्' शब्दः प्रकृतिः। इयं च षकारान्ता प्रकृतिर्लोकेऽप्रयुज्यमानाऽपि वेदेषु बहुत्र प्रयुज्यते। अत एव भगवता यास्केन **'मनुष्यः कस्मात् ? मत्वा कर्माणि सीव्यति मनोरपत्यं मनुषो वा'**[2] इति ब्रुवता षकारान्तो मनुष् शब्दोऽपि प्रकृतित्वेन निर्दिष्टः। वस्तुतो भगवान् पाणिनिरपि मनोः षुगागमं विधाय 'मनुष्' स्वरूपं प्रतिपाद्य मनुष्यमानुषयोर्लोकेऽलब्धप्रचारां मूलप्रकृतिमेव प्रकारान्तरेण निदर्शयति। यदि पाणिनीयसूत्रस्य यथाश्रुत एवार्थोऽभिप्रेतः स्यात् तर्हि अपत्यार्थादन्यत्र **'मानुषं हते कुर्वन्ति'** शातपथिकं 'मानुषाणि च कर्माणि' इत्याद्यकविप्रयुक्तं मानुषपदमसाधु इत्येव वक्तव्यं स्यात्, अपत्यार्थस्याभावात्। अत्र तु 'तस्येदम्' (इत्यर्थे प्रयोगो दृश्यते,न चास्मिन्नर्थे पाणिनिना मनोः षुगागमो विधीयते। अस्मद्व्याख्यानुसारं तु षान्ताया मानुषप्रकृतेः सद्भावे ज्ञापिते, तस्मात् तस्येदमित्यर्थेऽप्यणि मानुषरूपं सम्भवति।

यद्युच्येत—कानीनपदस्य कानीना प्रकृतिर्न कन्या, मनुष्यमानुषयोर्मनुष् षकारान्ता प्रकृतिर्न मनुरुकारान्ता, तर्हि भगवता पाणिनिनाऽयमादेशागमादिविधानरूपो द्रविडप्राणायामः कुत आश्रितः, न स कानीनपदव्युत्पादनाय कनीनाप्रकृतिमेवोपाददीत, एवं मनुष्यमानुषयोः षकारान्तां मनुष्प्रकृतिम् ? उच्यते—'शब्दं व्युत्पादयता न तदर्थः सर्वथोज्झितुं शक्यः' इत्युक्तं पुरस्तात्। तथा सति यदि हि भगवान् पाणिनिः कानीनशब्दं व्युत्पादनाय कनीनामेव प्रकृतिमुपादद्यात्, मनुष्यमानुषयोश्च कृते षकारान्तं मनुष्प्रकृतिम्, तर्हि शब्दार्थज्ञानस्य लोकायत्तत्वाद् अनयोश्च लोके व्यवहाराभावाद् अनिर्ज्ञातार्थयोरेवोपादानं कुर्यात्। तथा सति लोकेऽनयोरप्रयोगात् कश्चिदपि तदर्थौ बोद्धुं समर्थो न स्यात्। एवं च कृत्वा शास्त्रकारेणानयोरर्थोऽपि वक्तव्यो भवेत्।

---

१. अष्टा० ४।१।१६१॥ २. निरुक्त ३।७॥

तत्र भगवान् परमकारुणिकः पाणिनिरेकेनैव प्रयत्नेन कार्यद्वयं साधयति । कनीना-देशविधानेन कानीनपदस्य विलुप्तां मूलभूतां प्रकृतिं प्रज्ञापयति, कन्याशब्दं चोपादाय विलुप्तप्रकृतेः कनीनायाः कन्यारूपोऽर्थ इति च बोधयति । एवमेव मनुशब्दस्य षुगागमं विधाय नष्टप्रयोगषकारान्तं मनुष्शब्दं बुद्धावुपस्थापयति, मनुशब्दोपादानेन च विलुप्तप्रकृतेर्मनुष्शब्दस्यार्थं निदर्शयति इत्यहो एतेन शरेण लक्ष्यद्वयनिपातनमिव पाणिनेः कार्यं तस्य बुद्धेः परमोत्कर्षं द्योतयति । तदर्थं कस्य पुनर्विपश्चितो 'नमः परमर्षये पाणिनये' इति ब्रुवतः सश्रद्धं शिरो न नमेत् ।

अनयैव च दिशा समासान्तप्रकरणे व्याख्यायमाने तत्रापि च 'विभाषा समासान्तो भवति' इति पतञ्जलेर्ज्ञापनमुररीकृत्य परःसहस्रं विलुप्तप्रयोगाः शक्या ऊहितुम् । तथा चोहितेषु बहवः प्रयोगाः प्राचीनवाङ्मये समुपलभ्यन्ते । यथा **ऊधसोऽनङ्**[1] इत्यनेनानङादेशेन निर्दर्शितस्य ऊधन् शब्दस्य ऋग्वेदे बहवः स्वतन्त्राः प्रयोगा दृश्यन्ते ।

नामधातुप्रकरणे पठितेन **सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग्वक्तव्यः**[2] इत्यनेन 'दधिस्यति' 'मधुस्यति'[3] इव सर्वेषामपि अजन्तानां प्रातिपदिकानां सान्तरूपमपि शक्यते विज्ञातुम् । एतेन **नियमेन** ज्ञापितस्य सकारान्तस्याग्निशब्दस्य **सर्वमुख-स्थानमवर्णमित्येके** इति शिक्षावचनेन अकारस्येकारोकारौकाररूपेण प्रभ्रंशे इग्निस् उङ्निस् ओग्निस् आदयः सान्तप्रयोगा भारोपीयभाषासूपलभ्यन्त इत्युक्तं पुरस्तात् । इत्थमेव **ओजसोऽप्सरसो नित्यं पयसस्तु विभाषया**[4] इति नियमेन सामान्यरूपेण सान्तशब्दानां सकारलोपे सति अजन्तरूपाण्यप्यूहनीयानि । तथा सति **तपोवासनित्यां**[5] इति चरकवचने तपसोऽकारान्तत्वमपि स्वीकृत्य सन्धिरञ्जसोपपादयितुं शक्यते । **सातिस्यां मनिन्मनिणौ**[6] इत्युणादिसूत्रेण विहितस्य मनिणः **संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** इति नियमेन धातोरुपधाया वृद्ध्यभावेन बहुलग्रहणाद्वा मनिन्विधानेन 'अत्मन्' शब्दे-ऽपि ज्ञापिते **गूढोऽत्मा प्रकाशते**[7] इत्युपनिषद्वचनेऽञ्जसा सन्धिरुपपद्यते । अन्यथा 'गूढो-ऽत्मा' इत्यन्याय्यः सन्धिः स्यात् । अयं चात्मन् शब्दो महाभारतेऽसकृत् प्रयुज्यते । यथा **आत्मभूतैरदभूतात्मा** इति शान्तिपर्वणि ।[8]

---

१. अष्टा० ५।४।१३१॥ २. द्र०—महा० ७।१।५१॥

३. मधुष् शब्दस्य प्रयोगः—मधुषा संयौति । तै० सं० २।४।६॥

४. महा० ३।१।११॥ वा० ५. सूत्र १।६॥

६. उ० ४।१५४॥ ७. का० ३।१२॥

८. ३३७।१६॥

इयं च मया कतिपयैरुदाहरणैर्निर्दिश्यमाणा पाणिनीयतन्त्रस्य व्याख्या न प्रमाणविरहिता, अपितु भगवत्पादैर्वार्तिककारैर्महाभाष्यकारैश्चासकृद् विज्ञापितमार्गा। तथा हि 'नेष्टृ'शब्दव्युत्पादनाय **नयतेः ष्वुक् च**[1] इति वाक्यकारीयं वचनम्। अत्र ष्वुगागमात् पूर्वं गुणं कृत्वा ष्वुग्विधाय या नेष् प्रकृतिः सम्पाद्यते सैव नेष्टृपदस्य मूलभूता प्रकृतिरित्यर्थस्य ज्ञापनाय महाभाष्यकारैरुच्यते—**नेषतिर्घात्वन्तरम्। कथं ज्ञायते नेषतिर्घात्वन्तरमिति ? नेषतु नेष्टादिति दर्शनात्** इति। इत्थमेव **सुधातुरकं च**[2] इत्यत्र **व्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बानामिति वक्तव्यम्** इति वार्तिकं व्याख्याय भाष्यकारैरुक्तम्—**तर्त्तर्हि वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम्। प्रकृत्यन्तराण्येवैवंजातीयकानि** इति। कृताकङ्रूपाणीत्यर्थः। एवं तत्रभवता महाभाष्यकारेणानेकत्र प्रकृत्यन्तरं द्योतयता इयं व्याख्यानपद्धतिः प्रमाणीकृता। भट्टकुमारिलस्तु साक्षादेव ब्रवीति—

यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणं तदुपलक्षितरूपाणि च।[3]

एवं यथा सुरमारत्या विपुलशब्दराशिपरिज्ञानाय पाणिनीयतन्त्रस्य वैज्ञानिकी व्याख्या अपेक्ष्यते तथैव संस्कृतशब्दानामर्थबाहुल्यपरिज्ञानाय निरुक्तशास्त्रस्यापि वैज्ञानिकी व्याख्या विधातव्या। अन्यथा यथास्थितव्याख्याया आधारेण निरुक्तशास्त्रे ये ये दोषा उद्भावितास्ते न साकल्येन कथमपि समाधातुं शक्यः। निरुक्तशास्त्रविषये कीदृशी पाश्चात्यविदुषां तदनुयायिनां च भावनेति ज्ञापनाय तेषां कानिचिद् मतान्युपस्थाप्यन्ते।

तत्र खलु मैक्डानलो ब्रवीति—'यास्ककाले वैदिकपदानां वास्तविकोऽर्थो विलुप्त आसीत्। स तु यथा कश्चिदन्धकाराकृत्ते प्रकोष्ठेऽभीष्टं वस्तु ग्रहीतुमितस्ततो हस्तं चालयति, तादृगेव प्रयतते। तत्र प्रयतमानोऽपि तमर्थमनधिगम्यैवैकस्य शब्दस्य बहुभ्यो धातुभ्यो व्युत्पत्तिं प्रदर्श्य तद्विषये सन्देहद्योतनाय वा शब्दं प्रयुङ्क्ते। यथा—विराट् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद् वा।'

अपरः खलु पाश्चात्यमतानुयायी डा० राजवाड़े स्वसम्पादितनिरुक्तशास्त्रस्योपोद्घाते ब्रूते—

१—नैतन्निरुक्तशास्त्रं विज्ञानात्मकमपितु विज्ञानस्योपहासकम्।

२—मयैतत् कथयितुं साहसः क्रियते यन्निरुक्तस्य निर्वचनविधिर्मूर्खतापूर्णः।

---

१. महा० ३।२।१३५ वा० २. अष्टा० ४।१।९७॥

१. तन्त्रवार्तिक।

सत्यप्येवमिदमद्य यावद् विद्यास्थाने प्रतिष्ठितमित्येवाश्चर्यकरम् ।

३—निरुक्ते बहूनि निर्वचनानि भावरहितानि । कल्पितसिद्धान्ताश्रयेणैव तदीयानि बहूनि निर्वचनान्यशुद्धानि । यानि त्वस्य शुद्धानि निर्वचनानि तेषां संख्या त्वल्पीयसी।

अयमेव महानुभावः शुद्धाशुद्धनिर्वचनानाम् आहत्य संख्यामेवमाह—द्वादशशतेषु निर्वचनेषु प्रायेण सार्धशतद्वयनिर्वचनानि शुद्धानि सन्ति ।

इत्थमेवानेकभाषाविद् डा० सिद्धेश्वरवर्माऽप्याह—

यास्कस्य निर्वचनोत्साह उन्मत्तत्वसीमां प्राप्तः । इयमेव निर्वचनविषयिक्युन्मत्तता तस्य बुद्धिमपि नाशितवती । अतस्तस्य निर्वचनदारिद्र्यं विलक्षणं दृश्यते । एतेन गम्भीरदोषेण तस्य निर्वचनानि व्यर्थानि अनावश्यकानि सारहीनानि सत्याद् दूरं गतानि सन्ति । स यास्क एतावदपि न बुद्धवान् यत्कस्यचिच्छब्दस्य लक्षणयापि कश्चिदर्थः प्रथते लोके । स लाक्षणिकार्थस्यापि पृथङ् निर्वचनाय प्रवर्तते । इति ।

य एते निरुक्तशास्त्रविषयका केचन दोषाः पुरस्तात् प्रकीर्तितास्ते सर्वेऽपि व्युत्पत्ति-निर्वचनयोर्भेदं व्याकरणनिरुक्तशास्त्रयोश्च व्यापारक्षेत्रभेदमपरिज्ञायैवोद्भाविताः । एते खलु महानुभावा निरुक्तशास्त्रं व्युत्पत्तिशास्त्रं व्याकरणवत् प्रकृतिनिर्धारकं शास्त्रं मन्वते । वस्तुतस्तु व्युत्पत्तिशास्त्रं तु व्याकरणशास्त्रमुच्यते । तत्रैव धातोः प्रातिपदिकाद्वा शब्दा व्युत्पाद्यन्ते । निरुक्तं तु निर्वचनशास्त्रम् । तच्च प्रतिशब्दं यथासम्भवमेकमनेकान् वाऽर्थान् ब्रूते । न ह्यत्र शब्दानां प्रकृतिभूता धातवो निदर्श्यन्ते, अपि तु कस्य शब्दस्य कस्मिन्नर्थे कस्माद्धेतोः प्रवृत्तिरस्तीत्येव चिन्त्यते । अत एव निरुक्तवृत्तिकृता भगवता दुर्गेणोक्तम्—'तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानम् अर्थनिर्वचनम् । व्याकरणं तु लक्ष्यप्रधानम्' इति । अनन्तभट्टोऽपि भाषिकसूत्रव्याख्याने आह—'निर्वचनं नाम अर्थस्यान्वाख्यानम्'[1] इति । एवं सायणप्रभृतयोऽन्येऽपि भारतीया विद्वांसः प्राहुः ।

निरुक्तशास्त्रमर्थनिर्वचनायैव प्रवृत्तम्, न शब्दव्युत्पत्तय इति विस्पष्टयितुं मैक्डानलेनोद्धृतः सन्दर्भ एव इह प्रस्तूयते—

विराड् विराजनाद्वा विप्रापणाद्वा । विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा । विराधनादूनाक्षरा, विप्रापणादधिकाक्षरा[2] ।

इतः पूर्वमुत्तरं च वैदिकछन्दसां यानि नामानि छन्दःशास्त्रेषूपलभ्यन्ते तेषु

---

१. ३।६॥ २. निरुक्तम् ७।१३॥

केषाञ्चित् निर्वचनानि शास्त्रकारेण प्रस्तूयन्ते। अत इदं विराट् पदमपि छन्दो नामेह निरुक्तः। विराड्विशेषणं छन्दःशास्त्रेषु त्रिधा प्रयुक्तम्। तथाहि—

१—दशाक्षरात्मके पादे। यथाह पिङ्गलः—**विराजो दिशः**[1]। एतद्विवृण्वन् हलायुध आह—'पाद इत्यनुवर्तते। यत्र क्वचिद् वैराजः पाद इत्युच्यते तत्र दशाक्षरः प्रत्येतव्यः' इति। दशसंख्या पूर्णसंख्याया उपलक्षिका लोके विज्ञायते।

२—द्व्यक्षरन्यूने छन्दसि। तथा चोक्तम्—**द्वाभ्यां विराट् स्वराजौ**[2]। अत्राह हलायुधः—'न्यूनाधिकग्रहणमनुवर्तते। द्वाभ्यामक्षराभ्यां न्यूनाधिकाभ्यां गायत्री यथाक्रमं विराट् स्वराट् संज्ञा भवति। एवमुष्णिगादिष्वपि द्रष्टव्यम्' इति।

३—एकादशाक्षरात्मके त्रिपादयुते (११×३=३३ अक्षरात्मके) अनुष्टुभि। यथाह ऋक्सर्वानुक्रमणीकारः कात्यायनः—**दशकास्त्रयो विराट् एकादशको वा** इति। अर्थात् यस्मिन्ननुष्टुभि दशाक्षरपरिमितास्त्रयः पादाः, एकादशाक्षरपरिमिता वा त्रयः पादाः स विराड् अनुष्टुब् भवति।

निरुक्ते एषामेव त्रिधा व्यवहृतानां विराजामर्थनिर्वचनाय 'विराड् विराजनाद्वा' इत्यादि यास्काचार्यः प्रस्तुतवान्। तत्र विराट्शब्दस्य ये त्रयोऽर्थाश्छन्दःशास्त्रेषूपलभ्यन्ते तान् लक्षीकृत्य त्रिभ्यो धातुभ्यस्तेषां निर्वचनं ब्रवीति यास्कः। न त्रिभ्यो धातुभ्योऽयं विराट् शब्दो निष्पन्न इति तस्य भावः। स्वाभिप्राय स्वयमेवाह यास्कः—या सम्पूर्णाक्षरा—दशाक्षरा सैका विराट्। अयमभिप्रायो विराजनात् सम्यक् दीपनाद् विज्ञेयः। यो हि परिपूर्णाङ्गो भवति स एव दीप्यते प्रकाशते। यच्छन्दो द्वाभ्यामक्षराभ्यां हीनस्तत्र यो हीनार्थको विराट् शब्दः प्रयुज्यते स विराधनार्थकत्वाद् विज्ञेयः। विगतं राधनं संसिद्धिः पूर्णता यस्मात् तादृक् छन्दो विराट् विशेषणेन निदर्श्यते। एतदेवाह—**विराधनादूनाक्षरा**। यस्मिन् पादे पूर्णसंख्यातोऽधिका अर्थाद् एकादशसंख्यामितान्यक्षराणि भवन्ति तथाभूतपादत्रयात्मिकाऽनुष्टुब् विराट् शब्दवाच्या भवति। इममर्थं द्योतनायोक्तम्—**विप्रापणाद् वा**। अत्र विशेषेण आधिक्येन प्रापणं प्राप्तिर्यस्मिन् तस्मात् तादृक्पदात्मकं छन्दो विराडुच्यत इति भावः। एतदेवाह—**विप्रापणादधिकाक्षरेति**।

अस्माभिर्निरुक्तवचनस्य या व्याख्या कृता सा सर्वेषामपि दुर्गस्कन्दादिप्राचां व्याख्याकर्तॄणामनुकूला। इत्थमुक्तवचने व्याख्यायमाने यास्को विराट्शब्दं विपूर्वाद् राजृधातोः, विपूर्वाद् राधधातोः, विपूर्वाच्च प्राप (प्र+आप्लृ) धातोर्व्युत्पादयति। तत्र चार्थनिश्चयस्याभावाद् वा शब्द प्रयुङ्क्ते इत्याक्षेपो निर्मूलतां भजते। इत्थमेव

---

१. ३।५॥ २. छन्दःसूत्रम् ३।६०॥

बेल्वेल्करसिद्धेश्वरवर्मभ्यां येषां येषां निर्वचनानामयुक्तता प्रतिपादिता साऽपि दूरेऽपास्ता भवति । यतो हि ताभ्यां 'निर्वचने यास्कस्य तत्तच्छब्दस्य धातुप्रदर्शने तात्पर्यम्' इत्यन्यथा विज्ञायैव निरुक्तकारः तदीयं शास्त्रं चाक्षिप्तम् ।

एवं च निरुक्तशास्त्रस्यार्थान्वाख्यानपरेण व्याख्यानेनैतच्छास्त्रविषये समुद्भाविता दोषास्तु निवार्यन्त एव, संस्कृतशब्दानां बहुत्वं चापि विस्पष्टा भवति ।

इदमप्यवधेयम्—पुराकाले सर्वे शब्दा यौगिका एवासन् यथा नैरुक्तानां वैयाकरणेषु च शाकटायनस्य मतम् । तेषु च समानार्थकत्वेन सम्प्रत्यभिमता पर्यायताऽपि नासीत् । सर्व एव शब्दाः सूक्ष्मार्थभेदेनार्थान्तरं भजन्ते स्म । एतत्सिद्धान्तज्ञापकोऽन्याय्यश्चानेकशब्दत्वम् जैमिनीयो न्यायोऽद्यापि जाग्रन् सुरभारत्याः पौर्वकालिकं गौरवं स्मारयति । उत्तरोत्तरं मनुष्याणां मतिमान्द्याद् यौगिकार्थत्वेन यदर्थबाहुल्यमासीत् तस्य परिक्षयात् यौगिका एव शब्दा योगरूढत्वं गताः । तदनु केषुचिच्छब्देषु धात्वर्थप्रतीतेः सर्वथा विरहे त एव रूढत्वं प्राप्ताः । एवं मूलतो यौगिका एवैकविधाः शब्दा यौगिक–योगरूढ–रूढभेदेन त्रिधा विभक्ताः । तदुत्तरमेतादृशोऽपि अन्धकारमयः कालः समायातो यत्र पाचकयाजकादयो यौगिका अपि कृदन्ता रूढत्वं सम्प्राप्ताः । अत एव कातन्त्रव्याकरणप्रवक्त्रा कृदन्तप्रकरणस्य परित्याग एव कृतः । तदाह कातन्त्रव्याख्याता दुर्गसिंहः—

'वृक्षादिवदिमे रूढा न कृतिना कृताः कृतः ।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये ॥' इति ।

एतेन सर्वेषामपि कृदन्तानां रूढपक्षे निक्षेपः स्पष्ट एव । इत्थमेव पुरा ये शब्दाः सूक्ष्मार्थभेदेन भिन्नार्था आसन् त उत्तरकाले मतिमान्द्यात् सूक्ष्मार्थभेदापरिग्रहात् पर्यायत्वं प्राप्ताः । तेन वैदिकवाङ्मये पर्यायत्वे प्रसिद्धिं गतानां जीवनम् अमृतम् पयः क्षीरम् प्रभृतीनां यावत् सूक्ष्मार्थभेदो न ज्ञायते तावद् वैदिकवाङ्मयस्य वास्तविकी व्याख्यां कर्तुं न कोऽपि प्रभवेत् ।

अस्मिन्नेव च महामोहसमये काले 'अन्यद्धि व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यद्धि प्रवृत्तिनिमित्तम्' इत्येतादृशोऽशास्त्रीयो वादः प्रादुर्भूतः । न हि क्वचिदपि प्राचीने वाङ्मये कुशलपदस्य 'कुशान् लातीति कुशलः' इत्येवंभूता व्युत्पत्तिरुपलभ्यते । न चाप्यस्मिन्नर्थे कुशलपदस्य क्वचित् प्रयोगोऽप्युपलभ्यते । नहि स्वार्थं परित्यज्य कश्चिदपि शब्दो व्युत्पादयितुं शक्यत इति प्राचां मतम् । अतः कुशलपदस्य कुशान् लातीति व्युत्पत्तिरेवाव्युत्पत्तिः । एवं च 'कुशानामाहरको मुख्योऽर्थः, पटुरिति तु लाक्षिणकः' मम्मटप्रभृतीनां मतमप्यश्रद्धेयम् । वस्तुतस्तु कुशलशब्दो वृषलवदौपाधिकः । दशपादीवृत्तिकारेणायं शब्द एवं व्याख्यातः—कुश इति सौत्रो धातुः वैदुष्यारोग्ययोः ।

कोशति कोशनं वा कुशलो मेधावी, कुशलमारोग्यं च[1]। एवं प्रवीणशब्दविषयेऽपि द्रष्टव्यम्।

एवं मया यथाप्रज्ञं भारतीयभाषाविज्ञानमधिकृत्य किञ्चिदुक्तम्। प्रसङ्गादन्येऽपि तत्सम्बद्धा विषया उपन्यस्ताः। भारतीयभाषाविज्ञानस्य त्वेते मूलभूता राद्धान्ताः—

१. संस्कृतभाषैवाद्या मानवानां वागासीत्। देवा असुरा मनुष्याश्च त्रिविधा लोकाः संस्कृतभाषिण एवासन्।

२. आदिकालिका देवभाषा शब्दतोऽर्थतश्चातिविपुला उत्तरोत्तरं मनुष्याणां मतिमान्द्याद् धारणाशक्तेः क्षयात् प्रमादादिदोषेभ्यश्च ह्रासतां गता।

३. अस्या भाषायाः सहस्रशः पदानि नियतविषयाण्यासन्। अतस्तत्तद्देशेषु तेषां तेषामेव नियतविषयाणां शब्दानामपभ्रंशा दरीदृश्यन्ते।

४. उत्तरकालमस्यामेवापभ्रंशानां प्रादुर्भावाद् विविधा लोकभाषाः समजनिषत।

५. अत एवोत्तरोत्तरं विकृतौ सत्यामपि प्रायेण सर्वासु भाषासु, विशेषतो भारोपीयभाषासु देववाचा सादृश्यमुपलभ्यते।

६. यदा खलु पाणिनीयस्य व्याकरणस्य प्रवचनमभूत् तदानीं संस्कृतभाषा शब्दतोऽर्थतश्चात्यन्तं संकुचिताऽभूत्।

७. भारतीयानां मतानुसारं सर्वशास्त्राणामुत्तरोत्तरं संक्षेप एवाभूत्।

८. साम्प्रतिकाः सर्व एवार्षग्रन्थाः स्वस्वविषयाणामन्तिमाः संक्षिप्ततमाश्च सन्ति।

९. पाणिन्यादिमहर्षिभिः स्वशास्त्रे सर्वत्रैव तादृशाः संकेता विहिताः, येषां साहाय्येन वयं सुरभारत्या लुप्तस्यापि विपुलांशस्य समुद्धारं कर्तुं समर्थाः स्म।

१०. सुरभारतीशब्दानाम् अन्यभाषापदैस्तुलनायां क्रियमाणायां तदीयं प्राचीनं विपुलस्वरूपं स्वमनस्युपस्थापनीयम्, अन्यथा सामान्यरूपेण परिज्ञातया सुरभारत्या क्रियमाणा तुलना न लाभकारी स्यात्।

---

१. द० उ० वृ० ८।१०९, पृष्ठ ३५९।

तस्या (उर्वश्या) दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द

निरुक्त ५।१३ में यास्क ने लिखा है—"**तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द ।**" अर्थात् उर्वशी के दर्शन से मित्र और वरुण देवों का रेतः (वीर्य) स्खलित हो गया। इस घटना के उल्लेख के पश्चात् **तदभिवादिन्येषगर्भवति** लिखकर यास्क ने ऋग्वेद ७।३३।११ की ऋक् उद्धृत करके उसकी व्याख्या की है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल का तेंतीसवां सूक्त ही केवल वसिष्ठ से सम्बद्ध नहीं है; अपितु समस्त सातवें मण्डल का द्रष्टा मैत्रावरुणि वसिष्ठ माना गया है। इस प्रकार समस्त सातवां मण्डल किसी-न-किसी रूप में वसिष्ठ से सम्बद्ध है। पुराणों में मैत्रावरुणि वसिष्ठ की उत्पत्ति का जो वर्णन मिलता है, उसका संक्षेप इस प्रकार है—

राजस्थान के प्रसिद्ध तीर्थस्थान पुष्कर क्षेत्र में ब्रह्मा के द्वारा किये जा रहे यज्ञ में उर्वशी के दर्शनमात्र से मित्र और वरुण देवों का वीर्य स्खलित हो गया। उसको देवों ने घड़े में डाल दिया। उससे वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई।

पुराणों में वसिष्ठ के दो जन्मों का उल्लेख मिलता है। प्रथम वसिष्ठ को ब्रह्मा का मानसपुत्र कहा गया हैं। और द्वितीय जन्म मित्र और वरुण का उर्वशी के दर्शन से वीर्यपात होने से माना गया है। इसीलिए दूसरा वसिष्ठ मैत्रावरुणि कहाता है। पुराणों का यह वर्णन वैदिक वाङ्मय में वसिष्ठ-जन्म के निर्देश का विकृत रूप है।

दुर्गाचार्य ने निरुक्त ५।१४ की व्याख्या में वसिष्ठ के दो जन्मों का संकेत करने-वाली निम्न ऋचा उद्धृत की है—

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा ।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार ॥

ऋ० सं० ७।३३।१०॥

दुर्गाचार्यकृत इस मन्त्र की व्याख्या के अनुसार वसिष्ठ का एक जन्म विद्युत् की अत्यधिक प्रकाशित ज्योति के दर्शन से मित्र और वरुण देवों के द्वारा अन्तरिक्ष में हुआ और उस अन्तरिक्षस्थ वसिष्ठ को अगस्त्य ऋषि ने मनुष्य लोक के प्रति

पहुंचाया। यह उसका दूसरा जन्म हुआ। इस मन्त्र की और यास्क द्वारा उद्धृत **उतासि मैत्रावरुणः** मन्त्र की व्याख्या के अनन्तर दुर्गाचार्य ने पौराणिक कथा का उल्लेख किया है—

रौद्रेण किल तेजसा निर्दग्धो वसिष्ठो मित्रपरिगृहीतायामुर्वश्यामुत्पन्नो वरुण-तेजसो जात इति पुराणे श्रूयते।

इस आख्यान के पूर्वभाग से यह ज्ञात होता है कि प्रथम बार उत्पन्न वसिष्ठ किसी रौद्र तेज से दग्ध हो गया था। वस्तुतः दुर्गाचार्य का वसिष्ठ के उत्पन्न होने और रौद्र तेज से जलने का संकेत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु दुर्गाचार्य इसकी सम्यक् व्याख्या नहीं कर सका। और इसी कारण प्रथम निर्दिष्ट मन्त्र की व्याख्या भी हमारी दृष्टि से अस्पष्ट रह गयी। वस्तुतः दुर्गाचार्य द्वारा उद्धृत पौराणिक आख्यायिका का जो पूर्वभाग है, वह इस पृथिवी की दो विभिन्न स्थितियों का उल्लेख करता है। पुराणों के अनुसार पृथिवी-निर्माणकाल में एक बार इतनी महती वृष्टि हुई कि उससे सारी पृथिवी जलमग्न हो गई। तदनन्तर सूर्य में किसी प्राकृतिक घटनाविशेष के कारण अतिशय ताप उत्पन्न हुआ। उससे पृथिवी का समस्त जल वाष्प होकर उड़ गया। उस समय की पृथिवी का स्वरूप पुराणों में **"कूर्मपृष्ठा इवाभवत्"** अर्थात् कछुए की पीठ के समान ऊंची-नीची (ऊबड़-खाबड़) कहा गया है।[1] तत्पश्चात् पुनः सूर्य के स्वस्थिति में आने पर वर्तमान वर्षाक्रम का आरम्भ हुआ। वसिष्ठ नाम वासयितृतम अर्थात् अत्यन्त बसानेवाला होने के कारण जल का है। प्राणिजगत् के लिए वायु के अनन्तर जल ही एक ऐसा पदार्थ है, जिसकी उपलब्धि न होने पर प्राणी को प्राणों से वंचित होना पड़ता है। इस दृष्टि से पृथिवी पर आरम्भ में जो जल बरसा था, वह वसिष्ठ अर्थात् जल का प्रथम जन्म था और उसके दग्ध अर्थात् वाष्प बनकर उड़ जाने पर दूसरी बार जो जल की उत्पत्ति हुई, वह वसिष्ठ का द्वितीय जन्म है। दोनों ही जन्मों में जल की उत्पत्ति उर्वशी अर्थात् मेघस्थ विद्युत् के दर्शन से मित्र और वरुण=प्राण और अपान अथवा पूर्व और पश्चिम से उत्पन्न मानसून के बादलों के संघर्ष से होती है। इसीलिए यजुर्वेद (२।१६) में **मित्रावरुणौ त्वा वृष्टयावताम्** मन्त्रभाग में 'मित्र और वरुण वृष्टि के द्वारा तुम्हारी रक्षा करें' का निर्देश मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि मित्र और वरुण का वृष्टि के साथ सीधा सम्बन्ध है। वेद में मित्रावरुण से ही वसिष्ठ की उत्पत्ति कही गई है इसलिए यह वृष्टिजल ही वसिष्ठ है। यह

---

१. यह लेख लिखते समय फरीदाबाद में मेरे पास पुराण नहीं है, स्मृतिसंकेत मात्र किया है।

स्पष्ट है।[1]

पूर्व जिस **विद्युतो ज्योतिः** मन्त्र का उल्लेख किया है, उसमें वसिष्ठ के जिस एक (प्रथम) जन्म का संकेत है, वह जन्म भी विद्युत् ज्योति और मित्रावरुण से ही सम्बद्ध है। किन्तु इस मन्त्र का चौथा चरण **अगस्त्यो यत्त्वा विश आजभार** है, उसका अर्थ हमारे विचार में—'अगस्त्य ने उस वसिष्ठ को पूर्णतया अपहृत कर लिया था'—होना चाहिए। इस अर्थ के साथ दुर्गाचार्य द्वारा उद्धृत कथांश का तथा पुराणोक्त **कूर्मपृष्ठा इवाभवत्** की सङ्गति यथा-तथा लग जाती है। अब केवल विचारणीय इतना ही रहता है कि यह अगस्त्य कौन है?

आज भी क्षुद्ररूप में यह घटना प्रतिवर्ष दोहरायी जाती है। सब लोग यह जानते हैं कि अगस्त्य तारे के उदय होने पर वर्षा का जल वाष्परूप होकर उड़ जाता है—

उदित अगस्त पंथ जल सोखा।
जिमि लोभहिं सोखै संतोखा॥

यह अगस्त्य तारा शरद् ऋतु के प्रारम्भ में उदित होता है। इसके उदय होने पर मनुष्य वर्षा की आशा छोड़ देते हैं। शरद् ऋतु में सूर्य का ताप पर्याप्त प्रचण्ड हो जाता है। इसलिए "**शारदिक आतप**" लोक में प्रसिद्ध है। (द्रष्टव्य—अष्टाध्यायी ४।३।१३)। यतः शारदिक धूप रोगों को उत्पन्न करनेवाली होती है, इसलिए पाणिनि ने **विभाषा रोगातपयोः** (४।३।१३) सूत्र में आतप के साथ रोग का भी निर्देश किया है। मनु ने भी कहा है—"**बालातपो वर्जयेन्नित्यम्** (५।६९)। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने **बालातप** का 'बाल+आतप' विच्छेद समझकर के "तीन मूहूर्त पर्यन्त (डेढ़ घण्टे के) सूर्य के आतप का सेवन नहीं करना चाहिए" अर्थ किया है। वस्तुतः यह अर्थ अशुद्ध है; क्योंकि बाल आतप अनेक रोगों का निवारण करनेवाला है। यह निर्देश अथर्ववेद के "**उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु**" (७।३२।१) मन्त्र में कहा है। आधुनिक वैज्ञानिक भी प्रातःकालीन आतप के सेवन को नैरोग्यप्रद मानते हैं। ऐसी स्थिति में मेधातिथि का अर्थ नितरां अशुद्ध ही माना

---

१. ऋग्वेद के सातवें मण्डल का ऋषि मैत्रावरुणि वसिष्ठ कहा गया है। सर्वानुक्रमणियों में निर्दिष्ट सभी ऋषि मानवशरीरधारी नहीं हैं, इसका संकेत 'मेरी दृष्टि में—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य' ग्रन्थ में पृष्ठ १५५ से १६० तक किया है। मैत्रावरुणि वसिष्ठ आधिदैविक तत्त्व है, यह ऊपर दर्शाया है। यदि मैत्रावरुणि वसिष्ठ मानव ऋषि है तो पौराणिक कथानुसार उर्वशी के दर्शन से मित्र और वरुण ऋषियों का जो वीर्यपात हुआ उससे वसिष्ठ ऋषि की उत्पत्ति माननी होगी।

जाएगा। वस्तुतः यहां 'बाला+आतप' यह सन्धिच्छेद है। बाला नाम कन्या का है। इसलिए उसका अर्थ है—कन्याराशिस्थ सूर्य की धूप का सेवन नहीं करना चाहिए। संस्कृतभाषा में बहुधा पर्याय शब्दों से निर्देश करने की प्रथा देखी जाती है। उससे कई स्थानों पर भ्रान्तियां भी हो जाती हैं। अगस्त्य का उदय कन्याराशि में या शरद् ऋतु में ही होता है। अतः उससे सहचरित आदित्य भी अगस्त्य नाम से मन्त्र में कहा गया है। अगस्त्य की इस महिमा का वर्णन पुराणों में कई प्रकार से मिलता है। एक जगह कहा गया है कि अगस्त्य ने तीन चुल्लुओं में सातों समुद्रों का जल पी लिया था। यह अगस्त्यसहचरित सूर्य की उस प्रदीप्त अवस्था का ही पौराणिक रूपान्तर है, जिसके द्वारा पृथिवीस्थ समस्त जल वाष्प बनकर उड़ गया था। दूसरी जगह कहा गया है कि विन्ध्याचल खड़ा होकर बढ़ता ही चला गया। उससे जब सूर्य का भ्रमणमार्ग अवरुद्ध होने लगा तो अगस्त्य ने विन्ध्याचल से कहा कि मुझे दक्षिण में जाना है इसलिए मार्ग देने के लिए तुम पृथिवी पर लेट जाओ और जब तक मैं दक्षिण से न लौटूं तब तक लेटे रहो। आजतक बेचारा विन्ध्याचल अगस्त्य के वापस लौटने की प्रतीक्षा कर रहा है। इस कथा से अगस्त्य तारा का सम्बन्ध विन्ध्य से दक्षिण दिशा से प्रतीत होता है।

अब "उर्वशी" के विषय में भी विचार कर लेना चाहिए। उर्वशी शब्द अनेकार्थक है, इसलिए यास्क ने इसे निघण्टु के नैगमकाण्ड (अ० ४, खण्ड २) में पढ़ा है और निरुक्त ५।१३ में इसकी व्याख्या की है। वहां उर्वशी का एक अर्थ **उर्वश्यश्नुते** दर्शाया है। इसका तात्पर्य यह है जो शीघ्र ही विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हो जाती है। दूसरा अर्थ **"अप्सरा"** दर्शाया है। अप्सरा के विभिन्न निर्वचनों द्वारा अनेक अर्थों का अन्वाख्यान किया है। इसका एक अर्थ है—**अप्सारिणी** अर्थात् जल में गति करनेवाली[1]। दोनों निर्वचनों द्वारा उर्वशी के जिन धर्मों की ओर संकेत किया है, वे दोनों विद्युत् के हैं और लोकप्रसिद्ध हैं। यास्क ने उर्वशी से सम्बद्ध आख्या को स्पष्ट करने के लिए जो मन्त्र उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त॥

यह ऋग्वेद के ७वें मण्डल के ३३वें सूक्त का ११वां मन्त्र है। इसमें उर्वशी पद निर्दिष्ट है। दुर्गाचार्य ने इससे पूर्व का जो मन्त्र उद्धृत किया है (द्र०—यही लेख पृष्ठ ३७१) उसमें **विद्युतो ज्योतिः** का स्पष्ट उल्लेख है। उर्वशी मध्यमस्थानीया

---

१. विद्युत् जल में व्याप्त होती है, यह लोकप्रसिद्ध है। अतः गीले हाथ से बिजली के बटन ऊपर-नीचे करने में खतरा होता है।

देवता है। इसकी व्याख्या के प्रसङ्ग में (निरुक्त ११।३६) जो मन्त्र उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है।

विद्युन्न या पतन्ती वविष्वद्मरन्ती मे अप्या कास्यानि।
जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः॥

ऋ० १०।९५।१०॥

इसमें उर्वशी को विद्युत् के समान शीघ्रगतिवाली, प्रकाशित होनेवाली, जल-सम्बन्धी कामनाओं को प्राप्त करानेवाली, तथा उससे उत्पन्न जलों को हितकारी कहा है। वह उर्वशी हमारी आयु को बढ़ाती है।

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि निरुक्तकार द्वारा संकेतित आख्यान में स्मृत उर्वशी मध्यमस्थानीया विद्युत् ही है। उसके प्रकाशन से जिन मित्र और वरुण देवों से वसिष्ठ की उत्पत्ति कही गई है, वे मित्र और वरुण विपरीत गतिवाले मेघ हैं, जिनके संघर्ष से उत्पन्न द्रप्स जल की बूंदे हैं। वे ही पृथिवी पर जल की बूंदों के रूप में पहुंचते हैं।

पूर्व पुराणस्थ वसिष्ठ की उत्पत्तिविषयक आख्यान का संक्षिप्तरूप उद्धृत किया था, वह ऋग्वेद की ७।३३।१० ऋचा पर ही मूलरूप से आधृत है। ब्रह्मा का सर्ग-सर्जनरूप यज्ञ सदा चलता रहता है। वसिष्ठ की जिस सर्जनरूप यज्ञ में उत्पत्ति होती है, वह है पुष्कर अर्थात् अन्तरिक्ष।

इस प्रसङ्ग में मित्रावरुणविषयक दो मन्त्र और द्रष्टव्य हैं। प्रथम है—

ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।
ऋतुं बृहन्तमाशाथे॥ ऋ० १।२।८॥

इसमें मित्रावरुण को ऋत=जल के द्वारा बढ़ा हुआ ऋतावृधा और जल से स्पृष्ट ऋतस्पृशा कहा है। ऋत नाम उदक का है (निघण्टु १।१२)। दूसरा मन्त्र है—

ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती।
ता मित्रावरुणा हुवे॥ ऋ० १।२३।५॥

इस मन्त्र में भी मित्रावरुण को जल से बढ़े हुए और जलसम्बन्धी ज्योति का पति कहा है।

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि मित्र और वरुण विभिन्न दिशाओं से उठनेवाले जल से लबालब भरे हुए मेघ हैं। अथर्ववेद में **प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः** पश्चिम दिशा का अधिपति कहा है। अतः मित्र उससे विपरीत पूर्वदिशा से आनेवाले जल से पूर्ण मेघों

का नाम है। ये दोनों ही चराचर जगत् की दृष्टि से रक्षा करते हैं—**मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्या अवताम्**। (यजु० २।१६)।

इस विचारणा से स्पष्ट है कि उर्वशी मेघस्थ विद्युत् है। मित्र और वरुण विपरीत दिशा से प्राप्त होनेवाले जल से भरे मेघ हैं और इन तीनों के संयोग से उत्पन्न वसिष्ठ मेघों से बरसनेवाला चराचर जगत् का वासयिता है।

हमने निरुक्तस्थ इतिहास और आख्यानों पर जितना विचार किया है, उसके अनुसार ये सभी आख्यान इस जगत् में घटनेवाली घटनाओं से ही सम्बद्ध हैं। वस्तुतः यास्कीय निरुक्त आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार मन्त्रव्याख्यान में प्रवृत्त हुआ है। अतः उसमें निर्दिष्ट इतिहास वा आख्यानों का भी आधिदैविक स्वरूप समझना चाहिए। उसमें यदि लौकिक इतिहास ढूंढने बैठेंगे तो इतनी विप्रतिपत्तियां उपस्थित होंगी कि उनका समाधान इतिहास माननेवाले व्यक्ति कभी नहीं कर सकेंगे। वस्तुतः निरुक्त के आधार पर वेद में इतिहास की खोज करनेवाले एकाक्षी हैं। वे केवल स्थूल अर्थ से ही अपने को कृतकृत्य समझ लेते हैं। किसी भी शास्त्र का वास्तविक तात्पर्य तबतक समझ नहीं आ सकता जबतक उसमें गहरी पैठ न हो।

ओं शम्।

छन्दःशास्त्र (५)

वेद का पांचवां अङ्ग छन्दःशास्त्र है। इसमें सम्प्रति पिङ्गलाचार्यप्रोक्त छन्दः-शास्त्र वेदाङ्ग के अन्तर्गत स्वीकृत है। वैदिक छन्दों का निर्देश करनेवाले निम्न ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध होते हैं—

१. ऋक्प्रातिशाख्य अन्तर्गत छन्दःपटल (ऋग्वेदीय)
२. ऋक्सर्वानुक्रमणी अन्तर्गत ,,
३. शाङ्खायनश्रौतसूत्र अन्तर्गत ,,
४. छन्दोऽनुक्रमणी वेङ्कटमाधवकृत ,,
५. यजुःसर्वानुक्रमणी अन्तर्गत (शुक्लयजुर्वेदीय)
६. पतञ्जलिप्रोक्त निदानसूत्रान्तर्गत प्रथम दो प्रपाठक (सामवेदीय)
७. उपनिदानसूत्र गार्ग्यप्रोक्त ,,
८. जयदेवकृत छन्दःशास्त्र (सामान्य)

इनमें यजुःसर्वानुक्रमणी जो सम्प्रति उपलब्ध होती है, वह प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। सम्भवतः विक्रम की १०वीं शताब्दी के पश्चात् उसका संकलन किया है। यह हम छन्दोमीमांसा में लिख चुके हैं।

छन्दःशास्त्र के नामान्तर—छन्दःसूत्रों के लिए प्राचीन ग्रन्थों में निम्न शब्दों का उल्लेख मिलता है—

१. छन्दोविचिति
२. छन्दोमान
३. छन्दोभाषा
४. छन्दोविजिनी
५. छन्दोविजिति (छन्दोविजित)
६. छन्दोनाम
७. छन्दोव्याख्यान
८. छन्दसां विचय
९. छन्दसां लक्षण
१०. छन्दःशास्त्र
११. छन्दोऽनुशासन
१२. छन्दोविवृति
१३. वृत्त
१४. पिङ्गल

लौकिक-वैदिक संस्कृतवाङ्मय में पिङ्गलाचार्यप्रोक्त छन्दःशास्त्र की अतिप्रसिद्धि के कारण संस्कृतेतर लौकिक भाषाओं में पिङ्गल शब्द ही छन्दःशास्त्र का पर्याय बन गया है, अतः हमने छन्दःशास्त्र के नामान्तरों में १४वीं संख्या पर पिङ्गल नाम का उल्लेख किया है।

छन्दःसम्बन्धी वेदाङ्ग—हम पूर्व पृष्ठ ७ पर लिख चुके हैं कि वेदाङ्ग के अन्तर्गत वे ही ग्रन्थ सम्मिलित किए गए हैं, जो वेद-लोकविषयक सामान्य ग्रन्थ हैं। इसलिए जो छन्दोग्रन्थ केवल वेद की किसी शाखा आदि से सम्बन्ध रखते हैं (उपरिनिर्दिष्ट आठ वैदिक छन्दःशास्त्र) और लौकिक छन्दों से सम्बद्ध नहीं हैं, वे ग्रन्थ वेदाङ्ग के अन्तर्गत नहीं आते।

वेद के साथ छन्दःशास्त्र का सम्बन्ध—हमने पूर्व पृष्ठ २ पर श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के दो श्लोक उद्धृत किए हैं, उनमें प्रथम श्लोक के प्रथम चरण में कहा है—"**छन्दः पादौ तु वेदस्य।**" अर्थात् मानवादि शरीरों में पैरों का जो महत्त्व है, वही महत्त्व वेद में छन्दःशास्त्र का है। इस दृष्टि से मन्त्रों का स्वरूप (अक्षरसंख्या) और उनका अर्थज्ञान छन्दःशास्त्र के अधीन है। इस दृष्टि से भी वेदार्थ में पिङ्गलप्रोक्त छन्दःशास्त्र का ही विशेष महत्त्व है। ऊपर जिन वैदिक छन्दःशास्त्रों का उल्लेख किया है, उनमें जयदेवकृत छन्दःशास्त्र के अतिरिक्त सभी का सम्बन्ध वेद की याज्ञिक प्रक्रिया के साथ है। याज्ञिक प्रक्रिया में ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थानों पर **गायत्रीः शंसति; बृहतीः शंसति** आदि विनियोगपरक वाक्यों में छन्दोनामों को प्रधानता दी है। अतः उसी दृष्टि से उपर्युक्त वैदिक छन्दःशास्त्रों का प्रवचन हुआ है।

याज्ञिक-प्रक्रिया में कल्पित छन्दों का आश्रयण—याज्ञिक प्रक्रिया में ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में अनेक स्थानों में ऐसे कल्पित छन्दों का उल्लेख हुआ है, जो छन्दःनामों से मन्त्रों में जितने अक्षरों की संख्या प्रतीत होती है, उतने अक्षरों के नहीं होते। फिर भी याज्ञिक प्रक्रिया में न्यूनाक्षर मन्त्रों का तत्तत्छन्दोनामों से विनियोग मिलता है। कहीं-कहीं तो छन्दोनामों से प्रतीत होनेवाली अक्षरसंख्या से पांच अक्षरों तक न्यूनता देखी जाती है। अनेक स्थानों पर पादविभाग भी उक्त वैदिक छन्दःशास्त्रों में ब्राह्मणप्रोक्त विनियोग की दृष्टि से किए गए हैं। उन पादविभागों में ऋग्वेद में लगभग १८ ऐसे पादविभाग हैं, जिनमें पादादि स्वरशास्त्रविषयक दोष उपलब्ध होते हैं। इनमें युष्मद्-अस्मद् सम्बन्धी कुछ ऐसे शब्द भी पाद के आरम्भ में आ गए हैं, जो शास्त्रनियमानुसार पाद के आरम्भ में प्रयुक्त नहीं हो सकते। उन्हें **पदस्य, पदात्** (अष्टा० ८।१। १६, १७) के नियम से पाद के मध्य में होना चाहिए।

इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद मं० १ सूक्त ३९, ४४ के भाष्य के आरम्भ में सर्वानुक्रमणी आदि के अनुसार छन्दों का निर्देश करनेवाले वेद-भाष्यकार सायण, मोक्षमूलर, विल्सन प्रभृति का प्रत्याख्यान किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्वेदभाष्य में सर्वत्र अक्षरसंख्या को प्रधानता देकर पिङ्गलशास्त्र के अनुसार छन्दों का उल्लेख किया है। इस विषय में हम "वैदिक-छन्दोमीमांसा" के १८वें अध्याय में विस्तार से समीक्षा कर चुके हैं। इसलिए यहां संकेतमात्र किया है।

क्या छन्दःशास्त्र का वेदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ?—अनेक व्याख्याकारों का मत है कि छन्दःशास्त्र का सम्बन्ध वेदार्थ के साथ नहीं है। हमें अनेक वर्षों तक यह शङ्का बनी रही कि जब अन्य वेदाङ्गों का वेदार्थ के साथ सीधा सम्बन्ध है तो अकेला छन्दःशास्त्र ही उसका अपवाद कैसे हो सकता है ? इस सम्बन्ध में हमने अनेक वैदिक विद्वानों के साथ विचार-विनिमय किया, परन्तु किसी भी विद्वान् से हमें सन्तोषजनक समाधान प्राप्त नहीं हुआ।

एक-दो अक्षरों की न्यूनता और अधिकता—प्रायः सभी वैदिक छन्दःशास्त्रकारों ने मन्त्राक्षरों में एक-दो अक्षरों की न्यूनता वा अधिकता स्वीकार करते हुए भी गायत्री आदि छन्दों का उल्लेख किया है। ब्राह्मणग्रन्थों में तो स्पष्ट लिखा है—**न वा एकाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्** (ताण्ड्यब्राह्मण १२।१३।१७)। अर्थात् एक-दो अक्षर न्यून वा अधिक होने पर भी छन्दोनामों में भेद नहीं होता।

इस विषय में हमें ४० वर्ष तक यह शंका बनी रही कि मन्त्रों के रचयिता ऋषिजन हों चाहे ब्रह्म, क्या उन्हें छन्दोरचना का अभ्यास नहीं था, जिसके कारण छन्दों में एक-दो अक्षरों की न्यूनता वा अधिकता हो गयी ? इस दृष्टि से तो कालिदास आदि लौकिक कवियों को ही छन्दों का ज्ञान यथावत् था, क्योंकि उनके काव्यों में ऐसा दोष उपलब्ध नहीं होता। इस शङ्का का भी समाधान हमें किसी वैदिक विद्वान् से प्राप्त नहीं हुआ।

छन्दों के साथ षड्ज आदि स्वरों का सम्बन्ध—संगीत के साथ मेरा दूर का भी सम्बन्ध नहीं है, फिर भी इतना तो ज्ञान है ही कि किसी एक मन्त्र का उच्चारण किसी एक षड्ज आदि स्वर में नहीं हो सकता। परन्तु पिङ्गलाचार्य ने गायत्री आदि सात छन्दों का षड्ज आदि सात स्वरों के साथ सम्बन्ध दर्शाया है। इस विषय में भी मुझे आज से दो वर्ष पूर्व तक शङ्का बनी रही। भरत मुनि ने भी वीरादिरस को बोधित करने के लिए जिस पदावली का प्रयोग किया जाता है, उसका

सम्बन्ध भी षड्ज आदि स्वरों के साथ दर्शाया है। यतः वैदिक स्वरमीमांसा के लेखनकाल में तथा द्वितीय संस्करण के मुद्रणकाल तक भी मुझे षड्जादि के विषय में यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ था, अतः वैदिक-स्वर-मीमांसा में वाक्यस्वर और सन्दर्भस्वर का निर्देश करते समय (अ०) किया है। वह वस्तुतः ऊहानमूलक है।

प्रथम दो शङ्काओं का समाधान—छन्दों का मन्त्रार्थ के साथ सम्बन्ध है या नहीं, तथा मन्त्रों में एक-दो अक्षरों की न्यूनता वा अधिकता का क्या कारण है—इन दोनों शङ्काओं का समाधान सन् १९७७ में हुआ। किन्तु जो ज्ञान हुआ वह भी एकाङ्गी है। अर्थात् प्रथम सप्तक के छन्दोविषयक ही है, वह भी केवल आधिदैविक प्रक्रिया के साथ ही जान सका हूं और एकाक्षर-द्व्यक्षर की न्यूनता और अधिकता का भी मन्त्रार्थ में क्या सम्बन्ध है, इसका ज्ञान भी उसी समय हुआ। इसलिए सन् १९७८ के मई मास में भण्डारकर शोध संस्थान पुणे में होनेवाली अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् (आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस) में **"मन्त्राणाम् आधिदैविकार्थ-विज्ञाने छन्दसां साहाय्यम्"** शीर्षक निबन्ध पढ़ा। उसे हम आगे मुद्रित कर रहे हैं।

तीसरी शङ्का गायत्री आदि छन्दों के साथ षड्ज आदि स्वरों का किस दृष्टि से सम्बन्ध है? इसका ज्ञान सन् १९८८ में प्रकाशित यादवप्रकाशविरचित "पिङ्गल-छन्दोविचिति-भाष्य" के प्रकाशन के पश्चात् हुआ। यादवप्रकाश ने पिङ्गल-छन्दोविचिति के तीसरे अध्याय के ६३वें सूत्र **स्वराः षड्जादयः** के भाष्य में लिखा है—

यस्याः खल्वृचः षड्जस्वरो बहुलो भवति तां गायत्रीं विद्यात्।

स्वरयोगः छन्दसां सामनिबन्धनः। साम्नां सप्तस्वरत्वात्।

अर्थात् जिस ऋचा में षड्ज स्वर से उच्चार्यमाण अक्षरों का बाहुल्य हो, उसको गायत्री जानना चाहिए। अथवा छन्दों का स्वरों के साथ सम्बन्ध साम (गीति) सम्बन्धित है। सामों के सप्तस्वरवाले होने से। अन्त में यादवप्रकाश ने गायत्री आदि छन्दों के स्वरादि उपदेश को कतिपय आचार्यों के मत से अदृष्टार्थ माना है।

यतः मैंने पिङ्गल छन्दःशास्त्र का गुरुमुख से अध्ययन नहीं किया, परन्तु वैदिक छन्दःसम्बन्धी विविध ग्रन्थों का सपरिश्रम चिन्तन करके वैदिक छन्दों का

ज्ञान किसी तरह प्राप्त करने में समर्थ हो सका। वैदिक छन्दःसम्बन्धी समस्त विषयों का वर्णन मैंने "वैदिक-छन्दोमीमांसा" में यथाशक्ति किया है। परन्तु उसमें छन्दोज्ञान के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने "वृत्त" को जो हेतुरूप से उपस्थित किया है, उस "वृत्त" के सम्बन्ध में विशेषज्ञान न होने से उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा गया। यदि इस ग्रन्थ का तृतीय संस्करण मेरे जीवनकाल में छपेगा तो इस कमी को दूर कर सकूंगा। लौकिक छन्दों के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं, इसलिए उसके सम्बन्ध में मैंने कुछ नहीं लिखा।

मन्त्राणाम् आधिदैविकार्थ-विज्ञाने छन्दसां साहाय्यम्[1]

माननीया वैदिकवाङ्मयपरिशीलने बद्धपरिकरा विद्वद्वरेण्याः ! विदितमेव खलु तत्रभवद्भ्यो यद् वैदिकच्छन्दसां मन्त्राक्षरसंख्यापरिज्ञानमेव प्रयोजनमिति वैदिका मन्यन्ते । तत्फलं तु यज्ञकर्मणि **आनुष्टुभं शंसति, त्रैष्टुभं शंसति** इति विधिवाक्येषु तत्तच्छन्दोयुक्तानामृचां सुकरो विनियोगः । सत्यप्येवम्, वैदिकछन्दःशास्त्रस्याध्ययनकाल एव मम मनसि द्वे शङ्के उदपद्येताम् । तत्र प्रथमा—शिक्षादिषु षट्सु वेदाङ्गेषु छन्दःशास्त्रं विहायान्येषां वेदाङ्गानां साक्षात् परम्परया वा वेदार्थज्ञाने साहाय्यं वेदविद्याविचक्षणाः प्रायेण स्वीकुर्वते । तथा सति वेदाङ्गमध्यपतितत्वात् छन्दःशास्त्रेणापि अवश्यं छन्दोज्ञानद्वारा मन्त्रार्थपरिज्ञाने कथंचित् साहाय्यं विधातव्यमेव । अन्यथा वेदार्थोपयोगिषु वेदाङ्गेषु तस्य परिगणनमसम्बद्धं स्याद् इति । द्वितीया—प्रतिच्छन्दो नियताऽक्षरसंख्या बहुषु मन्त्रेषु एकद्व्यक्षरन्यूनाधिक्येनातिक्रान्ता समुपलभ्यते । एतादृगक्षरन्यूनाधिक्ये किं कारणम् ? किमेतद् अक्षरन्यूनाधिक्यं मन्त्रकाराणां छन्दोरचनाया अकौशलं सूचयति, यद्वाऽत्रास्ति तादृशो विशिष्टोऽर्थो वाच्यः ? यम् अक्षरन्यूनाधिक्येन बोधयितुमभिलषति ।

सुदीर्घेऽस्मिन् काले उभयोरपि शङ्कयोः समाधानार्थं मयाऽनेके कृतभूरिपरिश्रमा वैदिका विद्वांसः समपृच्छयन्त । परन्तु नैव मया किंचिद् हृदयग्राहि समाधानमेकस्या अपि शङ्कायाः समुपलब्धम् । विषयमिमं सततमनुशीलयता मया द्वित्रिवर्षेभ्यः प्राक् समाधानसूचिका काचिद् आशाकणिका समुपलब्धा । तामेवाहमस्मिन् निबन्धे संक्षेपेण समुपस्थापयामि ।

यद्यपि वैदिकेषु छन्दःसु त्रयः सप्तका गायत्र्याश्च प्राञ्चि छन्दांसि निरूप्यन्ते । तथाप्यद्यगावन्मया प्रथमसप्तकस्थानां छन्दसां विषय एव किञ्चिदध्ययनं कृतम् । तत्रापि न सर्वे ऋग्वेदीयाः तत्तच्छन्दोन्विताः सर्वे मन्त्राः परिशीलिताः । अत एवास्मिन्

---

१. यह निबन्ध 'ओरियण्टल रिसर्च कान्फ्रेंस' के सन् १९७८ के पूना के अधिवेशन में वेदविभाग में मैंने पढ़ा था ।

विषये यत्किञ्चिन्मया लिख्यते, तस्य प्रयोजनं छन्दांसि मन्त्रार्थविज्ञाने साहाय्यं विधातुं शक्नुवन्ति न वेति विचारपरम्परायाः प्रवर्तनमेव ।

छन्दांसि वेदार्थविज्ञाने सहायकान्युतानुपयोगीनि, इत्यस्मिन् विषये द्विविधान्यपि वचनानि वैदिकवाङ्मये समुपलभ्यन्ते । तत्र तावद् यैर्वचनैश्छन्दसां वेदार्थज्ञाने सहायीभावः सूच्यते, तान्युपस्थाप्यन्ते—

१. जैमिनिराचार्यः पूर्वमीमांसाशास्त्र ऋग्लक्षणमित्थमाचष्टे—**तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था** (मी० २।१।३५)। एतेन लक्षणेन ऋक्षु अर्थवशेन पादव्यवस्थां प्रतिपादयन् सूत्रकारो मन्त्रार्थविज्ञाने छन्दसां सहायकत्वं प्रज्ञापयति । अत्र भाष्यकृता शबरस्वामिना **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत** (ऋ० १।१।२) इत्यस्यामृचि प्रथमचरणे अवान्तरस्याप्यर्थस्यापरिसमाप्तिमवलोकयता सूत्रकारोक्तस्य ऋग्लक्षणस्य प्रायिकत्वमुक्त्वा क्वचिच्छन्दोऽनुरोधेनापि पादव्यवस्था समादृता । अस्मन्मते त्वत्रापि निदानसूत्रस्थस्याश्छन्दोविचित्या **अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति, आदशाक्षरताया अभिक्रामति** लक्षणाभ्याम् **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः** इत्येवं प्रथमं पादं **नूतनैरुत** इत्येवं द्वितीयं पादं स्वीकृत्यार्थशेन पादव्यवस्थाऽञ्जसा व्यवस्थापयितुं शक्यते । अतः सूत्रकारस्य जैमिनेर्लक्षणं सर्वथा निर्दोषम् ।

२ ऋग्भाष्यकारो वेङ्कटमाधवोऽपि जैमिनीयं लक्षणमनुरुध्य द्विरुक्तवान् । **पादे-पादे परिसमाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः** इतिषष्ठाष्टकस्याष्टमाध्यायस्यादौ चतुर्दशे श्लोक उक्तम् ।

प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः इत्याख्यातानुक्रमण्या आदौ छन्दोऽनुक्रमणिविवरणेऽलेखि ।

छन्दोविज्ञानं मन्त्रार्थविज्ञाने कथं साहाय्यं विदधातीत्यत्रोक्तम्—

पादावसानविज्ञानं छन्दोज्ञानेन सिद्ध्यति इत्यृग्भाष्यादौ ।

एवं छन्दोज्ञानेन पादावसानं विज्ञायते, तज्ज्ञाने चावान्तराः पादार्था विज्ञायन्त इति वेङ्कटमाधवस्याभिप्रायः ।

३. आर्षेयब्राह्मणे पठ्यते—**यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते** ।

अत्र ब्राह्मणपदेन **विनियोजकं ब्राह्मणम्** इति लक्षणेन विनियोग उच्यते । दैवत-विनियोगयोर्मन्त्रार्थज्ञाने सहायकत्वं सर्वैरपि स्वीक्रियते । आर्षज्ञानमपि मन्त्रार्थज्ञाने सहायकारीति स्कन्दवेङ्कटमाधवौ स्वर्गभाष्यस्यादौ स्वीकुर्वाते । एवं तन्मध्यपतितन्यायेन छन्दांस्यपि मन्त्रार्थविज्ञाने सहायकानि इत्यार्षेयब्राह्मणवचनाद् विज्ञायते ।

४. ऋक्सर्वानुक्रमण्यां कात्यायन आह—**अर्थेष्वव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरुपधावन्**। अस्यायमाशयः—मन्त्राणामर्थं ज्ञातुकामा **ऋषयश्छन्दसां साहाय्येन** मन्त्राणां या देवता ये मन्त्रार्थास्तान् प्राप्तवन्तो ज्ञातवन्तः।

५. सायणाचार्य ऋग्भाष्यस्योपोद्घाते षडङ्गप्रकरणे उपक्रमोपसंहारयोः सर्वेषामपि वेदाङ्गानां वेदार्थोपयोगित्वं मुक्तकण्ठेनोक्तवान्। तथापि छन्दोज्ञानं वेदार्थविज्ञाने कथं सहायकारीति न विस्पष्टमुक्तम्।

द्वितीयं छन्दांसि वेदार्थज्ञानेऽनुपयोगीनीति पक्षं केवलमृग्भाष्यकारः स्कन्दस्वाम्येव कण्ठतो ब्रवीति। तदुक्तम्—**तत्रार्षदैवतयोः अर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते। न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्** इति (ऋग्भाष्यारम्भे)।

यद्यपि मध्वाचार्यविरचितस्यर्ग्भाष्यस्य टीकाकृता जयतीर्थेन स्कन्दस्वाम्युक्तस्य छन्दोज्ञानस्यानुपयुज्यमानत्वप्रतिपादकवचनस्य **'एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति'** इत्येवं खण्डनं कृतम्। तथापि न तेन न च तद्विवृतिकारेण नरसिंहेन छन्दोज्ञानं कथं वेदार्थज्ञाने साहाय्यं विदधातीति न व्यक्तीकृतम्।

एवं च भारतीयवाङ्मये छन्दोविषये द्विविधान्यपि वचांस्युपलभ्यन्ते। अतश्छन्दोज्ञानं मन्त्रार्थज्ञाने साहाय्यं विधत्ते न वेति जायते विचारणा। सहायकारित्वेऽपि च किं पादावसानविज्ञानेनावान्तरपादार्थविज्ञाने साहाय्यमाचरति, उतान्याऽपि काचन विधा वर्तते, यया छन्दोज्ञानं वेदार्थविज्ञाने साहाय्यमादधाति इत्यपि विचारणीयं भवति।

यथा च जैमिनीयं वेङ्कटमाधवीयं च मतम्, तथा सति एकद्व्यक्षरन्यूनाधिकतायां न किमपि प्रयोजनं व्याख्यातं भवति। अतो मयाऽन्यो यो निरुक्तकारेण यास्केन देवतानां भक्तिसाहचर्यं व्याचक्षता मार्गः संसूचितः, तमनुरुद्ध्य कश्चिद् विचार इह प्रस्तूयते। अत एवास्य लेखनाम्नि 'आधिदैविकार्थविज्ञाने' इति विशेषणं प्रत्तम्।

भगवता यास्केन दैवतप्रकरणे (अ० ७।८-११) अग्न्यादीनां भक्तिसाहचर्यं प्रतिपादयता एवमुच्यते—

अथैतान्यग्निभक्तीनि—अयं लोकः प्रातःसवनं वसन्तः गायत्री·····। अथैतानीन्द्रभक्तीनि—अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप्·····। अथैतान्यादित्यभक्तीनि—असौ लोकस्तृतीयं सवनं वर्षा जगती·····। एतेष्वेव स्थानव्यूहेषु ऋतुच्छन्दः स्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषं कल्पयति। अनुष्टुप् पृथिव्यायतनम्·····। पङ्क्तिरन्तरिक्षायतनम्·····। अतिच्छन्दांसि द्युभक्तीनि इति।

एतेन भक्तिसाहचर्यव्याख्यानेन प्रथम-सप्तकस्थानां गायत्र्यादिजगत्यन्तानां छन्दसां क्रमेण पृथिव्या आरभ्य द्युलोकपर्यन्तं स्थिताभिस्तत्तद्देवताभिः सह सम्बन्धः प्रतिपादितो भवति।

पृथिवीमारभ्याऽऽद्युलोकं ये मरुतो विचरन्ति ते स्थानभेदात् सप्तविधाः। तेऽपि पुनः सप्तसप्तभिर्भेदैर्विभज्यमानाः **'सप्त सप्त हि मारुता गणाः'** (श० ब्रा० ६।३।१।२५) इति वैदिकाः समामनन्ति। इमे एव सप्तविधा मरुतः पुराणेषु परिवह-शब्देनोच्यन्ते। एवं च पृथिवीतलादारभ्य द्युलोकपर्यन्तं यदन्तरिक्षं तत्सप्तभागैर्विभज्य प्रतिभागं गायत्र्यादिक्रमेण छन्दसां विनियोगो द्रष्टव्यः। यथा—[अग्रिमपृष्ठे द्रष्टव्यम्]।

...५०
...४९
जगती ४८..... ...४८
.....४७
.....४६
.....४५
त्रिष्टुप् ४४..... .....४४
.....४३
.....४२
.....४१
पंक्ति ४०..... .....४०
.....३९
.....३८
.....३७
बृहती ३६..... .....३६
.....३५
.....३४
.....३३
अनुष्टुप् ३२..... .....३२
.....३१
.....३०
.....२९
उष्णिक् २८..... .....२८
.....२७
.....२६
.....२५
गायत्री २४..... .....२४
.....२३
.....२२

एवं सप्तविधच्छन्दोऽन्वितैर्मन्त्रैस्तत्तत्स्थानस्था अग्निवाय्विन्द्रवैश्वानरसवित्रादयो देवताः स्तूयन्ते वर्ण्यन्ते च इति निष्कृष्टोऽर्थः समासेन।

यद्यपि निरुक्तकृता यास्केन वैदिका देवताः पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थानभेदेन विभज्योपदिष्टाः, तथापि तासां देवतानां सर्वस्थानसंयोगो न शङ्कनीयः। यतो हि सर्वा अपि देवताः त्रिता त्रिवृता वोच्यन्ते। त्रितत्रिवृच्छब्दाभ्यां च देवतानां त्रिस्थानभागित्वं सूच्यते। इह निदर्शनार्थं कतिपयानां देवतानां त्रिवृत्त्वमर्थात् त्रिस्थानभागित्वमुच्यते—

पृथिवीस्थाने पठितस्याग्नेस्त्रिवृत्त्वं=त्रिस्थानभागित्वं **'तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्'** (ऋ० १०।८८।१०) इत्यृक् प्रत्यक्षं वक्ति। व्याख्याता चेयमृक् तथैव यास्केन—**तमकुर्वंस्त्रेधा भावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः** (निरुक्त ७।२८) इति।

वायोस्त्रिवृत्त्वं **'वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्। स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते'** इति स्पष्टं शतपथे (८।४।१।६) श्रूयते।

इन्द्रस्य त्रिवृत्त्वम् **'इन्द्रो यद् वज्री धृषमाणोऽन्धसा भिनद् वलस्य परिधीँरिव त्रितः'** इत्यृङ्मन्त्रे (ऋ० १।५२।५) व्यक्तमुच्यते। यास्काचार्योऽपि **'यस्य त्रितो व्योजसा'** इत्यृङ्मन्त्रं (ऋ० १।१८७।१) व्याचक्षाण आह—**'यस्य त्रित ओजसा बलेन। त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यदर्दयति'** (निरु० ६।२५) इति।

वैश्वानरस्य त्रिवृत्त्वं तत्तत्स्थानित्वनिदर्शकैर्वचनैर्विज्ञायते। तथा ह्यस्य द्युस्थानित्वम् **'एष वाऽग्निर्वैश्वानरो यदादित्यः'** इति मैत्रायणीयानामाम्नाये (मै० सं० ।१।६।६) श्रूयते। अन्तरिक्षस्थानित्वं 'तत्को वैश्वानरः? मध्यम इत्याचार्याः। वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति···वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत् काष्ठा अव शाम्बरं भेत्' इत्यृङ्मन्त्रम् (ऋ० १।५६।६) उदाहरन् यास्कः प्रतिपादयाञ्चकार (निरु० ७।२२-२३)। पृथिवीस्थानित्वं चास्य **'वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निम्'** (अथर्व १२।१।६) इत्याथर्वणी श्रुतिः श्रुत्यैव प्रतिपादयति।

एवमाद्यः सप्तभिर्गायत्र्यादिछन्दोभिः स्तुता देवताः तत्तत्सम्बन्धिनि मरुन्मण्डले परिवहे वा विद्यमाना एव स्तूयन्ते न सामान्यरूपेण। एतस्य विषयस्य किञ्चिन्निदर्शनाय उषोदेवताया मन्त्रा उपस्थाप्यन्ते।

उषोदेवता द्युस्थाना वर्तते। तस्याः कालो रात्र्याः पश्चिमो यामो ब्राह्ममुहूर्ताख्यः। अस्मिन् काले उषसः प्रकाशः सुदूरम् आकाशस्योर्ध्वभागे प्रथममुपलभ्यते। तदनु अयमेवोषसः प्रकाशो यथा-यथा सूर्योदयस्य कालः समीपमेति तथातथाऽधस्ताद्

अवतरति। एवमुषोदेवता द्युस्थाना सती आपृथिवीं सर्वाणि स्थानानि व्याप्नोति। अत एवास्याः स्तुतिः प्रथमसप्तकस्थैः सर्वैरपि छन्दोभिर्ऋग्वेद उपलभ्यते। प्रतिच्छन्दो मन्त्रा ऋग्वेद इत्थमुपलभ्यन्ते—जागताः ४ चत्वारः, त्रैष्टुभाः १२१ एकविंशत्यधिकं शतसंख्याकाः, पाङ्क्ताः २८ अष्टाविंशतिः, बार्हताः १२ द्वादश, आनुष्टुभाः ४ चत्वारः, औष्णिहाः ३ त्रयः, गायत्र्याश्च ३ त्रयः।

यथायथा प्रकाशस्य मात्रा वर्धते तथातथोषस उषस्त्वं ह्रासतामेति। तत्तत्स्थानीयाया उषसः स्तुतौ छन्दांस्यपि यथाक्रमं परिवर्तन्ते। तथैव उषसो वर्णनेऽपि परिवर्तनं समुपलभ्यते। यथाछन्दो वर्णन-परिवर्तनं त्वित्थं द्रष्टुं शक्यते—

उषस आद्योपलब्धिराकाशस्य पुरोभागे अत्यूर्ध्वं स्वल्पे स्थाने रक्ताभेन प्रकाशेन संयुक्ता गृह्यते। अतो द्युस्थानाया उषसो जागतेषु मन्त्रैष्वित्थं स्तुतिः श्रूयते—**एता उ त्या उषसः केतुमकृत पूर्वेऽर्धे रजसो भानुमञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः।** (ऋ० १।९२।१)।

अस्मिन्मन्त्रे **रजसः पूर्वेऽर्धे** इत्येतैः पदैराकाशस्य पूर्वभागे स्वल्पे स्थाने उषसः स्थितिरुक्ता। केतुर्यथा दूराद् दृश्यते, परन्तु तस्य दण्डो नोपलभ्यते, तथैवोषसः स्थितिः **केतुमकृत** पदाभ्यामुच्यते। यथा कोशान्निष्काश्यमानान्यायुधान्यकस्मात् प्रकाशन्ते, तथैव तमसि प्रकाशमाना उषो देवता **निष्कृण्वाना आयुधानीव** पदाभ्यां वर्ण्यते। उषस आद्यप्रकाशस्य रक्ताभत्वमपि **गावोऽरुषीर्यन्ति** पदैः स्पष्टीक्रियते। एवमेकस्मिन्नेव मन्त्रे द्युस्थानाया उषसो वर्णनमत्यन्तैश्चमत्कारिभिश्शब्दैः समुपलभ्यते।

यदोषा पूर्वस्थानात् किञ्चिदवतरति तदोर्ध्वभागे प्रकाशस्य विस्पष्टा स्थितिर्गृह्यते। एतत्स्थानस्थाया उषसो यथा मनोहारि वर्णनं त्रैष्टुभमन्त्रेष्वेभिः पदैरुपलभ्यते—**इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतोऽजनिष्ट विभ्वा** (ऋ० १।११३।१) इति।

उषसः प्राक्तनो रक्ताभः प्रकाशः शनकैः श्वेतीभावं याति। एतदवस्थाया उषसो वर्णनम् **अरुणेभिरश्वैरोषा याति** (ऋ० १।११३।१४); **अश्वेद् युवतिः पुरस्ताद्** (ऋ० १।१२४।११); **युवतिः शुक्रवासाः** (ऋ० १।११३।७); **रुषद् वासो बिभ्रति** (ऋ० ७।७७।२); इत्यादिपदैरुपलभ्यते। अस्यामवस्थायामपि प्रकाशस्योपरिभाग एव व्यक्तोपलब्धिर्भवति। एतस्य निदर्शनम् **ऊर्ध्वेव स्नाती** (ऋ० ५।८०।५); **आविर्वक्षः कृणुषे शुम्भमाना** (ऋ० ६।६४।२) इत्याद्युपमाभिः क्रियते। उषसः पर्वतसानोरिव स्थितिः **उषो अद्रिसानो** (ऋ० ६।६५।५) इति सम्बुद्ध्या; **ऊर्ध्वा अस्या अञ्जयो विश्रयन्ते** (ऋ० ७।७८।१) पदैश्च व्यज्यते। एतत्कालिकस्य प्रकाशस्याल्पता न

दिशो मिनाति (ऋ० ५।८०।४), दभ्रं पश्यद्भ्यः (ऋ० १।११३।५); जार इवाचरन्ती (ऋ० ७।७६।३) इत्यादिपदैः संसूच्यते ।

तत्पश्चाद् यदोषाः पूर्वस्थानात् किञ्चिदवतरति, तदा तस्याः प्रकाश आधिक्यं भजते । एतस्याः स्थितेर्वर्णनं पाङ्क्तेषु मन्त्रेष्वित्थं दृश्यते—द्युम्नं बृहद् यश उषो मघोन्या वह (ऋ० ५।७९।७); गोमतीरिष आवह·····। साकं सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रैः शोचद्भिरर्चिभिः (ऋ० ५।७९।८); नेत् त्वा स्तेन यथा रिपुं तपाति (ऋ० ५।७९।९) इति ।

तदुत्तरकालं यदोषसः प्रकाशः पूर्वस्मात् स्थानान्नीचैरवतरति, वृद्धिं च गच्छन् भूमिं स्पृशति दशसु दिक्षु च व्याप्नोति, एतादृश्या अवस्थाया निरूपणं बार्हतमन्त्रेषूपलभ्यते । तथाहि—जरयन्ती वृजनं पद्वद् ईयते (ऋ० १।४८।५); चित्रेव प्रत्यदर्श्यायत्यन्तर्दशसु बाहुषु (ऋ० ८।१०१।१३) इति ।

ततः पश्चाद् यदोषसः प्रकाशस्ततोऽधस्तादावर्तते, तदा सोषाः रश्मिभिस्तमो विवासयन्ती विश्वं जगद् अवभासयति । तदुक्तम्—द्युच्छन्ति हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम् (ऋ० १।४९।४) ।

ततोऽवरकालं यदोषसः प्रकाशो नीचैः प्रसरति, तदा सा भूमिमिरश्वैर्गोभिः (द्विविधरश्मिभिः) सम्पृक्ता सती विशेषेण प्रकाशते । एतादृशी उषो अद्येह गोमत्यश्ववति विभावरि (ऋ० १।९२।१४) इत्यादिभिः विशिष्टैः सम्बोधनैः सम्बुध्यते ।

अन्ते यदोषा पृथिवीतलमवतरति, तदा तस्याः शुक्रेण प्रकाशेन द्यावापृथिव्यौ सर्वं जगत् प्रकाशितो भवति । तथा चाह—आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरु प्रियम् (ऋ० ४।५२।७) ।

एवं यथोषोदेवताकमन्त्राणां तत्तच्छन्दोऽनुरोधेन तत्तत्स्थानविशिष्टाया उषोदेवताया वर्णनं निदर्शनार्थं संक्षेपेणोपन्यस्तम्, तथैव अन्यासामपि देवतानां तत्तच्छन्दोऽनुरोधेन तत्तत्स्थानविशिष्टानामर्थोऽभ्यूहितव्यः ।

सम्प्रति प्रतिच्छन्दः समुपलभ्यमानाया एकद्व्यक्षरन्यूनाधिकतायाः किञ्चित् प्रयोजनं प्रस्तूयते । एकद्व्यक्षरन्यूनाधिकतया मन्त्रार्थविज्ञाने कथं वैशिष्ट्यं जायते, इत्यपि पूर्वेणैव मार्गेण विज्ञातुं सुशकम् । पूर्वं पृथिवीमारभ्य द्युपर्यन्तं ये सप्त विभागा निर्दर्शिताः, यथास्थानं च गायत्र्यादिछन्दसां निर्देशो व्यधायि, स छन्दसां निर्देशः प्रतिछन्दः पूर्णाक्षरसंख्यकानां विज्ञेयः । अधुना पूर्णाक्षरसंख्याकरेखाया अधस्ताद् द्वे रेखे कल्पनीये । तत्र प्रथमा रेखा एकाक्षरन्यूनछन्दसः स्थानं निदर्शयति । ततोऽधस्ताद् द्वितीया रेखा द्व्यक्षरन्यूनछन्दसः स्थानं द्योतयति । एवमेव पूर्णाक्षरसंख्याक-

रेखाया उपरिष्टाद् द्वे रेखे कल्पनीये। तत्रापि प्रथमा रेखा एकाक्षराधिकछन्दसः स्थानम्, अपरा तदुपरिष्ठा द्व्यक्षराधिकछन्दसः स्थानं संकेतयति। एतेषामेकद्व्यक्षरन्यूनाधिकसंख्यकानां छन्दसामपि पूर्वचित्रस्य दक्षिणभागे यथोक्तां रेखां प्रकल्प्य अक्षरसंख्या-निदर्शनेन संकेतः संसूचितः।

एवं च प्रतिच्छन्दो विभागे प्रकल्पिते प्रथमस्य द्व्यक्षराधिकस्य (२६ अक्षरस्य) गायत्रीछन्दसो यत् स्थानं तदेव तदुत्तरस्य द्व्यक्षरन्यूनस्य (२६ अक्षरस्य) उष्णिहोऽपि स्थानमापद्यते। एवं चैतादृक् स्थानं पूर्वोत्तरयोश्छन्दसोः सङ्गमस्थानं भवति। एतादृक् संगमस्थानस्थितं छन्दः कदाचिद् द्व्यक्षरन्यूनछन्दसोऽन्तर्गतं भवति, कदाचिच्च द्व्यक्षराधिकछन्दसोऽन्तर्गतम्। तत्र 'द्व्यक्षराधिकं पूर्वछन्दः उत द्व्यक्षरन्यूनम् उत्तरछन्दः' इत्याशङ्कायां छन्दःसूत्रकारः पिङ्गलाचार्यो व्यवस्थां विदधाति—**आदितः संदिग्धे** (३।६१) इति। अस्यायं भावः—यदि कस्मिंश्चित् षड्विंशत्यक्षरपरिमिते मन्त्रे सन्देहः स्यात्, यदस्य द्व्यक्षराधिकगायत्रीछन्द उत द्व्यक्षरन्यूनमुष्णिक्छन्द इति, तत्र प्रथमपादाक्षरसंख्यया निर्णयो विधातव्यः। यदि प्रथमः पादोऽष्टाक्षरस्तर्हि तस्य द्व्यक्षराधिकं गायत्रीछन्दो ज्ञेयम्, यदि द्वादशाक्षरः प्रथमः पादस्तर्हि तस्य द्व्यक्षरन्यूनोष्णिक्छन्दः कल्पनीयम्। एवं सर्वत्र संगमस्थानस्थयोश्छन्दसोर्निर्णयो विधेयः। एवं संगमस्थानस्था देवता कदाचिद् द्व्यक्षराधिकेन छन्दसा स्तूयते, कदाचिच्च द्व्यक्षरहीनेन छन्दसा। एवं च स्थूलतया विभक्तानि सप्त-सप्त स्थानानि पुनर् एकद्व्यक्षरन्यूनाधिकछन्दोऽनुरोधेन चतुर्धा विभज्यन्ते। तथा सति प्रतिदेवतम् अष्टाविंशतिधा भिन्ना स्तुतिरुपपद्यते, इत्यहो वैदिकवर्णनस्य सौक्ष्म्यम्!! सप्त मरुतोऽपि सप्त-सप्तभेदभिन्नाः। एवं च प्रतिदेवतम् एकोनपञ्चाशद् भेदभिन्ना स्तुतिः कल्पनीया। एतादृक् सूक्ष्मवर्णनस्याधारो न मया साक्षादुपलब्धः, तथाप्येतादृक्सूक्ष्मवर्णनस्याऽऽधारोऽधोलिखिते ब्राह्मणवचने निगूढो वर्तते इति विश्वसिमि—

अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरभ्यधावन् (उद्धृत ऋक्सर्वा २।७)।

यस्यायमभिप्रायः—मन्त्राणाम् अर्थान् ज्ञातुकामा ऋषयश्छन्दोभिश्छन्दसां साहाय्येन मन्त्राणां या इन्द्राद्या देवतास्तासां सामीप्यं लब्धवन्तः। अर्थात् छन्दोऽनुरोधेन देवतानां स्थितिमुपलभ्य मन्त्राणां विशिष्टान् अर्थान् ज्ञातवन्तः।

भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिभिः द्वात्रिंशदुत्तरैकोनविंशतितमे वैक्रमाब्दे (१८७५ ख्रीस्ताब्दे) विधीयमानेषु पञ्चदशविशिष्टेषु प्रवचनेषु पञ्चमे वेदविषयके प्रवचनेऽभिहितम्—**पदार्थज्ञानविषये वेदेषु महती दक्षता विद्यते**। तेषां तथाविधाभिधाने क आधार इति न वक्तुं समर्थः? भवतु कश्चिदप्याधारः, तथापि पदार्थविज्ञानस्य सौक्ष्म्यप्रतिपादिका छन्दसामाधारेण या मन्त्रार्थविज्ञानशैली मयेह प्रस्तुता साऽत्यतितरां विचारार्हा वर्तते।

न्यूनाधिकाक्षरछन्दसा एकस्या एव देवताया वर्णने यद् वैशिष्ट्यं पूर्वमुपपादितम्, तस्य निदर्शनाय सवितृदेवताके गायत्रीछन्दस्के द्वे ऋचावुदाह्रियेते। एतदर्थस्य वैशिष्ट्यबोधनाय पृथिवीस्थानीयस्य प्रथमपरिवहस्य मुख्यं स्थानं कल्पनीयम्। अस्मन्मते तु मानवो यस्मिन् पृथिव्याः प्रदेशे तिष्ठति, तदेव पृथिवीतलं प्रथमपरिवहस्य मुख्यं स्थानम्। तमनुरुद्ध्य पूर्वस्यां दिशि आकाशप्रदेशेऽप्येका रेखाऽङ्कनीया (द्र०—पूर्वचित्रे वाममागे)। इदमेव च चतुर्विंशत्यक्षरायाः गायत्र्याः तद्वर्णितदेवतायाश्च मुख्यं स्थानम्। एवं च सति यदा उद्यन् सविता तद्रेखास्थानमाप्नोति, अर्थात् पृथिवीतलस्थस्य प्राणिनो दर्शनयोग्यो भवति, तादृशस्सवितुश्चतुर्विंशत्यक्षरनिबद्धया गायत्र्या वर्णनं भवति। तथा चेयं पूर्णाक्षरगायत्री छन्दस्का ऋक्—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तं न आ सुव॥

अस्यामृचि 'देव, सवितः' इति द्वे सम्बोधनपदे, 'परासुव, आसुव' इति मध्यमपुरुषस्थे क्रियापदे। सम्बोधनमध्यमपुरुषयोः प्रयोगो तदैव भवति, यदा सम्बोध्यमाना प्रार्थ्यमाना च देवता प्रत्यक्षा स्यात्। अतएव दर्शनयोग्यसवितृदेवताके चतुर्विंशत्यक्षरछन्दस्के मन्त्रे सम्बोधनपदयोर्मध्यमपुरुषस्थक्रियापदयोश्च निबन्धनं युक्तं भवति। अपि चास्मिन् मन्त्रे प्रयुक्तं सवितृपदं 'षू प्रेरणे' इत्यस्माद् धातोरेव व्युत्पन्नम्, इत्यासुव-परासुव-पदाभ्यां विस्पष्टम्। अस्मिन् मन्त्रे स्तुतः सविता अनुद्भूतरश्मिः केवलं प्रेरक एव भवति।

अधुनाऽन्या ऋगुदाह्रियते। इयमृग् वैदिकेषु गायत्रीति वा सावित्रीति वा गुरुमन्त्र इति वा रूपेण प्रसिद्धा वर्तते। तस्या अयं पाठः—

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

अस्या ऋचः प्रथमे पादे सप्ताक्षराणि, द्वितीयतृतीयपादयोश्चाष्टावष्टौ। एवमियमेकाक्षरहीना त्रयोविंशत्यक्षरा गायत्रीछन्दस्का ऋक्। अस्यामृचि सवितैव वर्ण्यते स्तूयते प्रार्थ्यते च। परन्तु किमवस्थः सविताऽत्र स्तूयत इत्येकाक्षरहीनेन छन्दसा विव्रियते। एकाक्षरहीनाया गायत्र्याः स्थानं चतुर्विंशत्यक्षरगायत्र्या अधस्ताद् वर्तते, इत्युक्तं पुरस्तात्। एवं चानयैकाक्षरहीनया गायत्र्या तादृक् सविता वर्ण्यते, यः सम्प्रत्युदयमावमप्राप्तः। अत एव च सोऽस्मदादीनामप्रत्यक्षः। अस्यामृचि यानि पदानि प्रयुक्तानि तान्यपि सवितुः परोक्षभावमेव व्यञ्जयन्ति। यथा—प्रथमं 'तत्' पदं सवितुः परोक्षभावमेव प्रकटयति। 'वरेण्यम्' पदमपि तस्य भर्गस्य वरणीयतामेव द्योतयति। प्रत्यक्षीभूतस्य सवितुर्भर्गस्तेजो न सर्वदा वरणीयो भवति। तेनास्य मन्त्र-

स्यायं भावः—वयं परोक्षभूतस्य सवितुर्यद् वरणीयं तेजो वर्तते, तद् धीमहि। एतादृशो ध्यानेन प्रत्यक्षीभूतः सविता अस्मदीया बुद्धीः शुभकर्मसु प्रेरयेत्।

शास्त्रकाराः 'तत्सवितुः' इत्यस्या ऋचो जपकाल आसूर्योदयाद् इत्येव मन्यन्ते। एतस्य विशिष्टकालस्योपपत्तिरपि एतस्या एकाक्षरहीनतयैवोपपद्यते।

एवम् अस्मिन् निबन्धे मन्त्राणामाधिदैविकार्थविज्ञाने छन्दसां यत् साहाय्यम्, यथा च तल्लभ्यते इति यथामति विवेचितम्। मन्त्रार्थोपयोगिषु वेदाङ्गेषु परिगणितेन छन्दःशास्त्रेणापि कथंचिद् मन्त्रार्थोपयोगिना भाव्यम् इति चिन्तायां मया या काचिद् दृष्टिरुपलब्धा सा तत्रभवतां विदुषां पुरस्ताद् उपन्यस्ता। उत्तरसप्तकैश्छन्दोभिः कथं मन्त्रार्थविज्ञाने साहाय्यं शक्यते लब्धुम्, इत्यत्र मया नाद्ययावत् कश्चिन्मार्गो लब्धः। वस्तुतः छन्दांसि मन्त्रार्थविज्ञाने उपकारीणि सन्ति नवेति चिन्तनप्रवर्तमानायैवाहं दुःसाहसं कृतवान्। प्रवृत्ते च चिन्तने 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' इति न्यायेन कदाचित् तत्त्वनिर्णयोऽप्येतस्मिन् विषये भवितेत्येवाहमाशासे॥

मन्त्रों के आधिदैविकार्थ-विज्ञान में छन्दों की सहायता

वैदिक-वाङ्मय के परिशीलन में समर्पित माननीय विद्वद्वरेण्य! आप सब यह जानते ही हैं कि वैदिक छन्दों का प्रयोजन मन्त्रों के अक्षरों की संख्या का परिज्ञान ही है, ऐसा वैदिक जन मानते हैं। यज्ञकर्म में उसका फल **आनुष्टुभं शंसति, त्रैष्टुभं शंसति** इत्यादि विधिवाक्यों में तत्तच्छन्दोयुक्त ऋचाओं का सुकर विनियोग है। ऐसा होने पर भी वैदिक छन्दःशास्त्र के अध्ययनकाल में ही मेरे मन में दो शङ्काएं उद्भूत हो गयी थीं। उनमें पहली शङ्का यह थी कि वेदविद्याविचक्षण शिक्षा आदि छः वेदाङ्गों में छन्दःशास्त्र को छोड़कर अन्य वेदाङ्गों का साक्षात् अथवा परम्परा से वेदार्थज्ञान में साहाय्य प्रायः स्वीकार करते हैं। इस प्रकार तो छन्दःशास्त्र वेदाङ्गों के मध्य होने से उसका भी छन्दोज्ञान द्वारा मन्त्रार्थ-परिज्ञान में अवश्य ही किसी-न-किसी प्रकार साहाय्य होना ही चाहिये। नहीं तो वेदार्थोपयोगी वेदाङ्गों में छन्दःशास्त्र की गणना असम्बद्ध हो जायेगी।

दूसरी शङ्का यह थी कि प्रति छन्द अक्षर-संख्या नियत होती है, परन्तु बहुत से मन्त्रों में एक वा दो अक्षर कम अथवा अधिक उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार अक्षरों की न्यूनाधिकता में क्या कारण है? क्या यह अक्षरों की न्यूनाधिकता मन्त्रकारों की छन्दोरचना के अकौशल को दर्शाती है अथवा यहां कोई तत्सम्बन्धी विशिष्ट अर्थ वाच्य है, जिसको अक्षरों की न्यूनाधिकता के द्वारा जनाया जाता है?

बहुत समय तक मैंने दोनों शङ्काओं के समाधान के लिये अनेक कृतभूरिपरिश्रम वैदिक विद्वानों से पूंछा, परन्तु एक भी शङ्का का कोई हृदयग्राही समाधान मुझे उपलब्ध नहीं हुआ। इस विषय का निरन्तर अनुशीलन करते हुए मुझे २-३ वर्ष पूर्व समाधानसूचिका आशा की कोई कणिका उपलब्ध हुई। इस निबन्ध में मैं उसी को संक्षेप से प्रस्तुत कर रहा हूं।

यद्यपि वैदिक छन्दों में तीन सप्तकों का निरूपण किया जाता है, तथापि मैंने अब तक प्रथम सप्तक में विद्यमान छन्दों का ही कुछ अध्ययन किया है। उसमें भी तत्तच्छन्दोन्वित सभी ऋग्वेदीय मन्त्रों का परिशीलन नहीं किया है। इसीलिये इस

विषय में जो कुछ भी मैं लिख रहा हूं, उसका प्रयोजन—मन्त्रार्थविज्ञान में छन्द सहायता कर सकते हैं या नहीं—यह विचारणीय रहेगा।

वेदार्थविज्ञान में छन्द सहायक हैं या अनुपयोगी हैं, इस विषय में दोनों प्रकार के वचन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। उनमें जिन वचनों के द्वारा वेदार्थज्ञान में छन्दों का साहाय्य सूचित होता है, उनको उपस्थित करते हैं—

१. आचार्य जैमिनि पूर्वमीमांसाशास्त्र में ऋक् का लक्षण इस प्रकार करते हैं—**तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था** (मी० २।१।३५) इस लक्षण के द्वारा ऋचाओं में अर्थ के अनुसार पादव्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार मन्त्रार्थविज्ञान में छन्दों का साहाय्य बताता है। भाष्यकार शबरस्वामी ने यहां **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत** (ऋ० १।१।२) इस ऋचा के प्रथम चरण में अवान्तर अर्थ पूरा होते न देखकर सूत्रकारोक्त ऋग्लक्षण को प्रायिक कहकर कहीं-कहीं छन्दोऽनुरोध से भी पादव्यवस्था को माना है। हमारे मत में तो यहां पर भी निदानसूत्रस्थ छन्दोविचिति के **अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति, आदशाक्षरताया अभिक्रामति** सूत्रों के द्वारा **अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः** प्रथम पाद तथा **नूतनैरुत** द्वितीय पाद मानकर अर्थानुसार पादव्यवस्था अनायास ही की जा सकती है। अतः सूत्रकार जैमिनि का लक्षण सर्वथा निर्दोष है।

२. ऋग्भाष्यकार वेङ्कटमाधव ने भी जैमिनि के लक्षण के अनुसार दो स्थलों पर कहा है—

(क) **पादे-पादे परिसमाप्यन्ते प्रायेणार्था अवान्तराः** (षष्ठ अष्टक के आठवें अध्याय के आदि में चौदहवां श्लोक)।

(ख) आख्यातानुक्रमणी के आदि में छन्दोनुक्रमणी के विवरण में लिखा है—**प्रतिपादमृचामर्थाः सन्ति केचिदवान्तराः।**

छन्दों का ज्ञान मन्त्रार्थविज्ञान में किस प्रकार सहायता करता है, इस पर ऋग्भाष्य के आदि में लिखा है—

पादावसानविज्ञानं छन्दोज्ञानेन सिद्ध्यति।

इस प्रकार छन्दोज्ञान से पादावसान जाना जाता है और उसके द्वारा अवान्तर अर्थ जाने जाते हैं, ऐसा वेङ्कटमाधव का अभिप्राय है।

३. आर्षेयब्राह्मण में लिखा है—**यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते।**

विनियोजकं ब्राह्मणम् इस लक्षण से यहां 'ब्राह्मण' पद से विनियोग कहा गया है। मन्त्रार्थज्ञान में दैवत-विनियोग का सहायकत्व सभी मानते हैं। आर्षज्ञान भी मन्त्रार्थज्ञान में सहायक है, ऐसा स्कन्द और वेङ्कटमाधव अपने ऋग्भाष्य के आदि में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार 'तन्मध्यपतितन्याय' से छन्द भी मन्त्रार्थज्ञान में सहायक हैं, ऐसा आर्षेय-ब्राह्मणवचन से जाना जाता है।

४. ऋक्सर्वानुक्रमणी में कात्यायन ने कहा है—**अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरभ्यषावन्**। इसका आशय यह है कि मन्त्रार्थ को जानने की इच्छावाले ऋषियों ने छन्दों की सहायता से मन्त्रों की जो देवता थीं, उनको और मन्त्रार्थ को जाना।

५. सायणाचार्य ने ऋग्भाष्योपोद्घात के षडङ्गप्रकरण में उपक्रम और उपसंहार में सभी वेदाङ्गों की वेदार्थ में उपयोगिता मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है। फिर भी छन्दोज्ञान वेदार्थज्ञान में किस प्रकार सहायक है, यह स्पष्ट नहीं कहा।

छन्द वेदार्थज्ञान में अनुपयोगी हैं, यह पक्ष केवल ऋग्भाष्यकार स्कन्दस्वामी कहता है—**तत्रार्षदैवतयोः अर्थावबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते। न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्** (ऋग्भाष्य के आरम्भ में)।

यद्यपि मध्वाचार्यविरचित ऋग्भाष्य के टीकाकार जयतीर्थ ने स्कन्दस्वामी के इस छन्दोज्ञान की अनुपयुक्तता बतलानेवाले वचन का यह कहकर खण्डन किया है—'**एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति**', फिर भी उसने और उसके विवृतिकार नरसिंह ने छन्दोज्ञान वेदार्थज्ञान में कैसे सहायक है, यह स्पष्ट नहीं किया।

इस प्रकार भारतीय वाङ्मय में छन्दों के विषय में दोनों प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं, अतः छन्दोज्ञान मन्त्रार्थज्ञान में सहायक है या नहीं, यह प्रश्न उत्पन्न होता है। सहायक होने पर भी क्या पादावसान-विज्ञान से अवान्तर पादार्थविज्ञान में सहायता करता है या अन्य भी कोई ऐसी विधा है, जिसके द्वारा छन्दोज्ञान वेदार्थविज्ञान में सहायता करता है, यह भी विचारणीय हो जाता है।

जैसा जैमिनि का और वेङ्कटमाधव का मत है, उससे तो एक वा दो अक्षर की न्यूनाधिकता का कोई प्रयोजन व्याख्यात नहीं होता है, अतः निरुक्तकार यास्क ने देवताओं के भक्तिसाहचर्य की व्याख्या करते हुए जो अन्य मार्ग संसूचित किया है, उसके अनुसार मैं यहां कुछ विचार प्रस्तुत कर रहा हूं। इसीलिये इस लेख के नाम में 'आधिदैविकार्थविज्ञान' विशेषण दिया है।

भगवान् यास्क ने दैवत प्रकरण में (अ० ७।८-११) अग्नि आदि के भक्तिसाहचर्य का प्रतिपादन करते हुए इस प्रकार कहा है—

अथैतान्यग्निभक्तीनि—अयं लोकः प्रातःसवनं वसन्तः गायत्री·····। अथैतानीन्द्रभक्तीनि—अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप्·····। अथैतान्यादित्यभक्तीनि—असौ लोकस्तृतीयं सवनं वर्षा जगती·····। एतेष्वेव स्थानव्यूहेषु ऋतुच्छन्दः स्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषं कल्पयति। अनुष्टुप् पृथिव्यायतनम्·····। पङ्क्तिरन्तरिक्षायतनम्·····। अतिच्छन्दांसि द्युभक्तीनि इति।

इस भक्तिसाहचर्य व्याख्यान से प्रथम सप्तकस्थ गायत्री आदि से जगतीपर्यन्त छदों का क्रम से पृथिवी से लेकर द्युलोकपर्यन्त स्थित उन-उन देवताओं के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित हो जाता है।

पृथिवी से लेकर द्युलोकपर्यन्त जो मरुत् विचरते हैं,वे स्थानभेद से सात प्रकार के हैं, वे भी फिर सात-सात भेदों से विभक्त होते हैं,ऐसा वैदिकों का मत है—**सप्त सप्त हि मारुता गणाः** (शत० ब्रा० ९।३।१।२५) ये ही सात प्रकार के मरुत् पुराणों में 'परिवह' शब्द से कहे जाते हैं। इस प्रकार पृथिवीतल से लेकर द्युलोकपर्यन्त जो अन्तरिक्ष है, उसको सात भागों में बांटकर प्रतिभाग गायत्र्यादि क्रम से छन्दों का विनियोग जानना चाहिये। इस विषय का निदर्शक चित्र पृष्ठ ३८६ पर देखें।

इस प्रकार सप्तविध छन्दों से युक्त मन्त्रों से तत्तत्स्थानस्थ अग्नि, वायु, इन्द्र, वैश्वानर, सविता आदि देवताओं की स्तुति और वर्णन किया जाता है, यह संक्षेप से अर्थ निकला।

यद्यपि निरुक्तकार यास्क ने वैदिक देवताओं का पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थान भेद से विभक्त करके उपदेश किया है, फिर भी उन देवताओं का स्थान सर्वत्र है, इसमें कोई शङ्का नहीं है। क्योंकि सभी देवता 'त्रिता' वा 'त्रिवृता' कही गयी हैं। त्रित और त्रिवृत शब्दों से देवताओं का त्रिस्थानभागित्व सूचित किया जाता है—

पृथिवी-स्थान में पठित अग्नि का त्रिवृत्त्व=त्रिस्थानभागित्व प्रतिपादक ऋचा है—**'तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्'** (ऋ० १०।८८।१०)। यास्क ने भी इसका व्याख्यान उसी प्रकार किया है—**तमकुर्वंस्त्रेधा भावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः** (निरुक्त ७।२८)।

शतपथ (८।४।१।९) में वायु का त्रिवृत्त्व स्पष्ट है—**'वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्। स एषु त्रिषु लोकेषु वर्तते'**।

इन्द्र का त्रिवृत्त्व—**'इन्द्रो यद् वज्री वृषभाणोऽन्धसा भिनद् वलस्य परिधीँरिव त्रितः'** (ऋ० १।५२।५) इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है। यास्क ने भी **'यस्य त्रितो व्योजसा'** (ऋ० १।१८७।१) मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है—**'यस्य त्रित ओजसा**

बलेन। त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्रं विपर्वाणं व्यदंयति' (निरु० ९।२५)।

वैश्वानर का त्रिवृत्त्व तत्तत्स्थाननिदर्शक वचनों से जाना जाता है। जैसे कि इसका द्युस्थानित्व मैत्रायणीय आम्नाय में सुना जाता है—**'एष वाऽग्निर्वैश्वानरो यदादित्यः'** (मै० सं० १।६।६) इसका अन्तरिक्षस्थानित्व यास्क ने ऋङ्मन्त्र (ऋ० १।५९।६) का उदाहरण देते हुए प्रतिपादित किया है—**तत्को वैश्वानरः ? मध्यम इत्याचार्याः। वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति···वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत् काष्ठा अव शाम्बरं भेत्** (निरु० ७।२२-२३) और इसका पृथिवीस्थानित्व तो आथर्वणी श्रुति ही प्रतिपादित करती है—**वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निम्** (अथर्व० १२।१।६)।

इस प्रकार आद्य सात गायत्री आदि छन्दों से स्तुत देवताओं की तत्तत्सम्बन्धी मरुन्मण्डल में अथवा परिवह में विद्यमान अवस्था में स्तुति की जाती है, सामान्य-रूप से नहीं। इस विषय के कुछ निदर्शन के लिये उषस् देवता के मन्त्र देते हैं।

उषस् देवता का स्थान द्युलोक है। उसका काल ब्राह्ममुहूर्त्त नामक रात्रि का पश्चिम प्रहर है। इस काल में उषस् का प्रकाश आकाश में सुदूर प्रथम उपलब्ध होता है। तत्पश्चात् यही उषःप्रकाश जैसे-जैसे सूर्योदय का काल समीप आता है, वैसे-वैसे नीचे को उतरता है। इससे उषस् देवता द्युस्थानवाली होती हुई पृथिवी पर्यन्त सब स्थानों में व्याप्त हो जाती है। अत एव इसकी स्तुति ऋग्वेद में प्रथम सप्तकस्थ सभी छन्दों के द्वारा उपलब्ध होती है। प्रतिच्छन्द मन्त्रों की संख्या इस प्रकार है—जगती—४, त्रिष्टुप्—१२१, पंक्ति—२८, बृहती—१२, अनुष्टुप्—४, उष्णिक्—३ और गायत्री—३।

जैसे-जैसे प्रकाश की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उषस् का उषस्त्व नष्ट होता जाता है। तत्तत्स्थानीय उषस् की स्तुति में छन्द भी यथाक्रम बदलते हैं। उसी प्रकार उषस् के वर्णन में भी परिवर्तन उपलब्ध होता है। छन्द के अनुसार वर्णन वा परिवर्तन इस प्रकार देखा जा सकता है—

उषस् की प्रथम उपलब्धि आकाश के पुरो भाग में बहुत ऊपर स्वल्प स्थान में कुछ लालिमायुक्त प्रकाश से गृहीत होती है। अतः द्युस्थानीय उषस् की स्तुति जगतीछन्दस्क मन्त्रों में इस प्रकार है—**एता उ त्या उषसः केतुमक्त पूर्वेऽर्धे रजसो भानुमञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः।** (ऋ० १।९२।१)।

इस मन्त्र में **रजसः पूर्वेऽर्धे** इन पदों से आकाश के पूर्व भाग में स्वल्प स्थान में

उषस् की स्थिति कही है। जैसे केतु दूर से दिखाई देता है, परन्तु उसका दण्ड उपलब्ध नहीं होता है, उसी प्रकार उषस् की स्थिति भी **केतुमकृत** पदों से वर्णित की गयी है। जैसे कोश से निकाले जाते हुए शस्त्र अकस्मात् प्रकाशित होते हैं, वैसे ही अन्धकार में प्रकाशमान उषस् देवता का वर्णन **निष्कृण्वाना आयुधानीव** पदों से किया है। उषस् के प्रथम प्रकाश की लालिमा **गावोऽरुषीर्यन्ति** पदों से स्पष्ट की है। इस प्रकार एक ही मन्त्र में द्युस्थानीय उषस् का वर्णन अत्यन्त चमत्कारी शब्दों से उपलब्ध होता है।

जब उषस् पूर्वस्थान से कुछ नीचे उतरती है तब ऊर्ध्व भाग में प्रकाश की स्थिति स्पष्ट दीखती है। इस स्थान की उषस् का मनोहारी वर्णन त्रैष्टुभ मन्त्र में इन पदों से उपलब्ध होता है—**इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतोऽजनिष्ट विभ्वा** (ऋ० १।११३।१) इति।

उशस् का प्राक्तन रक्ताभ प्रकाश धीरे-धीरे सफेद होता जाता है। इस अवस्था की उषस् का वर्णन **अरुणेभिरश्वैरोषा याति** (ऋ० १।११३।१४); **अश्वंद् युवतिः पुरस्ताद्** (ऋ० १।१२४।११); **युवतिः शुक्रवासाः** (ऋ० १।११३।७); **रुषद् वासो बिभ्रति** (ऋ० ७।७७।२); इत्यादि पदों से उपलब्ध होता है। इस अवस्था में भी प्रकाश का ऊपर का भाग ही स्पष्ट दिखाई देता है। इसका निदर्शन **ऊर्ध्वेव स्नाती** (ऋ० ५।८०।५); **आविर्वक्षः कृणुषे शुम्भमाना** (ऋ० ६।६४।२) इत्यादि उपमाओं से किया जाता है। उसष् की पर्वत की सानु के समान स्थिति **उषो अद्रिसानो** (ऋ० ६।६५।५) इस सम्बोधन से **ऊर्ध्वा अस्या अञ्जयो विश्रयन्ते** (ऋ० ७।७८।१) पदों से व्यक्त की जाती है। इस काल की प्रकाश की अल्पता **न दिशो मिनाति** (ऋ० ५।८०।४); **वध्रं पश्यद्भ्यः** (ऋ० १।११३।५); **जार इवाचरन्ती** (ऋ० ७।७६।३) इत्यादि पदों से सूचित की जाती है।

तत्पश्चात् जब उषस् पूर्व स्थान से कुछ नीचे उतरती है, तब उसका प्रकाश अधिक हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन पंक्तिछन्दस्क मन्त्रों में इसका प्रकार है—**द्युम्नं बृहद् यश उषो मघोन्या वह** (ऋ० ५।७९।७); **गोमतीरिष आवह**·····। **साकं सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रैः शोचद्भिरर्चिभिः** (ऋ० ५।७९।८); **नेत् त्वा स्तेन यथा रिपुं तपाति** (ऋ० ५।७९।९) इति।

उत्तरकाल में जब उषःप्रकाश कुछ और नीचे उतरता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता हुआ दसों दिशाओं में व्याप्त होता है, इस अवस्था का निरूपण बृहतीछन्दस्क मन्त्रों में उपलब्ध होता है—**जरयन्ती वृजनं पद्वद् ईयते** (ऋ० १।४८।५); **चित्रेव प्रत्यदर्श्यायत्यन्तर्दशसु बाहुषु** (ऋ० ८।१०१।१३)।

तत्पश्चात् जब उषःप्रकाश उससे भी नीचे आता है, तब वह उषस् रश्मियों से अन्धकार को हटाती हुई सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करती है। इसका वर्णन किया है—**व्युच्छन्ति हि रश्मिभिर्विश्वमाभासि रोचनम्** (ऋ० १।४६।४)।

बाद में जब उषस् का प्रकाश नीचे फैलता है, तब वह अनेक अश्वों और गौवों (दो प्रकार की रश्मियों) से युक्त होती हुई विशेषरूप से प्रकाशित होती है। इस प्रकार की उषस् **उषो अद्येह गोमत्यश्ववति विभावरि** (ऋ० १।९२।१४) इत्यादि विशिष्ट सम्बोधनों से सम्बोधित की गयी है।

अन्त में जब उषस् पृथिवीतल पर उतरती है, तब उसके शुक्र के प्रकाश से द्युलोकपर्यन्त सारा जगत् प्रकाशित हो जाता है। जैसा कि कहा है—**आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरु प्रियम्** (ऋ० ४।५२।७)।

इस प्रकार उषोदेवताक मन्त्रों से तत्तच्छन्दोऽनुरोध से उस-उस स्थानविशिष्ट उषस् देवता का वर्णन निदर्शनार्थ संक्षेप से किया है,वैसे ही तत्तत्स्थानविशिष्ट अन्य देवताओं का भी अर्थ तत्तच्छन्दोऽनुरोध से ऊहित कर लेना चाहिये।

सम्प्रति प्रतिच्छन्द में उपलब्ध एक-दो अक्षर की न्यूनाधिकता का कुछ प्रयोजन प्रस्तुत किया जाता है। एक-दो अक्षरों की न्यूनाधिकता से मन्त्रार्थविज्ञान में किस प्रकार वैशिष्ट्य होता है, यह भी पूर्व प्रदर्शित मार्ग से ही जाना जा सकता है। पहले पृथिवी से लेकर द्युलोकपर्यन्त जो सात विभाग दिखाए हैं और यथास्थान गायत्री आदि छन्दों का निर्देश किया है, वह छन्दों का निर्देश प्रतिच्छन्द पूर्णाक्षर संख्याओं का जानना चाहिये। अब पूर्णाक्षरसंख्यावाली रेखा से नीचे दो रेखाएं कल्पित करनी हैं। उनमें प्रथम रेखा एकाक्षरन्यून छन्दों का स्थान दिखाती है और उसके नीचे दूसरी रेखा द्व्यक्षरन्यून छन्दों का स्थान दर्शाती है। ऐसे ही पूर्णाक्षर-संख्याक रेखा से ऊपर भी दो रेखाएं कल्पित करनी चाहिये। प्रथम रेखा एकाक्षराधिक छन्दों का स्थान और उसके ऊपर द्वितीय रेखा द्व्यक्षराधिक छन्दों के स्थान को संकेतित करती है। इनमें एक अथवा द्व्यक्षर न्यूनाधिक संख्यावाले छन्दों का संकेत पूर्वचित्र के दक्षिण भाग में यथोक्त रेखा कल्पित कर अक्षरसंख्या दिखाकर किया है।

इस प्रकार प्रतिच्छन्द विभाग प्रकल्पित करके प्रथम द्व्यक्षराधिक (२६ अक्षर) गायत्री छन्द का जो स्थान है, वही उससे उत्तर द्व्यक्षरन्यून (२६ अक्षर) उष्णिक् का भी स्थान होता है। इस विधि से ऐसा स्थान पूर्वोत्तर छन्दों का सङ्गमस्थान होता है। ऐसे सङ्गमस्थान में स्थित छन्द कभी द्व्यक्षरन्यून छन्द के अन्तर्गत होता है और कभी द्व्यक्षराधिक छन्द के अन्तर्गत। ऐसे स्थलों पर 'द्व्यक्षराधिक पूर्व छन्द

है अथवा द्व्यक्षरन्यून उत्तर छन्द है' यह शङ्का होने पर छन्दःसूत्रकार पिङ्गलाचार्य ने व्यवस्था की है—**आदितः सन्दिग्धे** (३।६१)। इसका भाव यह है कि यदि किसी २६ अक्षरवाले मन्त्र में यह सन्देह हो कि यह द्व्यक्षराधिक गायत्री छन्द है अथवा द्व्यक्षरन्यून उष्णिक् छन्द है, तो वहां प्रथम पाद की अक्षरसंख्या से निर्णय करना चाहिये। यदि प्रथम पाद अष्टाक्षर है तो उस मन्त्र का द्व्यक्षराधिक गायत्री छन्द जानना चाहिये और यदि प्रथम पाद द्वादशाक्षर है, तो उस मन्त्र का द्व्यक्षरन्यून उष्णिक् छन्द कल्पित करना चाहिये। इसी विधि से सर्वत्र सङ्गमस्थानों में छन्दों का निर्णय करना चाहिये। इसी प्रकार सङ्गमस्थानस्थ देवता कभी द्व्यक्षराधिक छन्द से स्तुत होती है और कभी द्व्यक्षरहीन छन्द से। इस प्रकार से स्थूलतया विभक्त सात-सात स्थान फिर एक-दो अक्षर न्यूनाधिक छन्दाऽनुरोध से चार प्रकार से विभक्त किये जाते हैं। ऐसा होने पर प्रतिदेवता की २८ भेदों से स्तुति की जाती है। वैदिक-वर्णन की कितनी सूक्ष्मता है!! सात मरुत् भी सात-सात प्रकार से भिन्न हैं। इस प्रकार प्रति देवता की ४९ भेदों से स्तुति कल्पित है। ऐसे सूक्ष्म वर्णन का आधार मुझे साक्षाद् उपलब्ध नहीं हुआ, फिर भी ऐसे सूक्ष्म वर्णन का आधार अधोलिखित ब्राह्मणवचन में निगूढ है, ऐसा मेरा विश्वास है—

अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरभ्यधावन् (उद्धृत ऋक्सर्वा० २।७)।

इसका यह अभिप्राय है कि मन्त्रों के अर्थों को जानने की इच्छावाले ऋषियों ने छन्दों की सहायता से मन्त्रों के जो इन्द्र आदि देवता हैं, उनका सामीप्य प्राप्त किया। अर्थात् छन्दोऽनुरोध से देवताओं की स्थिति उपलब्ध कर मन्त्रों के विशिष्ट अर्थों को जाना।

भगवद् दयानन्द सरस्वती स्वामी ने संवत् १९३२ (सन् १८७५) में दिये पन्द्रह विशिष्ट प्रवचनों में पांचवें वेदविषयक प्रवचन में कहा है—'पदार्थज्ञान के विषय में वेदों में महती दक्षता है'। उनके ऐसा कहने में क्या आधार था, यह नहीं पता। कोई भी आधार हो, फिर भी पदार्थविज्ञान की सूक्ष्मता की प्रतिपादिका जो मन्त्रार्थ-विज्ञानशैली छन्दों के आधार पर मैंने यहां प्रस्तुत की है, वही अतितरां विचारणीय है।

न्यूनाधिकाक्षर छन्द के द्वारा एक ही देवता के वर्णन में जो वैशिष्ट्य पूर्व दिखाया है, उसके निदर्शन के लिये सविता देवतावाली गायत्रीछन्दस्क दो ऋचाएं उदाहृत करते हैं। इस अर्थ की विशिष्टता जानने के लिये पृथिवीस्थानीय प्रथम परिवह का मुख्य स्थान कल्पित करना चाहिये। हमारे मत में तो मानव पृथिवी के जिस प्रदेश में स्थित है, वही पृथिवीतल प्रथम परिवह का मुख्य स्थान है। उसके अनुसार पूर्व दिशा में आकाशप्रदेश में एक रेखा अङ्कित करनी चाहिये (द्र०—पूर्व चित्र का वाम भाग)। यह ही चौबीस अक्षरवाली गायत्री का और तद्वर्णित देवता

का मुख्य स्थान है। ऐसा होने पर जब उदय होता हुआ सविता उस रेखास्थान को प्राप्त करता है, अर्थात् पृथिवीतलस्थ प्राणियों के दर्शनयोग्य होता है, उस प्रकार के सविता का वर्णन चौबीस अक्षरवाली गायत्री से होता है। पूर्णाक्षर गायत्रीछन्दस्क ऋचा है—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तं न आ सुव॥

इस मन्त्र में 'देव' 'सवितः' दोनों सम्बोधन पद हैं। 'परासुव' 'आसुव' मध्यम-पुरुष के क्रियापद हैं। सम्बोधन और मध्यम पुरुष का प्रयोग वहीं होता है, जहां सम्बोध्यमान और प्रार्थ्यमान देवता प्रत्यक्ष हो। इसीलिये दर्शनयोग्य सविता देवता-वाले चौबीस अक्षर के मन्त्र में सम्बोधन पद और मध्यमपुरुषस्थ क्रियापदों का निबन्धन युक्त है। इस मन्त्र में प्रयुक्त 'सवितृ' पद **षू प्रेरणे** इस धातु से ही व्युत्पन्न है, ऐसा 'आसुव' 'परासुव' पदों से स्पष्ट है। इस मन्त्र में स्तुत सविता की रश्मियां अभी नहीं निकली है, अतः वह केवल प्रेरक है।

अब दूसरी ऋचा लेते हैं। यह ऋचा वैदिकों में गायत्री, सावित्री अथवा गुरु-मन्त्ररूप में प्रसिद्ध है। उसका पाठ यह है—

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इस ऋक् के प्रथम पाद में सात अक्षर हैं, द्वितीय और तृतीय पाद में आठ-आठ हैं। इस प्रकार यह एकाक्षरहीना तेईस अक्षरात्मक गायत्रीछन्दस्क ऋक् है। इसमें सविता का ही वर्णन, स्तुति तथा प्रार्थना है। परन्तु किस अवस्थावाले सविता की यहां स्तुति की जाती है, यह एकाक्षरहीन छन्द से स्पष्ट है। एकाक्षरहीन गायत्री का स्थान २४ अक्षर की गायत्री से नीचे है, यह पूर्व कह चुके हैं। इस प्रकार इस एकाक्षरहीन गायत्री से ऐसे सविता का वर्णन किया गया है, जो सम्प्रति उदयभाव को प्राप्त हो गया है। इसीलिये वह हमें अप्रत्यक्ष है। इस ऋचा में जो यद प्रयुक्त किये गये हैं, वे भी सविता के परोक्षभाव को सूचित करते हैं। जैसे—प्रथम 'तत्' पद सविता के परोक्षभाव को ही प्रकट करता है। 'वरेण्यम्' पद भी उसके भर्ग की वरणीयता को ही बताता है। प्रत्यक्षीभूत सविता का भर्गरूपी तेज सर्वदा वरणीय नहीं होता है। अतः इस मन्त्र का भाव यह है—हम परोक्षभूत सविता का जो वरणीय तेज है, उसे धारण करें। ध्यान से प्रत्यक्षीभूत ऐसा सविता हमारे बुद्धियों को शुभ कर्मों से प्रेरित करे।

शास्त्रकार इस ऋचा के जप का काल सूर्योदय तक ही मानते हैं। इसके इस विशिष्ट काल का ज्ञान भी इस ऋचा की एकाक्षरहीनता से ही होता है।

इस प्रकार इस निबन्ध में मन्त्रों के आधिदैविकार्थविज्ञान में छन्दों का जो साहाय्य है, उसकी यथामति विवेचना की है। मन्त्रार्थोपयोगी वेदाङ्गों में परिगणित छन्दःशास्त्र को किसी भी प्रकार मन्त्रार्थोपयोगी होना चाहिये, इस विचार में जो कुछ भी दृष्टि प्राप्त की, वह विद्वानों के सामने रख दी। आगे के सप्तकों में विद्यमान छन्दों का भी मन्त्रार्थविज्ञान में साहाय्य कैसे हो सकता है, इस विषय में मुझे आज तक कोई मार्ग उपलब्ध नहीं हुआ है। वास्तव में छन्द मन्त्रार्थविज्ञान में उपकारी हैं या नहीं, इस चिन्तन को प्रारम्भ करने के लिये ही मैंने यह दुःसाहस किया है। चिन्तन प्रवृत्त होने पर 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' इस न्याय से सम्भव है, इस विषय में कभी-न-कभी तत्त्वनिर्णय होगा, ऐसी मैं आशा करता हूं।

ज्योतिष (६)

छठा वेदाङ्ग ज्योतिषशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के अनुसार **ज्योतिषामयनं चक्षुः** अर्थात् वेद के छः अङ्गों में ज्योतिषशास्त्र का वही स्थान है, जो किसी प्राणी के शरीर में आंखों का होता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वेद के पाचों अङ्गों में प्रवीण व्यक्ति भी वेद के विषय में अन्धसम ही है। सम्प्रति ज्योतिषशास्त्र का जो अध्ययन प्रचलित है, उसका सम्बन्ध पञ्चाङ्ग आदि की रचना, जन्मपत्री आदि बनाना और किसी व्यक्ति के भविष्य के फलादेश करने तक सीमित है। मुझे ऐसे किसी ज्योतिषी का ज्ञान नहीं है, जिसकी ज्योतिषशास्त्र के आधार पर वेदार्थ में गति हो।

मैं ज्योतिषशास्त्र से सर्वथा अस्पृष्ट हूं। इसके जहां कुछ अन्य कारण थे, वहां वेद से सम्बद्ध ज्योतिषशास्त्र के जाननेवाले विद्वान् का पता न चलना प्रमुख कारण है। मेरे पिता भूतपूर्व इन्दौर राज्य में अध्यापन का कार्य करते थे, उनके अचानक निधन होने पर उनके वेतन और बीमा आदि से सम्बद्ध कार्यों के लिए मुझे इन्दौर जाना पड़ा। इन्दौर में एक ऐसे ज्योतिषी रहते थे, जिनका कहना था कि वेद के अधिकतर भाग का वास्तविक अर्थज्ञान बिना ज्योतिषशास्त्र के अध्यपन के नहीं हो सकता, उनका नाम पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट था। इन्दौर में जिनके घर पर मैं ठहरा था, उनके पास दीनानाथ शास्त्री चुलैट विरचित **"वेदकाल-निर्णय"** पुस्तक देखी। मैंने सरसरी दृष्टि से एक ही दिन में अध्ययन कर लिया। उससे मेरे मन में शास्त्रीजी से मिलने की इच्छा हुई और मैं उनके निवास स्थान पर पहुंचा। वार्तालाप में उन्होंने कहा कि यदि आपकी वैदिक ज्योतिष पढ़ने की इच्छा है तो आप मेरे पास ६ महीने रह जाओ। मैं तुम्हें वैदिक ज्योतिष में पूर्ण दक्ष बना दूंगा। उनके अध्ययन कक्ष में अनेक स्वनिर्मित ग्रह-नक्षत्र के चित्र टंगे थे और प्रत्येक चित्र के नीचे एक-दो वेदमन्त्र लिखे हुए थे। इससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। इसी प्रसंग में उन्होंने बताया कि कलकत्ता के एक विद्वान् श्री···मेरे पास आए थे और उनको मैंने वैदिक गणित के दो-तीन नियम (गुर) बतलाए थे। इन विद्वान् महानुभाव के वैदिक गणित सम्बन्धी दो-तीन व्याख्यान मैंने लाहौर में सुने थे। जब वे वैदिक गणित से सम्बद्ध मन्त्रनिर्देशपूर्वक व्याख्यान देते थे और वैदिक गणित के कुछ

गुरों का निर्देश करते थे, तो जनता मन्त्रमुग्ध-सी स्तब्ध हो जाती थी। जब मैं श्री चुलैटजी से मिला था, तब मेरे विवाह को और लाहौर में कार्य आरम्भ करने को कुछ महीने ही बीते थे। इसलिए तत्काल श्री चुलैटजी के चरणों में उपस्थित होना मेरे लिये कठिन कार्य था। अतः "मैं ६-७ महीने के पश्चात् आपकी सेवा में उपस्थित होऊंगा" कहकर लाहौर लौट आया। श्री चुलैटजी के समीप कुछ काल रहने की व्यवस्था बनाने में मुझे अधिक समय लग गया। और जब उनके पास रहने की व्यवस्था मैंने बना ली, तो मुझे ज्ञात हुआ कि श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट दिवंगत हो गए हैं। मुझे इन्दौर बातचीत के प्रसङ्ग में यह ज्ञात हुआ था कि उनके पुत्र नागपुर में रहते हैं। अतः मैंने विचार किया कि उनके पुत्र के पास ही जाकर इस विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उनके पुत्र अपने पिता के समान चाहे महा-विद्वान् न हों पर कुछ-न-कुछ तो उनको वैदिक ज्योतिष के सम्बन्ध में ज्ञान होगा ही। जब नागपुर में आर्यसमाज के तत्कालीन मन्त्री के द्वारा उनके पुत्र के निवास स्थान आदि की जानकारी प्राप्त करने के लिए पत्र लिखा तो मुझे ज्ञात हुआ कि उनके पुत्र का शास्त्रीजी से पूर्व ही निधन हो गया था। इस प्रकार वेद के नयन-रूपी ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन न कर पाने से अपने को वेदविषय में अन्धा न सही मन्ददृष्टि तो मानता ही हूं।

यतः मैं ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन नहीं कर सका, इसलिए इस शास्त्र से सम्बद्ध मेरा कोई मौलिक लेख नहीं है, जो यहां उद्धृत किया जा सके।

हमारे सौरमण्डल में भूमि से अन्यत्र जैवी सृष्टि नहीं है

कुछ समय पूर्व अचानक ही मेरे मन में विचार उदित हुआ कि हमारे सौरमण्डल के जितने ग्रहोपग्रह हैं, उनमें एक पृथिवी या भूमि ग्रह ही ऐसा है, जिसके समस्त नाम स्त्रीलिंग हैं। अन्य ग्रहोपग्रहों के जितने मुख्य वा पर्याय नाम हैं, वे सब पुंल्लिङ्ग हैं। इस भिन्नता का कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिए।

मुझे इस बात का ज्ञान पर्याप्त समय से है कि हमारे पूर्वज जब किसी वस्तु का नामकरण करते थे, तो उसके मुख्य आधार, आकार उसके गुण कर्म और प्रभाव के आधार पर करते थे। यह प्रक्रिया वैद्यकशास्त्र के निघण्टुओं में किसी जड़ी-बूटी के प्रमुख नाम और पर्यायनामों के रूप में उपलब्ध होती है। अन्य क्षेत्र भी इससे अछूते नहीं हैं। मनुस्मृति में जिस **'बालातपः'** के सेवन का निषेध है, वह इसी प्रक्रिया के रहस्य में छिपा हुआ है। अतएव मनुस्मृति के कुछ टीकाकारों ने **'बाल+आतप'** ऐसा सन्धिच्छेद मानकर पूर्वाह्ण के प्रारम्भिक डेढ़ घण्टे के आतप को असेवनीय

बताया है। वस्तुतः सूर्योदय के पश्चात् डेढ़ घण्टे तक का जो आतप होता है, वह अनेक रोगों का निवारण करनेवाला माना गया है। अथर्ववेद के **उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु** (७।३२।१) मन्त्र में उदीयमान आदित्य को रोगाणुओं को नष्ट करनेवाला कहा गया है। वस्तुतः मनुस्मृति के वचन में **'बाला+आतप'** यह सन्धिच्छेद हैं। बाला कन्या का पर्यायवाची है। अतः इसका शुद्ध अर्थ है, कन्याराशिस्थ सूर्य के आतप का सेवन नहीं करना चाहिए।

बारह राशियों के जितने भी नाम हैं, वे सब नाम उनके आकार की साम्यता से रक्खे गये हैं। अर्थात् एक-एक मण्डल में जितने ताराएं हैं, उन सबको बाह्य रेखा से जोड़ दिया जाय तो उसका आकार जिस द्रव्य वा प्राणि के समान बनता है, उस-उस आकृति को ध्यान में रखकर राशियों के नाम रखे गये हैं।

भूमि में जैविक सृष्टि विद्यमान है और उत्पत्तिधर्म प्राणिमात्र में स्त्री (मादा) का देखा जाता है। यहां तक कि पुष्पों के पराग में भी नर और मादा का भेद होता है। इसलिए जिस फलवाले वृक्ष के पुष्प के स्त्री पराग के साथ जब पुरुष पराग का एकीभाव होता है, तब स्त्री पराग वाला फूल ही फल का उत्पादक होता है। कहीं-कहीं पर नर और मादा के सूक्ष्म भाग एक ही पुष्प वा बीज आदि में उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि पुराने ऋषियों ने अपने ग्रह (भूमि) पर जैविक-सृष्टि देखकर इस ग्रह के स्त्रीलिंग नाम रखे। यतः ग्रहोपग्रहों के आद्य नामकरण करनेवाले जिस व्यक्ति ने इनके नाम रखे, उसे यह वैज्ञानिक तथ्य किसी-न-किसी प्रकार ज्ञात था कि पृथिवी के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रह पर जैविक सृष्टि नहीं है। अतः उसने पृथिवी से अतिरिक्त सभी ग्रहोपग्रहों का नामकरण पुंल्लिङ्ग में ही किया। मङ्गल ग्रह का एक नाम **'भौम'** अर्थात् भूमिपुत्र है। उसके इस नामकरण का भी कोई-न-कोई विशेष कारण होना चाहिए। परन्तु भौम भी पुंल्लिङ्ग है। यदि भौमी नामकरण होता तो उसमें जैविक सृष्टि की कल्पना की जा सकती थी। जैसे कि ४०-५० वर्ष पहले के खगोलशास्त्री दूरबीन की सहायता से मंगल ग्रह के धरातल को देखकर यह मानते थे कि मङ्गल पर उच्च सभ्यतावाले प्राणी निवास करते हैं। उनकी इस कल्पना में मूल कारण यह था कि मङ्गल ग्रह पर दूरबीन से देखने पर जो अनेक सीधी रेखाएं दिखाई पड़ती थीं, उसे उन्होंने नहरों का मार्ग समझा था। परन्तु यह निश्चित है कि नियत तापमान से अधिक तापमान होने पर और नियत से न्यून तापमान होने पर जीवनधारण करना असम्भव है। इसलिए बुध, शुक्र और चन्द्रमा में तापमान की अधिकता से और मङ्गल आदि ग्रहों में तापमान की न्यूनता के कारण जैविक-सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती। चन्द्रमा पर रूस और अमरीका के वैज्ञानिक उतरकर वहां के वातावरण का अध्ययन कर चुके हैं। वहां पर घास के तिनके तक

भी उपलब्ध नहीं हुए तो अन्य प्राणियों की सत्ता स्वीकार करना निश्चय ही अज्ञान-मूलक है।

सौरमण्डलस्थ ग्रहोपग्रहों का ज्योतिषशास्त्र के साथ सीधा सम्बन्ध है। अतः उनके नामकरण से जो मुझे ज्ञान हुआ उसी का उल्लेख यहां किया है। इस सबका मूल आधार है—ऋषियों की नामकरण की विभिन्न पद्धतियां। उनमें से गुणकर्म साम्यता को लेकर उक्त विवेचन किया है। राशियों का नामकरण उनके बाह्य आकार पर आश्रित है। ऋषियों ने नामकरण की जो विभिन्न पद्धतियां अपनायी हैं, उनका मूलकारण यही है कि जिन लोगों को किसी वस्तु के आकार-प्रकार, गुण-धर्मों वा प्रभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान न हो वे भी इस प्रक्रिया के अनुसार उनके विषय में कुछ जान सकें। उदाहरण के लिए एक "**अर्क**" शब्द का निर्देश किया जाता है—

"**अर्क**" नाम सूर्य का भी है और "**अर्क**" (आक) नाम एक दुग्धवान् पौधे का भी है। ऋषियों ने सूर्य के और अर्क पौधे के गुणों में साम्यता देखकर पौधे का नाम "**अर्क**" रखा। सूर्योदय के पश्चात् मध्याह्न तक सूर्य का तेज उत्तरोत्तर प्रचण्ड होता है और मध्याह्न के पश्चात् क्रमशः उसका प्रभाव क्षीण होता जाता है। यही प्रभाव अर्क के दुग्ध का औषधिरूप में प्रयोग करने पर देखा जाता है। दांत के दर्द में या अन्य किसी रोग में जहां अर्कदुग्ध लाभकारी है, वहां उसका प्रयोग सायङ्काल ही किया जाता है। यदि कोई अज्ञान से उसका प्रयोग पूर्वाह्ण में कर ले तो उसका रोगी पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार अन्य औषधियों में भी आयुर्वेदशास्त्रज्ञों ने गुण कर्म स्वभाव आदि को ध्यान में रखकर औषधियों के नामकरण किए हैं।

पाठकों के सम्मुख अपने सौरमण्डलीय ग्रहोपग्रहों में नामकरण का वैचित्र्य देखकर जो तात्पर्य समझ में आया, वह इस लेख के द्वारा प्रस्तुत किया है। कुछ लोग इन ग्रहोपग्रहों की "**वसु**" नाम के आधार पर यह कल्पना करते हैं कि इनमें भी प्राणिसृष्टि विद्यमान होनी चाहिए। परन्तु शतपथब्राह्मण १४।६।९।४ में "**वसु**" का अर्थ **एते हीदं सर्वं वासयन्ते** दर्शाया है। अर्थात् प्राणियों के जीवन-यापन में ये निमित्त होते हैं। इसलिए वसु शब्द का जो शतपथ में तात्पर्य दर्शाया है, वह अन्य ग्रहोपग्रहों में जैविक-सृष्टि न होने पर ही यथावत् उपपन्न होता है। प्रत्येक ग्रहोपग्रह का इस पृथिवी के चराचर जगत् पर किसी-न-किसी प्रकार भला या बुरा प्रभाव पड़ता ही है। इसलिए पृथिवीस्थ प्राणियों के वास का हेतु होने से पृथिवी से अतिरिक्त ग्रहों को भी "वसु" कहा जाता है। ओं शम्।

मीमांसाशास्त्र

वेदाङ्गों के पश्चात् उपाङ्ग वेदार्थ के लिये उपकारक हैं। इनमें अन्तर इतना ही है कि जहां वेदाङ्ग साक्षात् वेदार्थ में उपयोगी हैं, वहां उपाङ्ग परोक्षरूप से उपयोगी हैं। शरीर में हस्त और उसके अवयव अङ्गुलियों आदि का जो परस्पर सम्बन्ध है, वही वेदाङ्गों का और उपाङ्गों का सम्बन्ध जानना चाहिये। यतः उपाङ्ग साक्षात् वेदार्थ में उपयोगी नहीं हैं, अतः इनको उपाङ्ग कहा जाता है।

उपाङ्गों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का अन्तर्भाव होता है। इन्हें छह दर्शन भी कहा जाता है। कतिपय आचार्यों के मत में उपाङ्गों में विभिन्न ग्रन्थों की गणना की गई है। यहां हमने स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत के अनुसार उपाङ्गों में उक्त छह शास्त्रों का परिगणन स्वीकार किया है।

पूर्वमीमांसाशास्त्र—मीमांसा शब्द से दो शास्त्रों का परिगणन होता है। अतः दोनों में भेद करने के लिए पूर्व और उत्तर विशेषणों का प्रयोग किया जाता है। लोक में प्रायः मीमांसाशास्त्र नाम से महर्षि जैमिनिप्रणीत पूर्वमीमांसा का ही ग्रहण होता है। पूर्वमीमांसा में प्रथम बारह अध्यायों पर सबसे प्राचीन व्याख्या शबर स्वामी की उपलब्ध होती है। १३ से १६ तक चार अध्याय भी पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत ही गिने जाते हैं, परन्तु इनका निर्देश सङ्कर्षकाण्ड अथवा दैवतकाण्ड नाम से प्रायः उपलब्ध होता है। इन अध्यायों के कर्तृत्व विषय में भी मतभेद है।

मीमांसाशास्त्र जहां अन्य पांच दर्शनों से आकार में बड़ा है, वहां विषय की दृष्टि से भी इसका क्षेत्र अति विस्तृत है। यह वैदिक वाङ्मय के समस्त संहिता, शाखा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं कल्पसूत्रों तक विस्तृत है। प्राचीनकाल में इस विषय के लगभग तीन-चार सहस्र ग्रन्थ विद्यमान थे। अब सङ्कुचित होकर लगभग पच्चीस (२५) ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं। यही कारण है कि शबरस्वामी के भाष्य में अनेक ऐसे वैदिक वचन उपलब्ध होते हैं, जो वर्तमान में उपलब्ध वैदिक वाङ्मय के ग्रन्थों में नहीं मिलते।

मीमांसाशास्त्र का सम्बन्ध वैदिक वाङ्मय में विहित विविध प्रकार के यज्ञों के

साथ है। जिस समय यज्ञों का प्रचार-प्रसार बढ़ा तो उसमें अनेक मतभेद भी उत्पन्न हो गए। मीमांसाशास्त्र में उन मतभेदों पर विचार करके न्याय्य सिद्धान्त स्थापित किया है।

मीमांसाशाबरभाष्य की हिन्दी-व्याख्या—मैंने सन् १९७७ में मीमांसाशाबरभाष्य की हिन्दी व्याख्या लिखने का उपक्रम किया था। छह अध्याय तक बिना रुकावट के यह कार्य चलता रहा। उसके पश्चात् स्वास्थ्य की गड़बड़ी के कारण कार्य लगभग चार वर्ष बन्द रहा। पिछले साल से पुनः आरम्भ किया है। गत वर्ष सातवें-आठवें दो लघु अध्यायों की व्याख्या लिखी है और इस समय नवम अध्याय की व्याख्या लिखी जा रही है। अब शरीर के अत्यन्त शिथिल हो जाने के कारण—**श्लोकेन तदर्धेन तदर्धार्धेन वा पुनः। अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद् दानाध्ययनकर्मभिः॥** इस धर्मशास्त्रीय नियम का कथंचित् पालन करते हुए व्याख्या लिखने का कार्य कर रहा हूं।

व्याख्या लिखने के कारण—मीमांसा की व्याख्या लिखने के दो प्रधान कारण हैं। प्रथम कारण यह है कि जहां अन्य पांच दर्शनों पर अनेक विद्वानों ने हिन्दी वा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में प्रभूत व्याख्याएं लिखीं, वहां इस शास्त्र की व्याख्या के लिए कम-से-कम हिन्दी में कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ। महामहोपाध्याय श्री पं० आर्यमुनि जी ने मीमांसा के छह अध्यायों की व्याख्या लिखी है। परन्तु यह व्याख्या प्रायः उत्पथ है। इसलिए मैंने आवश्यक समझा कि मीमांसाशास्त्र की विस्तृत व्याख्या यथासम्प्रदाय और आर्षमतानुसार विवेचनपूर्वक लिखूं। अतः मीमांसा शास्त्र की व्याख्या के लिये सर्वसम्मत एवं प्राचीन शबरस्वामी के भाष्य को आधार बनाया। इसमें एक कारण यह भी था कि सम्प्रदायानुसार व्याख्या से पृथक् अपने विचारानुसार आर्षमत जिस रूप में प्रकट करना चाहता था, वह अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुंच सके।

मीमांसा के विषय में स्वतन्त्र लेख एक के अतिरिक्त और कोई नहीं लिखा है। परन्तु मीमांसाभाष्य-व्याख्या के आरम्भ में तथा मध्य में मीमांसाशास्त्रविषयक अनेक विषयों पर विचार प्रस्तुत किए हैं। यथा—

शास्त्रावतार, वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा, श्रौतयज्ञमीमांसा—ये तीन निबंध हिन्दी में मीमांसाभाष्य-व्याख्या के प्रथम भाग के आदि में और संस्कृत में मूल शाबरभाष्य प्रथमभाग के आरम्भ में सङ्कलित किए हैं। इनमें से श्रौतयज्ञ-मीमांसा प्रकरण संस्कृत और हिन्दी में पृथक् ग्रन्थ के रूप में भी छप गया है।

वेदापौरुषेय प्रकरण में (प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के अन्त में) आधुनिक मीमांसा-शास्त्रज्ञों की आर्षमत के अनुसार सूत्रों की व्याख्या और उस विषय पर विस्तृत विवेचना हिन्दी-व्याख्या में की है। यही विषय संस्कृत में मूल शाबरभाष्य प्रथम खण्ड के अन्त में प्रथम परिशिष्ट में अधिक विस्तार से लिखने का प्रयास किया है।

इनके अतिरिक्त मीमांसा एवं वैदिक वाङ्मय से सम्बद्ध शाबरभाष्य व्याख्या में अनेक विषयों पर यथास्थान प्रकाश डाला है। यहां केवल मीमांसा के **रथकारा-धिकरण** पर जो लेख लिखा गया था, उसे हम आगे छाप रहे हैं। लेख संस्कृत में ही है। इसका हिन्दी अनुवाद करना इस समय मेरे लिए कठिन है।

रथकाराधिकरणम्

[यह लेख श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री के अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रथम वार छपा था। यु० मी०]

महामुनिजैमिनिप्रोक्तायां पूर्वमीमांसायां सामाजिकसम्बन्धदृष्ट्या यानि कतिपयानि प्रमुखान्यधिकरणानि सन्ति, तेषु रथकाराधिकरणमप्यन्यतमं वर्तते। इदमधिकरणं षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे द्वादशं वर्तते।

रथकाराधिकरणे **'वर्षासु रथकार आदधीत'** इति वचनमाधृत्य विचार्यते—किमयं रथकारस्त्रैवर्णिक उत त्रैवर्णिकभिन्न इति ?

तत्र यथा शाबरभाष्यं तथा शूद्रस्य यज्ञकर्मप्रतिषेधाद् रथकारस्य चाधानविधानात् त्रैवर्णिकेष्वेव ये रथनिर्माणकर्मणोपजीवन्ति तेषामेवात्र रथकाराणां विशेषेण वर्षास्वाधानं विधीयत इति **पूर्वपक्षः**। त्रैवर्णिकानां ब्राह्मणादीनां वसन्ताद्यृतुषु यथाक्रमाधानं विधाय वर्षासु रथकारस्य विशेषेणाधानमुच्यत इति हेतोस्त्रैवर्णिकेभ्यो भिन्नो रथकार इति **सिद्धान्तपक्षः**। तत्रापि न ये ये रथकर्म कुर्वन्ति तेषां वर्षास्वाधानविधानम् अपितु मन्त्रवर्णाद्। विशेषतः सौधन्वनानां=सौधन्वनजातिविशिष्टानामेवेदमाधानम्। यतो हि ते त्रैवर्णिकेभ्यो हीनाः सन्तोऽपि शूद्रव्यतिरिक्ता इति।

सन्त्येतदधिकरणसंबद्धा केचन विवादास्पदा विषयाः। तानधिकृत्यैवात्र किञ्चिद् विविच्यते—

अस्मिन्नधिकरणे यद्विवेचनीयं रथकारस्य त्रैवर्णिकत्वमुत त्रैवर्णिकभिन्नत्वमित्यधिकृत्य विवदन्ते श्रौतसूत्रकारास्तद्व्याख्यातारश्च। तद्यथा—

आपस्तम्बश्रौतप्रवक्ता तु महता कण्ठेन रथकारान् त्रैवर्णिकान् उद्घोषयाञ्चकार। तथाहि—**'वसन्तो ब्राह्मणस्य, ग्रीष्मो राजन्यस्य, हेमन्तो वा शरद् वैश्यस्य, वर्षा रथकारस्य'** इति तत्तद्वर्णानां विशिष्टमाधानकालमुक्त्वाऽनुपदमेवाह—**'ये त्रयाणां वर्णानामेतत् कर्म कुर्युस्तेषामयं कालः'** (आप० श्रौत ५।२।१९)। आपस्तम्बश्रौतव्याख्यात्रा रुद्रदत्तेन सूत्रमिदमित्थं व्याख्यायते—**'त्रिषु वर्णेष्वन्तर्भूता एव स्ववृत्तिकर्षिता ये रथं कुर्वन्ति तेषामयमाधानकालः'** इति।

यथा चापस्तम्बमतं तथा रथकारश्च त्रैवर्णिकत्वाद् **वर्षासु रथकार आदधीत** इति

वचने रथकारपदं विवादास्पदमेव नास्ति कुतस्तद्विचारणायाधिकरणस्यारम्भः स्यात् ?

कात्यायनश्रौतसूत्रे तु **रथकारस्याधाने, नियतं च, नाभावाद् वास्यः** इति त्रीणि सूत्राण्येतद्विषयकाण्युपलभन्ते । सूत्राणीमानी कर्काचार्येण द्विधा व्याख्यायन्ते । तत्र यथाप्रथमं व्याख्यानं तथा **अत्रैवर्णिकस्य** (शूद्रस्य) **रथकारस्याऽऽधानमात्रेऽधिकारः** । रथकारस्य शूद्रत्वं तु 'क्षत्रियाद् वैश्यायां जातो माहिष्यः, वैश्येन शूद्रायां जाता करणी, माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते' (या० स्मृ० आचाराध्याय ९३, ९५) इति वचनानुसारं मातृनिमित्तकं व्याचख्यौ ।

अस्मिन् पक्षे भवति विचारणा यद् रथकारायाऽऽधानमात्रेऽधिकारप्रदानात् किं तेन लाभो लभ्यते । यतो ह्याधानं स्वतन्त्रं कर्म सदपि तस्य प्रयोजनं श्रौतकर्मसु सामर्थ्योत्पादनमेव याज्ञिका मन्यन्ते । नहि तेन विना श्रौतकर्मस्वधिकारः प्राप्यते । यद्युच्येत आधानस्य पूर्णाहुतिमधिकृत्य **'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति'** (तै० ब्रा० ३।८।४) इति वचनविहितं सर्वकामावाप्तिरूपं फलं लप्स्यते, तन्न तथा सति सर्वक्रतूनां वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अत इदं वचनं **'पूर्णाहुतिं जुहोति'** इत्यस्य विधेः स्तुतिपरमर्थवादवचनमिति सर्वैर्मीमांसकैर्याज्ञिकैश्चैकमत्येन स्वीक्रियते (द्र०—मी० १।२।६) तस्मादुत्तरक्रतुष्वनधिकारे रथकारस्याधानमात्रेऽधिकारप्रदानं निष्प्रयोजनमेव ।

उपर्युक्तया व्याख्ययाऽपरितुष्यन् कर्काचार्योऽन्यथा प्रकरणमिदं व्याख्याति । तस्यायं संक्षेपः—'रथकारस्य नाधानमात्रेऽधिकारः, अपितु सर्वेषु नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मस्वधिकारः । आधानमात्मसंस्कारार्थमग्निद्वारेण । संस्काराश्चोपरितनकर्महेतवः । अतश्चोपरितनकर्मस्वप्यधिकारः । अपि च लिङ्गमप्यस्ति—**आधावेति शूद्रस्य, मस्तु शूद्रस्य, अष्ठीवद्दघ्नं शूद्रस्य**' इति । 'शूद्रासंबन्धाद् रथकारः शूद्र' इत्यभिधीयते इति ।

रथकारस्य मातृपक्षतः शूद्रत्वेऽपि तस्योपनयनं केचन गृह्यकाराः तद्व्याख्यातारश्च स्वीकुर्वन्ति । तथाहि—बौधायनगृह्यप्रवक्ता उपनयनप्रकरणे **'वर्षासु रथकारम्'** इति सूत्रेणोपनयनं विदधाति । पारस्करगृह्यस्यानेके व्याख्यातारः **शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्**[1] इत्यापस्तम्बवचनमुद्धृत्य रथकारस्योपनयनं व्याचक्षते[2] । उपयनयने सति

---

१. आपस्तम्बधर्मसूत्रे (१।१।६) त्वित्थं सूत्रस्य पाठ उपलभ्यते—**'अशूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् ।'** अत्र सूत्रपाठभेदे कारणं मृग्यम् ।

२. पार० गृह्य २।५ सूत्रस्य व्याख्याया अन्ते, पृष्ठे २०८, २१४ (वेङ्कटेश्वर प्रेस) ।

वेदाध्ययनं रथकारस्य स्वतः प्राप्तम्। सति च वेदाध्ययने सर्वेषु श्रौतकर्मस्वधिकारोऽपि लभ्यते।

भारद्वाजश्रौतसूत्रे तु स्पष्टं चतुर्थवर्णस्य (शूद्रस्य) आधानेऽधिकार उच्यते। तथाहि—**विद्यते चतुर्थवर्णस्याग्न्याधेयमित्येके, न विद्यत इत्यपरम्** (५।२।६) इति। एतत्सूत्रानुसारं येषां मते चतुर्थवर्णस्याप्यग्न्याधानेऽधिकारः तेषां मते रथकारस्य सत्यपि शूद्रत्वे **वर्षासु रथकार आदधीत** इति वचनं न विचारार्हं भवति।

सत्येवं येषां मते रथकारस्त्रैवर्णिकेभ्यो भिन्नः, आधाने च शूद्रस्यानधिकारस्तेषां मतमेव पुरस्कृत्य जैमिनिना **'वर्षासु रथकार आदधीत'** इति वचनस्य विवेचनायैव रथकाराधिकरणं पूर्वमीमांसायां संयोजितं स्यादित्युक्तं भवति।

रथकारस्य ये शूद्रत्वमुररी कुर्वन्ति ते मातृपक्षतः शूद्रत्वप्राप्तिं स्वीकुर्वन्ति। अत्रेदं विचारणीयम्—**किं बीजं प्रधानमुत क्षेत्रम्?** अस्मिन् संशये बीजं प्रधानमित्येव शास्त्रकाराणां मतम्। एतन्मतमनुरुध्यैव जन्मना वर्णव्यवस्थां मन्वाना अपि शूद्रातिशूद्रयोनिषूत्पन्नानां मातङ्गवसिष्ठकृष्णद्वैपायनादीनां ब्राह्मणत्वं स्वीकुर्वन्ति। अन्यथा क्षेत्रस्य प्राधान्ये मातङ्गादयः शूद्रा अतिशूद्रा वा भवेयुर्न ब्राह्मणपदवाच्याः। लोकेऽपि बीजक्षेत्रयोर्मध्ये बीजस्यैव प्राधान्यं प्रत्यक्षं दृश्यते। कृषकैर्यस्य यस्य धान्यस्य बीजं यस्यां कस्यां वा भूमावुप्यते, ततो बीजानुरूपमेवाङ्कुर उत्पद्यते। नहि कदाचिदपि व्रीहीणामावापे कृते यवा गोधूमा वोत्पद्यन्ते। क्षेत्रगुणानुरूपमेतावदेव भवति उत्कृष्टायां भूमावुप्तमुत्कृष्टं फलं ददाति, निकृष्टायां निकृष्टम्, अतिनिकृष्टायां बीजं नोत्पद्यते। सत्येवं जन्मना वर्णव्यवस्थायाः स्वीकारेऽपि रथकारस्य क्षत्रियत्वमेव वक्तुं शक्यते, न शूद्रत्वम्। यतो हि याज्ञवल्क्यस्मृत्यनुसारं क्षत्रियाद् वैश्यायां जातो यो माहिष्यः स बीजानुरोधात् क्षत्रियः, वैश्येन शूद्रायामुत्पन्ना या करणी सा वैश्या, माहिष्यात् क्षत्रियात् करण्यां वैश्यायामुत्पन्नो रथकारः क्षत्रिय एव।

एतेन वर्णसंकरेषु मातृपक्षतो हीनवर्णत्वारोपो विचारार्ह एव सम्पद्यते। वस्तुतस्तु वर्णव्यवस्था न केवलं जन्मना, अपितु गुणकर्मस्वभावानुसारिणी। तदुक्तं भगवद्गीतायाम्—**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः** (४।१३) इति। गुणकर्मस्वभावानुसारिण्यामपि वर्णव्यवस्थायां जन्मापि सहकारिकारणं भवति।

सम्प्रति रथकाराधिकरणस्यान्ते **'सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात्प्रतीयेरन्'** इति सूत्रेण यदुच्यते, तद्विषये किञ्चिदुच्यते—

तत्र प्रथममेतदधिकरणसूत्रैर्यद् विचारितं तत्संक्षेपेण निर्दिश्यते—तत्र **'वचनाद् रथकारस्य'** (६।१।४४) इत्यादिसूत्रेण रथकारस्य आधाने सर्वशेषत्वात्=पारिशेष्याद्

अत्रैवर्णिकत्वं सिद्धान्तिनोक्तम् । तदनु ४५ तमेन सूत्रेण रथकारोऽत्रैवर्णिको न भवितुमर्हति, शूद्रस्य यज्ञकर्मप्रतिषेध इति पूर्वपक्षिणा स्वराद्धान्त उपस्थापितः । तत्पश्चात् ४६-४८ तमाभ्यां सूत्राभ्यां सिद्धान्तिना पूर्वपक्षस्य निराकरणं विहितम् । ४८ तमेन सूत्रेण पूर्वपक्षिणा याऽऽशङ्का समुपस्थापिता, सा ४९ तमेन सूत्रेण सिद्धान्तिना निराकृता । ४९ तमसूत्रपर्यन्तं रथकारस्यात्रैवर्णिकत्वं सुतरां सूत्रकारेण प्रतिपादितम् । एतेन सहैव रथकाराधिकरणस्य मुख्यो विचारोऽपि परिनिष्ठित एव ।

रथकाराधिकरणस्य विचारपरिनिष्ठानन्तरमुच्यते—**'सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन्'** (५१) इति । अस्य सूत्रस्य यच्छाबरभाष्यं तस्यायं संक्षेपः—'न सर्व एवात्रैवर्णिको रथकार आधानेऽधिक्रियते; अपितु सौधन्वना एवाधिक्रियन्ते । सौधन्वना इत्येष जातिशब्दः । हीनत्वात्—तेषां त्रैवर्णिकेभ्यः किञ्चिद् हीनत्वात् (मातृपक्षतः शूद्रत्वप्राप्तेः)। मन्त्रवर्णाच्च—'सौधन्वना ऋभव सूरचक्षस इति, नेमिं नयन्ति ऋभवो यथा इति मन्त्रनिर्देशाद् ये सौधन्वना ऋभवो रथस्य नेमिं नयन्ति तेषां वर्षाऽऽधानकाल इति ।'

एतत्सूत्रमेतस्य भाष्यं चानुरुध्योत्पद्यन्ते बहवो विचारार्हाः पक्षाः । तान् क्रमश उपस्थापयामः—

(१) तत्र तावदिदं विचारणीयं यदस्याधिकरणस्य प्रमुखविचारस्य सुपरिनिष्ठिते सति सूत्रमिदं किमर्थं सूत्र्यते ? धर्मशास्त्रानुसारं रथकारो वर्णसंकरो जातिविशेषः, तस्मिंश्च मातृपक्षतः शूद्रत्वम् । सत्येवं सौधन्वनाः किं रथकारान्तर्गता एव, उत ततो भिन्नाः ? सौधन्वना रथकारजात्यन्तर्गता इत्यत्र न किमपि प्रमाणं श्रौतं स्मार्तं चोपलभ्यते । के नाम सौधन्वना इति विचारे **'व्रात्यात्तु जायते वैश्यात् सुधन्वाचार्य एव च'** इति मनुवचनम् (१०।२३) उपस्थितं भवति । अस्य सुधन्वाचार्यस्य ये पुत्रास्ते सौधन्वना विज्ञाता भवन्ति । एषां सौधन्वनानां रथकारान्तर्गतत्वे नास्ति किञ्चित् प्रमाणमित्युक्तं प्राक् । मनुस्मृत्यनुसारं तु सौधन्वना उपनयनसंस्काररहिताद् वैश्यात् सवर्णायां भार्यायामुत्पन्नस्य सुधन्वनः पुत्राः । न ते वर्णसंकराः, न च सौधन्वना इति जातिविशेषवचनः शब्दः । सत्येवं यदि रथकारशब्दस्य यौगिकार्थः—'ये रथं कुर्वन्ति ते रथकाराः' इत्याश्रीयेत, मन्त्रवर्णाच्च सौधन्वनानाम् ऋभूणामपि रथकर्तृत्वं विज्ञाय रथकारान्तर्गता एव सौधन्वना इत्युच्येत तर्हि ये वृत्तिकर्षितास्त्रैवर्णिका रथकर्म कुर्वन्ति तेऽपि रथकारपदवाच्याः स्युः । न च ते रथकारजातिशब्देनाभिप्रेताः । अपि च स्मृतिविरोधोऽपि भवति । माहिष्यात् करण्यामुत्पन्ना रथकारा इति पूर्वं प्रतिपादितम् । सत्येवं स्मृत्यनुसारं रथकाराणां जातिविशेषाणां शूद्रत्वे न तैः सह सौधन्वनानां कश्चित् सम्बन्ध उपपद्यत इति सुतरामिदं सूत्रं भाष्यं च प्रमत्तजल्पितमिव भवति । नहि क्वचिद् ब्राह्मणेषु श्रौतसूत्रेषु वा तथा संकेत उपलभ्यते, येन आधाने-

ऽधिकृताः सौधन्वना एव रथकाराः, नान्ये रथकारा इति। तत्र सामान्येन रथकार इत्युच्यते। मीमांसादर्शने यथा सूत्राणां नैयूनाधिक्यं दृश्यते, सूत्रेषु पाठान्तराणि च, तान् विमृश्यैतदनुमीयते सूत्रमिदं न जैमिनीयम्।

(२) अस्य सूत्रस्याजैमिनीयत्वे **'हीनत्वान्मन्त्रवर्णाच्च'** इति हेतुद्वयोपस्थापनमपि लिङ्गम्। जैमिनीयमतानुसारं मन्त्रेषु जाति-गुण-क्रियाशब्दा एव प्रयुज्यन्ते। आकृत्यधिकरणान्तर्गते लोकवेदाधिकरणे (मी० १।३।१०) एतेषामेव निर्देशः क्रियते[1], न रूढशब्दानाम्। अतो मन्त्रेषु नास्ति कश्चिदपि रूढशब्दो जैमिनिगत इत्युक्तं भवति। जातिशब्देन आकृतिरुच्यते जैमिनीये शास्त्रे। जातेस्तु लक्षणं **समानप्रसवात्मिका जातिः** (न्या० द० २।२।६८) इति। न च ब्राह्मणादयो वर्णवाचिनो जातिशब्दाः, दर्शनमात्रेण गवादिवत् समानबुद्धेरनुत्पादात्। अतः 'सौधन्वना इत्येष जातिवचनः शब्दः' इति शबरस्वामिनो वचनं चिन्त्यम्। यदि दुर्जनतोषन्यायेन ब्राह्मणादीन् जातिवचनान् उररीकृत्य तद्वदेवं सौधन्वनशब्दस्यापि जातिवचनत्वं स्वीक्रियेत, तथापि सौधन्वना ऋभवो न त्रैवर्णिकेभ्यो हीनाः, ऐतिह्यविरोधात्। **'सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः'** इत्यस्य व्याख्याने निरुक्तकार आह—**ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः** (निरुक्त ११।१६)। एतेन सुधन्वा अङ्गिरसः पुत्र इति व्यक्तं भवति[2]। अङ्गिरास्तु ऋषिर्ब्राह्मणः, तस्य पुत्रः सुधन्वाऽपि ब्राह्मणः, सुधन्वनश्च पुत्रा ऋभ्वादयोऽपि ब्राह्मणा एव। तथा सति कथं सौधन्वनास्त्रैवर्णिकेभ्यो हीना इति शक्यते वक्तुम्। अतः **'सौधन्वनास्तु हीनत्वाद्'** इदं वचनं जैमिनेर्वैदिकविज्ञानशून्यत्वमेव द्योतयति। न च भगवतो जैमिनेर्वैदिकविज्ञानशून्यत्वं केनापि शक्यते वक्तुम्। एतस्मात् कारणादपि प्रकृतं सूत्रं जैमिनीयं न भवितुमर्हति।

(३) अपि च, यदीतिहासपक्षमाश्रित्य **'मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः'** (ऋ० १।११०।४) इति मन्त्रलिङ्गाद् ऋभूणां मानवशरीरधारित्वं स्वीक्रियेत, तथापि तेनैव मन्त्रेण ऋभूणां देवत्वप्राप्तिरपि स्वीकरणीया। एवमपि न कथंचित् सौधन्वनानामृभूणां त्रैवर्णिकेभ्यो हीनत्वं शक्यते वक्तुम्।

(४) जैमिनीये सूत्रे **'मन्त्रवर्णात्'** इत्यंशेन यस्य मन्त्रस्य संकेतः **'स सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः'** इति शबरस्वामिनो वचनाद् विज्ञायते। ऋग्वेदस्य यस्मिन् सूक्ते मन्त्रोऽयं पठ्यते, तस्य देवता **ऋभवः** इति ऋक्सर्वानुक्रमण्यामुच्यते। तस्य च अभिप्लवषडहस्य चतुर्थेऽहनि वैश्वदेवशस्त्रे इदमार्भवं निविद्धानम् (द्र०—सायणभाष्यम्,

---

१. द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः।

२. ऐतिह्यपक्षमाश्रित्यैतदस्माभिरुच्यते। वस्तुतस्त्वत्र अङ्गिरा न कश्चिदृषिविशेषोऽपितु द्युलोकस्थः सूर्य इत्यग्रे सप्रमाणं वक्ष्यते।

आश्व० श्रौत० ७।७) इति विनियोगः। मीमांसकानां मते देवता न विग्रहवती (अपुरुषविधा—इति निरुक्ते १।२ अपि)। एतेन मन्त्रोक्ताः सौधन्वना ऋभवो न शरीरधारिणः। सत्येवं कथं नाम जैमिनिः स्वसिद्धान्तविरुद्धं सौधन्वनानामृभूणां मानवदेहधारित्वं स्वीकृत्य तेषां **वर्षासु रथकार आदधीत** इति वचने रथकारविशेषजातित्वत्वं ब्रूयाद् इति भवति विचारार्हम्।

(५) 'सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः' इति यस्मिन् सूक्ते पठ्यते तस्य 'ऋभवो देवता' इत्युक्तं प्राक्। अत ऋभूणां देवतापक्षमाश्रित्य तेषां स्वरूपस्य विचाराय प्रयत्यते। यास्केन देवतावाचिनां पदानां निघण्टोः पञ्चमाध्याये समाम्नानं कृतम्। तस्याद्येषु त्रिषु खण्डेषु पृथिवीस्थानीया देवताः समाम्नाताः,चतुर्थपञ्चमखण्डयोर्मध्यमस्थानीयाः (अन्तरिक्षस्थानीयाः), षष्ठे च खण्डे द्युस्थानीयाः। तत्र 'ऋभवः' पदं पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमखण्डे पठ्यते। तदुत्तरमेव च **'अङ्गिरसः** (आङ्गिरस्शब्दस्य बहुवचनरूपं) पदम्। एतेन अङ्गिरसः पुत्राणां सुधन्वादीनां, सुधन्वनः पुत्राणाम् ऋभूणां (ऋभुर्विभ्वावाजानां) मध्यमस्थानीयत्वं विस्पष्टमेव। सत्येवं सौधन्वनानामृभूणां पृथिवीस्थानित्वं निराकृतं भवति। तेन च **वर्षासु रथकार आदधीत** इतिवाक्ये **'सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन्'** सूत्रेण सौधन्वनानामृभूणां यः सम्बन्ध उक्तः सोऽपि प्रत्याख्यातो भवति।

एवं सौधन्वनानामृभूणां त्रैवर्णिकेभ्यो हीनत्वं मन्त्रवर्णाच्च तेषां रथकारत्वनिदर्शनं निराकृत्य ऋभूणां स्वरूपं च निदर्श्य यस्मिन् मन्त्रे **'सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः'** इति श्रूयते, तस्य व्याख्यानं प्रस्तूयते—

'ऋभवः' मध्यमस्थानीया देवता इत्युक्तं प्राक्। ऋभव इति बहुवचनेन विभ्वा वाज इत्यनयोर्ग्रहणम् (एवं 'वाजाः' बहुवचनान्तेनापीतरयोर्ग्रहणं मन्त्रेषु दृश्यते)। मध्यमस्थानीयासु देवतासु इन्द्रस्य प्राधान्यम्। **'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः'** इति वचनानुसारं त्वन्ये मध्यमस्थानीया देवतास्तस्यैवाङ्गप्रत्यङ्गभूता इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।

'ऋभवः' पदस्य निर्वचनं यास्केनैवं निदर्श्यते—**ऋभव उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा** (निरुक्त ११।१५) एषामभिप्रायः—उरु बहु भान्ति दीप्यन्ते। अर्थात् तेषां प्रकाशस्तीव्रो भवति। ऋतेन उदकेन भान्ति दीप्यन्ते (ऋतमिति जलनाम। निघण्टु १।१२) ऋतेन उदकेन भवन्ति सत्तां लभन्ते। इमानि निर्वचनानि मध्यमस्थानीयामिन्द्रदेवतामेव लक्षयन्ति। इन्द्रश्च मध्यमस्थानीया विद्युद्देव। सा हि उरु बहु दीप्यते, मेघस्थेनोदकेन दीप्यते, मेघस्थेनोदकेन उत्पद्यते। सर्वाश्च देवतास्त्रितृतो भवन्ति। यथा—अग्नेर्ज्वाला प्रकाशोऽङ्गाराश्च त्रयोऽप्यवयवा

एकेनाग्निशब्देनोच्यन्ते, पृथङ्नामभिश्च । यथा वा विद्युतः प्रकाशः शब्दो दाहश्च । प्रकाशार्थो विद्युच्छब्देन द्योत्यते, शब्दः स्तनयित्नुना गदयित्नुना वा, दाहश्चोल्कुषी शब्देन । एवमेव ऋभुदेवताऽपि त्रिवृत् । तस्योरुप्रकाश ऋभुपदेनोच्यते, व्याप्तिर्विम्व-शब्देन, बलं च वाजशब्देन । नात्रैकैकोऽपि शब्दो बहुवचनेन संयुक्तः सर्वानवयवान-भिधत्ते ।

सम्प्रति ऋभुपदस्य निर्वचनानि प्रदर्श्य भाष्यकारोद्धृतस्य मन्त्रस्यार्थः प्रदर्श्यते मीमांसाभाष्यकारेण 'सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः' इति यो मन्त्रांश उद्धृतः, तस्यायं सकलः पाठः—

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघसो मर्त्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः ।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥

ऋ० १।११०।४॥

मन्त्रोऽयं स्कन्दमहेश्वरविरचिते निरुक्तविवरण इत्थं व्याख्यायते—

विष्ट्वी विष्ट्वा व्याप्य कृत्वेत्यर्थः । शमीति कर्मनाम । कर्माणि प्रख्यातानि । तरणिरिति क्षिप्रनाम । क्षिप्रत्वेन शीघ्रमित्यर्थः । वाघसः यद्यप्येतद् ऋत्विङ्नाम, तथाप्यत्र सामर्थ्याद् वहे(रुद)कस्य वोढारः । मर्त्तासो मरणधर्माणः क्षणविनाशिनः सन्तोऽमृतत्वमविनाशित्वम् आनशुराप्नुवन्तः । सौधन्वना धन्वान्तरिक्षं, शोभनं च धन्व सुधन्व[1], तस्मिन् धन्वनि भवास्ते ऋभवो वैद्युता ज्योतिर्विशेषाः । कीदृशाः ? सूरचक्षसः सूर्यसमानदर्शनाः कृत्स्नस्य प्रकाशकाः । कथं ज्ञायतेऽमृतत्वमानशुरिति ? संवत्सरे गते इति शेषः, पुनरपि समपृच्यन्ते संबध्यन्ते । ते धीतिभिः स्वैरुदकवर्षणैः कर्मभिः पुनरपि वृष्टिं कुर्वन्त्येते इत्यर्थः ।

एतेन निरुक्तव्याख्यानेन मध्यमस्थानीया ऋभवो वैद्युत ज्योतिर्विशेषा इति सम्यग्व्याख्याताः । सम्प्रति 'अङ्गिरसः' 'सुधन्वानः' पदे व्याख्यायेते—

अङ्गिरसां जन्माग्नेरिति **ते अग्नेः परि जज्ञिरे** (ऋ० १०।६२।५) इति मन्त्र-वर्णाद् विज्ञायते । तेषामङ्गिरसां गम्भीरवेपसो विरूपा विविधरूपा ऋषयो गतिशीलाः पुत्रा इत्यप्यस्मिन्नेव मन्त्रे उच्यते—**'विरूपास इषुध इद्गम्भीरवेपसः । ते अङ्गिरसः सूनवः'** (ऋ० १०।६२।५) । अङ्गिरसः पदं मध्यमस्थानीयदेवतासु पठ्यते (निघण्टु ५।४) । तेनाङ्गिरसो मध्यमस्थानीयाः, तेषां विरूपसः पुत्रा अपि मध्यमस्थानीया

---

१. अस्मन्मते तु सुवन्वानोऽङ्गिरोभ्यो मरुद्भ्य जायमाना मेघा इत्यग्रे वक्ष्यते ।

एव । सत्येवम्, अग्नेर्महतो घर्मादुत्पद्यमाना वाष्पीभूतजलस्य वोढारो मरुतोऽङ्गिरसः।[1] तेषां सूनवो विरूपा सुधन्वानो मेघाः तेभ्य उत्पन्नाः सौधन्वना ऋभवो विद्युतो ज्योतिर्विशेषा इति वैदिकानां सुगमः पन्थाः ।

या तु ऋग्वेदस्य पञ्चममण्डलस्य सप्तपञ्चाशत्तमे सूक्ते मरुतां स्तुतिः, सा **आयुर्वै घृतमितिवत्** कार्ये कारणशब्दप्रयोगात् मेघकारणानां मरुतां ज्ञेया । अत एवैतस्य सूक्तस्य द्वितीये मन्त्रे मरुतः सुधन्वान उक्ताः ।

अन्ते रथकाराधिकरणविषये मीमांसाशास्त्रस्य व्याख्यातॄणां मतभेदप्रदर्शनाय केषांचित् प्रमुखानां मीमांसकानां मतान्युद्धियन्ते—

(१) भट्टकुमारिलेन टुप्टीकायामेतदधिकरणं न व्याख्यातम् ।

(२) शाबरभाष्यव्याख्याता भट्टप्रभाकरो बृहत्यां रथकारस्याधानविधानाद् उत्तरक्रतुष्वप्यधिकारमाह । बृहतीव्याख्यायामृजुविमलायां शालिकनाथ आह— 'आधाने कर्तृकतया रथकारस्याग्निवत्तया ज्योतिष्टोमादिष्वधिकारप्रतिपादनात् कर्तृतैवाधाने रथकारस्यान्यथा नोपपद्यते स्वरूपमात्रस्याग्नीनामपुरुषार्थत्वात्' इति । भाग ५, पृष्ठ ८८ ।

(३) भाट्टमतानुयायी शास्त्रदीपिकाकृत् पार्थसारथिमिश्रो वसन्तादिविषयकाधानात् रथकारविषयकाधानस्य वैलक्षण्यं मन्वानो रथकारस्याधानमात्रेऽधिकार इति सूचयति । उक्तवैलक्षण्यं विवृण्वन् सोमनाथ आह—'इदमित्यनेन वसन्तादिवाक्यविहिताधानवैलक्षण्यं दर्शयति । तद्धि (=वसन्तादिविषयकमाधानम्) अग्निसंस्कारार्थम्, इदं तु न संस्कारार्थम् । रथकारस्याधानसद्भावेऽप्याधानमात्रोपक्षीणेनाधानविधीनां क्रतुविधानकल्पनासंभवादविद्यामावेनोत्तरक्रत्वधिकारानुपपत्त्या अग्नीनां भाव्युपयोगराहित्येन संस्कारानर्हत्वात् । नहि प्रामाकरवदस्माभिः रथकारस्य क्रत्वधिकारोऽङ्गीक्रियते । तस्मादग्निगुणकमर्थकर्मेदमाधानम्' इति ।

(४) भाट्टमतानुयायी खण्डदेवस्तु भाट्टदीपिकायां प्रथमं तन्त्ररत्नकारामिमतं 'रथकारस्याधानमात्रेऽधिकारः । विद्यामावादुत्तरक्रतुष्वनधिकाराद् आधानमात्रमरणिमयितलौकिकाग्निगुणकं कल्प्यस्वर्गफलकं सधर्मकमनुष्ठेयम्' इत्युक्त्वा **मम तु प्रतिभाति** इति निर्दिश्याह—'आहिताग्निमग्निर्निदहन्ति यज्ञपात्रैश्चेतिवचनविहिते दाहे (अग्नीनाम्) उपयोगसंभवात् । (आधानस्य) पवमानेष्ट्यङ्गपात्रसत्त्वाच्च यज्ञपात्र-

---

१. 'मानसून' इत्याख्या द्विविधा विशिष्टा वायवः । तत्रैके आर्द्राः, अपरे शुष्काः । इह आर्द्रा मानसूनसंज्ञका वायुविशेषा 'अङ्गिरसः' उच्यन्ते ।

समुच्चयेऽपि न क्षतिः। एतेनोत्तरक्रत्वभावेऽपि रथकारकृतस्याधानस्यार्थवत्त्वमाह।

भाट्टदीपिकाया व्याख्याता शम्भुभट्टस्तु पूर्वं भाट्टदीपिकां यथावद् व्याख्याय सोपष्टम्भं तन्मतं दूषयति—

(क) वस्तुतस्तु पूर्वोक्तरीत्या सौधन्वनेषु रथकारपदवाच्यत्वे प्रमाणाभावात् माहिष्योत्पन्नस्यैव रथकारत्वेन झटित्युपस्थिते पर्यवसितविशेषमेव रथकारपदं नैव मन्त्रवर्णाद् विहितविशेष इव शक्यं व्यवस्थापयितुं सामान्यस्य सामान्याकाङ्क्षाया इव विशेषस्यापि विशेषाकाङ्क्षाया अभावात्।

(ख) मन्त्रवर्णस्यापि भृगूणां त्वाङ्गिरसां, आदित्यानां त्वा देवानामित्यादिपूर्वपठितमन्त्रसामान्येन ऋभुसंज्ञकानां देवानामेव संकीर्तनाद् विधिमन्त्रयोरेकविषयत्वनियमस्याप्यत्रानपेक्षणेन प्रकृते नियामकत्वानुपपत्तेश्च।

(ग) नहि भृगवोऽङ्गिरस आदित्या वा केचन ब्राह्मणेषु जातिविशेषाः। किन्तु ब्राह्मणादीनां ते ऋषयो देवा भवन्तीत्यतः तेषां देवानां व्रतेन हे व्रतपते अग्ने त्वादधामीति पूर्वमन्त्राणामर्थस्तथैव ऋभूणां त्वेति मन्त्रस्यापि यो रथकारस्य ऋभवो देवविशेषाः सौधन्वनापरपर्याया रथकर्त्तारः केचन, तेषां देवानां व्रतेनाग्ने त्वामादधामीत्ययमेवार्थो युक्तः।

(घ) अतएव सर्वेषु मन्त्रेषु देवानामिति सामानाधिकरण्यं 'यथर्ष्याधानम्' इति कल्पसूत्रकाराणां समाख्या चोपपद्यते। एतादृशार्थमन्त्रवर्णस्य त्रैवर्णिकानामधिकारो न किन्तु रथकारदेवानामेव मन्त्रवर्णे संकीर्तनाद् 'रथकार जात्यन्तरस्यैव' इत्यर्थे एव नियामकत्वमेव 'सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन्' इति जैमिनीयसूत्रमेतदधिकरणस्थम्, न तु माहिष्योत्पन्नाधिकारव्यावृत्तितात्पर्येण सौधन्वनानां रथकारजातीनामधिकारनियमप्रदर्शनपरम्।

(ङ) अपि च सौधन्वनामधिकारेऽप्याधानमात्र एवाधिकार इत्यप्ययुक्तम्। यथैवाधानविधिबलात् तावन्मात्रौपयिकविद्यापेक्षेणाधानेऽधिकारस्तथैव द्वितीयाश्रुत्या अग्निसंस्कारकत्वेनैवाधानविधानाद् विधेयाग्निसंस्कारकाधानविधानसामर्थ्यादाधानपूर्वकोत्तरक्रतुषु अधिकारोऽपरिहार्य एवेति। तस्मादुपनीताधिकारिकसंस्कारककर्माधानप्रायपाठाद् विद्यापेक्षकल्पनाभावकृतलाघवाद् **वक्ष्यमाणशङ्खादिवचनदर्शितावयवार्थसंभवाद् रूढेश्च माहिष्येण करण्यामुत्पन्नस्य रथकारस्यैव संभवाद् उपनयनादिसंस्कार्याधानपूर्वकमुत्तरक्रतुष्वधिकारो न तु सौधन्वनाम्।**

यथाह शङ्खः—'क्षत्रियावैश्यानुलोमानन्तरोत्पन्नो यो रथकारस्तस्येज्याधानोप-

नयन[1]संस्कारक्रियाश्च प्रतिष्ठारथसूत्रवास्तुविद्याध्ययनवृत्तिता च।' रथसूत्रं रथविद्येति मञ्जर्यां व्याख्यातम्। 'वर्तयेच्छिल्पवृत्त्यात्र सर्वस्मिन् शिल्पशास्त्रवित्' इति योगीश्वरेणोक्तः। अत एव मिताक्षरायामेतच्छ्लोकविवरणे उक्तम्—'तस्य चोपनयनादिसर्वं कार्यं वचनात्।'

(च) अतएव ब्राह्मणाद्युपनयनविधायकवचनप्रायपाठे पठिते रथकाराधानविधायकवचनमप्येतादृशं सर्वत्रमधिकारिणं रथकारं रथविद्योपजीविनं विहाय **सावित्रीपतितोत्पन्नं सर्वकर्मानधिकारिणं सौधन्वनमाधानेऽधिकुर्वन्ति मीमांसकास्तत्कथमिव युक्तमिति न प्रतीमः।**

(छ) मन्त्रवर्णस्य च स्पष्टमेव सुधन्वनोऽङ्गिरसस्यापत्यभूता ये ऋभुविभ्वा वाजेति नामधेयास्त्रयः पुत्रा अग्निष्टोमादिकर्मभिः ऋभुसंज्ञकदेवभावं प्राप्ता अश्विनौ रथं कृतवन्तस्तादृशदेवप्रतिपादकत्वम्, न तु व्रात्यवैश्यपुत्ररूपसौधन्वनापरपर्यायऋभुसंज्ञकमनुष्या वान्तरजातिप्रतिपादकत्वम्।

(ज) इत्थमेव मन्त्रवर्णविरोधमभिप्रेत्य पूर्वलिखितकात्यायनसूत्रद्वयस्य द्वितीयव्याख्यायां माहिष्योत्पन्नरथकारस्यैव अधिकार इति सिद्धान्तप्रदर्शनावसरे देवयाज्ञिकनिबन्धे ऋभूणां त्वेति मन्त्रवर्णस्य पूर्वव्याख्यायां सौधन्वनानामधिकारसाधकतयोपन्यस्तस्यानुवादपूर्वकं परिहारो नैव दर्शितः।

एवं च **'मस्तुशूद्रस्य'** इत्यादिविधीनां रथकारापरत्वमुपपन्नं भवति। तस्यापि मातृसमानवर्णत्वेन मातामहीद्वारा शूद्रवर्णत्वात्।'

अस्मिंश्च पक्षे (भाट्टदीपिकाकारस्य) रथकाराधानस्यार्थकर्मत्वं, स्वर्गादिफलकल्पना, तदाहिताग्नीनां दाहमात्रोपयोगित्वकल्पना च नापद्यत इति सर्वं शिवम्।

उपसंहारः

एवं जैमिनीयं रथकाराधिकरणमस्माभिर्यथामति पर्यालोचितम्। तत्र रथकारस्त्रैवर्णिक उतात्रैवर्णिक इत्यस्मिन्विषये कल्पसूत्रकाराणां यो मतभेदः, श्रौत्रसूत्रव्याख्यातॄणां च रथकारस्याधानमात्रेऽधिकार उत सर्वश्रौतकर्मसु इत्यत्रापि यो विवादः, स यथाशास्त्रं प्रदर्शितः। सौधन्वना न रथकारा भवितुमर्हन्ति इत्यपि तदुत्पत्तिविषयकस्मृतिवचनैः स्पष्टीकृतः। **सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः** इति मन्त्रनिर्दिष्टाः सौधन्वना ऋभवो न मर्त्यलोकस्था मानवविशेषाः अपितु मध्यमस्थानीया

---

१. बौधायनगृह्ये उपनयनप्रकरणे 'वर्षासु रथकार' इति सूत्रेण रथकारस्योपनयनमुक्तमित्यस्माभिः प्राङ्निरूपितम्।

देवताविशेषा इति सुनिपुणमुपपादितम्। **सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णाच्च प्रतीयेरन्** इति सूत्रजैमिनीयत्वेऽनेकान् दोषान् प्रदर्श्य तस्य जैमिनीयत्वं निराकृतम्। अन्ते च मीमांसाशास्त्रस्य प्रमुखानां व्याख्यातृणामेतदधिकरणविषयका मतभेदा निर्दर्शिताः। भाट्टदीपिकाव्याख्यात्रा शम्भुभट्टेन भाट्टदीपिकाव्याख्यानान्तरमेतदधिकरणविषये योऽतिगहनः शास्त्रप्रमाणसमन्वितो विस्तरेण विमर्शः कृतः, तस्य प्रधानभूता अंशा उद्धृताः। शम्भुभट्टस्य विमर्शोऽप्यस्मन्मतिपोषक एव। **सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन्** सूत्रस्य शम्भुभट्टेन या व्याख्याऽकारि, तदनुसारं सूत्रस्यैतस्य जैमिनीयत्वं कथंचित् स्वीकर्तुं शक्यते इत्यलमतिविस्तरेण।

कल्पविषयक अवशिष्ट दो लेख—

कल्प-सूत्र प्रकरण का शेष

अश्वमेधस्य आधिदैविकं स्वरूपम्

[राष्ट्रियं स्वरूपं च

[यद्यपि यह लेख कल्प-प्रकरण में छपना चाहिये था, परन्तु यह उस प्रकरण के छपने के पश्चात् लिखा गया। यद्यपि यह लेख श्रौतयज्ञमीमांसा प्रकरण में यथा-स्थान संक्षेप से छपा है, परन्तु यहां उस पर यथोचित विचार करके विस्तृतरूप में लिखा है। अनेक अंश अधिक तथा पूर्वापेक्षया इसमें विस्पष्ट हैं।]

वैदिकवाङ्मये नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन बहूनां यागानां विधानमुपलभ्यते। एतेषामैतिहासिकं याज्ञिकं च पक्षमाश्रित्य बहवो विषया अस्माभिः "श्रौतयज्ञ-मीमांसा"[1] इत्याख्ये निबन्धे विवृताः। तत्रैव वैदिकवाङ्मये प्रसङ्गाद् यज्ञानां विषये य आधिदैविकपक्षनिर्देशकाः संकेता उपलभ्यन्ते तान् सूक्ष्मेक्षिकया विचार्य "आदौ यज्ञानां प्रयोजनं सततप्रवृत्तसृष्टियज्ञानामेव केषाञ्चिद् अंशानां व्याख्यानम्, यद्वा परोक्षरूपेण सृष्टौ घटमानानां घटनानां नाटकघर्मेण प्रत्यक्षं निदर्शनमेव आसीत्" इत्यपि संक्षेपेण प्रकटीकृतम्। इह वैदिकवाङ्मयेऽतिविशिष्टं स्थानं भजमानस्य "अश्वमेध" महा-क्रतोराधिदैविकं स्वरूपं संक्षेपेण प्रस्तूयते। अन्ते चास्य महाक्रतो राष्ट्रियं स्वरूपमपि निदर्शयिष्यते।

अश्वमेधयागस्य द्वौ भागौ—अश्वमेधयागस्य द्वौ भागौ स्तः। तत्र प्रथमे भागे यज्ञीयमश्वमधिकृत्य कानिचित् कार्याणि विधीयन्ते, अपरभागे यागसम्बन्धीनि कार्याणि निरूप्यन्ते।

अश्वमेधीयाश्वसम्बधीनि कार्याणि—अश्वमेधस्याधिदैविकस्वरूपस्य निरूपणात् प्राग् अश्वमधिकृत्य यानि कार्याणि याज्ञिका विदधते, तेषां केचन प्रमुखा अंशा आप-

---

१. इयं "श्रौतयज्ञमीमांसा" हिन्दीभाषानुवादेन सहिता "रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत, हरयाणा) [पिन १३१०२१]" इति स्थानादुपलभ्यते।

स्तम्बीयं कात्यायनीयं च श्रौतसूत्रमनुसृत्य संक्षेपेणोपस्थाप्यन्ते। यत एतेषामाश्रयेण अश्वमेधस्याधिदैविकस्वरूपनिदर्शने सौकर्यं संपत्स्यते।

अश्वमेधस्याधिकारिणः—आपस्तम्बे श्रौतसूत्रे (२०।१।१)[1] **"राजा सार्वभौमोऽश्वमेधेन यजेत, अप्यसार्वभौमः"** इत्युक्तम्। कात्यायनश्रौतसूत्रे (२०। १।१)[1] तु **"राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य"** इत्युपलभ्यते। इत्थम् अश्वमेधस्य त्रयोऽधिकारिण उक्ताः। तत्र "सार्वभौमो राजा" अस्याधिकारीति प्रथमः कल्पः, "असार्वभौमो राजा" इति द्वितीयः कल्पः, "सर्वकामो राजा" इति तृतीयः कल्पः।

यः पूर्वमेव सार्वभौमत्वं भजते, तेन राज्ञा किमर्थमयं क्रतुराहर्तव्य इति नोक्तम्। या त्वश्वमेधस्य प्रक्रिया वैदिकवाङ्मये समुपलभ्यते तया त्वस्य क्रतोः प्रयोजनं सार्वभौमत्वसम्पादनमेव प्रतीयते। अतः पूर्वतः सम्पन्नेन सार्वभौमेन राज्ञा किमर्थमयं क्रतुराहर्तव्य इत्युदेति प्रश्नः। वयं तु पश्यामः सार्वभौमेन राज्ञा कालेऽस्य क्रतोराहरणेन "कश्चिन्माण्डलिको राजाऽस्मत्प्रतियोगी तु नः संवृत्तः" इत्यन्वेक्षणमेव प्रयोजनम्। यद्वा याज्ञिकमतानुसारं रात्रिसत्रन्यायेन[2] **"एतेन ब्रह्महत्यामतरन्त्सर्वं पाप्मानं तरति, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनं वेद"**[3] (तै० स० ५।२।१२) इत्यर्थवादरूपेणोक्तं फलं कल्पनीयम्।

असार्वभौमस्य राज्ञोऽस्य क्रतोराहरणे सार्वभौमत्वप्राप्तिरेव मुख्यं फलम्। अतः समर्थेनैव राज्ञाऽस्य क्रतोराहरणे प्रवर्तितव्यं न दुर्बलेन, अन्यथा स स्वराज्यादपि भ्रश्येत। अत एवोक्तम्—**परा वा एष सिच्यते योऽबलोऽश्वमेधेन यजते**[4] (तै० ब्रा० ३।८।९।४) इति।

सर्वकामस्य राज्ञोऽस्य क्रतोराहरणे सर्वकामानामवाप्तिरेव फलम् इति सूत्रवचनाद् विज्ञायते। यत्तु विद्याधरशर्मणाऽस्य सूत्रस्य वृत्तौ **"अत्र च सर्वकामशब्देन मुमुक्षुरभिधीयते** (श० १३।४।१।१)। **मोक्षप्राप्तौ च सर्वकामावाप्तेः सम्भवादिति**

---

१. उभयोः श्रौतसूत्रयोराकरस्थाननिर्देशं समानं दृष्ट्वा नात्र भ्रमितव्यम्।

२. रात्रिसत्रन्यायो मीमांसायाश्चतुर्थाध्याये तृतीयपादेऽष्टमाधिकरणे (सूत्र १७। १८-१९) द्रष्टव्यः।

३. शबरस्वामिना मीमांसाभाष्ये (१।२।४) "तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनं वेद" इत्येव पाठ उद्धियते।

४. एवं सति यो राजा तस्करान् अश्वहारिणो जेतुं [असमर्थः] बलहीनोऽश्वमेधेन यष्टुमारभत एष राजा परासिच्यते स्वराष्ट्रादपि भ्रश्यत इत्यर्थः। द्र०—सायणभाष्यम्।

कर्काचार्याः" इत्युक्तं, तदापाततो रमणीयमेव। न हि शतपथे १३।४।१।१ इत्येवं निर्दिष्टे स्थाने सर्वकामशब्दस्य मुमुक्षुरर्थं उपलभ्यते। अपि च, वैदिकवाङ्मयेऽयं "सर्वकाम" शब्दो बहुत्र श्रूयते। यथा—**स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासौ। एककामः सर्वकामो वा** (आप० श्रौत ३।१४।८,९)। न ह्येतादृक्स्थलेषु कश्चिदपि व्याख्याता सर्वकामशब्दस्य "मुमुक्षुः" इत्यर्थं व्याचख्यौ। वस्तुतस्तु प्रकृते सर्वकामशब्दे यः सर्वशब्दः स स्वाधिकारसम्बन्धिनि सर्वत्वे प्रयुक्तः। अतः "**पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति**" इत्यत्र यथा **सर्वत्वमाधिकारिकम्** (मी० १।२।१६) एवं "**राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य**" इत्यत्रापि द्रष्टव्यः। अर्थाद् अश्वमेधेन यो यः कामः सम्पादयितुं शक्यते, स सर्वोऽपि सम्पाद्यते। अश्वमेधेन राज्ञा सार्वभौमत्वरूपः कामः सम्पाद्यते। अतस्तमेवार्थं सर्वकामशब्दो ब्रवीति, न तु निरपेक्षसर्वकामत्वम्।

अश्वमेधस्य कालः—अश्वमेधक्रतुः प्रायणीकसंवत्सरसाध्यः। यद्यप्ययं क्षत्रियस्य यागः, क्षत्रियस्य च ग्रीष्मर्तुः कालः, तथाप्ययं वसन्तर्तौ फाल्गुनमासस्य शुक्लपक्षस्य अष्टम्यां नवम्यां वा आरभ्यते। तदुक्तं शतपथे—**तद्वै वसन्त एवारभेत। वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुर्यं उ वै कञ्चन यजते ब्राह्मणीभूयैवैव यजते[1]·····सा यासौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति, तस्यै पुरस्तात् षडहे वा सप्ताहे वर्त्विज उपसमायन्ति·····** (१३।४।१।३-४)।

अश्वलक्षणानि—योऽयमश्वोऽश्वमेधायाह्रियते तस्य पूर्वोऽर्धभागः कृष्णः, पश्चाद्भागः शुक्लः, ललाटे च शकटाकारं लक्ष्म अपेक्ष्यते (द्र०—शत० १३।४।२।४)।

अश्वरशनायाः प्रमाणम्—अश्वमेधीयस्याश्वस्य दर्भमयी (क्वचिन्मुञ्जमयी) रशना द्वादशारत्निप्रमाणा त्रयोदशारत्निप्रमाणा वा भवति [अरत्निप्रमाणं तु द्वाविंशत्यङ्गुल्यात्मकम्, क्वचित् चतुर्विंशत्यङ्गुलिप्रमाणमपि स्वीक्रियते]। तां रशनां घृतेनाञ्जयन्ति।

राज्ञः पत्न्यः—राज्ञश्चतस्रः पत्न्यः (=महिषी=प्रथमपरिणीता कृताभिषेका, वावाता=वल्लभा, परिवृक्ता=अवल्लभा, पालागली=दूतपुत्री) आभरणादिभिरलङ्कृताः सानुचर्यः शतेन शतेन (=४००) यजमानस्य समीपमुपतिष्ठन्ति (कात्या० श्रौत २०।१।१२) (आपस्तम्बश्रौतसूत्रे पालागल्या निर्देशो नास्ति। तेन महिषी वावाता परिवृक्ता तिस्र एव सानुचर्यः राजानमुपयान्ति)।

---

१. तुलना कार्या—"अपि राजन्यं वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्। ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते।" शत० ३।२।१।४०॥ यथा दीक्षानन्तरं ब्राह्मणं यजमानं "दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः" इत्युच्चैराश्राव्यते, तथैव राजन्यवैश्ययोर्दीक्षानन्तरं "दीक्षितोऽयं ब्राह्मणः" इत्येव आश्रावयेत्।

राज्ञो ब्रह्मचर्यपूर्वकं शयनम्—राजा वावाताया: (=वल्लभाया:) पत्न्या उर्वन्तरे शिर: कृत्वा ब्रह्मचर्यं पालयन् संवत्सरं यावद् रात्रौ शेते (कात्या० श्रौत २०।१।१७)।

अश्वस्य निर्णेजनं चतुरक्षशुनो मारणं च—यज्ञीयमश्वं तेन सह चतुरक्षं श्वानं च तडागादिमहाजले प्रवेश्य, यत्र शुन: पादा भूमिं न स्पृशन्ति, तत्र सैध्रकेण[1] मुसलेन श्वानं हत्वा अश्वपादानामधस्तात् प्रास्येत्। तं चाश्वं चतसृषु दिक्ष्ववस्थिता महर्त्विज़ो निर्णेनिजति प्रोक्षयन्ति। चतुरक्षस्य शुनोऽभावाद् यस्य शुनोऽक्ष्णोरुपरि द्वे लक्ष्मणी भवत:, स इहाभिप्रेत:।

अश्वस्योत्सर्जनं रक्षिणां चानुगमनम्—यज्ञीयोऽश्व: संवत्सरं यावत् स्वच्छन्द: परिभ्रमणार्थम् ईशान्यां दिशि उत्सृज्यते। संवत्सरात् प्राग् न तं परावर्तयन्ति। अश्वस्य रक्षार्थं शस्त्रास्त्रकवचधारिण: शतं राजपुत्रा:, शतं क्षत्रियपुत्रा: खड्ग-धारिण:, शतं सूतग्रामण्या पुत्रा इषुवर्षिण:, शतं क्षात्रसंगृहीतॄणां पुत्रा वंशादिदण्ड-धारिण (=१००×४=४००) अनुयान्ति[2] (शत० १३।४।२।५; कात्या० श्रौत २०।२।१०)। च वडवाभ्य: स्नानार्हाच्चोदकाद् अश्वं वारयितुमादिश्यन्ते। (कात्या० श्रौत २०।२।१२-१३)। ते रक्षका: संवत्सरं यावद् अश्वं भ्रामयित्वा प्रत्यान-यन्ति। अस्मिन्नन्तराले यदि कश्चिद् राजा स्वराज्ये भ्रमन्तम् अश्वमवरुणद्धि, तर्हि रक्षकास्तं युद्धे पराजित्य स्वानुचरं विधायाग्रे प्रयान्ति। इत्थमश्वमेधस्याश्वो यस्य यस्य राज्ञो राज्ये परिभ्रमति ते सर्वेऽश्वमेधक्रतुमाहरतो राज्ञ: शासनमुररीकृत्य यज्ञ-काले उपहारानादायोपतिष्ठन्ति।

यज्ञीयकार्याणि

अश्वस्योत्सर्जनानन्तरं यावत् स न प्रत्यावर्तते तावद् राजा अनेका इष्टीर्यज्ञांश्च करोति। अश्वस्य प्रत्यावर्तनेऽस्य महाक्रतो: प्रमुखं यज्ञकर्म प्रारभते।

अस्मिन् क्रतौ द्वादश दीक्षा:, द्वादश चोपसदो भवन्ति। तदनन्तरं तिस्र: सुत्या (सोमयागा:) भवन्ति। तत्र प्रथमा सुत्या अग्निष्टोमसंस्थाका भवति, द्वितीया उक्थ्य-

---

१. सैध्रको महासारो वृक्षविशेष इति सायण:। तै० ब्रा० भाष्य ३।८।४।१॥

२. आपस्तम्बे श्रौतसूत्रे तु अश्वरक्षिण इत्थं निर्दिष्टा:—"शतं कवचिनो रक्षन्ति। अपर्यावर्तयन्तोऽश्वमनुचरन्ति। चतु:शता इत्येकेषाम्। शतं तल्प्या राज-पुत्रा: सन्नद्धा: सन्नद्धसारथिन:, शतमुग्रा अराजान: सन्नद्धा: सन्नद्धसारथिन:, शतं वैश्या विपथिन:, शतं शूद्रा वरूथिन:। तेऽस्य गोप्तारो भवन्ति।" आप० श्रौत २०।४। १०-१४॥

संस्थाका, तृतीया च अतिरात्रसंस्थाका। तदनन्तरम् अवभृथस्नानम् उदवसानीयेष्टिं च कृत्वा कर्मेतत् समापयन्ति।

द्वितीयसुत्यादिवसे विशिष्टं कर्म—अस्मिन्नहनि प्रत्यागतम् अश्वं रज्जुभिः सर्वतो वेष्टयन्ति। रज्जूनां पर्यन्तभागे विभिन्नदेवताकान् पशून् बध्नन्ति (कात्या० श्रौत, भूमिका पृष्ठ १६, विद्याधरीया टीका)। सप्तविंशत्युत्तरं शतत्रयं ग्राम्याः पशवः, द्वाविंशतिरेकादशिनीपशवः, षष्ट्युत्तरं द्विशतम् आरण्याः पशव आहृत्य नवोत्तराणि षट्शतानि (६०९) पशवो भवन्ति (द्र०—उव्वटमहीधरभाष्य, यजुः २४।४६)। आरण्याः पशवः पर्यग्निकरणानन्तरम् उत्सृज्यन्ते (कात्या० श्रौत २०।६।९) शिष्टा ग्राम्याः पशव आलभ्यन्ते।

अश्वमेधीयाश्वस्यालम्भः, तदनुकृत्यं च—अश्वमेधीयस्य अश्वस्यालम्भनानन्तरं महिषी (=राज्ञा सह कृताभिषेका पत्नी) मृतस्याश्वस्य समीपं शेते। अधीवासेनाश्वमहिष्यौ प्रच्छाद्येते। महिषी अश्वस्य शिश्न स्वोपस्थे कुरुते। तस्मिन्नेव काले अध्वर्युकुमार्यौ, ब्रह्मकुमार्यौ, उद्गातृवावाते, होतृपरिवृक्ते, प्रतीहारपालागर्यौ द्वाभ्यां द्वाभ्यामृग्भ्यां परस्परम् अश्लीलं सम्वादं कुर्वन्ति। अनन्तरं ब्रह्मोद्यं भवति।

अश्वमेधस्य आधिदैविकं स्वरूपम्—सम्प्रत्यश्वमेधक्रतोराधिदैविकपक्षं पुरस्कृत्य विचार्यते। अश्वमेधीयाश्वं तदधिकारिणं चाधिकृत्य ये प्रमुखा अंशाः पुरस्तान्निर्दर्शिताः; तैरेतद् विस्पष्टं भवति यदिदं आश्वमेधिकं कर्म आधिदैविकस्य कस्यचिद् सृष्टियज्ञस्य प्रातिनिध्यं करोति। इदमेव स्पष्टीकर्तुं वयं पुरस्तान् निर्दिष्टान् विषयान् यथाक्रमं व्याख्यातुं प्रयतामहे।

सार्वभौमो राजा—अश्वमेधस्य ये त्रयोऽधिकारिणः पुरस्तादुक्तास्तेषु **"सार्वभौमो राजाऽश्वमेधेन यजेत"** इत्येव मुख्यः पक्ष इति याज्ञिका मीमांसकाश्च मन्वते।

इदमत्रावधेयम्—यद्यपि लौकिकेऽश्वमेधे यजमानरूपः सार्वभौमो राजा, अश्वश्च भिन्नौ भवतः। तथाप्यश्वस्य राज्ञस्तेजसः प्रतीकत्वाद् उभौ परस्परं सम्बद्धौ स्तः। अतएव राजा न स्वयम् अन्यान् राज्ञः स्वाधीनान् कर्त्तुं प्रयाति, अपितु स्वस्थाने स्वतेजसः प्रतीकरूपकमश्वं विमुञ्चति। येऽश्वमेधीयमश्वं स्वराज्ये चरन्तं न निरुन्धन्ति तेऽश्वमेधकर्तुः शासनमुररीकुर्वन्तीति सूचयन्ति। यः कश्चित् स्वाभिमानी राजाऽन्यस्य वशीभावं न सहते, स यज्ञीयमश्वमवरुणद्धि युद्धाय च सन्नद्धो भवति। अनुचारिणोऽश्वरक्षका तेन सह युद्ध्वा तं पराजित्य वशं नयन्ति।

आधिदैविकपक्षेऽस्मदीये सौरमण्डले सार्वभौमो राजा सूर्यः। अयं स्वतेजसा सर्वानपि ग्रहोपग्रहान् अभिभवति। अयं हि स्वामीशुभिः सर्वान् ग्रहोपग्रहान् स्वस्वमर्यादायां (=स्वस्वकक्षायां) प्रवर्तयति, न कश्चिद् स्वमर्यादामतिक्रामति। याज्ञि-

कानां मते ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य १६२-१६३ तमे सूक्ते अश्वमेधविषयके स्तः। परन्त्वनयोः सूक्तयोः क्वचिदश्वशब्देन, क्वचिच्च तत्पर्यायवाचिना सूर्यस्य स्तुतिरुपलभ्यते। अतएव क्वचित् ततः प्रसृतानां रश्मीनामपि वर्णनमुपलभ्यते। अनयोराश्वमेधिकसूक्तयोर्विषयेऽग्रे विचारः करिष्यते।

अश्वलक्षणानि—अश्वमेधीयाश्वस्य यानि लक्षणानि पुरस्तान्निरूपितानि, तान्याधिदैविकपक्षे सूर्योदयात् प्राक् प्रत्यहं लक्ष्यन्ते। तथाहि सूर्योदयात् सार्धचतुर्घटीपूर्वं (द्विघण्टापूर्वं) रात्रेरन्तिमे भागे तमो भवति, किन्तु तस्मिन् काले पूर्वस्यां दिशि दिवि उन्नतप्रदेशे उषसः शकटाकारः प्रकाश उपलभ्यते। अयमेवाश्वस्योन्नतप्रदेशे ललाटे शकटाकारं लक्ष्म विज्ञेयम्। यद् उषःकालेऽस्मदीये भूभागे तमो भवति तदेवाश्वस्य पूर्वभागस्य कार्ष्ण्यम्, यत्तु अस्मत्प्रदेशात् पूर्वस्यां दिशि सूर्योदयात् प्रकाशः संवृत्तः, स एव तस्य पश्चिमाभिमुखमुपसर्पतोऽश्वस्यापरभागस्य शौक्ल्यं विज्ञेयम्। अग्रे अग्रे उषः प्रयाति तदनु च सूर्यस्य प्रकाशः प्रचलति। अनयैव गत्या आधिदैविकस्याश्वस्य प्रत्यहं त्रीणि रूपाणि सर्वदेशीयैरुपलभ्यन्ते।

अश्वरशनाया द्वे प्रमाणे—यत्पुरस्ताद् अश्वमेधीयाश्वस्य रशनाया द्वादशारत्निप्रमाणं त्रयोदशारत्निप्रमाणं चोक्तम्, तेऽप्यश्वमेधस्याधिदैविकं पक्षमेव पोषयतः। तथाहि—अस्मद्देशे द्वौ संवत्सरौ प्रवर्तेते। तत्रैकश्चान्द्रः, अपरः सौरः। सौरवर्षात् चान्द्रवर्षे प्रायेण दशदिवसा न्यूना भवन्ति। अत आर्यास्तृतीये तृतीये वर्षे चान्द्रमेकं मासमधिकं परिगणय्य उभयोर्वत्सरयोः सामञ्जस्यं विदधति।[1] ऋग्वेद उपजायमानस्य त्रयोदशस्य मासस्य निर्देशः साक्षादुपलभ्यते।[2] यागादीनि सर्वाण्यपि शुभकार्याणि आर्याश्चान्द्रवत्सरानुसारमेव कुर्वन्ति, न सौरवत्सरानुसारम्। द्वयोश्चान्द्रवत्सरयोर्द्वादश द्वादश मासा भवन्ति, तृतीये च वत्सरे त्रयोदश। अतएवाश्वमेधीयाश्वस्य रशनाया अपि द्वे प्रमाणे निर्दिष्टे। ब्राह्मणे त्रयोदशारत्निप्रमाणस्य प्रशंसोपलभ्यते। तथाहि—

तदाहुः—द्वादशारत्नी रशना कार्या ३ त्रयोदशारत्नी३रिति। ऋषभो वा एष ऋतूनां यत्संवत्सरस्तस्य त्रयोदशो मासो विष्टपः। वृषभ एष यज्ञानां यदश्वमेधो यथा वा ऋषभस्य विष्टपमेवमेतस्य विष्टपं त्रयोदशारत्निं रशनामुपदध्यात्।[3] शत०

---

१. कुरानमतानुयायिनश्चान्द्रसौरवर्षयोः सामञ्जस्यं न विदधति। अतस्तेषाम् ईदादिपर्वाणि प्रतिवर्षं दशदिनानि पुरस्तादुपसर्पन्ति। सत्येवं षट्त्रिंशत्सु वर्षेषु तेषां सप्तत्रिंशद् वर्षाणि भवन्ति।

२. वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते। ऋ० १।२५।८॥

३. इत्थमेव किञ्चिद् भेदेन तैत्तिरीयब्राह्मणे (३।८।३।३) ऽपि पठ्यते।

१३।१।२।२॥ विष्टपं ककुदित्यर्थः ।

अस्मिन् स्तुत्यर्थवादे रशनाप्रमाणयोः प्रत्यक्षं वत्सरस्य द्वादशत्रयोदशमासैः सह सम्बन्धः परिकीर्तितः ।

सूत्रकारास्तु द्वादशारत्निप्रमाणस्य त्रयोदशारत्निप्रमाणस्य च सामान्यरूपेण विकल्पमुररीकुर्वन्ति । वयं तु मन्यामहे यजमानो यस्मिन् चान्द्रवर्षेऽश्वमेधं कर्तुं प्रारभते, तस्मिन् वर्षे यदि द्वादशमासाः स्युस्तर्हि द्वादशारत्निप्रमाणा रशना कार्या । एवं यस्मिन् वर्षे त्रयोदशमासाः स्युस्तस्मिन् त्रयोदशारत्निप्रमाणा रशना कार्या । इत्येवं व्यवस्थितविकल्पो ज्ञेयः ।[1] एतादृक्प्रमाणया रशनया बद्ध आधिदैविकोऽश्वो संवत्सरं यावद् भ्रमति[2] । यदुच्यते "अश्वरशनां घृतेनाञ्जन्ति ।" घृतं नाम दीपकस्य तेजस्विनः पदार्थस्य उपलक्षकः (घृक्षरणदीप्त्योः) । सूर्यस्येयं रशना प्रकाशेन दीप्ता तेजस्विनी च भवति ।

राज्ञश्चतस्रः पत्न्यः—सार्वभौमस्य राज्ञः सूर्यस्य चतस्रः पत्न्यश्चतस्रो दिशः । पूर्वा दिङ् महिषी नाम्नी प्रधाना पत्नी । अनया सहैव उदीयमानस्य सूर्यस्याभिषेको भवति । अर्थात् पूर्वस्यां दिश्येव सूर्यम् उद्यन्तं जनाः पश्यन्ति । पश्चिमा दिग् वल्लभा नाम्नी पत्नी । अस्यामेव दिशि सूर्यो निम्रोचति (=विश्राम्यति) । अत एवाश्वमेधे राज्ञो वल्लभाया ऊर्वोरन्तराले शिरो निधाय शयनमुक्तम् । अस्मिन् काले यद् ब्रह्मचर्यमुक्तम्, तस्य द्वे कारणे । प्रथमं यज्ञे दीक्षितस्य यावद् यज्ञो न समाप्नोति तावद् ब्रह्मचर्यव्रतस्य विधानम्, अपरम् आधिदैविकपक्षे अस्माकं दृष्टौ यदा सूर्यो वल्लभायां पश्चिमस्यां दिशि निम्रोचति तदा ततः परस्मिन् देशे सूर्यः प्रकाशमानो भवति, अतोऽस्मद्दृष्ट्या वल्लभायां पश्चिमस्यां दिशि सूर्यस्य निम्रोचने सत्यपि न तया सह तस्य वास्तविकः सम्बन्धो भवति । इत्थमेव अवल्लभादूतपुत्र्यौ उत्तरदक्षिणे दिशौ स्तः । आभ्यां सह सूर्यस्योत्तरायणे दक्षिणायने चैव संयोगो भवति, न सर्वदा ।

इदं चतसृणां राज्ञः पत्नीनां याज्ञिकपक्षमनुरुध्याधिदैविकं स्वरूपं निदर्शितम् ।

इदमत्राद्धेयम् - यथा चैव याज्ञिकः पक्षस्तथा अश्वमेधकर्तुं राज्ञो न्यूनातिन्यूनं चतस्रः पत्न्योऽवश्यमपेक्षन्ते । परन्तु भारते वर्षे दाशरथिरामपदृशा एकपत्नीव्रतिनोऽनेके

---

१. अयं व्यवस्थितविकल्पः पाणिनीये तन्त्रे बहुधाश्रीयते ।

२. आधिदैविकोऽश्वः सूर्यो न पृथिव्यादीनां परितो भ्रमति । तथापि 'यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते' (ऋ० ५।४४।६) इति वैदिकन्यायेन सूर्यस्योदयं तस्यास्ताचलं च गमनं जना उपलभन्ते । अत एव सूर्यो ग्रहोपग्रहान् प्रति भ्रमतीति वादः प्रवर्तते ।

राजानो बभूवुः, यैर्बहुकृत्वोऽश्वमेधक्रतुराहृत इति रामायणमहाभारतादिभ्यो ग्रन्थेभ्यो विज्ञायते। चतसृणां पत्नीनाममावे कथमेतैरश्वमेधः सम्पादितः स्यादिति ?

वस्तुतस्त्वाधिदैविकस्याश्वस्य (सूर्यस्य) एकैव पत्नी, याऽस्माकं जनयित्री[1] आधारभूता च पृथिवी वर्तते। अतएवैकस्मिन् वैवाहिके मन्त्र आधिदैविकं पतिपत्नीभावमनुवर्णयन् वरः पत्नीं ब्रवीति—**द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह सं भवाव प्रजा मा जनयावहै।**[2] (अथर्व० १४।२।७१)। वैदिकवाङ्मयेऽन्यत्रापि द्यावापृथिव्योः पतिपत्नीरूपेण निर्देश उपलभ्यते। यतः पृथिव्या एव पत्नीभावः, तस्माद् आस्माकीने सौरमण्डले ये ग्रहोपग्रहाः सन्ति तेष्वेकमात्रमस्यामेव जैविकी सृष्टिर्वर्तते, नान्येषु ग्रहोपग्रहेषु। एतद्विज्ञायैवास्मत्पूर्वजैर्वैज्ञानिकैरस्यैव ग्रहस्य स्त्रीलिङ्गमभिधानं कृतम्, अन्येषां ग्रहोपग्रहेभ्यः पुंल्लिङ्गाभिधानं प्रत्तम्। यतोऽस्यामेव पृथिव्यां चराचररूपा जैविकीसृष्टिरुत्पद्यतेऽत अस्याः "भवन्त्यस्यां प्राणिन इति भूमिः" इत्यन्वर्थं नाम। अस्यां जैविकीसृष्टेरुत्पादने सूर्यएव स्वतेजसा बीजावपनमिव प्रधानां भूमिकां निर्वर्तयति। अतएव यदा बहुदिवसपर्यन्तं सूर्यस्य तेजो मेघैराच्छादितं भवति तदौषधिवनस्पतयो म्लायन्ते।

अश्वस्य ईशान्यां दिश्युत्सर्जनम्—अश्वमेधीयोऽश्वः संवत्सरं यावत् परिभ्रमणाय ईशान्यां दिश्युत्सृज्यते। यद्यप्याधिदैविकोऽश्वः सूर्यो यस्मिन् कालेऽश्वमेधीयं कर्मारभ्यते तदा स विषुवद्रेखातो दक्षिणभागं उदेति, परन्तु तस्योत्तरायणकालत्वात् सूर्यो यत उत्तराभिमुखो भवति, अतः स ईशान्यां (उत्तरपूर्वदिगन्तरालायां) दिश्युत्सृज्यते।

अश्वस्यैकवर्षपर्यन्तं भ्रमतो मध्येऽप्रत्यावर्तनम्—एकवर्षं यावत् परिभ्रमणायाश्वमेधीयोऽश्वो न मध्ये प्रत्यावर्त्यते। इदमपि कर्म अश्वस्याधिदैविकमेव पक्षं पुष्णाति। अत एवोक्तम्—

तमेतऽउभये देवमनुष्याः संविदाना अप्रत्यावर्तयन्तः संवत्सरं रक्षन्ति। तद् यं न प्रत्यावर्तयन्ति एष वा एष य एष तपति क उ ह्येतमर्हति प्रत्यावर्तयितुम्। शत० १३।४।२।१६॥

एतेन ब्राह्मणवादेन अश्वमेधीयाश्वस्य प्रत्यक्षम् आधिदैविकं स्वरूपं निरूप्यते।

---

१. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। अथर्व० १२।१।१२॥

२. अथर्ववेदस्य चतुर्दशे काण्डे पठिते द्वे सूक्ते विवाहकर्मणि विनियुक्ते स्तः। उक्तो मन्त्रः किञ्चित् पाठभेदेन पारस्करगृह्यसूत्रे (१।६।३) ऽपि विवाहकर्मणि विनियुक्त उपलभ्यते।

यथा हि सूर्यस्य परितो भ्रमतो नहि संवत्सरात् प्राक् प्रत्यावर्तनं भवति। संवत्सरान्त एव सूर्यस्तं स्थानं प्रत्यावर्तते,यतस्तेन परिभ्रमणं प्रारब्धमासीत्। अतएव यज्ञीयमश्वमपि संवत्सरान्त एव प्रत्यावर्तयन्ति।

चतुःशतमश्वस्य रक्षकाः—अश्वस्य रक्षायै मार्गं उपस्थितां बाधां च दूरीकर्तुं विविधशस्त्रास्त्रधारिणश्चतुश्शतसंख्याकाः पुरुषा नियुज्यन्ते। एतद्विधानमपि यज्ञीयाश्वस्याधिदैविकं स्वरूपं पुष्णाति। ऋग्वेदे सूर्यस्य सहस्रविधा रश्मय उक्ताः—**युक्ता ह्यस्य हरयश्शतादश** (६।४७।१८)। एषां सहस्रविधानां रश्मीनां त्रयो भेदा वायुपुराणे (५३।१९-२३), ब्रह्माण्डपुराणे (पूर्वभागे २४।२६-३०), मत्स्यपुराणे (१२८।१८-२२) च निर्दिष्टाः सन्ति। तेषु **चित्रमूर्तिनामानः** शतचतुष्टयं रश्मयो वर्षयन्ति। यज्ञीयाश्वस्य विचरणे शत्रोः प्रतिरोधं दूरीकर्तुं शतचतुष्टयं विविधशस्त्रास्त्रधारिणः सैनिका अनुयान्ति। सृष्टियज्ञेऽपि वर्षतां सूर्यस्य रश्मीनां प्रकाशस्य वा प्रचरणे मेघा अवरोधका भवन्ति। तान् विच्छिद्य वर्षकाः चित्रमूर्तिनामानो रश्मयोऽपि शतचतुष्टयमिता एव सन्ति। मेघानां विच्छेदे प्रवर्षिते च अवरोधाभावात् सूर्यस्य रश्मयः प्रकाशो वा यथेच्छं भूमिं प्राप्नोति। ऋग्वेदस्य **आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुः** (१।३५।६) इति मन्त्रे सृष्टिसर्जका रश्मयोऽमृता अपराजिता उक्ताः।[1]

अश्वस्य सर्वाङ्गाणां रज्जुभिर्बन्धनम्—प्रत्यागतेऽश्वमेधीयेऽश्वे आश्वमेधिकं प्रधानं कर्म प्रारभते। द्वितीये सुत्यादिवसेऽश्वस्य सर्वाङ्गान् रज्जुभिर्वेष्टयन्ति। तथा तत्तत्स्थानेषु रज्जूनां प्रान्तभागेषु केचन पशवो बध्यन्त इत्युक्तं प्राक्। इदमपि कर्म सृष्टियज्ञान्तर्गतमश्वमेधमेव संकेतयति। सूर्यमण्डलस्य परितो सूर्यरश्मयः प्रसृता भवन्ति। ते रश्मिभिरेव कृत्स्नं सूर्यमण्डलं बद्धम् अर्थाद् आच्छादितं वर्तते। रज्जुशब्दो रश्मिपर्यायः। तथा चोक्तं वेङ्कटमाधवेन—**रज्जुः सर्गो रश्मिपाशौ रशनाभोगुरेव च। दामाभिमानिधा**·····।[2] **सूर्यरश्मिषु नद्धा एव सर्वे ग्रहोपग्रहाः स्वस्वकक्षासु परिभ्रमन्ति।**

---

१. उत्तरस्मिन् मन्त्रे, यदा गभीरवेपा असुरो वृत्रो महामेघो सूर्यमाच्छादयति, सूर्यो दृष्टिपथं नायाति तदा मनुष्याः पृच्छन्ति—

क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान (ऋ० १।३५।७)।

२. नामानुक्रमणी, पंक्ति ८५-८६। द्रष्टव्य—वैदिक निघण्टुसंग्रहः, पृष्ठ १००। सम्पादकः—पं० धर्मवीरो विद्यावारिधिः। प्राप्तिस्थानम्—रामलालकपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) पिन १३१०२१।

एवमस्माभिर्विस्पष्टीकृतमेतद् यद् द्रव्यमयरूपस्य अश्वमेधस्य सम्बन्धः सृष्टि-यज्ञस्याश्वमेधेन सह वर्तते। एतेन साकं लौकिकस्याश्वमेधस्य एकं राष्ट्रियरूपमप्य-स्ति। तस्य व्याख्यानमुपरिष्टात् करिष्यते।

ऋग्वेदीये अश्वमेधविषयके सूक्ते—ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य १६२, १६३ तमे सूक्ते अश्वमेधे विनियुक्ते स्तः।

सम्प्रति तयोः सह १६४ तमं सूक्तं सम्मेल्य त्रयाणां सूक्तानां विषयेऽतिसंक्षेपेण लिख्यते—

त्रिषष्ट्युत्तरशततमस्य (१६३) सूक्तस्य[1] प्रथममन्त्रे अश्वस्योत्पत्तिः समुद्रात् पुरीषाच्चोक्ता, द्वितीयमन्त्रे यमेन प्रदत्तस्य त्रितेन युक्तस्य अश्वस्योपरि इन्द्रः प्रथम-मध्यतिष्ठत्, गन्धर्वोऽस्य रशनामगृह्णात्, वसवः सूराद् अश्वमतक्षन् इति निर्दि-श्यते। चतुर्थे मन्त्रे अश्वस्य दिवि अप्सु समुद्रे च त्रीणि बन्धनान्युक्तानि। षष्ठे मन्त्रे पतङ्गः (=गतिशीलोऽश्वः) द्युलोके गच्छन्निर्दिष्टः **दशमस्य ईर्मान्तासः** मन्त्रस्य व्याख्या निरुक्तकारेण सूर्यरश्मिपरा व्यधायि (द्र०—निरुक्त ४।१३)। एकादशे मन्त्रे अश्वस्य जर्भुराणि देदीप्यमानानि शृङ्गाणि अरण्ये विचरन्तीत्युक्तम्। लौकिकस्या-श्वस्य शृङ्गाण्येव न भवन्ति, पुनः कथं तेषां देदीप्यमानानाम् अरण्ये विचरणं सम्भवति? सूर्यस्य तु देदीप्यमानानि गतिमन्ति शृङ्गाणि तस्य रश्मयः। एतैः सकेते-र्विस्पष्टं भवति यद् अश्वमेधे क्रतौ विनियुक्ते त्रिषष्ट्युत्तरशततमे सूक्ते उक्तोऽश्वः सूर्य एव, न लौकिकः पशुः।

चतुष्षष्ट्युत्तरशततमस्य सूक्तस्यारम्भ[2] **अस्य वामस्य पलितस्य** इत्येवं भवति। आदौ निर्दिष्टम् **अस्य** इति सर्वनामपदम्। सर्वनामानि च पूर्वनिर्दिष्टस्य स्मारकाणि उत वा अभिधायकानि भवन्ति। अनया दृष्ट्या पूर्वपठितयोः १६२, १६३ तमयोः सूक्तयोर्यस्याश्वस्य वर्णनमभूत् तमेव **अस्य**पदेन स्मारयित्वा तद्विषये विशेष उच्यते। अस्मिन् **अस्यवामीये** सूक्ते सूर्यस्य तद्रश्मीनां च वर्णनमुपलभ्यते। इदं च वर्णनं एतावत् स्पष्टं वर्तते, यदस्मिन् प्रकरणे सूर्यस्य तद्रश्मीनां च वर्णनम् अतिरिच्य नान्यस्य कस्यचित् वर्णनं स्वीकर्तुं शक्यते। निरुक्तकारो यास्कोऽप्यस्य सूक्तस्यानेकेषां मन्त्राणां सूर्यपरामेव व्याख्यां निरुक्ते कृतवान्।

सम्प्रति द्वाषष्ट्युत्तरशततमस्य (१६२) सूक्तस्य समस्यावशिष्यते। यद्यप्यस्मिन्

---

१. एतत्सूक्तस्थाः सर्वेऽपि मन्त्राः शुक्लयजुषि २९।१२-१४ पर्यन्तमुपलभ्यन्ते।

२. एतत्सूक्तस्थाः सर्वेऽपि मन्त्राः शुक्लयजुषि २५।२४-४५ अपि पठ्यन्ते।

सूक्तेऽनेके मन्त्राः पदसमूहाश्चैतादृशाः सन्ति, ये आपाततो अश्वमेधीयाश्वस्यालम्भसम्बन्धिनः प्रतीयन्ते । तथाप्युत्तरयोः सूक्तयोः प्रकाशे एतत्सूक्तस्य मन्त्राणां विशिष्टां च पदानाम् आधिदैविकोऽर्थ एव कर्तुं न्याय्यः । अपि चास्य सूक्तस्य एकविंशा ऋग् एतादृशा पठ्यते, यस्यामश्वमेधीयाश्वस्य मरणं प्रत्यक्ष प्रतिषिध्यते । तथाहि—**न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः** । यद्युच्येत अस्यामृचि अश्वस्य यन्मरणप्रतिषेध उक्तः, स तस्य स्वर्गप्राप्तिमपेक्ष्योक्तः । यदि यज्ञे हिंसितोऽश्वः स्वर्गमेतीत्युच्यते, तर्हि चार्वाकाणां **'पशुश्चेन्निहतो स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति । स्वपिता यजमानेन कथ तत्र न हिंस्यते'** इति वचनस्य किमुत्तरं स्यात् ? वस्तुतस्तु अस्मिन्नपि सूक्ते सूर्यरूपस्यैवाश्वस्य वर्णनं विद्यते । स एव हि न कदाचिन्म्रियते हिंस्यते वा । स अस्तंगतोऽपि न स्वरूपं जहाति न च रिष्यति । अपरस्मिन् दिने स नियतसमये पुनरुदेति । अयमेवाभिप्रायः प्रकारान्तरेण ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकटीकृतः । तथाहि—

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति·····स वा एष न कदाचन निम्लोचति (ऐ० ब्रा० १४।६) इति ।

स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति·····स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति । स ह वै कदाचन न निम्रोचति (गो० ब्रा० २।४।१०) इति ।

यस्त्वत्राश्वस्याङ्गानां पचनस्य गन्ध उपलभ्यते तदप्यापाततो रमणीयमिव । काण्वबृहदारण्यकोपनिषद आरम्भे अश्वाङ्गानाम् आधिदैविकी व्याख्या इत्थमुपलभ्यते—

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य । द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम् । दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि । ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते यद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ।।

इत्थमश्वमेधीयाश्वस्य प्रत्यङ्गमाधिदैविकीव्याख्यां सत्यां को नाम विपश्चिद् ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्य द्वाषष्ट्युत्तरशततमे सूक्तेऽश्वस्यालम्भनं तस्याङ्गानां निकर्तनं पचनं च व्याख्यातुमर्हति, ऋते विनियोगमोहनिमज्जितेभ्यो याज्ञिकेभ्यः ।

अश्वस्य संज्ञपनम्, तदुत्तरकृत्यम्—प्रत्यागतेऽश्वे मुख्यं यज्ञीयं कर्म प्रवर्तते । तत्र

द्वितीये सुत्याहनि अश्वस्य संज्ञपनम्, अश्वमहिष्योः सङ्गमः, ऋत्विजां राजपत्नीनां च परस्परम् अश्लीलभाषणं भवति इत्युक्तं पुरस्तात् ।

अत्र प्रथमम् अश्वस्य संज्ञपनविषयमधिकृत्योच्यते । अन्यकर्मयोर्विषये अश्वमेधस्य राष्ट्रियस्वरूपनिदर्शनकाले वक्ष्यते ।

अश्वमेधशब्दस्यार्थः—अश्वमेधशब्दे षष्ठीतत्पुरुषः समासः—अश्वस्य मेधः = अश्वमेधः । **अयं समासस्य** (अष्टाध्यायी ६।१।२२३) इत्यनेनौत्सर्गिकेण समासस्वर-विधायकसूत्रेणान्तोदात्तः । पूर्वपदे योऽश्वशब्दस्तस्याधिदैविकं स्वरूपं पुरस्तान्नि-र्दर्शितम् । इदानीं मेधशब्दार्थे विचारः क्रियते ।

मेधशब्दस्यार्थः—मेधशब्दे **मेधृ संगमे च** इत्यस्माद् धातोः भावेऽकर्तरि च कारके संज्ञायां घञ् प्रत्ययो भवति । **मेधृ संगमे च** इति धातुसूत्रे वर्तमानेन "च" शब्देन **मिदृ मेदृ मेधार्हिंसनयोः** इति पूर्वसूत्रस्थौ "मेधार्हिंसनयोः" अर्थौ समुच्चीयेते । तेन मेधशब्दस्य मेधाजननम्, हिंसनम्, संगमनं चेति त्रयोऽर्था लभ्यन्ते । मया कस्यचिद् व्याकरणान्तरस्य धातुपाठे **गतिर्हिंसनयोः** पाठो दृष्ट आसीद् इति स्मरामि । तथा सति मेधशब्दस्य गत्यर्थोऽपि ज्ञेयः ।

मेधशब्दान्ताः केचन शब्दाः—लौकिके वैदिके च वाङ्मये बहवो मेधान्ताः शब्दाः प्रसिद्धाः । तेषु केचिन्मेधशब्दार्थस्य विचाराय प्रस्तूयन्ते । तद्यथा—गृहमेध, पितृमेध, नरमेध, गोमेध, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, अजमेध, अविमेध, इत्यादीनि ।

एषु गृहमेध-पितृमेधशब्दावीदृशौ स्तः, ययोर्न कश्चिन्मेधशब्दं हिंसार्थकं मनुते । गृह-मेधशब्दो "**गृहैर्गृ[1]हिणीमि[2]दारि[2]मेधन्ते सङ्गच्छन्ते यत्र**" इत्येवं गृहस्थाश्रमं ब्रूते । कोशकारैरप्ययमर्थो गृहमेधस्य संगृह्यते । इत्थमेव 'गृहमेधिन्' शब्दो गृहस्थाश्रमिणं ब्रूते । यथा—**'प्रजायै गृहमेधिनाम्'** इति (रघुवंश १।७)। 'गृहमेधिन्' इत्यत्र 'गृहमेध'

---

१. द्र०—"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते" इति सुभाषितम् ।

२. दारशब्दः पुंल्लिङ्गो नित्यबहुवचनान्त इति वचनं तु प्रायिकम् । एकवचने-ऽप्यस्य प्रयोगो दृश्यते । यथा—'श्रोत्रियस्य दारेण नोपहसते । बृह० उप० ६।४।१२॥ 'आचार्यदारे' । आप० धर्म० १।२।७॥ 'दारे' । तन्त्राख्यायिका, पृष्ठ ६७, श्लोक १५८॥ एवं 'सिकता-अप्सरस्' शब्दयोरपि बहुवचनान्तत्वं प्रायिकम् । द्र०—वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा, भाग २, पृष्ठ १७७ ।

शब्दाद् 'अत इनिठनौ' (अष्टाध्यायी ५।२।११५) इति महत्त्वर्थे 'इनि' प्रत्ययः। अस्त्येका गृहमेधीया इष्टिः। इयं चातुर्मास्यस्य साकमेधाख्ये तृतीये पर्वणि सायमिज्यते। तदुक्तम्—'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सायं चरुः पयसि' (कात्या० श्रौत ५।६।६)। एवमन्येष्वपि श्रौतसूत्रेषु। अत्र पयसि चरुर्हविरुक्तः। पितृमेधशब्दस्तु मृतस्यान्त्येष्टिं ब्रूते। अत्र पितृशब्दो मृतस्योपलक्षकः। तदुक्तं मनुना—

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति॥ (५।६५)

अस्मिन्नेवार्थे 'पितृमेध' शब्दो आश्वलायनगृह्यपरिशिष्टे तृतीयाध्याये श्रूयते —'अथ पितृमेधः संस्थितेः'। कात्यायनश्रौतसूत्रे तु मृतस्य पितुः स्मृतौ संवत्सरादूर्ध्वं पितृमेधाख्यं कर्म विहितम्—'पितृमेधसंवत्सरात् स्मृतौ' (२१।३।१)। इदम् अन्त्येष्टिकर्मणो भिन्नः पितृमेधः। अत्रापि मेधशब्दो यज्ञार्थक एव।

नरमेधः—नायं क्वचित् साक्षादनेन नाम्नोपदिष्टोऽस्माभिरुपलब्धः। अत्र मेधशब्दो यज्ञवाच्येव। तेन नरमेधो नृयज्ञस्य पर्यायः। नृयज्ञः पञ्चमहायज्ञेषूत्तमः (अन्तिमः)। नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् इत्याह मनुः (३।७०)। तेन नरमेधोऽतिथियज्ञः।

गोमेध-अजमेध-अविमेधाः—यद्यप्येतन्नामकाः क्रतवो न क्वचिदस्माभिरुपलब्धाः, तथापि पश्वालम्भवादिन एतान् उदाहरन्ति। अत एतेषां विषये यद् वक्तुं शक्यते तदस्माभिः 'श्रौतयज्ञमीमांसायाम्' (पृष्ठ ८३-८६) विस्पष्टमुक्तम्। अत एतेषां विषये नेह प्रपञ्च्यते।

पुरुषमेधः—अस्य क्रतोर्याद्दृशी प्रक्रिया शतपथे श्रौतसूत्रेषु च दृश्यते, तदनुसारं पुरुषमेधे ये विविधप्रकारकाश्चतुरशीत्युत्तरशतसंख्याकाः पुरुषा आनीयन्ते, ते सर्वे पर्यग्निकरणानन्तरम् उत्सृज्यन्ते न त्वालभ्यन्ते। कर्मणः समाप्तिं ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा इत्येवमाज्येन हुत्वा क्रियते। अतः पुरुषमेधे मेधशब्दः संगमनार्थक एव, न हिंसनार्थक इति विस्पष्टम्। अस्मिन् विषयेऽस्माभिः श्रौतयज्ञमीमांसायां (पृष्ठ ७१-७६) विस्तरेण विवेचितम्।

सर्वमेधः—सर्वमेधे तु केषाञ्चित् पशूनामालम्भनं भवति (द्र०—कात्या० श्रौत २१।२।३, तदीया कर्काचार्यकृता व्याख्या)।

अश्वमेधस्याश्वं कोऽलब्धुं समर्थः—पुरस्ताद् यज्ञीयाश्वस्य संवत्सरात् प्राक् प्रत्यावर्तननिषेधे या शातपथी श्रुतिरुद्धृता सा इत्थं वर्तते—

तमेत उभये देवमनुष्याः संविदाना अप्रत्यावर्तयन्तः संवत्सरं रक्षन्ति। तद् यं न

प्रत्यावर्तयन्त्येष[1] वा एष य एष तपति। क उ ह्येतमर्हति प्रत्यावर्तयितुम्। यद्ध्येनं प्रत्यावर्तयेयुः परागेवेदं सर्वं स्यात्। शत० १३।४।२।१६॥

अत्र भगवता याज्ञवल्क्येनाश्वमेधीयाश्वस्यापरावर्तने यत् कारणमुक्तम्—**एष वा एष य एष तपति** अर्थाद् योऽयं यज्ञीयोऽश्वः स आधिदैविकस्य य एष तपति सूर्यस्तत्प्रतिनिधिभूतः। सूर्यं कश्चित् संवत्सरात् प्राक् प्रत्यावर्तयितुमसमर्थः, तस्मात् तत्प्रतिनिधिभूतो यज्ञीयोऽश्वोऽपि संवत्सरात् प्राङ् न परावर्त्यते।

इत्थमश्वमेधीयोऽश्वो यस्य प्रतिनिधिभूतः, तमेतं तपन्तं सूर्यं काऽपि दैवी शक्तिः सहस्रचतुर्युगेभ्यो योऽस्य स्थितिकालः, ततः प्रागालब्धुं हिंसितुं प्रध्वंसयितुमर्हति, तर्हि तस्य प्रतिनिधिभूतं यज्ञीयाश्वमपि न कश्चिद् यज्ञे तस्यायुषः (जीवनकालात्) प्रागालब्धुं प्राणैर्वियोजितुमर्हति। सत्येवं यज्ञीयाश्वस्यालम्भनं यद् यज्ञे कुर्वन्ति, तत्सर्वथा युक्तिविरुद्धम्।

अपि च अश्वस्यालम्भने कृते याज्ञिका एकामृचं पठन्ति—

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद् वाजी धुरि रासभस्य॥

—ऋ० १।१६२।२१॥

माध्यन्दिनसंहितायामप्यश्वस्यालम्भनानन्तरमेको मन्त्रः पठ्यते। तस्य पूर्वार्धस्तु पूर्वोक्तया ऋचा समानः, उत्तरार्धस्त्वेवम्—

यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥

—यजु० २३।१६॥

उभयोः समाने पूर्वार्धे अश्वस्य मरणं हिंसनं च प्रत्यक्षं प्रतिषिध्यते। अत्र इदमप्यवधेयम्—ऋग्वेद इयमृक् तस्मिन् सूक्ते वर्तते, यस्मिन् अश्वालम्भनस्य कश्चिद् गन्धोऽस्तीति वक्तुं शक्यते। (एतस्मिन् विषये पूर्वं यदुक्तं (पृष्ठ ४३१) तद् द्रष्टव्यम्)।

यज्ञेषु पशूनां हिंसनम्—यस्मिन् काले आधिदैविकस्य विज्ञानस्य परिरक्षायै, यद्वाऽऽधिदैविके यज्ञे याः परोक्षा विविधा घटना घटन्ति, ताः प्रत्यक्षं निदर्शयितुं नाटकधर्मेण यज्ञानां प्रकल्पनाः पूर्वैर्मिर्ऋषिभिः कृताः। तस्मिन् काले यज्ञेषु पशूनां हिंसनं

---

१. अस्यायमभिप्रायः—एषोऽश्वो वा एष य एष तपति·····।

न भवति स्म । तदुक्तं चरकसंहितायां भगवता वैशम्पायनेन[1]—**आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालमनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म** (चिकित्सास्थान १६।४) इति ।

अस्मिन् चरकसंहितावाक्ये **समालमनीयाः आलम्भाय** इति द्वे पदे अप्यत्यन्ते महत्त्वपूर्णे । एतस्मादिदं विज्ञायते यत् पुराकाले **लभ लम्भ** इति द्वौ स्वतन्त्रौ धातू आस्ताम् । **'आलभ'** इति तु प्राप्तिस्पर्शयोरर्थयोः प्रयुज्यते स्म, **'आलम्भ'** इति तु हिंसार्थे । उत्तरकाले 'आलम्भ' इत्यस्य क्रियापदानां लोपे अवशिष्टानां केषाञ्चित् पदानामुत्तरकालिकैर्वैयाकरणैः 'आलभ' इत्यत्र नुमागमं विधाय यथाकथंचित् साधुत्वं प्रदर्शितम् ।[2] महाभारते पुराणेषु चोपरिचरस्य वसो राज्ञो यदाख्यानमुपलभ्यते तेनापि हस्तामलकवत् प्रत्यक्षं सिद्ध्यति यत् पुराकाले यज्ञेषु पशूनां वधो न भवति स्म । तदानींतना ऋषयश्च यज्ञेषु पशूनां हिंसनं नोररीकुर्वन्ति स्म । इदमप्येकमाश्चर्यकरम्, यद् यज्ञेषु हिंसायाः प्रवर्तने सत्यपि अद्ययावत् पशुयज्ञो **"पशुबन्ध"** नाम्ना स्मर्यते, न **"पशुवध"** नाम्ना । अस्येदमेव कारणं यत् पुरा सर्वेषु पशुयागेषु पशूनां यूपे बन्धने सति पर्यग्निकरणानन्तरं त उत्सृज्यन्ते स्म यथा आरण्यका पशवः, पुरुषमेधे च पुरुषा उत्सृज्यन्ते । इदमप्यतिमहत्त्वाधायि तथ्यम्, यत् सर्वविधानां पशुयागानां विधायकवाक्येषु **आलभते आलभेत** वा इत्येव क्रिया श्रूयते न तु **आलम्भते आलम्भेत** वा । (आलम्भक्रियायाः पूर्वं स्वतन्त्रः प्रयोगो भवति स्म, तस्य लोपस्तु बहूत्तरकालं बभूव) ।

उपरि ये द्वित्रा विषया नामग्राहरूपेण अर्थादतिसंक्षेपेण उक्तास्तेऽस्माभिः श्रौतयज्ञमीमांसायां विस्तरेण विवृताः । अत उत्तरं अश्वमेधकृतो राष्ट्रियं स्वरूपं विवरिष्यते । तन्मध्य एव च मृताश्वमहिष्योः संगमस्य, ऋत्विजां राज्ञः पत्नीनाम् अश्लीलसंवादस्य च विषये वक्ष्यते ।

अश्वमेधस्य राष्ट्रियं स्वरूपम्—अश्वमेधक्रतोराधिदैविकं स्वरूपं पुरस्तादुपवर्णितम् । सम्प्रति तस्य राष्ट्रियं स्वरूपं चिन्त्यते ।

अश्वमेधेन राष्ट्रस्य सम्बन्धः—अश्वमेधेन असार्वभौमोऽमाण्डलिको राजा "सार्व-

---

१. "चरक इति वैशम्पायनस्याख्या" काशिका ४।३।१०४। अत्र "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" इति मदीयो लेखो द्रष्टव्यः । वैदिकसिद्धान्तमीमांसा, भाग १, पृष्ठ १७६-१६१ ।

२. उभयोः 'लभ लम्भ' इति पृथग् धात्वोः शब्दानाम् एकस्माद् लभधात्वोः सम्बन्धे कृते भ्रमोऽयमुत्पन्नो यद् आलभ इत्यस्य हिंसाऽप्यर्थो वर्तते । अयं भ्रम एव कालान्तरे यज्ञे पशूनां वधे मुख्यं कारणं समपद्यत ।

भौमः"=सम्राट् सम्पद्यते अर्थाद् महद् राष्ट्रं लभते। "कार्ये कारणशब्दः" इति न्यायेन यथा आयुषो निमित्तं घृतम् "आयुर्वै घृतम्" इत्युच्यते, तथैव राष्ट्रप्राप्तौ निमित्तभूतोऽश्वमेधो ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्र राष्ट्रं वा अश्वमेधः इत्युच्यते। अयं राष्ट्राश्वमेधयोः सम्बन्धः "असार्वभौमो राजा अश्वमेधेन यजेत" इति वचनाद् यद्वा "सर्वकामो वा राजा अश्वमेधेन यजेत" इति वचनादवगम्यते। यदा अश्वमेधेन सामान्यो राजा सार्वभौमत्वं सम्राट्त्वं वा लभते, तदा तस्य सर्व एव कामाः पूर्तिं लभन्ते।

शतपथादिब्राह्मणग्रन्थानां मुख्यं प्रयोजनं यज्ञीयप्रक्रियाया व्याख्यानं वर्तते। तथाप्यश्वमेधप्रकरणे शतपथादिब्राह्मणप्रवक्तृभिरश्वमेधप्रक्रियाव्याख्यानेन सह तस्य राष्ट्रियं पक्षमपि पदे-पदे प्रकटीकृतम्। राष्ट्रस्य रक्षा तदैव भवति यदा सर्वेऽपि तन्निवासिनो मनुष्या तद्रक्षणव्यापारे संलग्नाः स्युः। अयमर्थो यज्ञीयाश्वस्य रक्षणे राजपुत्राणां, सामान्यक्षत्रियपुत्राणां, सूतपुत्राणां, दूतादिकर्मणि नियुक्तानां पुत्राणां च नियोजनाल्लभ्यते। यद्वा चत्वारोऽपि वर्णा यदा राष्ट्ररक्षणे प्रवृत्ता भवन्ति, तदैव राष्ट्रं रक्षितुं शक्यते। अत एव यदा राष्ट्रस्योपरि कस्यचिन्महाबलवतोऽभियानं प्रवर्त्तेत, तदा ब्राह्मणैरपि शस्त्राण्यादेयानीति मनुराह। द्विसहस्रवर्षात् प्राग् यदा यूनानवासिनां बाहीकप्रदेशे (पञ्चनदप्रान्ते) बलवदाक्रमणमभूत्, तदा[1] मालवमण्डलस्थानां कठशाखीयानां ब्राह्मणानां प्रत्याक्रमणेन यवनाः पराजयं प्राप्य स्वदेशं प्रतीयुरितीतिहासे प्रसिद्धम्।

अतोऽश्वमेधस्य मुख्यं प्रयोजनं सृष्टियज्ञस्यैकदेशभूतस्याश्वस्य सूर्यस्य वार्षिकी उत्तरायणदक्षिणायनरूपा च या गतिः, तस्य रज्जुभिरमीषुभी रश्मिभिर्ग्रहोपग्रहाणां मर्यादायां रक्षणरूपं च यद्विज्ञानं तस्य व्याख्यानं वर्तते। द्वितीयं च दृष्टप्रयोजनं सार्वभौमत्वप्राप्त्या सह राष्ट्रस्योपलब्धिः, तद्रक्षणं चास्ति।

अश्वमेधक्रतौ यत् स्वराज्यस्य चतसृभ्यो दिग्भ्यो जलाहरणं तत्स्वराज्यस्य चतसृषु दिक्षु या सीमा तस्या निदर्शनं प्रयोजनम्। यच्च स्वराज्ये वर्तमानानां ग्राम्याणां, आरण्यानां, जलचराणां, वायव्यानां पशुपक्षीणां समाहरणं, तत् स्वराष्ट्रस्य जङ्गमसम्पत्तेर्निदर्शनम्, यद्वा स्वप्रजानां नानाविधपशुपक्षीणां दर्शनेन ज्ञानपरिवर्धनं मनोरञ्जनं प्रयोजनं ज्ञेयम्। यथा सम्प्रति बृहन्नगरेषु "चिड़ियाघर" इति नाम्ना प्रसिद्धस्थाने विविधपशुपक्षीणां समवायेनानेकेषां तत्तत्प्राणिविषयकं ज्ञानं वर्धते बालानां सामान्यजनानां च मनोरञ्जनं भवति।

पूर्वमश्वमेधप्रक्रियानिदर्शनेऽश्वस्यालम्भनानन्तरम् अश्वमहिष्योः सङ्गमः, ऋत्विग्राजपत्नीनां चाश्लीलभाषणं निर्दिशितम्। एतत् सर्वं कृत्यं श्रौतसूत्रेषु वर्तते।

---

१. इदं मालवमण्डलं पञ्चनदस्थं ज्ञेयम्।

कात्यायनश्रौतसूत्रे तु सर्वाधिकाः शुक्लयजुषः (२३।१९-३१) त्रयोदशमन्त्रा अत्र विनियोजिताः।

उक्तमन्त्राणां राष्ट्रपरं व्याख्यानम्—शतपथब्राह्मणे शुक्लयजुषः २३।१९-३१ संख्याकानां त्रयोदशमन्त्राणां द्वयोः स्थानयोर्व्याख्यानमुपलभ्यते (१३।२।८।४ इत्यत आरभ्य १३।२।३।९ पर्यन्तम्, तथा १३।५।२।१-८ पर्यन्तम्)। अनयोः प्रथमस्थाने 'गणानां त्वा' इत्यादीनां त्रयोदशमन्त्राणां राष्ट्रपरा व्याख्योपलभ्यते। अपरत्र श्रौतसूत्रे यथा विनियोगो दृश्यते, तत्पराऽश्लीला परिवर्तिं।

अत्र या द्वितीया श्रौतसूत्रानुसारिणी व्याख्या, तद्विषये बहवः प्रश्ना उद्भवन्ति। तद्यथा—

१—नहि समग्रे शतपथेऽन्यत्र क्वचिद् एकस्मिन्नेव प्रकरणे कस्यचित् कयोश्चित् केषाञ्चिद् वा मन्त्राणां द्विविधं व्याख्यानमुपलभ्यते।

२—द्वितीयं व्याख्यानं तु यत्रोपलभ्यते तस्य ब्राह्मणस्यारम्भे **एते उक्त्वा यदध्रिगोः परिशिष्टं भवति** इति वाक्यमुपलभ्यते। कृत्स्नेऽपि शतपथे कस्मिन्नपि कर्मणि नैतादृश परिशिष्टं दृश्यते। अपि च 'परिशिष्ट' शब्दः प्रायेण ग्रन्थेऽनुक्तानां विषयाणां ग्रन्थसमाप्त्यनन्तरं यत्र प्रतिपादनं भवति तस्मिन्नर्थे प्रयुज्यते, यद्वा तादृशा विषया ग्रन्थान्तरेषु व्याख्यायन्ते। यथा कात्यायनश्रौतसूत्रेऽनुक्ता विषया अष्टादशसु कात्यायनपरिशिष्टेषु संगृह्यन्ते। ग्रन्थमध्ये तु न क्वचिदपि समायोजनं भवति। इदमप्यत्रावधेयम्—इदमध्रिगोः परिशिष्टं नाश्वमेधस्य कर्मणः समाप्त्यनन्तरमपि त्वश्वमेधकर्मणो मध्य एव दृश्यते। यदि **गणानां त्वा** इत्यादीनां त्रयोदशमन्त्राणां द्वितीयं व्याख्यानं राष्ट्रपरस्य प्रथमव्याख्यानस्यानन्तरमेवाभविष्यत्तदा शतपथकारस्योक्तानां त्रयोदशमन्त्राणां व्याख्यानन्तरमप्यभिप्रेतम् इति वक्तुं शक्यमभविष्यत्। परन्तु द्वितीयं व्याख्यानं त्वश्वमेधकर्मणः समाप्तेः किञ्चिदेव पूर्वमुपलभ्यते। त्रयोदशमन्त्राणां व्याख्यानस्यानन्तरं ब्रह्मोद्यं वपाहोमो राज्ञां गाथा इत्येतान्येव कर्माण्युक्तानि।

३—**"अध्रिगोः परिशिष्टं भवति"** इति प्रकरणे ऋत्विजां राजपत्नीनां चाश्लीलभाषणानन्तरमश्लीलभाषणेन दूषितं मुखं सुरभिमत् कर्तुं सुरभिमत्या ऋचो जप उच्यते—**अथेतरे सुरभीमतीमृचमन्ततोऽन्वाहुः दधिक्राव्णो अकारिषमिति। अप वा एतेभ्य आयुर्देवताः क्रामन्ति। ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति वाचमेवैतत् पुनते देवयज्यायै देवतानामपक्रमाय।** शत० १३।५।२।९-१०। [तै० ब्रा० (३।९।७।४) अपि शब्दभेदेनायमेवार्थ उक्तः।]

इदं याज्ञिकानां कर्म तथाभूतमेव, यथा लोके कश्चित् पूर्वं मलं भक्षयित्वा

पूतिगन्धि मुखं सुरभिगन्धि कर्तुं सुगन्धि पायसमश्नीयात्। विपश्चितस्तु का वार्ता, कश्चिन्मूर्खतमोऽप्येवविधं कर्म नाभिनन्दितुमर्हति।

एतैः कारणैर्विज्ञायते यदश्विगोः परिशिष्टं न शतपथस्य मूलभागः, अपितु कालान्तरे श्रौतसूत्रोक्तकर्मणां श्रुतिमूलत्वनिदर्शनाय प्रक्षिप्तम्।

४—तैत्तिरीयब्राह्मणे यच्छतपथस्य प्रत्यक्षीभूतं वर्तते, तस्मिन्नपि त्रयोदशान्तर्गताः केचन मन्त्राः (यावन्तः तैत्तिरीयशाखायां पठ्यन्ते) तथैव राष्ट्रपरा व्याख्यायन्ते यथा शतपथस्य प्रथमस्थाने व्याख्यायन्ते। इदमप्यत्रावधेयम्—तैत्तिरीयब्राह्मणे आपस्तम्बसूत्रोक्ता अश्वमहिष्योः सङ्गमनरूपा ऋत्विजां राजपत्नीनां चाश्लीलभाषणरूपा चान्या व्याख्योपलभ्यते। केवलं राष्ट्रपक्षीयमेवैतेषां मन्त्राणां व्याख्यानं दृष्टिपथं याति (तै० ब्रा० ३।९।६।४; ३।५।७।१-४)। तैत्तिरीयब्राह्मणस्य व्याख्याता सायणाचार्यस्तु सूत्रकारमतमनुरुद्ध्य ब्राह्मणोक्तं राष्ट्रपक्षीयं व्याख्यानमपि बलाद् अन्यथा व्याचख्यौ (भट्टभास्करीया तै० ब्रा० व्याख्या सम्प्रति नास्मत्सकाशे विद्यते)।

तैत्तिरीये ब्राह्मणे मन्त्राणां राष्ट्रपक्षीयस्यैव व्याख्यानस्योपलब्ध्याऽपि वक्तुं शक्यते यत् शतपथे अश्विगोः परिशिष्टे यन्मन्त्राणामश्लीलं व्याख्यानं तस्य प्रक्षिप्तत्वं द्योतयति।

(५) यजुषः "उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि" (२३।२१) इति मन्त्रेण महिषीसङ्गमे यजमानोऽश्वम् अभिमन्त्रयते—"हे अश्व! अस्या महिष्या अवगुदं यो योनिः तस्यां स्वलिङ्गं संचारय।" मानुषस्त्रीणां योनिप्रदेशो गुदप्रदेशादूर्ध्वं भवति न तु नीचैः। पशुस्त्रीणां गुदेन्द्रियम् ऊर्ध्वं भवति, योनिप्रदेशस्तु नीचैः। अतोऽश्वमहिष्योः सङ्गमे उक्तमन्त्रेण यजमानस्याश्वस्याभिमन्त्रणं दृष्टिविरोधादप्रमाणम्।

६—"यकासकौ" (यजु० २३।२२) इति मन्त्रे 'गमे' 'पसे' इत्येते पदे स्तः। अश्लीलभाषणपक्षे मन्त्रव्याख्यातारोऽनयोः पदयोराद्यन्तविपर्ययनियमेन स्त्रीयोनिवाचिनि "भगे" पुंप्रजननवाचिनि "सपे" रूपं परिवर्तयन्ति। शतपथब्राह्मणे (१३।२।९।६) तु राष्ट्रपरे व्याख्याने यथामन्त्रमेव पदे व्याख्याते।

इत्थमुक्तमन्त्राणाम् अश्लीलव्याख्यानं दृष्टविरोधाद् यथामन्त्रं पदयोः शतपथे व्याख्यानदर्शनाच्च दूषितं ज्ञेयम्।

अश्वमेधस्य राष्ट्रमरकव्याख्यानस्य पुनरुद्धारकः—परःसहस्रवर्षेभ्यः कल्पसूत्रोक्तं विनियोगमनुरुद्ध्य मन्त्रव्याख्यातारो याज्ञिका शुक्लयजुषः २३।१९-३१ संख्याकानां मन्त्राणाम् अश्वमहिषीसङ्गमनरूपम् ऋत्विजां राजपत्नीनां चाश्लीलभाषणपरं मन्त्रार्थं व्याचक्षते स्म।

प्रथमं तावदिदं चिन्तनीयं यन्मन्त्रार्थानुसारं कर्मसु विनियोगो भवति, उत वा विनियोगानुसारं मन्त्राणां व्याख्यानम्। अस्मिन् विषये शास्त्रकाराणामेष निश्चयो यन्मन्त्रार्थानुसारमेव कर्मसु मन्त्रा विनियोक्तव्याः। तथा चोक्तम्—

१—**एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग् यजुर्वाभिवदति** (गो०ब्रा० २।२।६)। 'यजुर्वा' इति पदरहितमिदं वाक्यमैतरेयब्राह्मणे बहुत्र (१।४, १३, १६, १७) उपलभ्यते। एतद्वचनानुसारं मन्त्रार्थानुकूलेनैव विनियोगेन भाव्यमित्येषोऽभिप्रायः स्पष्ट एव।

२—भगवान् जैमिनिरपि **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या** (मी० २।२।३२) सूत्रेण अभिधानस्य चोदकेष्वेव मन्त्रसंज्ञां विदधन् मन्त्रार्थानुकूलं विनियोगो भवतीत्यर्थं ब्रवीति।

सत्येवं ये विनियोगा मन्त्रार्थं नानुसरन्ति तेऽप्रामाणिका एव।[1] तस्मान्मन्त्रार्थानुसारेण विनियोगेन भाव्यम्। यत्तु विनियोगानुसारं मन्त्रार्थवचनं तद् **अश्वस्य पुरस्ताद् रथयोजनवद् हास्यास्पदम्**।

अतएव दयानन्दसरस्वतीस्वामिना "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" ग्रन्थे "भाष्यकरणशङ्कासमाधानविषये" कात्यायनश्रौतसूत्रानुसारं **गणानां त्वा** इत्यादीनां (यजुः २३। १९-३१) त्रयोदशमन्त्राणां महीधरकृतम् अश्वमहिषीसंवादादिरूपमश्लीलं व्याख्यानं निराकृत्य शतपथब्राह्मणानुसारमेषां मन्त्राणां राष्ट्रपरं व्याख्यानं व्यधायि। **राष्ट्रं वा अश्वमेधः** (शत० १३।१।६।३) इत्यादिभिर्वचनैः "**राज्ञो न्यायधर्मपूर्वकं प्रजापालनमश्वमेधः**" इत्युक्तम् (द्र०—सत्यार्थप्रकाश समु० ११)।

एतेनेदं शक्यते वक्तुं यद् दयानन्दसरस्वतीस्वामिना शतपथब्राह्मणानुसारमश्वमेधस्य राष्ट्रपरिपालनरूपो योऽभिप्राय आसीत् तस्य पुनरुद्धारः कृतः। विनियोगानुसारं या मन्त्रव्याख्यानपरम्परा आसीत् तं निराकृत्य मन्त्रार्थानुसारस्य विनियोगस्य युक्तता प्रत्यपादि। तदुक्तं दयानन्दसरस्वतीस्वामिना—

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्।.....तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति। (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषयारम्भे)।

---

१. एतद्विषये श्रौतयज्ञमीमांसायां "काल्पनिका विनियोगाः" इति प्रकरणं (पृष्ठ ३८-४०) द्रष्टव्यम्।

वेदानां विषये यानपि दोषान् पाश्चात्याः पौरस्त्याश्च विद्वांस उद्भावयन्ति तस्य प्रधानकारणं कल्पसूत्रोक्तविनियोगानुसारं वेदव्याख्यानमेव विद्यते। अत एव दयानन्दसरस्वतीस्वामिना "युक्तिप्रमाणसिद्धः, वेदाविप्रमाणानुकूलः मन्त्रार्थानुसृतः" इति त्रयो गुणा विनियोगस्य प्रतिपादिताः।[1] एतैर्गुणैरन्वितो विनियोग एव प्रमाणार्हः। एतद्गुणरहिता विनियोगा न केवलं प्रमाणानर्हाः, अपितु विनियोगशब्दः प्रयोगानर्हः।

इत्थम् अश्वमेधस्य क्रतोराधिदैविकस्वरूपं यथाप्रमाणं यथामति यथाशक्ति विवृतम्। अत्र केवलं चतुरक्षस्य शुनो मारणम् अधस्ताच्चाश्वस्य जले प्रवाहणरूपं यत्कर्म क्रियते, तस्याधिदैविकस्वरूपमिह नोल्लेखितम्। यतस्तस्य किमाधिदैविकस्वरूपमिति मयाऽद्य यावन्न विज्ञातम्। प्रमाणरहिता तु या कल्पना क्रियते सा नासत्यभाषणादतिरिच्यत इति मम मतम्।

शतपथादिब्राह्मणग्रन्थेषु राष्ट्रं वाऽश्वमेधः इतिवचनाद् अश्वमेधीयमन्त्राणां राष्ट्रपरस्य व्याख्यानस्य च दर्शनाद् अश्वमेधस्य राष्ट्रपरं स्वरूपमपि विद्यते। दयानन्दसरस्वतीस्वामिनाऽयमेव पक्षोऽश्वमेधस्योररीकृतः।

याज्ञिकेषु य आत्मयाजिनस्तेषाम् अश्वमेधस्य अध्यात्मस्वरूपमपि विद्यते, तन्नेह विवृत्यते। अश्वमेधस्य एकदेशमाश्रित्य केचन लौकिकाः पक्षा अपि विवरितुं शक्याः। इत्थमयम् अश्वमेधनामा महाक्रतुर्विविधैः रूपैः समन्वितो वर्तते। यज्ञीयपक्षस्तु तस्यैकदेशभूत एव। इत्यलमतिविस्तरेण।

१. एषां सप्रमाणं सोदाहरणं च व्याख्या श्रौतयज्ञमीमांसायां ३३-३४ पृष्ठयोर्द्रष्टव्या।

सर्वमेध

कात्यायनश्रौतसूत्र में पुरुषमेध[1] के अनन्तर सर्वमेध का विधान मिलता है। पुरुषमेध के पश्चात् यजमान के लिये विधान है कि वह तपश्चर्या के लिये अरण्य में चला जाये, अथवा संन्यास ग्रहण करले। इस प्रकार यजमान इस यज्ञ के फल **अतिष्ठा** (अन्यों से ऊपर उठना वा अन्यों का अतिक्रमण करना) फल को प्राप्त होता है। यदि शारीरिक स्थिति अरण्यगमन में अथवा संन्यास लेने में बाधक हो तो स्वग्राम में निवास करता हुआ तपश्चर्या द्वारा आत्मा के उत्कर्ष के लिये प्रयत्न करे। भगवान् मनु ने भी इस पक्ष का उल्लेख इस रूप में किया है—

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रेश्वर्ये गृहं वसेत् ॥६।९५॥

अर्थात् समस्त लौकिक कर्मों का त्याग करके कर्म दोषों को दूर करता हुआ पुत्र के पास वास करे।

इसे संन्यास-धर्मशास्त्रों में **वेद संन्यास** कहा है, अर्थात् वेद के अभ्यास के लिये संन्यास। इससे जहां अपनी आत्मा का उत्कर्ष होगा वहां पुत्र पौत्र आदि सम्बन्धियों एवं ग्रामवासियों का भी निश्चय ही उत्कर्ष होगा।

भाष्यकार उव्वट के अनुसार ३१वें अध्याय का अध्यात्मपरक भाष्य किया था। इसी पक्ष के अन्तर्गत विराट् पुरुष ईश्वर के द्वारा रची गई सृष्टिरचनापरक अर्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका अन्तर्गत **'सृष्टिविद्याविषय'** में किया है। आधिदैविक पक्ष में प्रत्येक सौरमण्डल के अन्तर्गत ग्रहोपग्रहों की रचना अण्डान्तर्गत पक्षीशावकों के अङ्गोपाङ्गों की रचना के समान महदण्डों में होती है। इस अण्ड के बृहत् होने से महदण्ड, पुरुष, विराट् पुरुष, हिरण्यगर्भ आदि अनेक नाम वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं। अण्डान्तर्गत उत्पद्यमान प्रजाओं का पति होने से यह प्रजापति भी कहाता है। अण्डान्तर्गत ग्रहोपग्रहों की पूर्ण निष्पत्ति हो जाने पर पुरुष का कार्य पूर्ण हो जाता है अर्थात् उत्पादनरूप कर्म से संन्यस्त (निवृत्त) हो जाता है। इस महत् कर्म से यह आधिदैविक पुरुष अतिष्ठा को प्राप्त होता है, स्वनिर्मित प्रजाओं का पति कहाता है। इसी स्थिति का वर्णन ३१वें अध्याय के १९ वें मन्त्र में किया है—

---

१. पुरुषमेध का वर्णन हमने **'श्रौतयज्ञमीमांसा'** में संस्कृत और हिन्दी दोनों में किया है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर जायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

अर्थात् प्रजापति गर्भ (=महद् अण्ड) के भीतर स्वमहिमा से विचरता है, स्वयं उत्पन्न होता हुआ भी बहुत प्रकार से उत्पन्न होता है (=करता है)। उसके कारण को धीर मनस्वी लोग ध्यान द्वारा जानते हैं। उस प्रजापति में ही स्वमण्डल सम्बन्धी भुवन लोकलोकान्तर स्थिर रहते हैं।

इस प्रकार विराट् पुरुष ने प्रजाओं को उत्पन्न कर प्रजापतिरूप **'अतिष्ठा'** स्थिति को प्राप्त कर लिया। मन्त्र में **विश्वा भुवनानि तस्थुः** से स्पष्ट है कि वह विश्वकर्मा बन चुका है।

इसके पश्चात् **सर्वमेध** ऋतु का विधान मिलता है। सर्वमेध यज्ञ का अधिकारी सब प्रकार की कामनावाला कहा है—**सर्वमेधः सर्वकामस्य** (का० श्रौ० २१।३।१)। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में **राजा यजते यः कामयेत सर्वमिद मवेयम्**। जो राजा यह कामना करे कि मैं सब कुछ हो जाऊं अर्थात् मेरी सब कामनाएं पूरी हो जायें। कात्यायन ने सामान्यरूप से सर्वकामनावाले को अधिकारी कहा है, तो आपस्तम्ब ने राजा को अधिकारी बताया है।

सर्वमेध यज्ञ में यजुर्वेद के ३२ और ३३वें अध्यायों का विनियोग माना गया है, परन्तु इन अध्यायों के मन्त्रों का साक्षात् विनियोग श्रौतसूत्रों में उपलब्ध नहीं होता है। कर्काचार्य के मतानुसार शतपथ ६।२।१।१५ में पुरुष अश्व गौ अवि और अज के प्रकरण में **एतावन्तो वै सर्वे पशवः** का निर्देश होने से इन्हीं 'सर्व' शब्द से निर्दिष्ट पांच पशुओं का आलम्भन होने से इसे सर्वमेध कहा है। सर्वमेध से पूर्व अश्वमेध में अश्व का और पुरुषमेध में पुरुष का ही निर्देश है। अतः इस याग में पांचों पशुओं का निर्देश होने से इसका सर्वमेध नाम है। अन्य आचार्यों के मत में सप्तम दिन समी स्थावरजङ्गम पदार्थों में से एक-एक प्रतिनिधि लेकर याग का अनुष्ठान कहा गया है। इसलिये इसका सर्वमेध नाम है। इस यज्ञ में दश सुत्याएं (सोमयाग) होती हैं।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि सर्वमेध का विधान पुरुषमेध के अनन्तर ही किया गया है। पुरुषमेध के पश्चात् यजमान के लिये अरण्यगमन अर्थात् वानप्रस्थ ग्रहण करने अथवा संन्यस्त होने का विधान है, यह हम आरम्भ में ही लिख चुके हैं। वानप्रस्थ अथवा संन्यस्त यजमान इस महायाग का विधान कैसे कर सकता है, इस पर किसी ने विचार नहीं किया।

वस्तुतः संहिता में ३१ वें अध्याय में आधिदैविक सृष्टियज्ञ का विधान होने से अगले ३२ वें अध्याय से सम्बद्ध सर्वमेध का भी सृष्टियज्ञ से ही सम्बन्ध होना चाहिये। जब प्राचीन आचार्यों ने सृष्टियज्ञ के विविध अंशों के निदर्शन कराने के लिये द्रव्यमय यज्ञों की प्रकल्पना की तब पुरुषमेध के अनन्तर सर्वमेध का विधान करना आवश्यक हो गया। परन्तु इस रूपान्तर में वनस्थ वा संन्यस्त यजमान सर्वमेध ऋतु किस प्रकार सम्पन्न कर सकेगा, इस पर ध्यान ही नहीं दिया गया।

वस्तुतः पुरुषमेध और सर्वमेध दोनों आधिदैविक सृष्टियज्ञ हैं। हम पूर्व लिख चुके हैं कि सर्ग के आरम्भ में प्रति सौरमण्डल की उत्पत्ति के लिये महद् अण्ड उत्पन्न होता है, उसके भीतर ही सब ग्रहोपग्रह उत्पन्न होते हैं। जब उनकी निष्पत्ति हो जाती है, तब वह अण्ड आदित्यवर्णवाला हो जाता है। इसी अवस्था का नाम हिरण्यगर्भ है। यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय के १८ वें मन्त्र में इस महान् पुरुष को आदित्यवर्णवाला कहा है।[1] यतः इसमें सब ग्रह-उपग्रह निष्पन्न हो चुके, अतः १९ वें मन्त्र में उसे ही प्रजापति कहा है और उसके अन्दर सब भुवनों की स्थिति बतायी है। इस प्रकार पुरुष अतिष्ठा रूप प्रजापतित्व को प्राप्त हो चुका। अब ३२ वें अध्याय में उस विश्वकर्मारूप पुरुष के सर्वमेध का वर्णन किया है।

३२ वें अध्याय के आरम्भ में **तदेवाग्निस्तदादित्यः** से उस प्रजापति का ही **कारणे कार्यशब्दः** न्याय के अनुसार अग्नि वायु आदि नामों से उल्लेख किया है। जैसे लोक में **आयुर्वै घृतम्** में आयुवर्धक घृत को ही आयु कहा जाता है।

आधिदैविक सर्वमेध को समझने के लिये निरुक्तविषयक लेखों में विश्वकर्मा भौवन के जिस सर्वमेध यज्ञ का उल्लेख किया है (पृष्ठ ३४६-३४९) उस में निरुक्तकार के **विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मानप्यन्ततो जुहवाञ्चकार** (निरुक्त १०।२६) कथन के अन्तिम वाक्य **'उसने अन्त में अपने को भी होम दिया'** पर ध्यान देना आवश्यक है। इसके अनुसार उस विश्वकर्मा प्रजापति महद् अण्ड का भेदन हुआ। जैसे पक्षियों के शावकों के अण्डे अन्त में टूटते हैं और अण्डों के भीतर से पक्षियों के शावक बाहर निकलते हैं, वैसे ही उस महद् अण्ड का भेदन हुआ और उसके भीतर निष्पन्न ग्रहोपग्रह बाहर निकले। यह महद् अण्ड का भेद ही **'स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार'** शब्दों से कहा गया है। इस महद् अण्ड के द्विधा भाव का वर्णन वैदिक वाङ्मय में बहुत्र मिलता है। यथा—**तदण्डमकरोद् द्विधा**[2] (मनु० १।१२)।

---

१. तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। मनु० १।९॥

२. द्र०—अन्ते वर्षसहस्रस्य वायुना तद् द्विधा कृतम्। वायुपुराण २४।७४॥

अध्यात्मपक्ष में पुरुष जब वानप्रस्थ में स्वाध्याय और तपश्चर्या से अथवा पूर्व जन्म के विशिष्ट संस्कारों के कारण लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा से मुक्त हो कर सामान्य पुरुषों से श्रेष्ठ बनता है, यही उसका पुरुषमेध है। और संन्यासी बन कर अपने को संसार के उपकार में लगाना ही सर्वमेध है—सर्वेभ्यः प्राणिमात्रेभ्यो मेधः।

वस्तुतः वैदिक आश्रममर्यादा पुरुष की स्व भावना को उत्तरोत्तर विस्तृत करने के लिए ही है। ब्रह्मचर्यकाल में ब्रह्मचारी अपने तक ही सीमित रहता है, क्योंकि उसे अपने लिए ज्ञान का अर्जन करना है। गृहस्थ में उसका 'स्व' पना स्त्री, पुत्र, माता, पिता आदि तक विस्तृत हो जाता है। वानप्रस्थ में उसका 'स्व' और अधिक विस्तृत हो जाता है। संन्यास में उसका 'स्व' प्राणिमात्र तक व्याप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में अब 'स्व' पना पूर्णतया समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में उसे अन्यों के उत्कर्ष की भावना प्रधान हो जाती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी तो इसी भावना से प्रेरित होकर अन्त में अपने को होम दिया था। यह स्वामी दयानन्द का अध्यात्म सर्वमेध था।

नमः सर्वमेधकर्तृभ्योऽतिपुरुषेभ्यः।

व्याकरणविषयकोऽवशिष्टलेखः—

असाधुत्वेनाभिमतानां संस्कृत-वाङ्मये प्रयुक्तानां शब्दानां साधुत्वासाधुत्वविवेचनम्

[अयं लेखो गतवर्षे (सन् १९६६) अक्टूबरमासादौ 'अखिलभारतीयसंस्कृत-सम्मेलनस्य' यदधिवेशनं 'देहली' नगर्यामभूत् तत्र व्याकरणपरिषदि मयाऽपाठि ।]

सम्प्रति संस्कृतसमाजे विशेषतो वैयाकरणनिकाये तेषामेव प्रयोगाणां साधुत्व-मुररी क्रियते, येषां साधुत्वं पाणिनीयेन शास्त्रेण व्यवस्थाप्यते । येषां साधुत्वं पाणि-नीयेन तन्त्रेण नोच्यते ते द्विविधाः सन्ति—एके छान्दसाः, अपरे चार्षाः । तत्र छान्दसानां साधुत्वं वैयाकरणाः सर्वेषामास्तिकानां छन्दसि श्रद्धातिशयाद् अगतिक-गतिकया स्वीकुर्वते । एवमार्षाणामपि प्रयोगाणां साधुत्वम् औपचारिकदृशैव ब्रुवते । अत एव तान् उभयविधानपि प्रयोगान् ते प्रयोगानर्हान् मन्यन्ते । ये नाम केचन साह-कारा वैयाकरणा बभूवुः, सन्ति च, ते अपाणिनीयानां छान्दसानाम् आर्षाणां च प्रयोगाणाम् अपशब्दत्वम् अर्थात् प्रयोगानर्हत्वम् उच्चैर्घोषयाञ्चक्रुः घोषयन्ति च । तत्र केषाञ्चित् प्राचीनानां वैयाकरणानां तथाभूतानि वचनान्यधस्ताद् उद्धियन्ते—

१—**कथं भाषायां वैन्यो राजेति ? छान्दस एवायं प्रमादात् कविभिः प्रयुक्त इति** काशिकायां (४।१।१५१) जयादित्यः ।

२—**इतिहासपुराणेष्वपशब्दा अपि सम्भवन्ति** इति पदमञ्जर्य्याम् (भाग १, पृष्ठ ७) हरदत्तः ।

३—**छन्दोवद् ऋषयः कुर्वन्तीति**[1] । **अस्यायमाशयः—असाधव एवैते त्रिशङ्ववाद्य-याज्ययाजनादिवत् तपोमहाशालिनाम् असाधुप्रयोगोऽपि नातीव बाधते** इति शब्द-कौस्तुभे (१।४।७) भट्टोजिदीक्षितः ।

इयं त्वार्षप्रयोगाणां परोक्षरूपा अपशब्दत्वस्य घोषणा । इदानीं प्रत्यक्षामपशब्द-घोषणां निदर्शयितुं यास्कीयं '**पारोवर्यवित्**'[2] प्रयोगमवलम्ब्य वैयाकरणमतान्युद्धियन्ते—

---

१. इदं पदमञ्जरीस्थं हरदत्तवचनम् । तमुद्धृत्य व्याख्यातवान् दीक्षितः ।

२. पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति । निरुक्त १।१६॥

१—पारोवर्यविद् इत्यस्यासाधुत्वमाहुः प्रत्ययसन्नियोगेनैव निपातनस्य युक्तत्वं मन्यमाना इति कैय्यटः (महा० प्रदीप ५।२।१०)।

२—कथं पारोवर्यविदिति ? असाधुरेवाय खप्रत्ययसन्नियोगेन परोवरेति निपातनात् इत्याह हरदत्तः (पदमञ्जरी ५।२।१०)।

३—कथं परोवर्यविदिति ? असाधुरेव। खप्रत्ययसन्नियोगेनैव परोवरेति निपातनात् इत्याह भट्टोजिदीक्षितः (सि० कौ० तद्धितप्रकरण ५।२।१०)।

वेदाङ्गेषु निरुक्ताख्यस्य प्रधानस्याङ्गस्य प्रवक्ता तत्र भगवान् यास्कोऽपशब्दं प्रयोक्ष्यतीति को नाम लक्षणैकचक्षुर्भ्यो वैयाकरणेभ्योऽन्यो विश्वसेत्।[1]

सन्त्येभ्यो द्विविधेभ्योऽपाणिनीयप्रयोगेभ्योऽतिरिक्ता अपि केचन तादृशाः प्रयोगाः, येषां पाणिनीये शास्त्रे प्रयोगे सत्यपि तेषां साधुत्वबोधकं न किञ्चिल्लक्षणं तत्रोपलभ्यते। एतादृशां लक्षणविरहितानां पाणिनीयप्रयोगाणामपि द्वैविध्यमुपलभ्यते। तत्र सन्ति केचन (शोभापुराणसर्वनामादयः) प्रयोगा येषां लक्षणविरहितत्वेऽपि पाणिनीयप्रयोगसामर्थ्यात् साधुत्वमर्थात् प्रयोगार्हत्वमुररी क्रियते। परन्तु तादृशा एव पाणिनिना प्रयुक्ताः सन्ति केचन अपरे (आदेच् ऋहलोः तिर्यचि अन्वचि) इत्येवमादयः शब्दा येषां साधुत्वं प्रयोगार्हत्वं वैयाकरणा न स्वीकुर्वन्ति। इयं वैयाकरणानां पाणिनिप्रयोगविषयाऽर्धजरतीया व्यवस्था न प्रमाणपदवीमारोढुं शक्नोति।

नैतावदेव, अपि तु ('यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्') इति वदन्तोऽर्वाचीना वैयाकरणा वार्तिककारवचनात् पाणिनीयानां, भाष्यकारवचनाच्च वार्तिककारीयाणां शब्दानामप्यसाधुत्वं प्रतिपादयन्ति।

अपरे पुनः वैयाकरणीयं साधुत्वव्यवस्थापकं मानमनाश्रित्य सूत्रवार्तिकभाष्योक्तानां बहूनां प्रयोगाणां मुक्तकण्ठमपशब्दत्वं ब्रुवन्ति। तथाहि भट्टकुमारिलः—('सूत्रभाष्यवार्तिकेषु दृश्यते चापशब्दनम्') इत्युक्त्वा सूत्रभाष्यवार्तिकोक्तानां केषाञ्चित् पदानां सप्रमाणमपशब्दत्वं प्रतिपादयाञ्चकार।[2]

तदेवं शब्दानां साधुत्वासाधुत्वलक्षणव्यामोहे के साधवः के चासाधवः, अथवा त्रिमुनिलक्षितेभ्यो व्यतिरिक्ताः प्रयोगाः साधवोऽसाधवो वेतीह विवेच्यते—

तत्र तावदिदं विवेचनीयं, साधुत्वस्य किंलक्षणम् ? त्रिमुनिव्याख्यातशब्दशास्त्रोपलक्षितत्वं, साधुत्वमिति साम्प्रतिका वैयाकरणा आतिष्ठन्ते। तत्र त्रिमुनिभाषित-

---

१. 'विश्वसेत्' इत्यस्य साधुत्वाय माधवीयाधातुवृत्तिर्द्रष्टव्या (अदादि २।५६)।

२. तन्त्रवार्तिक, अ० १, पाद ३।

लक्षणलक्षितत्वमिति चेत् प्रतिपदनिर्दिष्टानां लक्षणविरहितानां त्रिमुनिप्रयोगाणां साधुत्वं नोपपद्यते। प्रतिपदनिर्दिष्टानामपि त्रिमुनिप्रयोगाणां साधुत्वमुररीक्रियते चेत् 'वृद्धिरादैच्' इत्यत्र (कुत्वाभावस्य), 'ऋहलोर्ण्यत्' इत्यत्र (परयोगे षष्ठीनिर्देशस्य), 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' इत्यत्र समाहारे पुंस्त्वस्य, 'तिर्यच्यपवर्गे, 'अन्वच्यानुलोम्ये' इत्यत्रासर्वनामविभक्तावकृताल्लोपयोः (तिर्यक् अन्वक्) शब्दयोः साधुत्वं कथं नोररीक्रियते।

यदि हि नाम पाणिनीयस्यैव तन्त्रस्य साधुत्वं क्रियेत, तर्हि पाणिनीयेन शास्त्रेण सर्वे साधवः शब्दाः स्वैर्लक्षणैः संगृहीता न वेति जायते विचारणा। तत्र सर्वे साधवः शब्दाः पाणिनिना स्वैर्लक्षणैः संगृहीता न कश्चिज्जातु कृतधीः शक्नोति वक्तुम्, शब्दानामानन्त्यात् परिमितैर्लक्षणैः संग्रहीतुमशक्यत्वात्।

अपि च भारतीयैतिह्ये जागर्त्येकं सार्वजनीनं तथ्यं यत् प्रतिशास्त्रं ग्रन्था यथापूर्वं विस्तृता विस्तृततरा विस्तृततमाश्च बभूवुः, उत्तरोत्तरं च तेषां प्रवचने संक्षेपोऽभूद् इति। एतदनुसारं पाणिनीयमपि तन्त्रम् आर्षेषु शब्दशास्त्रेषु संक्षिप्ततमं वर्तते। इदमेवैतिह्यं प्रमाणीकृत्य महाभारतव्याख्यात्रा देवबोधेनोक्तम्—

न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं न हि न विद्यते॥

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

अत्र देवबोधेन ऐन्द्रव्याकरणार्णवस्यापेक्षया पाणिनीयस्य तन्त्रस्य गोष्पदत्वमर्थाद् अत्यल्पपरिमाणवत्वं स्पष्टमुक्तम्। एतदेव च तथ्यं पुरुषोत्तमदेवीयभाष्यव्याख्यायाः प्रपञ्चकारेणोद्धृतेन—

समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे,
ततोऽम्बुकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तदंशभागाच्च शतं पुरन्दरे,
कुशाग्रबिन्दुग्रथितं हि पाणिनौ॥

इति वचनेनापि व्यज्यते।

पाणिनीयव्याकरणस्यातिसंक्षेपत्वं स्वयमुपात्तैर्लक्षणविरहितैः, कात्यायनपतञ्जलिभ्यां च संगृहीतैः शब्दैरपि विस्पष्टं ध्वन्यते।

सत्येवं शब्दानां साधुत्वासाधुत्वव्यवस्थापने पाणिनीयमेवैकं तन्त्रं प्रमाणमिति साम्प्रतिकानां वैयाकरणानां मतं निराकृतं भवति।

न केवलं शब्दशास्त्रेऽपितु समस्तेऽपि संस्कृतवाङ्मये प्रमाणीभूतो भगवान् भाष्य-

कारोऽपि नहि पाणिनीयलक्षणविरहादेव कस्यचित् प्रयोगस्यासाधुत्वं ब्रवीति, अपितु स शब्दव्यवहारे शिष्टानां प्रामाण्यं मन्यमानः पाणिनीयलक्षणविरहितानामपि शिष्टप्रयोगाणां साधुत्वं व्यवस्थापयति। तथाहि—

कैः पुनरुपदिष्टाः ? शिष्टैः। के पुनः शिष्टाः ?·····एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः। यदि तर्हि शिष्टाः शब्देषु प्रमाणं किमष्टाध्याय्या क्रियते ? शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी। कथं पुनरष्टाध्याय्या शिष्टाः शक्या विज्ञातुम् ? अष्टाध्यायीमधीयानोऽन्यं पश्यत्यनधीयानं येऽत्र विहिताः शब्दास्तान् प्रयुञ्जानम्। स पश्यति नूनमस्य देवानुग्रहः स्वभावो वा, योऽयं न चाष्टाध्यायीमधीते ये चास्यां विहिताः शब्दास्तांश्च प्रयुङ्क्ते। नूनमयमन्यानपि जानातीति। एवमेषा शिष्टज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी। महा० ६।३।१०९।

अस्मिन् महाभाष्यकारीये सन्दर्भे शब्दानां साधुत्वे शिष्टा एव प्रमाणम्, अष्टाध्यायी तु शिष्टपरिज्ञानार्था, न तु तेषामेव नियामिका, शिष्टाश्च तानप्यन्यान् शब्दान् जानन्ति, येऽष्टाध्याय्यामनुक्ता इति त्रयोऽर्था विस्पष्टं प्रतिपादिता भवन्ति।

सम्प्रति संस्कृतभाषाया लोकव्यवहारे प्रयोगाभावात् शब्दव्यवहारे पाणिनीय व्याकरणमेव प्राधान्येनोपकारकमित्यत्र नास्ति विवादावसरः। विवादस्तु केवलं पाणिनीयलक्षणविरहितानाम् आर्षाणां प्रयोगाणां साधुत्वविषयेऽर्थात् तेषां प्रयोगार्हत्वविषय एव विद्यते।

साम्प्रतिकाः वैयाकरणा पाणिनिनोक्ताः शब्दा एव साधवः, इत्येवं नियमं प्रतिजानते। वयं तु ब्रूमः—पाणिनिना द्योतिताः शब्दाः साधव एवेत्येवं नियमो द्रष्टव्यः। तेन तल्लक्षणविरहिताः पाणिनिना प्रयुक्ताः सर्वेऽपि शब्दाः साधवोऽर्थात् प्रयोगार्हाः सन्ति, न त्वघ्नेजरतीयन्यायेन केचन (शोभापुराणसर्वनामादयः) केचन प्रयोगार्हा अपरे च (आदैच्) (तिर्यञ्चि अन्वञ्चि) इत्यवमादयोऽप्रयोगार्हा इति। अपि च पाणिनिनाऽनुक्तेषु शिष्टप्रयोगेषु नाष्टाध्याय्याः साक्षाद् व्यापारः। ते तु तादृशलक्षणविरहिता अपि सर्वे शिष्टप्रयोगसामर्थ्यादेव साधवो ज्ञेया इति पाणिनिना (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्) (६।३।१०९) इति सूत्रयता विस्पष्टीकृतम्।

पाणिनीयशास्त्रविषये साम्प्रतिकानां वैयाकरणानां मतमुपरिष्टादुन्यस्तम्। वयं तु महाभाष्यकारीयं ('शिष्टपरिज्ञानार्था अष्टाध्यायी') इति मतं तदीयां व्याख्यानसरणीञ्चानुसृत्य तथाविधां पाणिनीयतन्त्रस्य व्याख्यां कुर्मो येन न केवलं छान्दसत्वेनाभिमतानां सर्वेषां चार्षाणां प्रयोगाणामेव साधुत्वं व्यज्यतेऽपि तु देववाण्या विलुप्तानां पुरःसहस्राणां शब्दानामुद्धारोऽपि सम्भाव्यते। तदर्थमिह कानिचिद् उदाहरणानि उपस्थाप्यन्ते—

व्याकरणशास्त्रे लोपागमवर्णविकारादीनि कार्याण्युच्यन्ते । किं तानि तादृक्छब्देषु सत्यान्यसत्यानि वा ? असत्यानीति वैयाकरणा ऐकमत्येन प्रतिजानते, तेषां मते शब्दानां नित्यत्वात् । तथा चोक्तं महाभाष्ये—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥इति॥

सोऽयं लोपागमादेशविकाररूपः सर्वपदादेशः कीदृश इत्यत्र महाभाष्यकारीयदृशा विचारे क्रियमाणे प्रकृत्यन्तरूपः प्रत्ययान्तरूपो वेत्यस्माकं मतम्, यतः क्वचित् प्रकृतिभागे लोपागमादेशविकारा उच्यन्ते क्वचिच्च प्रत्ययभागे ।

प्रकृत्यन्तररूप आदेशो हि प्रकृतिभागे क्रियमाणैर्लोपागमादेशवर्णविकारादिभिः प्रतिपाद्यत इति महाभाष्यकृताऽप्यसकृदुक्तम् । तथाहि—

१—(सुधातुरकङ् च) (४।१।९७) सूत्रे (सुधातृव्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बकानामिति वक्तव्यम्) इत्यकङादेशविधायकस्य वार्तिकस्य व्याख्यानं कुर्वन् भगवान् पतञ्जलिः—(तर्तहि वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम्, प्रकृत्यन्तराण्येवंजातीयकानि) इत्युक्तवान् । तेनाकङादेशद्वारा सुधातृक व्यासक प्रभृतीनां पाणिनिकाले साक्षाद् अव्यवह्रियमाणानाम् अर्थात् तत्काले विलुप्तानां मूलभूतानां प्रकृतीनामुद्धारः प्रदर्शितो भवति ।

२—नेष्टृ शब्दव्याख्यानाय प्रवृत्तो भाष्यकारः 'नयतेः षुक् च' (३।२।१३५) इति कात्यायनीयं वार्तिकं व्याचक्षाण आह—**नवा वक्तव्यम्, किं कारणम् ? षात्वान्यत्वात् । षात्वन्तरं नेषतिः । कथं ज्ञायते ? नेषतु नेष्टाविति दर्शनात्..... इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात्** इति । अत्रापि महाभाष्यकारेण नयतेः षुगागमे कृते यत्प्रकृतिरूपं निष्पद्यते तस्य स्वातन्त्र्येण सद्भावः स्वीकृतो भाष्यकारेण ।

३—हृदयस्य हृदादेशविषये काशिकायामुक्तम्—'हृदयशब्देन समानार्थो हृच्छब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तेनैव सिद्धे विकल्पविधानं प्रपञ्चार्थम्' (६।३।५०) इति ।

४—समासान्ते प्रत्यये आदेशे वा कृते उत्तरपदानां यानि रूपाणि निष्पद्यन्ते तान्यपि मूलरूपेण शब्दान्तराण्येव । तथाहि ('ऊधसोऽनङ्') (५।४।१३१) इत्यकङादेशे कृते उत्तरपदस्य यद् ('ऊधन्') इत्येवं नकारान्तं रूपमुपपद्यते तत् प्रातिपदिकान्तरं द्रष्टव्यम्, अत एव हि तस्य वेदेषु प्रायेण बहुषु विभक्तिषु रूपाण्युपलभ्यन्ते ।

५—राजन्शब्दात् टच् प्रत्ययं कृत्वोत्तरपदस्य यदकारान्तत्वमाख्यायते तस्याकारान्तराजशब्दस्यास्तित्व एव तात्पर्यम् । तेन देवराजः महाराज इत्यादयः प्रयोगा अकारान्तस्य राजशब्दस्य तथा महाभारतादिषु प्राचीनेष्वार्षग्रन्थेषु प्रयुक्ता 'मत्स्य-

राज्ञा सर्वराज्ञा इत्येवमादयः, वैदिकवाङ्मये च प्रयुक्ता 'देवराज्ञां मनुष्यराज्ञाम्' इत्येवमादयः प्रयोगा नकारान्तस्य राजशब्दस्य इति व्यवस्थाऽञ्जसैवोपपद्यते ।

६—पाणिनीयशास्त्रस्थैस्तदीयैः प्रयोगैर्यथाकेषांचित् सर्वनामपुराणप्रभृतीनां शब्दानां साधुत्वं वैयाकरणा व्यातिष्ठन्ते तथाऽन्यैरपि तत्प्रयोगैस्तथाविधानां प्रयोगाणां साधुत्वप्रापकनियमानां सद्भावं यदि स्वीकुर्युश्चेद् बहूनां लुप्तानां प्रयोगाणामुद्धारः सम्भवति । तथाहि—(भूवादयो धातवः) (१।३।१) इत्यत्र सन्धौ वकारव्यवधानेन यण्व्यवधानरूपस्य नियमस्य ज्ञापनं क्रियते तर्हि इयङुवङादेशविषयका अन्ये च यत्रेयङुवङोः प्राप्तिरपि नास्ति तादृशा बहवः प्रयोगा अनायासेनैवोपपद्येरन् । तथा च (नैयङ्कवम् न्याङ्कवम्) इत्युभययोर्यथाक्रमं नियङ्कु न्यङ्कु च प्रकृतिरित्यञ्जसैव व्याख्यातुं शक्येत । तैत्तिरीयवाङ्मये चैतादृशा बहवः प्रयोगा दृश्यन्ते येषामुत्पत्तिरियङुवङ्भ्यामपि न सम्भवति ऋते यण्व्यवधानसन्धेः ।

७—(हिंसेः सिंहः) इत्यादिषु वर्णविपर्यासेन या शब्दसाधुत्वप्रक्रिया वैयाकरणैर्नैरुक्तैश्चाश्रिता तत्रापि हिंसधातोराद्यन्तवर्णविपर्यासेन या 'सिंह' रूपा प्रकृतिर्निष्पद्यते सैव सिंहशब्दस्य प्रकृतिरित्यत्रैव तात्पर्यं द्रष्टव्यम् । इयं च सिंहरूपा प्रकृतिः पाणिनेः प्राचीने काशकृत्स्नीये धातुपाठे 'षिंहि हिंसायाम्' इत्येवंरूपेण पठ्यमाना दृश्यते ।

उपसंहारः

तदेवं पाणिनीयशास्त्रे प्रकृत्यंशे प्रत्ययांशे च लोपागमादेशवर्णविकारादिविधानद्वारा यः प्रकृत्यन्तरनिर्देशो व्याख्यातः तदनुसारमेव यदि सर्वस्या अपि अष्टाध्याय्या व्याख्यानं भवेत्तर्हि देववाण्या विलुप्तानां परःसहस्राणां शब्दानां समुद्धारः शक्यते कर्तुम् । व्याकरणशास्त्रे विहितानां लोपागमादेशवर्णविकारादीनामत्रैवार्थे तात्पर्यमिति मन्यमानो भट्टकुमारिलोऽप्याह तन्त्रवार्तिके—

यावांश्चाकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकमुपलक्षणम्, तदुपलक्षितरूपाणि च ।

एवं च सति पाश्चात्यैर्भाषाविद्भिरुद्भावितः पक्षो यत् संस्कृतभाषाऽपि कस्याश्चित् स्वस्याः पौर्वकालिकायां भाषायां लोपागमादेशवर्णविकारादिभिरपभ्रंशमधिगतेति समूलमुन्मूलितं भवति ।

विविधविषयक अवशिष्ट लेख—

वेद के अनुक्रमणीसंज्ञक ग्रन्थ

तथा

तत्प्रतिपादित ऋषि, देवता तथा छन्दों पर विचार

[यह लेख गौतम नगर, नई दिल्ली से प्रकाशित होनेवाले 'दयानन्द-सन्देश' (मासिक पत्र) के सन् १९३९ के फरवरी, मार्च, अप्रैल और मई के अङ्कों में क्रमशः छपा था। उसे यहां स्वल्प संशोधन और परिवर्धन करके छापा जा रहा है।]

वेद के प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द तथा स्वर आदि के निर्देश के लिये प्राचीन आचार्यों द्वारा जो ग्रन्थ बनाये गए, वे अनुक्रमणी नाम से प्रसिद्ध हैं।

अनुक्रमणियों के दो विभाग

ये अनुक्रमणी ग्रन्थ दो प्रकार के हैं। एक वे हैं जिनमें केवल एक-एक विषय का ही निर्देश होता है। यथा शौनकीय आर्षानुक्रमणी आदि। दूसरे वे हैं जिनमें ऋषि, देवता और छन्द का एकत्र ही सङ्कलन होता है। इस प्रकार के अनुक्रमणी ग्रन्थ सर्वानुक्रमणी नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राचीन काल में प्रत्येक वेद और उनकी शाखाओं से सम्बन्ध रखनेवाले अनुक्रमणी ग्रन्थ सैकड़ों की संख्या में विद्यमान रहे होंगे, परन्तु आजकल दुर्भाग्यवश कुछ एक ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं।

ऋग्वेद की अनुक्रमणियां

पुराकाल में ऋग्वेद तथा उसकी शाखाओं की अनेकों अनुक्रमणियां प्राचीन आचार्यों ने बनाई होंगी, जो आजकल उपलब्ध नहीं हैं। उनमें से जो उपलब्ध हो रही हैं, उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

शौनककृत १० अनुक्रमणियां

वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्धि है कि आचार्य शौनक ने ऋग्वेद की दस[1] अनुक्रमणियां बनायी थीं। जिनमें सम्प्रति आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी और अनुवाकानु-

---

१. 'शौनकोपदेशानुक्रमणी दशक·····' इति। वेदार्थदीपिका, पृ० ५७।

क्रमणी ये तीन ही अनुक्रमणियां उपलब्ध होती हैं। एक छन्दःसंख्यापरिशिष्ट भी शौनक के नाम से उपलब्ध है।

(१) **आर्षानुक्रमणी**—इस ग्रन्थ में आचार्य शौनक ने ऋग्वेद के समस्त ऋषियों का वर्णन किया है।[1] इसमें कई स्थानों पर कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी से भेद है। उनका संक्षिप्त निदर्शन आगे करायेंगे। इसका एक संस्करण बङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुआ है, जो अत्यन्त ही अशुद्ध है।

(२) **देवतानुक्रमणी**—शौनकाचार्यकृत यह अनुक्रमणी ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं होता। पर प्राचीन वैदिक साहित्य में इसके शतशः उद्धरण उपलब्ध होते हैं। जिन्हें देखने से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में भी कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी से पर्याप्त भेद रहा होगा। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यह अनुक्रमणी शौनकीय बृहद्देवता से सर्वथा पृथक् थी। कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी का व्याख्याता षड्गुरुशिष्य लिखता है—

"ऋत्विक् स्तुतिरिति बृहद्देवतायामुक्तेर्देवतानुक्रमण्यां वैश्वदेवत्वोक्तेश्च विकल्पः"। (वेदार्थदीपिका, पृ० १५८)[2]

इसी प्रकार पृ० १४१ पर भी बृहद्देवता और देवतानुक्रमणी के विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। जिनसे स्पष्ट है कि देवतानुक्रमणी बृहद्देवता से पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

छन्दोऽनुक्रमणी—आचार्य शौनक ने इस ग्रन्थ में ऋग्वेदीय मन्त्रों के समस्त छन्दों का विधान किया है। छन्द की पारिभाषिक संज्ञाओं का इसमें कुछ भी उल्लेख नहीं है। इस ग्रन्थ में भी कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी के छन्दों से पर्याप्त विभिन्नता है। जो दोनों ग्रन्थों की तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होती है। यह भी एशियाटिक सोसाइटी द्वारा ही प्रकाशित हुई है।[3]

अनुवाकानुक्रमणी—इस ग्रन्थ में शौनकाचार्य ने ऋग्वेद की शैशिरीय शाखा के अनुवाकों का प्रतीकनिर्देश पुरःसर सङ्कलन किया है। साथ ही बाष्कल शाखा में जहां क्रम की विभिन्नता थी उसका भी निर्देश कर दिया है।[4] इस प्रकार इस

---

१. बृहद्देवता के अन्त में।

२. यह पृष्ठसंख्या कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी के मैक्डानल द्वारा प्रकाशित संस्करण की है।

३. बृहद्देवता के अन्त में। ४. अनुवाकानुक्रमणी, श्लोक २१।

एक ही अनुक्रमणी से सम्प्रति अनुपलब्ध शैशिरीय[1] तथा बाष्कल दोनों शाखाओं के स्थूल स्वरूप का परिचय हो जाता है। षड्गुरुशिष्य ने इस पर एक वृत्ति भी लिखी है। जिसका सार डा० मैकडानल्ड द्वारा प्रकाशित हो चुका है।[2]

इस अनुक्रमणी का एक संस्करण उपर्युक्त सोसाइटी[3] द्वारा प्रकाशित हुआ है। दूसरा संस्करण डा० मैकडानल्ड ने प्रकाशित किया है। यह संस्करण प्रथम संस्करण की अपेक्षा शुद्ध है।

आचार्य शौनक ने इन के अतिरिक्त छः अनुक्रमणियां और बनायी थीं, जिनके नाम अभी तक हमारी दृष्टि में नहीं आये।

क्या कोई स्वरानुक्रमणी भी थी ?

प्राचीन वैदिक साहित्य के अवगाहन से प्रतीत होता है कि आचाय शौनक या अन्य किसी की बनायी हुई कोई स्वरानुक्रमणी भी अवश्य थी, जिस में देवता आदि की तरह मन्त्रों के स्वरों का (अर्थात् किस मन्त्र का किस स्वर में उच्चारण करना चाहिये, इसका) निर्देश रहा होगा। क्योंकि आचार्य पिङ्गल[4] ने सन्दिह्यमान छन्द के निर्णय के लिये लिखा है—'**देवतादितश्च**' (३।६२) अर्थात् सन्दिग्ध छन्दों का निर्णय देवता तथा स्वर (षड्जादि) आदि से करना चाहिये। पिङ्गल के उपर्युक्त सूत्र की टीका करता हुआ हलायुध लिखता है—'**आदिग्रहणं स्वरादिपरिग्रहणार्थम्**' अर्थात् सूत्र के आदि पद से स्वरादि का ग्रहण करना चाहिये। आगे चल कर पिङ्गल ने किस स्वर का कौन छन्द होता है, इसका निर्देश किया है। देखो अ० ३, सूत्र ६४।

अब यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यदि देवतानुक्रमणीवत् मन्त्रों के स्वरों का ज्ञान करानेवाला कोई स्वरानुक्रमणी ग्रन्थ न रहा होगा तो स्वरों का ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है ? और उसके अभाव में पिङ्गलाचार्य का यह लिखना कि 'सन्दिग्ध छन्दों का निर्णय षड्जादि स्वरों से करें' कैसे युक्तिसङ्गत हो सकता है ? अतः यह सन्देह युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि पिङ्गल के समय में वेद का कोई

---

१. हमने काशी में एक ऋग्वेदी ब्राह्मण के घर में हस्तलिखित ग्रन्थों का एक सूचीपत्र देखा था। उसमें ऋग्वेद के ग्रन्थों में शैशिरीय शाखा का नाम लिखा था। पर अनुसन्धान करने पर मालूम हुआ कि वृद्ध ब्राह्मण के मरने के अनन्तर वह ग्रन्थ उस घर में से किसी प्रकार नष्ट हो गया।

२. ऋक्सर्वानुक्रमणी के अन्त में। ३. बृहद्देवता के अन्त में।

४. यादवप्रकाश की पिङ्गलछन्दोविचिति की व्याख्या अभी सन् १९८८ में छपी है।

स्वरानुक्रमणी ग्रन्थ अवश्य होगा। जो कि अब लुप्त हो चुका है। सम्भवतः इसी प्राचीन वैदिक मर्यादा को लक्ष्य में रख कर उसके पुनरुद्धार के लिए महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में ऋष्यादि की तरह स्वर का भी सर्वत्र उल्लेख किया है। उनके स्वरादि के निर्देश का आधार पिङ्गल का **'स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यम-पञ्चमधैवतनिषादाः'** (३।६४) सूत्र ही प्रतीत होता है। या सम्भव है उन्हें कोई स्वर-विषयक ग्रन्थ मिला होगा। यदि हमारा अन्तिम सन्देह सत्य सिद्ध हो जाय तो महर्षि द्वारा निर्दिष्ट छन्दों की समस्या बड़ी ही सुगमता पूर्वक हल हो सकती है।

आशा है विद्वान् महानुभाव इस ओर अवश्य ध्यान देंगे।

बृहद्देवता

इन उपर्युक्त अनुक्रमणियों के अतिरिक्त आचार्य शौनक ने एक बृहद्देवता संज्ञक ग्रन्थ भी बनाया था। यह ग्रन्थ अपने विषय का अद्भुत ग्रन्थ है। 'यथा नाम तथा गुणः' यह उक्ति इस ग्रन्थ में अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है। इसका उपोद्घात प्रकरण वेदार्थ-जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यद्यपि इस उपोद्घात प्रकरण में अधिकतया निरुक्त की छाया ही दृष्टिगोचर होती है तथापि अनेक विचार ऐसे भी हैं जो हमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। इस ग्रन्थ में आचार्य शौनक ने प्राचीन आचार्यों के देवताविषयक विभिन्न मतों का बड़े सुन्दर रूप में सङ्कलन किया है जिनसे वेदमन्त्रों को विभिन्न दृष्टियों से विचारने में अत्यन्त सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ हम एक स्थल उपस्थित करते हैं—

> .....प्रसुष्टुतिरितित्वृचि ॥
> शौनकादिभिराचार्यैर्देवता बहुधेरिताः।
> इडस्पति शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः ॥
> यास्कस्तु पूषणं मेने स्तुतमिन्द्रं तु शौनकः।
> वैश्वानरं भागुरिस्तु.....॥
>
> बृह० अ० ५ श्लोक ३८-४०॥

अर्थात्—ऋग्वेद ५।४२ के "प्रसुष्टुतिः" मन्त्र में शौनकादि आचार्यों ने बहुत प्रकार से देवता का विधान किया है। शाकपूणि के मत से इस मन्त्र का 'इडस्पति' देवता है। गालव आचार्य 'पर्जन्य' और 'अग्नि' को देवता मानता है। यास्क कहता है कि इस मन्त्र का देवता 'पूषा' है। शौनकाचार्य इन्द्र की स्तुति मानता है। भागुरि वैश्वानर की स्तुति बतलाता है।

इस प्रकार इस मन्त्र के इडस्पति, पर्जन्य, अग्नि, इन्द्र और वैश्वानर ये छः देवता माने गए। जो लोग अज्ञानवश यह समझे बैठे हैं कि मन्त्र में आया हुआ पद ही देवतावाचक हो सकता है तदर्थ या तत्पर्यावाचक नहीं[1], उनके लिये यह स्थल विशेष रूप से विचारणीय है। क्योंकि इन छः देवताओं में से केवल एक इडस्पति पद ही उपर्युक्त मन्त्र में आया है। शेष देवता मन्त्रार्थ से सूचितमात्र होते हैं। इसलिए जो लोग "अर्थ देवता नहीं होता[2]" ऐसा लिखते हैं, वह सर्वथा अयुक्त है।

इसी प्रकार जो लोग सर्वानुक्रमणी आदि में उल्लिखित देवताओं को 'ईश्वर' संकेतित मानते[3] हैं, वे महानुभाव भी इस स्थल को विशेष ध्यानपूर्वक विचारें, उन्हें अपने मन्तव्य की अयुक्तता स्वयं प्रतीत हो जाएगी। क्या वे महानुभाव बता सकते हैं कि इस प्रस्तुत मन्त्र के ये इडस्पति आदि सब देवता ईश्वरसंकेतित हैं या कोई नहीं भी, यदि नहीं तो क्यों नहीं ? और यदि हां तो क्या इन से अतिरिक्त अन्य कोई देवता ईश्वरसङ्केतित नहीं हैं ? यदि नहीं तो क्यों नहीं ?

इस ग्रन्थ का एक संस्करण पं० राजेन्द्रलाल ने बङ्गाल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित किया है। यह संस्करण अत्यंत अशुद्ध है। इसका दूसरा संस्करण डा० मैकडानल्ड ने अपने अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित किया है, जो पूर्वापेक्षित अधिक शुद्ध है, पर इसमें भी कई ऐसी भयंकर अशुद्धियां हैं जिनसे अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अतः इस ग्रन्थ के अत्यन्त शुद्ध छपने की महती आवश्यकता है।

इस ग्रन्थ की तथा पूर्वोक्त आर्षानुक्रमणी और छन्दोऽनुक्रमणी की कोई टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

ऊपर बृहद्देवता का जो वचन उद्धृत किया है, उसमें शाकपूणि, गालव, यास्क और भागुरि के मत उल्लिखित हैं। अतः इन आचार्यों ने भी किसी अनुक्रमणी अथवा सर्वानुक्रमणी ग्रन्थ का प्रवचन किया होगा।

ऋक्प्रातिशाख्य

इन उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य शौनक का एक ग्रन्थ और भी है, जो ऋक्प्रातिशाख्य या पार्षदसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि यह अनुक्रमणी ग्रन्थ नहीं, तथापि इसके अन्तिम कुछ पटलों (१६–१८) में छन्दों की पारिभाषिक संज्ञाओं का वर्णन होने से प्रसङ्गवश इसका यहां उल्लेख किया है। हम पहले लिख

---

१. देखो—'वैदिक धर्म' फरवरी १९३८।
२. देखो—'वैदिक धर्म' फरवरी १९३८, पृष्ठ १५१।
३. 'विजय' (अजमेर) ५।१२।१९३८।

चुके हैं कि छन्दोऽनुक्रमणी में शौनक ने छन्दःसम्बन्धी परिभाषाओं का उल्लेख नहीं किया है। इस कारण यही प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में उनका वर्णन कर देने के कारण ही पुनः छन्दोऽनुक्रमणी में उल्लेख नहीं किया गया। इस पर उव्वट की टीका प्रकाशित हो चुकी है। इस का सबसे उत्तम संस्करण अंग्रेजी अनुवाद सहित श्री डा० मङ्गलदेवजी शास्त्री एम० ए० ने प्रकाशित किया है। इसकी एक नई टीका कलकत्ते से भी प्रकाशित हुई है, किन्तु वह उव्वट-टीका का संक्षेपमात्र है।

आचार्य शौनक ने अपने सब ग्रन्थों की रचना पद्य में ही की है।

कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी

आचार्य कात्यायन ने प्राचीन अनुक्रमणी ग्रन्थों के आधार[1] पर ऋग्वेद का एक सर्वानुक्रमणीसज्ञक ग्रन्थ बनाया। इस ग्रन्थ के नाम के आदि में प्रयुक्त 'सर्व' पद विशेष महत्त्व रखता है। शौनकादि आचार्यों ने ऋषि, देवता तथा छन्द आदि के निर्देशार्थ पृथक्-पृथक् अनुक्रमणियां बनाई थीं। परन्तु कात्यायन ने इन सभी विषयों का अपने ग्रन्थ में एकत्र ही समावेश कर दिया। अत एव उसने अपने ग्रन्थ का नाम अनुक्रमणी मात्र न रखकर सर्वानुक्रमणी रक्खा।

कात्यायन आचार्य शौनक का शिष्य था।[2] अतः सम्भव है उसने अपने ग्रन्थ में शौनक के मत की ही प्रधानता दी हो। पर अनेक स्थानों पर शौनक से उसका मत-भेद भी उपलब्ध होता है (जिसका विवेचन आगे चल कर किया जायेगा)। अतः सम्भव है वहां पर उसने अन्य अनुक्रमणियों का अनुकरण किया हो। इस सर्वानुक्रमणी की टीका करता हुआ षड्गुरुशिष्य कई स्थानों पर लिखता है—**'अनुक्रमण्यन्तरानुक्रमणार्थं च'** (वेदार्थदीपिका, पृष्ठ ६५, ११५, १२६)। अर्थात् यहां पर कात्यायन ने अन्य अनुक्रमणियों का अनुकरण किया है। षड्गुरुशिष्य के इस लेख से भी हमारे उपर्युक्त लेख की पुष्टि होती है कि पुराकाल में अनेक अनुक्रमणी ग्रन्थ बनाये गये थे।

कात्यायन ने अपने ग्रन्थ की रचना सूत्र में की है। इसका उपोद्घात प्रकरण भी बहुत अच्छा है। यदि केवल इतने भाग का ही भले प्रकार अनुशीलन किया जावे तो साम्प्रतिक देवताविषयक वाद-विवाद वहीं समाप्त हो सकता है।[3]

---

१. '.....अनुक्रमणी.....अनतिक्रमेण.....'। वेदार्थदीपिका, पृष्ठ ५७। 'अनुक्रमण्यन्तरानुक्रमणार्थं च'। वेदार्थदीपिका, पृष्ठ ६५, ११५, १२६।

२. 'एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् कात्यायनः।' वेदार्थदीपिका, पृष्ठ ५७।

३. यह देवताविषयक विवाद सन् १९३८ में श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अपने वैदिक धर्म के माध्यम से चलाया था। उनके उत्तर में श्री पूज्य गुरुवर्य ने अनेक लेख लिखे थे।

ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीकायें

इस ग्रन्थ की पांच टीकायें उपलब्ध हैं।

एक सबसे पुरानी टीका यजुर्वेद के भाष्यकार उव्वट की है। इस टीका का एक अपूर्ण हस्तलेख लाहौर के डी० ए० वी० कालेज के पुस्तकालय में है। ऐतिहासिकों के मतानुसार उव्वट का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी है।

दूसरी टीका षड्गुरुशिष्य की है। इस का नाम वेदार्थदीपिका है। षड्गुरुशिष्य का काल विक्रम की १३ वीं शताब्दी है। इस टीका का केवल विशिष्टांश ही डा० मैकडानल्ड द्वारा प्रकाशित हुआ है। जिसे देखने से प्रतीत होता है कि यह टीका अत्यन्त उपयोगी है और इसका पूर्णरूप से मुद्रण होना आवश्यक है।[1]

तीसरी टीका जगन्नाथकृत है, यह **सर्वानुक्रमणीविवरण** के नाम से प्रसिद्ध है। इसके हस्तलेख लाहौर, काशी और कलकत्ता आदि अनेक स्थानों पर हैं।

चौथी टीका कृष्णदत्त के पुत्र गणेश ने लिखी है। जिसका नाम ऋक्सर्वानुक्रमणीदीपिका है। इसके काल का अभी तक कोई निश्चय नहीं हो सका। इस टीका के दो हस्तलेख बड़ोदा के राजकीय पुस्तकालय में हैं। इनमें से एक हस्तलेख (नं० १४८६) सं० १५९६ का लिखा हुआ है, अतः यह १६ वीं शताब्दी या उससे पूर्व का हो सकता है।

पांचवीं टीका वासुदेव ने की है। इसके भी दो हस्तलेख उपर्युक्त पुस्तकालय में वर्तमान हैं। इसके कालादि का निर्णायक कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

इन टीकाओं में कई स्थानों पर देवता आदि के विषय में मतभेद हैं। अतः इन सब का मुद्रण होना परमावश्यक है।

आश्वलायनकृत अनुक्रमणी

आचार्य आश्वलायन ने भी ऋग्वेद की 'आश्वलायन' शाखा की एक अनुक्रमणी बनाई थी, जो आज कल उपलब्ध नहीं होती। अथर्ववेदीय **बृहत्सर्वानुक्रमणी** के ग्यारहवें पटल के प्रारम्भ में लिखा है—

अथार्थवणे विंशतितमस्य काण्डस्य सूक्तसंख्या सम्प्रदायात्, ऋषिदेवतच्छन्दांस्याश्वलायनानुक्रमानुसारेणानुक्रमिष्यामः।" पृ० १७८ (लाहौर संस्करण)

---

१. इस 'वेदार्थदीपिका' का अनेक हस्तलेखों के आधार पर डा० श्री विजयपाल जी, आचार्य पाणिनि महाविद्यालय, बहालगढ़, (सोनीपत) ने सम्पादन किया है।

अर्थात् अथर्ववेद के बीसवें काण्ड की सूक्तसंख्या (सूक्तों की मन्त्रसंख्या) सम्प्रदायानुसार और ऋषि, देवता तथा छन्द आश्वलायनकृत अनुक्रमसूत्र के अनुसार लिखेंगे।

इस उद्धरण में स्पष्टरूप से आश्वलायनकृत अनुक्रमसूत्रों का उल्लेख है। अनुक्रमणी का ही दूसरा नाम अनुक्रम है। इसलिये बृहत्सर्वानुक्रमणीकार का सूक्तसंख्या के विषय में 'सम्प्रदायात्' लिखना भी उपयुक्त प्रतीत होता है।

शौनकीय बृहद्देवता में आश्वलायन के मत का असकृद् उल्लेख होने से सिद्ध होता है कि यह आश्वलायनीय अनुक्रमणी इन सबसे प्राचीन है। कात्यायन शौनक का शिष्य था, अतः उसकी अनुक्रमणी सब से पीछे की है

वेङ्कटमाधवकृत सर्वानुक्रमणी

वेङ्कटमाधव ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध भाष्यकार है। इसने ऋग्वेद पर लघु और बृहत्[1] दो भाष्य लिखे हैं। जिनका अवलोकन करने से उसके असाधारण पाण्डित्य का परिचय मिलता है। इसने अपने लघु भाष्य के प्रति अध्याय के प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न विषयों पर बहुत सुन्दर विचार किया है, जो देखते ही बनता है। वह अनुक्रमणी नाम से प्रसिद्ध है।

वेङ्कट ने अपने सम्पूर्ण ऋग्भाष्य में अष्टकानुसार आठ अनुक्रमणियां बनाई हैं। जिनके नाम ये हैं—**स्वरानुक्रमणी, आख्यातानुक्रमणी, निपातानुक्रमणी, शब्दावृत्त्यनुक्रमणी, आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी** और **मन्त्रार्थानुक्रमणी**। इनमें जो आर्षादिविषयक अनुक्रमणियां हैं, उनमें भी तत्तद्विषय पर गम्भीर विवेचन किया है। इन अनुक्रमणियों के सम्यक् परिशीलन से अनेक शास्त्रीय ग्रन्थियां बड़ी आसानी से सुलझ जाती हैं। उपर्युक्त इन सब अनुक्रमणियों का एक संग्रह मद्रास यूनिवर्सिटी से प्रकाशित हो चुका है।

ऐतिहासिक विद्वानों के मतानुसार वेङ्कटमाधव का काल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है।

---

१. देवराजयज्वा ने अपनी निघण्टु की टीका में दोनों भाष्यों के उद्धरण दिये हैं। अब ये दोनों भाष्य अडियार की 'ब्रह्मविद्या' पत्रिका में यथाक्रम प्रकाशित हो रहे हैं। [बृहद् भाष्य दो खण्डों में प्रथमाष्टक पर्यन्त अडियार से माधव के नाम से छप चुका है। इसके सम्पादक इसे वेङ्कटमाधवकृत नहीं मानते। हमने देवराजीय निघण्टुटीका में इस बृहद् भाष्य के अनेक उद्धरण ढूंढ लिये हैं।]

यजुर्वेद की अनुक्रमणी

यजुर्वेद की एक सर्वानुक्रमणी आजकल उपलब्ध हो रही है, जो कि कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध है। पर वस्तुतः यह आचार्य कात्यायन की कृति नहीं है। हमारा निश्चय है कि यह अनुक्रमणी लगभग ८००-९०० वर्षों के भीतर-भीतर ही कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध कर दी गई है। इसमें निम्न हेतु हैं—

(१) उव्वट (११वीं शताब्दी) ने अपने यजुर्वेदभाष्य के प्रारम्भ में लिखा है—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छान्दसं च यत्॥

अर्थात् मैं गुरु (सम्प्रदाय), तर्क तथा शतपथ के अनुसार ऋषि, देवता और छन्द लिखूंगा।

यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यदि उव्वट के काल में वर्तमान यजुःसर्वानुक्रमणी होती तो वह इतना द्रविड प्राणायाम न करके सीधा स्पष्ट लिख देता कि मैं कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋषि, देवता और छन्द लिखूंगा। या अपने ग्रन्थों में कहीं उल्लेख ही करता। अपने सम्प्रदाय के एक प्रौढ़ विद्वान् द्वारा सर्वानुक्रमणी का उल्लेख न होना उसकी सत्ता में अवश्य ही सन्देह उत्पन्न करता है।[1]

(२) इतना ही नहीं अपितु स्कन्द तथा दुर्गकृत निरुक्तटीकाओं के देखने से भी हमारे उपर्युक्त मन्तव्य की पुष्टि होती है। अनादिष्टदेवताक मन्त्रों में देवता का ज्ञान कैसे करना चाहिये, इस प्रसङ्ग में दुर्गाचार्य लिखता है—

"यद्देवतः स यज्ञः प्रधानं हविः। तद्यथा प्रकृतावैन्द्रसाम्राज्यं माहेन्द्रं वा तत्संस्कारपरा 'इषेत्वा'दयः। तेऽनाविष्कृतलिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति माहेन्द्रा वा" इति।

पृष्ठ ५५० (आनन्दाश्रम, पूना)।

इसी प्रकार स्कन्द स्वामी भी लिखता है—

"यद्देवत इति। ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायां (तै० सं० ३।२।५) मिति श्रूयते माहेन्द्र वा इति, तच्छेषभूताः शाखाच्छेदनादिषु साम्राज्यसंस्कारत्वेन विनियुक्ता 'इषेत्वा' दयस्तद्देवत्याः" इति। भा० ३ पृष्ठ ५५।

---

१. उव्वट ने ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी पर अपनी टीकाएं लिखी हैं, परन्तु यजुर्वेद का भाष्य करते हुए भी उसने वर्तमान याजुष सर्वानुक्रमणी पर न कोई व्याख्या ही लिखी और न कहीं उसका उल्लेख ही किया। अन्यथा जिस प्रकार उसने याजुष प्रातिशाख्य की व्याख्या लिखी, उसी प्रकार यजुःसर्वानुक्रमणी की व्याख्या भी अवश्य लिखता।

इन दोनों उद्धरणों का भाव यह है कि 'इषेऽर्जेत्वा' आदि मन्त्र दर्शेष्टि में इन्द्र या महेन्द्र देवता वाली सान्नाय्य हवि के संस्कार प्रकरण में पढ़े होने से इनका देवता इन्द्र या महेन्द्र है। शाखाच्छेदन में विनियोगमात्र है।

इन उद्धरणों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(१) याज्ञिक प्रक्रिया में 'इषे त्वोर्जे त्वा' इत्यादि का देवता इन्द्र या महेन्द्र है।

(२) 'इषे त्वोर्जे त्वा' आदि का शाखाच्छेदन आदि में विनियोगमात्र है। शाखादि देवता नहीं है।

(३) वर्तमान यजुःसर्वानुक्रमणी में जो शाखादि देवता लिखे हैं, वे याज्ञिक प्रक्रियानुसार भी अशुद्ध हैं।

(४) याज्ञिक प्रक्रिया से अतिरिक्त इन मन्त्रों का देवता इन्द्र या महेन्द्र से भिन्न होगा। जैसा कि कहा है—

अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्याः। निरु० ७।

इस प्रसङ्ग में यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि यदि दुर्ग और स्कन्द के काल में 'इषे त्वा' आदि मन्त्र के यजुःसर्वानुक्रमणी लिखित शाखादि देवता होते तो वे उनके विषय में कुछ न कुछ विचार अवश्य करते। हमारी समझ में इस सर्वानुक्रमणी का कर्ता कोई वैदिकप्रक्रियानभिज्ञ महामूर्ख प्रतीत होता है। क्योंकि उसने मन्त्र का शाखाच्छेदन आदि में विनियोग देखकर शाखादि को ही देवता बना दिया। इस के पञ्चमाध्याय में कातीय ऋक्सर्वानुक्रमणी के आरम्भ में लिखे गये छन्दोविषयक सूत्र उद्धृत कर दिये हैं। अन्त में लिखा है—**ताननुक्रामन्त एवोवाहरिष्यामः।** ऋक्सर्वानुक्रमणी में यह वचन आदि में है। वहां उवाहरिष्यामः क्रियायुक्त है। परन्तु इस यांजुष अनुक्रमणी में यह अन्त में है। संग्रह करनेवाले ने इतना भी ध्यान नहीं रखा।

इस सर्वानुक्रमणी पर देव-याज्ञिक (१६ शताब्दी) की टीका काशी से प्रकाशित हो चुकी है, जो कि अत्यन्त अशुद्ध है।

काण्व सर्वानुक्रमणी

यजुर्वेदीय काण्व शाखा की सर्वानुक्रमणी भी कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध है। यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है अपितु पूर्वोक्त सर्वानुक्रमणी का पाठान्तर मात्र है। इस पर भी देव-याज्ञिक की टीका उपलब्ध होती है। काशी के पूर्वोक्त संस्करण में इसके पाठान्तरों का उल्लेख किया है। यह अनुक्रमणी भी पूर्वोक्त दोषों से दूषित होने के कारण अप्रमाण है।

तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी

आचार्य शौनक ने अपने बृहद्देवता में यास्क का मत अनेक स्थानों पर लिखा है। उनमें से उसके दर्शाए कुछ एक मत यास्कीय निरुक्त में उपलब्ध होते हैं। पर जो मत निरुक्त में नहीं मिलते उन्हें देख कर मन में बार बार सन्देह उत्पन्न होता था कि यास्क का निरुक्त के अतिरिक्त और कोई भी वैदिक ग्रन्थ रहा होगा जो आजकल हमें उपलब्ध नहीं होता। और आचार्य शौनक उस ग्रन्थ से ही यास्क के अनुपलब्ध मतों को उद्धृत करता होगा। इस सन्देह की पुष्टि **'उरो बृहतीति यास्कस्य'** (३।३०) इस पिङ्गल के सूत्र से भी होती थी। क्योंकि उरोबृहती छन्द का वर्णन यास्कीय निरुक्त में कहीं पर नहीं है। कालान्तर में पता लगा कि यास्क ने तैत्तिरीय शाखा की एक सर्वानुक्रमणी भी बनाई थी। उसके अनेक उद्धरण सामवेदीय निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति के टीकाकार **पेत्ता शास्त्री** की टीका[1] में उपलब्ध होते हैं। श्री डा० कुह्लनराज ने उक्त सर्वानुक्रमणी के सब उद्धरणों का सङ्कलन करके प्रकाशन किया है। उन में उरोबृहती छन्द सम्बन्धी उद्धरण निम्न प्रकार है—

"तदाह तत्सर्वानुक्रमणीकारो यास्कः—द्वितीयश्चेत् स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः, उरोबृहती वा स्यात्" इति। पृ० १४२।

यास्क के इस उद्धरण की पिङ्गलसूत्र से तुलना करने पर स्पष्ट पता चलता है कि पिङ्गल यास्कीय मत को इसी तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी से ही उद्धृत करता है। इस उद्धरण से इस बात का भी पता चलता है कि यास्क ने अपनी सर्वानुक्रमणी में छन्दों की पारिभाषिक संज्ञाओं का भी उल्लेख किया था।

छन्दोविचिति का टीकाकार पेत्ता शास्त्री लगभग १५०-२०० वर्ष पुराना है। अतः यास्ककृत यह सर्वानुक्रमणी ग्रन्थ इस समय भी उपलब्ध हो सकता है, ऐसा पूरा विश्वास है।

ऋक्प्रातिशाख्य तथा बृहद्देवता के अनुशीलन से हमें अभी भी सन्देह होता है कि आचार्य यास्क ने इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त एक ग्रन्थ और भी बनाया था जो कि ऋग्वेदसम्बन्धी रहा होगा। क्योंकि ऋक्प्रातिशाख्य में एक स्थान पर लिखा है—

"न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः।
अन्यत्र वैमद्याः सैकादशिनी मुखतो विराट्॥" (१७।४२)

---

१. इस की एक प्रतिलिपि लाहौर सनातन धर्म कालेज के प्रोफेसर श्री कैलाशनाथ जी शास्त्री एम० ए० के पास भी है।

अर्थात्—आचार्य यास्क के मत में ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में एक ऋचा को छोड़ कर अन्य कोई भी एकपदा ऋक् नहीं है।

आचार्य यास्क का यह मत निरुक्त में उपलब्ध नहीं होता और तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी में इसकी सम्भावना भी नहीं हो सकती क्योंकि यह मत ऋग्वेद से ही सम्बन्ध रखता है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक प्रमाण हैं, जिन्हें हम विस्तारभय से यहां उद्धृत नहीं करते।

सामवेदीय सर्वानुक्रमणी

सामवेद की सर्वानुक्रमणी का कोई आर्ष ग्रन्थ अभी तक हमारी दृष्टि में नहीं आया। अडियार लाइब्रेरी में तालवृन्तनिवासीकृत एक सामवेदीय सर्वानुक्रमणी ग्रन्थ वर्तमान है, परन्तु उस ग्रन्थ में क्या विषय है, यह ग्रन्थ देखने पर ही जाना जा सकता है। इसका एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन में भी है, ऐसा स्मरण पड़ता है। सामवेद की एक सर्वानुक्रमणी **शिवराम** ने बनाई भी है, इसके पिता का नाम **विश्राम** है। इस अनुक्रमणी के प्रथम श्लोक को देखने से प्रतीत होता है कि उसके समय में भी सामवेद की कोई प्राचीन आर्ष अनुक्रमणी नहीं थी। वह श्लोक इस प्रकार है—

प्रणम्य तातं विश्रामं विघ्नेशं जगदम्बिकाम्।
संहिताया ऋषिच्छन्दोदेवतानि यथामति॥

इसमें **'यथामति'** पद ध्यान देने योग्य है। इस के हस्तलेख बड़ौदा, अलवर[1] आदि कई स्थानों पर हैं।

नैगेयशाखेय अनुक्रमणी

सामवेद की नैगेय शाखा की ऋषि और देवताविषयक दो पृथक्-पृथक् अनुक्रमणियां उपलब्ध होती हैं। इनका एक सुन्दर संस्करण हमारे मित्र डा० श्री सीताराम शास्त्री सहगल ने सन् १९६६ में प्रकाशित किया है।

अथर्ववेद की सर्वानुक्रमणी

अथर्ववेद की सम्प्रति एक बृहत् सर्वानुक्रमणी उपलब्ध होती है। यह ग्रन्थ ११ पटलों में विभक्त है। आरम्भ के दस पटल ग्रन्थकार की अपनी कृति है पर ११वां

---

१. अलवर के हस्तलेख में उक्त श्लोक का पाठ इस प्रकार है—
प्रणम्य तातं विश्रामं विघ्नेशं जगदम्बिकाम्।
ब्रह्मयज्ञादिसिध्यर्थमृष्यादीनुच्यते क्रमात्॥

पटल आश्वलायनानुक्रमणी के आधार पर ग्रन्थकार द्वारा ही संगृहीत है। जैसा कि हम ऊपर (आश्वलायनानुक्रमणी के प्रसङ्ग में) लिख चुके हैं। इस ग्यारहवें पटल के अवलोकन करने से सम्प्रति अनुपलब्ध आश्वलायनानुक्रमणी की शैली का परिज्ञान भी भली प्रकार हो जाता है। इस ग्रन्थ की कोई टीका अभी तक हमारी दृष्टि में नहीं आई। इसका एक संस्करण लाहौर डी० ए० वी० कालेज से प्रकाशित हो चुका है।

उपर्युक्त अनुक्रमणी के कर्त्ता का नाम अभी तक अज्ञात है।

इस प्रकार अनुक्रमणियों के संक्षिप्त परिचय के अनन्तर उनके प्रधान तथा प्रतिपाद्य विषय ऋषि, देवता तथा छन्द पर अति संक्षेप से विचार किया जाता है।

पूर्वाचार्यों का कथन है कि प्रत्येक मन्त्र के ऋषि देवता तथा छन्द का परिज्ञान अवश्य करना चाहिए[1]। देवता का मन्त्रार्थ के साथ सीधा सम्बन्ध है। छन्द का मन्त्रार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा आचार्य मानते हैं[2]। पर हमारा विचार है कि छन्द भी मन्त्रार्थ में बहुत सीमा तक उपयोगी है[3]। क्योंकि निरुक्तकार यास्क का मत है कि अनिर्दिष्टदेवताक मन्त्रों में छन्द से भी देवता का परिज्ञान करना चाहिए। इसलिए उन्होंने सप्तमाध्याय में भक्ति साहचर्य आदि का विधान किया है। उसमें छन्दों का भी उल्लेख किया है।

आर्ष विचार

समस्त अनुक्रमणीकार इस बात में सहमत हैं कि ऋषि मन्त्रद्रष्टा होते हैं।[4]

प्रायः करके सब अनुक्रमणीकार ऋषिनाम के साथ गोत्रादि विशेषणों का उल्लेख करते हैं, परन्तु क्या प्राचीन क्या अर्वाचीन समस्त वेदभाष्यकार (सायण को छोड़ कर) ग्रन्थगौरवादि के कारण प्रायः करके आर्ष नामों के साथ गोत्रादि विशेषण पदों का उल्लेख नहीं करते। इस विषय में स्कन्द स्वामी उद्गीथ वेङ्कट माधव दुर्गाचार्य तथा वररुचि आदि के भाष्य देखे जा सकते हैं। वस्तुतः देखा जाय

---

१. आर्षेय ब्रा० १।१।ऋ० सर्वा० १।१॥

२. तत्रार्षदेवतयोरर्थविबोधने उपयुज्यमानत्वात् ते दर्शयिष्येते। न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्। स्कन्द ऋ० भा० पृ०२।

३. द्र०—इसी ग्रन्थ के इसी भाग में छन्दःशास्त्र प्रकरण में मुद्रित **'मन्त्राणाम् आधिदैविकार्थविज्ञाने छन्दसां साहाय्यम्'**। यह लेख संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में छपा है। पृष्ठ ३८२-४०२।

४. सब ऋषिनाम मानवों के नहीं हैं। अनेक नाम मानवेतर प्राणियों और जड़ पदार्थों के भी हैं। द्र०—**'मेरी दृष्टि में—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य'**। पृष्ठ १५४–१६०।

तो गोत्र पदों का उल्लेख न करना कोई दोषावह भी नहीं है। ब्राह्मणग्रन्थों तक में अनेकों स्थानों पर गोत्र का उल्लेख नहीं मिलता। यथा—

"तान् वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्·····तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवः प्रथममसृजत्।" ऐ० ब्रा० गो० ब्रा०।

"अयं सो अग्निरिति विश्वामित्रस्य सूक्तम्।" तै० सं० ५।२।२३।। इत्यादि।

इतना ही नहीं अपितु कई अनुक्रमणीकार भी प्रायः गोत्रादि का उल्लेख नहीं करते। उदाहरणार्थ अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी को उठा कर देखें। वहां ९५ प्रति सैकड़ा गोत्र पदों का अभाव मिलेगा। हां इतनी बात ठीक है कि गोत्र पदों का उल्लेख करना प्राचीन ऐतिह्य के परिज्ञान में बहुत सीमा तक उपयोगी होता है। इतना होने पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करने से मालूम होगा कि प्राचीन आचार्य गोत्र पदों को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते थे परन्तु आजकल के कुछ एक अल्पज्ञ शास्त्रीय परिपाटी से सर्वथा अनभिज्ञ लोग यहां तक लिखने का दुःसाहस करते हैं कि स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में गोत्र पदों का उल्लेख न करके ४८४ अशुद्धियां की हैं[1]।

इसके अतिरिक्त एक यह आक्षेप भी करते हैं कि कहीं गोत्रादि पदों का उल्लेख करना और कहीं न करना भी अनुचित है। सर्वत्र एक जैसी शैली रहनी चाहिए, इत्यादि।

यद्यपि इनमें से अन्तिम आक्षेप देखने में अति भयङ्कर प्रतीत होता है, तथापि यह आक्षेप वस्तुतः आक्षेप ही नहीं है क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता अपने ग्रन्थ के रचने में स्वयं स्वतन्त्र होता है और उसकी अपनी विशिष्ट शैली होती है। जिसके अनुसार वह निर्बाध रूप से चलता है। उदाहरणार्थ पाणिनीय व्याकरण को ही लीजिए। उसमें कहीं **'विभाषा'** कहीं **'अन्यतरस्याम्'** कहीं **'वा'** आदि पदों का उल्लेख किया है। यद्यपि ये सब पद समानार्थक हैं तथापि **"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"** इस नियम के अनुसार "वा" पद का, या एक शैली रखने के विचार से इन में से किसी एक पद का ही प्रयोग करना चाहिए था पर पाणिनि ने ऐसा नहीं किया। क्या यह पाणिनि की भूल मानी जायेगी? कदापि नहीं। महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं—

"सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्, तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्।" (६।३।१३)।

---

१. देखो 'वैदिक धर्म' मार्च १९३८।

अर्थात् पाणिनीय व्याकरण सब वेदों का व्याकरण है। अतः वहां किसी एक मार्ग का अवलम्बन नहीं किया जा सकता। इस एक उदाहरण से समस्त शास्त्रों के तत्त्व का निदर्शन हो जाता है। क्या ऐसी अवस्था में स्वकल्पित सिद्धान्तों के अनुसार स्वामी दयानन्द की सैकड़ों अशुद्धियां निकालना अपनी अज्ञता का प्रकाश करना नहीं है ?[1]

अब हम कुछ ऐसे उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिनसे पता लगेगा कि स्वामीजी की शैली प्राचीन शिष्ट सम्प्रदायानुमोदित है।

(१) हम ऊपर लिख चुके हैं कि अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी में प्रायः करके गोत्र पदों का उल्लेख नहीं किया है पर कहीं-कहीं उल्लेख किया गया है। यथा—**'अनृणकामः कौशिकः'** (पृष्ठ ६३), **'इन्द्रजुषस्व·····भृगुरथर्वणः'** (पृष्ठ १२), **'मरीचिः काश्यपः'** (पृष्ठ ७६) इत्यादि।

(२) इसी प्रकार निरुक्तसमुच्चयकार वररुचि ने भी अपने ग्रन्थ में गोत्रादि पदों का उल्लेख न करते हुए केवल दो स्थानों पर **'शक्तिर्नाम वसिष्ठपुत्रः तस्यार्षम्'** (पृष्ठ ६६) **'अजीगर्तो नाम ब्रह्मर्षिः सुवचसस्य सूनुः'** (पृ० ७७) (प्रथम संस्करण) इत्यादि लिखा है।

ऐसे ही स्कन्द तथा दुर्ग आदि ने भी कहीं-कहीं गोत्र पदों का उल्लेख किया है, जो उनके ग्रन्थ देखने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। विस्तारभय से हम उन्हें उद्धृत नहीं करते। अब शान्त हृदय से विचारना चाहिये कि क्या ये सब ग्रन्थकार (ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर आज तक के वेदभाष्यकर्ता) भी ऋषि दयानन्द की तरह बराबर अशुद्धियां ही करते चले आये या ये आक्षेपकर्ता महानुभाव ही शास्त्रीय नियमों का परिज्ञान नहीं रखते।

यह तो केवल गोत्रादि पदों के उल्लेख न करने की बात रही, अब यदि कहीं पर आर्षनामों में विभिन्नता हो तब भी हम उन्हें एक दम अशुद्ध कहने का साहस नहीं कर सकते, क्योंकि हमें पता है कि इन सर्वानुक्रमणियों में भी परस्पर पर्याप्त विभिन्नता है और साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इन सर्वानुक्रमणियों में ऋषि-नामों का पूरा-पूरा सङ्कलन भी नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ पूर्व उद्धृत ऐतरेय ब्राह्मण के पाठ को ही लीजिये, उसमें कहा है कि "ऋग्वेद के चौथे मण्डल के १६, २२ तथा २३वें सूक्त को विश्वामित्र ने प्रथम देखा था तदनन्तर वामदेव ने देखा" इत्यादि इस ब्राह्मणपाठ के अनुसार इन सूक्तों के वामदेव और विश्वामित्र दोनों ही ऋषि हैं। पर सर्वानुक्रमणी में ऋषि केवल वामदेव को ही लिखा है। कल्पना

१. श्री प० सातवलेकरजी ने 'वैदिक धर्म' सन् १६३६ में दर्शाई थीं।

कीजिये कि आज ऐतरेयब्राह्मण का यह पाठ नष्ट हो चुका है और किसी प्राचीन वेदभाष्यकार ने विश्वामित्र को इन सूक्तों का ऋषि लिखा है (जो सर्वानुक्रमणी में नहीं है) तो क्या उसका लिखना केवल इसलिये अशुद्ध होगा कि ऋक्सर्वानुक्रमणी में उसके स्थान पर वामदेव को ऋषि लिखा हुआ है।

उदाहरणार्थ दुर्गाचार्य की निरुक्त टीका को देखिए। उसमें पृ० १००[1] पर ऋ० १०।१६९।१ का ऋषि **'सुभरा नाम गौतमः'** लिखा है। इसी सर्वानुक्रमणी में इसका ऋषि **'शबरः काक्षिवतः'** लिखा है। इसी प्रकार पृ० ५०२ पर ऋ० ८।३२।१० का ऋषि **'कश्यप'** लिखा है। सर्वानुक्रमणी में इसका ऋषि **'मेधातिथिः काण्वः'** है। (ऐसे उदाहरण बहुत से ग्रन्थों से दिए जा सकते हैं पर विस्तारभय से नहीं लिखे) तो क्या दुर्गाचार्य का लिखना अशुद्ध होगा ?

हमारे लिखने का केवल एकमात्र यही प्रयोजन है कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन न करके केवल मात्र एक सर्वानुक्रमणी को ही परम प्रमाण मान कर उसके ही आधार पर किसी की अशुद्धि निकालना ठीक ऐसा ही है जैसा कि स्वयं हरी ऐनक लगा कर दूसरे (यथार्थवादी)को अन्धा कहना। इसीलिए महर्षि यास्क ने कहा है—**'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति'** (निरुक्त १३। १२)अर्थात् पारोवर्यवित् पुरुषों में भी अधिक पढ़ा हुआ प्रशस्य होता है।

हमारे उपर्युक्त विवेचन का सार निम्न प्रकार है—

(१) आर्ष नामों के साथ गोत्र पदों का उल्लेख न करना कोई दोषावह बात नहीं है।

(२) ऋषि दयानन्द की तरह प्राचीन वेदभाष्यकार तथा कोई-कोई अनुक्रमणी-कार भी सर्वत्र गोत्र पदों का उल्लेख नहीं करते।

(३) सर्वानुक्रमणियों में समस्त आर्षनामों का पूरा-पूरा सङ्कलन नहीं है अर्थात् सर्वानुक्रमणी आदि में लिखे हुए ऋषियों के अतिरिक्त अन्य भी कई ऋषि हैं।

(४) जहां सर्वानुक्रमणी प्रतिपादित ऋषिनामों से विभिन्नता हो, वहां भी हम उन्हें अशुद्ध नहीं कह सकते।

अब इस विवेचन के अनन्तर पाठक महानुभाव शान्त हृदय से विचार करें कि क्या दयानन्द के वेदभाष्य में ऋषिनामों की वस्तुतः ४८४ अशुद्धियां हैं ?

अथ देवतविवेचन

हम पूर्व लिख चुके हैं कि मन्त्रार्थ के साथ देवता का जितना सम्बन्ध है, उतना

---

१. यह पृष्ठसंख्या 'आनन्दाश्रम, पूना' मुद्रित संस्करण की है।

ऋषि और छन्द का नहीं है, इसलिये सर्वानुक्रमणी-प्रतिपादित देवताओं का विचार विशेषरूप से न होगा।

देवता का लक्षण

देवता का लक्षण ऋक्सर्वानुक्रमणी में इस प्रकार किया है—'या तेनोच्यते सा देवता' (परि० २।५) अर्थात् मन्त्र के द्वारा जिसका प्रतिपादन किया जाता है, वह उस मन्त्र का देवता होता है[1]। यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है।

मन्त्रों के दो भेद

मन्त्र दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनमें देवतावाची पद का निर्देश होता है। ऐसे मन्त्र 'निर्दिष्टदेवताक' कहाते हैं। दूसरे वे होते हैं जिनमें देवतावाची पद का निर्देश नहीं होता। ये मन्त्र 'अनिर्दिष्टदेवताक' कहाते हैं।

देवता का यथार्थ ज्ञान ऋषियों को ही होता है

देवता का निश्चय करना बड़ा ही कठिन कार्य है। जो पुरुष पूर्णतया मन्त्रार्थ को समझता है, वही देवता का निश्चय कर सकता है। यास्क ने लिखा है—'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति—अनृषेरतपसो वा' (निरुक्त १३।१२) अर्थात् मन्त्रार्थ (देवता) का ज्ञान अनृषि या अतपस्वी को नहीं हो सकता। निरुक्त के इसी वचन के आधार पर आचार्य शौनक ने लिखा है—

न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्॥ योगेन दाक्ष्येण दमेन बुध्या बहुश्रुत्या तपसा नियोगैः। उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवताः। बृ० दे० ८।१२९, १३०॥

अर्थात् मन्त्र अनृषि को प्रत्यक्ष नहीं होते। योग, दम=इन्द्रियनिग्रह, व्यापक पाण्डित्य तथा तप आदि के द्वारा समस्त देवताओं को जानने का यत्न करना चाहिये। ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार वेङ्कटमाधव ने अपनी देवतानुक्रमणी में लिखा है—

देवतातत्त्वविज्ञानं महता तपसा भवेत्।
शक्यते किमस्माभिर्याथातथ्येन भाषितुम्॥
(पृ० ५५, मद्रास संस्करण)

अर्थात् देवता का यथार्थज्ञान बड़े 'तप' से होता है, इसलिये हमलोग उस का यथार्थतया वर्णन नहीं कर सकते।

---

१. 'तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता' (षड्गुरुशिष्य, वेदार्थदीपिका, पृष्ठ ६०)।

यह है प्राचीन आचार्यों तथा विद्वानों की सम्मति। पर आजकल के कुछ एक अल्पश्रुत लोगों का कहना है कि—

(१) किस सूक्त का कौन देवता है, इसका निश्चय करने के लिये किसी योग-सामर्थ्य तपोबल की आवश्यकता नहीं।[1]

(२) आओ हम किसी भी संस्कृतज्ञ को वह युक्ति बता देने को तैयार हैं, जिससे वह किसी योगबल तपोबल के विना तथा सर्वानुक्रमणी के विना ही फलाने सूक्त की फलानी देवता है, यह सूक्त पढ़ते ही बता देगा।[2]

निरुक्तकार यास्क के समय में भी ऐसे-ऐसे 'विद्वच्छिरोमणि' उत्पन्न हो गये थे, जो कहते थे कि 'हम निरुक्तशास्त्र विना पढ़े मन्त्र को देखकर ही समझ लेंगे कि इस मन्त्र का क्या देवता है'। ऐसे 'विद्वन्मन्यों' को फटकारते हुए यास्क ने लिखा है—

"अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति। 'इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति' इति वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे। 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' इति अग्निर्मान्यवे मन्त्रे।" (निरुक्त १।१७)

अर्थात् यज्ञकर्म में देवतानिर्देशपूर्वक अनेक विधियां कही गई हैं। यथा—**ऐन्द्रघा गार्हपत्यमुपतिष्ठते** इत्यादि। निरुक्तशास्त्र के अध्ययन के विना देवता का यथार्थ ज्ञान (कौन प्रधान है और कौन निपात है) नहीं हो सकता, यदि वे कहें कि हम लिङ्ग (देवतावाचक पद) जानते हैं तो यास्क दो मन्त्र उद्धृत करके पूछते हैं कि **'इन्द्रं न त्वा'** इस आग्नेय मन्त्र में वायु तथा इन्द्र और **'अग्निरिव मन्यो'** मन्यु देवतावाले मन्त्र में अग्नि का लिङ्ग देखा जाता है, बताओ यहां कौन देवता है ?

यह कथा उन मन्त्रों की है, जो निर्दिष्टदेवतावाले हैं। जब इनमें ही देवतावाची पद के दर्शनमात्र से देवता का निश्चय नहीं हो सकता तो अनिर्दिष्टदेवतावाले मन्त्रों में योगसामर्थ्य या तपोबल के बिना देवता का परिज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है।

अनिर्दिष्टदेवतावाले मन्त्रों में देवता का परिज्ञान करना कितना कठिन कार्य है, इस बात को समझाने के लिये निरुक्तकार यास्क ने एक आख्यायिका लिखी है—

"शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति तस्मै देवतोभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव तां न जज्ञे।" निरुक्त २।८॥

---

१. 'वैदिक धर्म' मई १९३८; पृष्ठ ४२९, कालम १।

२. 'वैदिक धर्म' मई १९३८, पृष्ठ ४१८, कालम २।

अर्थात् महामुनि शाकपूणि ने विचार किया कि मैं सब देवताओं को जानता हूं, उसी समय 'उभयलिङ्गा देवता' आकर उपस्थित हुई, उसको वह न जान सका। अर्थात् **'इयं स शिङ्क्ते'** (ऋ० १।१६४।२९) मन्त्र में पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों पदों का निर्देश होने के कारण निश्चय नहीं कर सका कि इस मन्त्र का कौन देवता है।

इस आख्यायिका को यहां उद्धृत करने का केवलमात्र इतना ही अभिप्राय है कि शाकपूणि जैसे वेद के प्रकाण्ड विद्वान् को भी (जिसने अपना निरुक्त भी बनाया था और जिसे यास्क और शौनक बार-बार अपने ग्रन्थों में स्मरण करते हैं) देवता विषय में कहीं-कहीं सन्देह उत्पन्न हो जाता है, वहां महर्षि दयानन्द के योगसामर्थ्य और तपोबल की पदे पदे हंसी उड़ाना कितनी घृणित अनधिकार चेष्टा है। इसीलिए भगवान् व्यास लिखते हैं—**"बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति"** (आदिपर्व १।२३८) अर्थात् वेद अल्पश्रुत पण्डिताभिमानियों से डरता है कि कहीं यह मुझ पर ही प्रहार न करें। वेद का ऐसे लोगों से डरना वस्तुतः ठीक है। मन्त्र मात्र को देखकर देवता का निश्चय करनेवाले लोगों ने वेद के साथ क्या-क्या अनर्थ नहीं किया। उदाहरणार्थ **'केतुं कृण्वन्नकेतवे'** (ऋ० १।६।३) इस मन्त्र में केतु पद देखकर **केतु** देवता की और **'उद्बुध्यस्वाग्ने'** (यजुः १५।५४) इस मन्त्र से बुद्ध देवता की कल्पना करके मन्त्रों से उनकी पूजा करने कराने लगे। यहीं तक नहीं 'सतीप्रथा' जैसी अमानुषीय प्रथाएं भी वेद के नाम मढ़ी जाने लगीं। यह सब मन्त्रमात्र को देखकर देवता का निश्चय करनेवाले लोगों के मस्तिष्क की ही तो कल्पनाएं थीं?

इन लोगों को इतना भी समझ में नहीं आता कि यदि देवता का परिज्ञान करना इतना सरल काम है कि जो मन्त्र को देखकर ही किया जा सकता है, तो भला ऐसे तुच्छ कार्य के लिए **शौनक यास्क-आश्वलायन** और **कात्यायन** आदि अनेकों आचार्यों ने ग्रन्थरचना का इतना महान् प्रयास क्यों किया? क्या वे सब मूर्ख थे? इसीलिये वेद कहता है—**'पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः'** (ऋ० १।१६४।१६) अर्थात् जिनकी आंखें होती हैं, वे ही समझ सकते हैं, मूर्ख नहीं।

ऋषियों के दर्शनभेद से देवताओं में भिन्नता

ऐसी अवस्था में अवश्यम्भावी है कि हर एक आचार्य की दृष्टि भिन्न-भिन्न हो। क्योंकि वेद कहता है—**'मनोजवेष्वसमा बभूवुः'** (ऋ०१०।७१।७) अर्थात् बाह्य साधन होने पर भी मानसिक व्यापार में असमानता अवश्य होती है। अतः ऋषियों के दृष्टिभेद से देवता में भी भेद होना अवश्यम्भावी है। आचार्य यास्क ने भी कहा

है—'**एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति**' (निरुक्त ७।३)। इसके प्रमाण सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता आदि ग्रन्थों में सैकड़ों स्थानों पर मिलते हैं, जिन पर विचार करने से सिद्ध होता है कि 'देवता' अनुक्रमणीग्रन्थों तक ही सीमित नहीं हैं, द्रष्टा के दृष्टिभेद से उनसे भिन्न देवता भी माने जा सकते हैं। उदाहरणार्थ '**नवो नवो भवति जायमानः**' (ऋ० १०।८५।१९) इस मन्त्र को लीजिये। तैत्तिरीयसंहिता, बौधायनश्रौत, सत्याषाढश्रौत आदि में इसका **आदित्य देवता**[1] कहा है। तैत्तिरीयब्राह्मण, आश्वलायनश्रौत, शांख्यायनश्रौत आदि में **चन्द्रमा देवता**[2] लिखा है। मैत्रायणीसंहिता में यह मन्त्र **वैश्वानर**[3] चरु में विनियुक्त है। इस मन्त्र के विषय में बृहद्देवताकार आचार्य शौनक लिखता है—

"·····**सौर्या चान्द्रमसीपरा।**
परस्याः प्रथमौ पादौ सौर्यौ, चान्द्रमसौ परौ॥
और्णवाभो वृवृचे त्वस्मिन्नश्विनौ मन्यते स्तुतौ॥"
(बृह० ७।१२४।१२५)

अर्थात् '**नवो नवो भवति**' इस समग्र मन्त्र का सूर्य और चन्द्रमा देवता है। दूसरे आचार्य कहते हैं कि प्रथम दो पादों का सूर्य देवता है और उत्तर दो पादों का चन्द्रमा। आचार्य और्णवाभ कहते हैं कि अश्विनौ की स्तुति है।

इसी मन्त्र के विषय में यास्क ने भी लिखा है—'**आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके**' (निरुक्त ११।६) अर्थात् कई आचार्यों के मत में इस मन्त्र के द्वितीय पाद का देवता आदित्य है।

इसी प्रकार '**प्रसुष्टुतिः**' (ऋ० ५।४२।१४) मन्त्र के विषय में बृहद्देवताकार लिखता है—

"·····**प्रसुष्टुतिरिति त्वृचि॥**
शौनकादिभिराचार्यैर्देवता बहुधेरिताः।
इलस्पतिं शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः॥
यास्कस्तु पूषणं मेने स्तुतमिन्द्रं तु शौनकः।
वैश्वानरं भागुरिस्तु·····॥"
(बृ० प्र० ४ श्लोक ३८-४०)

---

१. तै० सं० २।३।५॥ बौ० श्रौ० १३।२८॥ सत्या० श्रौ० २२।४।१५॥
२. तै० ब्रा० ३।१।३॥ आ० श्रौ० ९।८॥ शां० श्रौ० १४।३२।४॥
३. मै० सं० २२।३॥ ४।१२।३॥

अर्थात् ऋग्वेद (४।४२) के 'प्रसुष्टुतिः' मन्त्र में शौनक आदि आचार्यों ने बहुत प्रकार से देवता का विधान किया है। शाकपूणि के मत में इस मन्त्र का 'इलस्पति' देवता है। गालव आचार्य 'पर्जन्य' और 'अग्नि' को देवता मानता है। यास्क कहता है कि मन्त्र का देवता 'पूषा' है। शौनकाचार्य 'इन्द्र' की स्तुति मानता है। भागुरि 'वैश्वानर' की स्तुति बतलाता है।

इस प्रकार इस मन्त्र के इलस्पति, पर्जन्य, अग्नि, पूषा, इन्द्र और वैश्वानर ये छः देवता माने गये। जो लोग अज्ञानवश यह समझ बैठे हैं कि मन्त्र में आया हुआ पद ही देवतावाचक हो सकता है, तदर्थ या तत्पर्यायवाचक नहीं[1], उनके लिये यह स्थल विशेषरूप से विचारणीय है। क्योंकि इन छः देवताओं में केवल एक इलस्पति पद ही उपर्युक्त मन्त्र में आया है, शेष देवता मन्त्रार्थ से सूचित होते हैं। इसलिये जो लोग 'अर्थ देवता नहीं होता'[2] ऐसा लिखते हैं, वह सर्वथा अयुक्त है।

हमारे इस विवेचन से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि देवता कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता तक ही सीमित नहीं हैं। क्योंकि पूर्व आचार्य भी अपनी-अपनी दृष्टि के भेद से भिन्न-भिन्न देवता मानते थे। तदनुसार आज भी प्रत्येक साङ्गोपाङ्ग वेदज्ञ, पारोवर्यवित्, सन्मात्रनिबद्धबुद्धि, योगजसमाधिसम्पन्न मनुष्य देवत्ता का निश्चय कर सकता है और उसका माना हुआ देवता सर्वानुक्रमणी आदि में प्रतिपादित देवता से भिन्न हो तो वह भी उस विभिन्नतामात्र से अशुद्ध नहीं माना जा सकता।

सर्वानुक्रमणी के देवताओं की सदोषता

इसके विपरीत सर्वानुक्रमणी आदि में बहुत से ऐसे देवता भी लिखे हैं, जिन्हें वेद को अपौरुषेय माननेवाला कोई भी विचारवान् व्यक्ति कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। हम उदाहरणार्थ दो-एक स्थल उपस्थित करते हैं—

(१) पत्नी चास्याङ्गिरसी शश्वती पुंस्त्वमुपलभ्य प्रीत्यान्त्यया तुष्टाव। (८।१।३४)

अर्थात् आसङ्ग राजा की शश्वती नामक पत्नी ने नपुंसक पति को पुनः पुमान् पाकर उसकी इस सूक्त की अन्तिम ऋचा से प्रीतिपूर्वक स्तुति की।

(२) मावयव्यरोमशयोर्दम्पत्योः सम्वादः। (ऋ० १।१२६।६-७)

---

१. देखो 'वैदिक धर्म' फरवरी १९३८।

२. देखो 'वैदिक धर्म' फरवरी १९३८, पृ० १५१।

अर्थात् इन मन्त्रों में भावयव्य और उसकी पत्नी रोमशा का परस्पर संवाद है।

उपर्युक्त मन्त्रों का सर्वानुक्रमणी के इन देवताओं के आधार पर किया हुआ सायणभाष्य भी देखनेयोग्य है (अत्यन्त अश्लील होने के कारण हम उसे उद्धृत नहीं करते)। क्या ऐसे देवताओं को, जिनसे वेद का वेदत्व ही नष्ट हो जाता है, वैदिकधर्मी कभी भी आंख मीच कर प्रमाण मान सकता है?

इसलिये ऐसे स्थानों पर आचार्य दयानन्द ने जानबूझकर सर्वानुक्रमणी के देवताओं को न मानकर अपने नये देवता लिखे। अन्यथा गन्दी कहानियां लिखने से वेद का वेदत्व ही नष्ट हो जाता। क्या कोई स्वामी दयानन्द के इस कार्य को अनुचित सिद्ध कर सकता है?

जो लोग सर्वानुक्रमणी आदि प्रतिपादित देवताओं को ईश्वरप्रदत्त मानते हैं[1], वे शान्त हृदय से विचार करें कि क्या ऐसे देवता (जिनसे वेद का महत्त्व ही नष्ट हो जाता है) भी ईश्वरीय ही मानने चाहिये? हमारी समझ में इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है कि ग्रन्थकार तो स्वयं आचार्यों के नाम की घोषणा करता हुआ लिखे कि अमुक द्रष्टा इस मन्त्र का यह देवता मानता है, अमुक यह और हम उन सबको ईश्वरीय ही मान लें। वस्तुतः बात यह है कि या तो ऐसे लोगों ने शास्त्रों का अनुशीलन ही नहीं किया, या कोई दूसरा हेतु है।

सर्वानुक्रमणी के देवता और प्राचीन आचार्य

इतना ही नहीं कि स्वामी दयानन्द ने ही सर्वानुक्रमणी आदि के देवताओं को पूर्णरूप से न माना हो, अपितु आज से सैकड़ों वर्ष प्राचीन वेदभाष्यकार भी सर्वानुक्रमणी आदि के देवताओं को अशुद्ध मानते थे। उदाहरणार्थ दो-तीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) **प्रजापतेर्हरिश्चन्द्रस्यान्त्या चर्मप्रशंसा वेति केचित्। तदसत्। अप्रतिभासनात्।** (जयतीर्थ—ऋग्भाष्यटीका, पत्र २५)

अर्थात् ऋ० १।२८।९ के विषय में जयतीर्थ (१३वीं शताब्दी) लिखता है कि कई (सर्वानुक्रमणीकार आदि) इस मन्त्र का देवता प्रजापति, हरिश्चन्द्र तथा चर्म की प्रशंसा मानते हैं, सो अशुद्ध है, क्योंकि मन्त्र से उक्त अर्थ की प्रतीति नहीं होती।

इसी प्रकार स्कन्द स्वामी भी लिखता है—

(२) **प्रजापतिं हरिश्चन्द्रमित्येतत्तु प्रजापतेर्हरिश्चन्द्रस्यान्यतरस्योभयोर्वाऽस्यामृचि प्रशंसाया असम्भवाद् यथोक्तं तत्पर्येष्यम्।** (त्रिवेन्द्रम संस्करण, पृष्ठ ८३)

---

१. देखो 'आर्यज्योति' १८, २५ दिसम्बर १९३८।

अर्थात् इस मन्त्र में प्रजापति और हरिश्चन्द्र की स्तुति असम्भव होने से शौनक का कथन चिन्त्य है।

(३) अनुक्रमणिकोक्तदेवतानां भाष्ये दूष्यमाणत्वाद् भाष्यानुसारं देवतामाह।
(नृसिंहाचार्यकृत छलारी टीका पत्र ५५)

अर्थात् (माधवाचार्यकृत ऋग्वेद) भाष्य में अनुक्रमणी के देवताओं को अशुद्ध सिद्ध करने के कारण (जयतीर्थ) भाष्यानुसार देवता को कहता है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि देवताविषय में सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थ ही परम-प्रमाण नहीं हैं और इनके देवताओं को न मानना कोई हानिकारक कार्य भी नहीं है। जो लोग यह समझ बैठे हैं कि ये सर्वानुक्रमणी में कहे हुए देवता ईश्वरीय हैं और इनके न मानने से वेद भी अनित्य हो जाएगा, सर्वथा अज्ञानान्धकार में पड़े हुए हैं। वस्तुतः बात इतनी ही है कि इन कात्यायन, शौनक आदि आचार्यों ने मन्त्रों का जो अभिप्राय स्वयं या परम्परानुसार समझा, उसका उन्होंने अपने ग्रन्थ में संकलन कर दिया। ये कोई वेद की तरह ईश्वरीय देन नहीं है।

क्या स्वामी दयानन्दस्वीकृत देवतानिर्देश की शैली अशास्त्रीय है?

स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में कई स्थानों पर मन्त्र-गत पद का देवता रूप से उल्लेख न करके उसके अर्थ या पर्यायवाची पद का निर्देश किया है। इस पर कई एक महानुभाव आक्षेप करते हैं कि मन्त्र-गत पद का उल्लेख न करके उसके अर्थ या पर्याय का उल्लेख करना अशुद्ध है। मन्त्र-गत पद ही देवता होता है।

हम उनके इस कथन पर अधिक न लिखते हुए इतना अवश्य लिखेंगे कि आक्षेपकर्ता महोदय ने जिन ग्रन्थों के आधार पर आक्षेप किया है उन्हें भी भली प्रकार नहीं देखा। उनके परमप्रमाण माने हुए सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता के कर्ता आचार्य कात्यायन तथा शौनक भी कई स्थानों पर मन्त्र-गत देवतावाची पद को देवता न लिखकर उसके अर्थ को देवता लिखते हैं। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद तृतीय मण्डल के आठवें सूक्त को लीजिये, उसमें **'वनस्पते'** ऐसा सम्बोधन पद कई बार आया है। ऋक्सर्वानुक्रमणी ने इस सूक्त का देवता **'यूप'** लिखा है। बृहद्देवता ने **'यूप'** और **'अग्नि'** ये दो देवता माने हैं। यूप और अग्नि ये दोनों पद सम्पूर्ण सूक्त में कहीं पर भी नहीं आये। अब विचार पैदा होता है कि ये यूप और अग्नि क्या हैं? यास्क ने इस सूक्त के प्रथम मन्त्र का **'वनस्पति'** देवता माना है और लिखा है—**'तत् को वनस्पतिः? यूप इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः'** (निरुक्त ८। १७) अर्थात् इस मन्त्र में आये हुए वनस्पति शब्द का अर्थ कात्थक्य आचार्य 'यूप'

मानते हैं और शाकपूणि 'अग्नि'। अब पाठक महानुभाव विचार करें कि सर्वानुक्रमणीकार और बृहद्देवताकार ने इस सूक्त के जो 'यूप-अग्नि' देवता लिखे हैं, वे मन्त्रगत 'वनस्पति' शब्द के अर्थ हैं या नहीं ? अतः यह सिद्धान्त बनाना कि 'मन्त्रगत पद ही देवता हो सकते हैं, उसका अर्थ नहीं' प्राचीन आर्ष परिपाटी से सर्वथा विरुद्ध है। इसी प्रकार अघमर्षणसूक्त (ऋ० १०।१९०) का देवता जो 'भाववृत्त' माना है, वह कहां से आया ? क्या यह सम्पूर्ण सूक्त का संक्षिप्त अर्थ नहीं है ? (भाव=पदार्थ का वृत्त=होना) इससे सिद्ध है कि महर्षि दयानन्द ने जो ब्रह्मणस्पति (ऋ० १।४४) आदि के बृहस्पति आदि अर्थों को देवता लिखा है, वह सर्वथा शुद्ध है और प्राचीन आर्ष प्रणाली के अनुकूल है। उनको अशुद्ध कहना अपनी अज्ञता का प्रकाश करना है।

[इस लेख में छन्दों के विषय में नहीं लिखा गया है। इसका कारण सम्प्रति स्मरण नहीं। मन्त्रों के छन्दों की भिन्नता के विषय में हमने 'वैदिक-छन्दो-मीमांसा' के अठारहवें अध्याय में विस्तार से लिखा है।

मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्दों के विषय में 'मेरी दृष्टि में—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य' ग्रन्थ में पृष्ठ १५२ से १७३ तक देखें।]

भगवत्पाददयानन्दसरस्वतीस्वामिनः अपूर्वा कृतिः

चतुर्वेद-विषयानुक्रमणी

[अयं लेखो 'गुरुकुलपत्रिकायाः' २०२४ वैक्रमाब्दस्य भाद्रपदाश्विनमासयोरङ्के प्रकाशितमभूत् । लेखान्ते निर्दिष्टाऽभिनवा टिप्पण्यत्र द्रष्टव्या ।]

माननीया वेदविचक्षणास्तत्स्वाध्यायोत्सुका वा विद्वांसः ! अद्य भवतां पुरस्ताद् वेदविद्याप्रचारायोत्सर्गिकृतकायानां तत्रभवतां भगवत्पादानां दयानन्दसरस्वतीस्वामिनामेकस्या अपूर्वकृतेः परिचयः प्रदीयते । यद्यप्यस्या निर्देशो मयाऽष्टादशवर्षेभ्यः प्राक् 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नाम्नि ग्रन्थेऽकारि, तथापि केचन एव विद्वांसस्तेन लब्धपरिचयाः सन्ति । अस्या महत्त्वपूर्णाया अपूर्वायाः कृतेस्तत्र नाम 'चतुर्वेद-विषयसूची' इति वर्तते । परन्त्विहास्माभिरिय कृतिः प्राचीनार्षग्रन्थनामशैल्यनुसारम् ऋष्यनुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी इत्यादिनाम्नामिव 'चतुर्वेदविषयानुक्रमणी' नाम्नाभिहिता ।

प्राचीनैर्ऋषिमुनिभिर्यद्यपि चतुर्णां वेदानामर्थविज्ञापनाय ऋषिदेवताछन्दोविषयका बहवोऽनुक्रमणीसंज्ञका ग्रन्था निबद्धा, यैर्वेदार्थज्ञाने पर्याप्तं साहाय्यमस्माभिः प्राप्यते । यद्यपि च देवतानुक्रमणीभ्यो वेदविषयविज्ञानेऽपि साहाय्यं प्राप्यते, तथापि यथाविधं वेदार्थविज्ञाने साक्षात् साहाय्यं तत्रभवतां दयानन्दस्वामिनां चतुर्वेदविषयानुक्रमण्याः प्राप्यते, न तथाविधं प्राचीनेभ्यो देवतानुक्रमणीग्रन्थेभ्योऽवाप्यते । तत्र कारणद्वयं वर्तते ।

प्रथमं तावत् प्राचीनासु देवतानुक्रमणीषु मन्त्रगतान्येवाग्निर्वायविन्द्रादीनि पदानि देवतात्वेन पठितानि । तैर्न साक्षादिदं विज्ञायते यत् कस्मिन् मन्त्रे सूक्ते वाऽन्यादिपदैः कतमो विषयः प्रतिपाद्यते, मन्त्रगतपदानामनेकार्थाभिधायकत्वात् । भगवद्दयानन्दस्वामिभिरस्यामनुक्रमण्यां प्रतिवर्गं प्रतिसूक्तं प्रत्यध्यायं वा को विषयः प्रतिपाद्यत इति स्वशब्दैः साक्षान्निर्दिश्यते, तेनासन्दिग्धरूपेण विज्ञायते यदत्रान्यानिपदानां कोऽभिप्राय इति ।

अपरं च, प्राचीनाः सर्वा अप्यनुक्रमण्यः 'वेदा यज्ञार्थमेव प्रयुक्ताः' इति मतमनुरुध्य देवतानिर्देशं विदधते । यज्ञशब्देन च श्रौतिकं कर्मकाण्डमेव गृह्यते, न भगवत्पाद-

दयानन्दस्वामिभिः स्वीकृतो यज्ञस्य विस्तृतोऽर्थः। एतच्च ता अनुरुध्य प्रवृत्तैः प्राचीनैर्ग्रन्थैरतितरां विस्पष्टं विज्ञायते। भगवत्पादस्त्वत्र साक्षाद् अधियज्ञम् अधिदैवतम् अध्यात्मं चार्थमनुसृत्य सरलैः शब्दैर्वेदानां विषयनिर्देशं विज्ञापयन्ति। अत एव तत्रभवतां भगवत्पादानां कृतिरियं वैदिकवाङ्मये वेदार्थविज्ञापनाय प्रवृत्तेषु विविधेषु ग्रन्थेषु सत्सु सर्वानपि ग्रन्थानतिशेते। अनया दृष्टया भगवद्दयानन्दपादानामियं लघ्वपि कृतिर्मूर्धाभिषिक्ता वर्तते।

भगवद्दयानन्दसरस्वतीभिर्वेदभाष्यविरचनात् प्राग् वेदविषयकं प्राचीनं मध्यकालीनं द्विविधं भारतीयं मतं पाश्चात्यमतं च सम्यग्विज्ञाय तैरनुसारं प्रतिमन्त्रं विचारं कृत्वा प्रथमं वेदस्वरूपं निश्चितम् अर्थाद् वेदाः सर्वविद्यामया वा भौतिककर्मकाण्डपरा वा अजाविपालगीतयुता बालिशा वेति। तत्र प्राचीनानामृषिमुनीनां वेदविषयकं सर्वविद्यामयत्वं मतं सत्यमिति विज्ञाय तदनुसारं चतुर्णामपि वेदानां प्रतिवर्गं प्रतिसूक्तं च यो विषयस्तैर्दृष्टस्तस्यात्र सङ्कलनं विहितम्। एवं च चतुर्णामपि वेदानां सम्यगवगाहनं कृत्वा यन्नवनीतं तैरुपलब्धं तत्संक्षेपेण संगृह्य सर्वेभ्यः सम्प्रदातुं तदनुसारं वेदभाष्यस्य प्रणयनमारब्धम्।

यद्यपि तत्रभवताम् आचार्यपादानां चतुर्णामपि वेदानां भाष्यस्यासीत् प्रणयनेच्छा तथापि भारतीयानामस्माकं दुर्दैवविपाकाद् अल्पायुष्येव तेषां स्वर्गमनात् केवलं यजुर्वेदस्य सम्पूर्णम्, ऋग्वेदस्य सप्तममण्डलस्य द्विषष्टितमसूक्तस्य द्वितीयमन्त्रं यावदेव भाष्यं भगवत्पादैः रचितम्।

यद्यपि भाष्यप्रणयनकाले भगवद्दयानन्दपादैः क्वचित् क्वचित् चतुर्वेदविषयानुक्रमण्यां निर्दिष्टानां विषयाणां परित्यागं कृत्वाऽन्ये विषयास्तत्र तत्रोद्दिष्टाः, तथापि नैतेन क्वचित् तदुक्तविषयपरित्यागेनास्य अनुक्रमण्या गौरवं किञ्चिदपि हीयते। यतः पक्षान्तरे विषयानुक्रमण्यां निर्दिष्टानामपि विषयाणामौचित्यस्यानाशात्।

अपि च सामाथर्वयोरवशिष्टस्यर्ग्वेदस्य च भगवत्पाददृष्ट्याऽर्थविज्ञानाय नाद्याप्यस्य ऋते किञ्चिदन्यत् साधनमस्माकं सविधे वर्तते। अनया दृष्टया भगवत्पादैर्विरचितस्यास्य सूत्रात्मकस्य भाष्यस्य कियन्महत्त्वमित्यनायासेनैव शक्यते विज्ञातुम्।

अपि च यदीदं भगवत्पादकृतं सूत्रभाष्यं यथाकालं प्रकाशितमभविष्यत्तर्हि भगवत्पादानामनन्तरं यैरार्यमुनितुलसीरामशिवशङ्करक्षेमकरणजयदेवप्रभृतिभिर्विपश्चितैर्वेदभाष्याणि विरचितानि तेषामपि स्वरूपमधिकं दिव्यमभविष्यत्। वेदभाष्यकृतामेतेषां विद्वद्वराणां वेदे प्रविविक्षूणां स्वाध्यायशीलानां चार्याणां दौर्भाग्यमेव यदियं भगवत्पादानां मूर्धाभिषिक्ता कृतिस्तद्ग्रन्थानाम् आर्षग्रन्थानां प्रचाराय प्रसाराय मुद्र-

णाय च स्वयमधिकृताया: परोपकारिणीसभाया: कालगृहे आजन्मकारावासप्राप्तस्य कृतापराधस्य जनस्येवासूर्यम्पश्या सती स्वायुषोऽन्तिमान् क्षणान् यापयति।

यद्यस्य ग्रन्थस्य प्रकाशनमभविष्यत्तर्हि न केवलं भगवत्पाददृष्टं वैदिकं विज्ञानमेव लोके प्राकाशयिष्यद् अपितु या बहुविधा वेदविषयका: शङ्का अस्माकं हृदयान् व्यथयन्ति ता अपि समूलखातमुदखनिष्यन्। उदाहरणायेह द्वयो: स्थलयोर्निर्देश: क्रियते—

(१) यम यमी-सूक्तविषये[1]—

अस्ति ऋग्वेदे दशममण्डले दशमं सूक्तं यद् यमयमीसूक्तनाम्ना वेदविद्वत्सु प्रसिद्धम्। अनेके भारतीया: पाश्चात्याश्चाधुनिका वेदाध्येतारस्तत्र सोदर्ययो: स्वसृभ्रात्रोरश्लीलं संवादं मन्यमाना यथा वेदं दूषयन्ति तदपि नाविज्ञातम् आर्याणाम्। एतत्सूक्तविषये तत्र भवद्भिराचार्यपादैरस्यामनुक्रमण्यां **'जलपदार्थविद्यावर्णनम्'** इति विषय उद्दृङ्कित:। **'प्रकरणश एव मन्त्रा निर्वक्तव्या:'** इति सिद्धान्तानुसारमाचार्यपादै: पूर्वसूक्ते साक्षादुपलभ्यमानाम् अपां वर्णनं दृष्ट्वाऽस्मिन् सूक्तेऽपि जलविद्यावर्णनं दृष्टम्।

पूर्वसूक्ते यदपां वर्णनं तत्पृथिवीस्थानीयस्याप इति मन्त्रार्थविचारणात् तन्मन्त्राणां गायत्र्यनुष्टुप्छन्दोऽन्वितत्वाच्च स्पष्टं विज्ञायते। अस्मिन् दशमे यमयमीसूक्ते पृथिवीस्थानीयानामेवापां यदा सूर्यरश्मिभिर्विभागो भवति तदा ता द्विधा विभज्यन्ते। ता एव विभागौ साम्प्रतिकवैज्ञानिकपरिभाषायां हाईड्रोजनाक्सीजनाम्ना व्यवह्रियेते। तयोर्विभागयोरेकस्यांशव सूक्ष्मास्सन्तोऽप्यन्यतरदृष्ट्या महीयांसो भवन्ति। तत्र ये महीयांसस्ते यमीसंज्ञयोच्यन्ते, सूक्ष्माश्च यमसंज्ञया। यत: स्त्रिया: संघात्मकत्वात् (**स्त्री स्त्यायते:, स्त्यै ष्ट्यै संघाते**) **'हिमारण्ययोर्महत्वे'** इति स्त्री-प्रत्ययविधायके महत्वे स्त्रीप्रत्ययविधानदर्शनाच्च यमयमीसंज्ञयोरयं विभागो द्रष्टव्य:।

एवं च ता आपो द्विधा विभागं प्राप्य सूक्ष्मीभूता: सूर्यरश्मिभिराह्रियमाणा उपरि गच्छन्ति। तत्र च मध्यमस्थानं यावद् अपाम् उभावप्यंशौ सहैव गतिं कुरुत:। तदनु सूक्ष्मतरो यमसंज्ञको भागस्ततोऽप्युपरि यावद् द्युलोकं याति। अत एवाधिदैविकविज्ञानानुसारं मन्त्रार्थविज्ञापके निघण्टुग्रन्थे तद्व्याख्याने निरुक्ते च मध्यमस्थाने

---

१. यह प्रकरण 'मेरी दृष्टि में—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनका कार्य' पुस्तक में पृष्ठ १२७ पर देखें।

उभे यमयमीपदे पठ्येते व्याख्यायेते च, यमशब्दश्च द्युस्थाने। एतत्संकेतानुसारं यमयमीसूक्तस्था मन्त्रा अनायासेनैव व्याख्यायन्ते। तत्रोक्ता **'गर्भे नु नौ जनिता दम्पती' 'किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति, किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्'** इत्याद्यंशा अपि सहजभावेनैव गतार्थका भवन्ति। यत उभावपि यमयमीसंज्ञकौ विभागौ स्थूल-रूपाभ्योऽद्भ्य एव समुद्भूतावतो गर्भ एव तौ सह जनितत्वाद् भ्रातृस्वसृशब्दाभ्या-मुच्येते। यतो दमस्य गृहस्य शरणस्य स्वाश्रयस्य मूलकारणस्य अरूपस्य तावेव पती रक्षकावत एतौ दम्पती इत्युक्तौ। यदा च द्युस्थानं प्राप्तः सूक्ष्मोंऽशः सोमाश्रयीभूतात् सूर्यात् सोमरूपमुपलभ्य पुनरावर्तते तदाऽन्तरिक्षे यमीरूपांशेन सह तस्य समागमो भवति, पुनश्च तौ मिलित्वा जलरूपं प्राप्येह लोकं प्राप्नुवन्ति। अत एवोर्ध्वं गच्छन् यमो ब्रवीति—**'आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि'** इति।

वेदेषु प्रयुज्यमाना मातृपितृभ्रातृस्वसृदम्पतीपुत्रनप्तृप्रभृतयः शब्दा मुख्यया वृत्त्या यौगिकार्थमेव ब्रुवन्ति। तमेव च मूलभूतं यौगिकमर्थमाश्रित्यैते लोके योगरूढाः सम्पद्यन्ते। तस्मान्न वेदे एतैर्नामभिरुच्यमानाः पदार्था लोक एव सचेतना एवा-श्रियन्ते। अपि च यास्य सूक्तस्यं वैदिकसम्प्रदाये यमयमीसूक्तेति संज्ञा, साप्यनयो-र्यमयम्योराधिभौतिकत्वमेव व्यञ्जयति। यदि हि नामेह यमयम्यौ कौचित् सोदर्यौ भ्रातरावभविष्यताम्, तर्हि यथा मातापितरौ स्वसृभ्रातरौ सीतारामौ आदिषु स्त्रिया अभ्यर्हितत्वमाश्रित्य पूर्वनिपातः क्रियते, तथात्राऽपि सूक्तस्य यमयमीसूक्तेति संज्ञा-ऽभविष्यत्। यतस्त्वत्र यमस्य पूर्वनिपातः, अतोऽत्र यमस्याभ्यर्हितत्वं विज्ञायते न यम्याः। यमस्याभ्यर्हितत्वं चान्तरिक्षं परित्यज्य द्युलोकं यावद् गमनात् स्पष्टमेव।

(२) कुन्तापसूक्त-विषये—

अपरं चास्या भगवत्पादविरचिताया विषयानुक्रमण्याः स्थलमुदाहरणीयं वर्तते, तदस्त्यथर्ववेदस्य विंशतितमस्य काण्डस्य कुन्तापसूक्तनाम्ना प्रसिद्धम्। कुन्तापसूक्त-विषय आचार्यपादैरेवमुच्यते—**'अथ कुन्तापसूक्तानि—भद्रेण वचसा वयमित्यादि··· ·····इति कुन्तापसूक्तानि समाप्तानि। परिशिष्टानि प्रक्षिप्तानीति विज्ञेयम्।'**

एतानि कुन्तापसूक्तान्यपि वेदविदुषां शिरःपीडाम् उत्पादयन्ति। एतेषां विषये आचार्यपादैः कृतो निर्देशोऽत्यन्तं महत्त्वं बिभर्ति।

एवमेव सामवेदे पूर्वयोरार्चिकयोरन्तरालं पठ्यमाना माहानाम्न्य ऋचः किं साम्न एकदेशभूता अनंशा वेति जायते शङ्का। आचार्यपादैरामान् ऋचां विषय-निर्देशाकरणाद् विज्ञायते यत् ते **'नेमा माहानाम्न्य ऋचः साम्न एकदेशाः'** इति विज्ञापयन्ति।

मया विगतेषु दशसु वर्षेषु बहुधा प्रयतितं यदस्या वेदोद्धारकस्य महर्षेरपूर्वाया अभूतपूर्वाया वा कृतेः 'परोपकारिणी सभा' कथञ्चिन् मुद्रणं कृत्वा वेदार्थबुभुत्सूनां विदुषां सदर्थविज्ञानाय मार्गं प्रशस्तीकुर्यात्, परन्त्वहमद्य यावदस्मिन् कर्मणि न कृतकार्योऽभवम् ।

आशासे भगवद्दयानन्दपादानां श्रद्धालवो विद्वांसोऽस्या भगवत्पादविरचिताया 'चतुर्वेद-विषयानुक्रमण्याः' प्रकाशनाय श्रीमतीं परोपकारिणीं सभां प्रेरयिष्यन्तीति ।[1] इत्यलमतिविस्तरेण ।

---

१. अस्य लेखस्य बहोः कालानन्तरं परोपकारिणी-सभयेयं 'चतुर्वेद-विषय-सूची' २०२८ वैक्रमाब्दे प्रकाशं नीता । तस्याः पाठो बहुत्र भ्रष्ट आसीत् । अस्माभिस्तस्या हस्तलेखेन सह पुनः पाठनिरीक्षणं कृत्वा २०३१ वैक्रमाब्दे 'दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह' नाम्नि संग्रहे महता परिश्रमेण संशोध्य प्रकाशिता ।

वेदार्थ की त्रिविध वा चतुर्विध प्रक्रिया

[आन्ध्रप्रदेशीय आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी समारोह (९।१०।११ मई, १९७४) हैदराबाद के अवसर पर आयोजित वेद-सम्मेलन के संयोजक श्री पं० विजयवीरजी वेदालङ्कार ने **'वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया'** पर निबन्ध लिखकर पढ़ने का सभी विद्वानों से आग्रह किया था, उसी के अनुसार यह लेख लिखा गया है। इस शास्त्रीय गम्भीर विषय पर केवल एक लेख श्री पण्डिता प्रज्ञाकुमारी व्याकरणाचार्या, कन्या गुरुकुल वाराणसी का प्राप्त हुआ, जो वहां पढ़ा गया। शेष समय की पूर्ति विद्वानों के सामान्य भाषण कराकर की गई।]

प्राचीन ऋषि मुनि वा आर्य, जिनके वेदसम्बन्धी व्याख्यानग्रन्थ उपलब्ध हैं, वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया का उल्लेख करते हैं। यहां तक कि जिन स्कन्दस्वामी, वेङ्कटमाधव और सायण प्रभृति वेदभाष्यकारों ने अपने वेदभाष्य याज्ञिकप्रक्रियानुसार लिखे हैं, उन्होंने भी कहीं-कहीं मन्त्रों का व्याख्यान आधिदैविक वा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार दर्शाया है।

याज्ञिक प्रक्रिया में मन्त्रों का अर्थ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त जितना यज्ञरूप कर्मकाण्ड का विषय है, किया जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में वेद की शाखाएं, ब्राह्मणग्रन्थ और कल्पसूत्र इसी याज्ञिक प्रक्रियानुसार वेद का प्रधानरूप से व्याख्यान करते हैं।

आधिदैविक प्रक्रिया में वेद का अर्थ सृष्टि-उत्पत्ति स्थिति एवं तद्भव पदार्थों में गुण-धर्म-परक होता है। इस वेदार्थप्रक्रिया के साक्षात् विधायक ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। शाखाओं एवं ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र-तत्र इस प्रक्रियानुसारी वेदार्थ मिलता है। सम्प्रति उपलभ्यमान यास्कमुनिविरचित निरुक्तशास्त्र वेद का आधिदैविक प्रक्रियानुसार ही मन्त्रार्थ करता है।

आध्यात्मिक प्रक्रिया में मन्त्रों का अर्थ शरीर-विज्ञान आत्मविज्ञान एवं परमात्मविषयक होता है। इस प्रक्रियावाले वेद-व्याख्यान ग्रन्थ भी अनुपलब्ध हैं। शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषदों में इस प्रक्रियानुसारी अर्थ यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। यास्क मुनि ने आधिदैविक प्रक्रियानुसार मन्त्रार्थ करते हुए क्वचित् **अथाध्यात्मम्** लिखकर अध्यात्मप्रक्रियानुसारी भी मन्त्रार्थ दर्शाया है। निरुक्त के १३वें

१४वें ... डों में प्राचीन निरुक्तों के मतानुसार **अतिस्तुति** नाम से कुछ मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ संगृहीत किया है। यजुर्वेद के भाष्यकार उव्वट ने ३१वें अध्याय में शौनक आचार्यकृत आध्यात्मिक व्याख्यान उद्धृत किया है। परन्तु इस प्रक्रिया के अनुसार वेद के सहस्रों मन्त्रों का व्याख्यान ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य में ही उपलब्ध होता है।

वेदार्थ की चतुर्थ प्रक्रिया है—**व्यावहारिकार्थ प्रक्रिया**। यद्यपि इस प्रक्रियानुसारी मन्त्रार्थ के संकेत यत्र-तत्र प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं, तथापि इस प्रक्रिया के अनुसार वेदभाष्य करने का श्रेय ऋषि दयानन्द को ही प्राप्त हुआ है। इस प्रक्रिया के विषय में हम अन्त में लिखेंगे।

मध्यवर्ती विद्वानों के मत में वेदार्थ

यद्यपि प्राचीन परम्परा के अनुसार वेदार्थ की ये तीनों प्रक्रियायें मान्य हैं, तथापि मध्यकालीन एवं वर्तमानकालिक विद्वानों का मत है कि वेद का प्रादुर्भाव यज्ञों के लिये ही हुआ है—**वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः**, अर्थात् वेदार्थ का क्षेत्र कर्मकाण्ड तक सीमित है। आचार्य सायण ने काण्वसंहिता के भाष्य के उपोद्घात में स्पष्ट लिखा है—

तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः। तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेति अनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्र उभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वाद् इति।

अर्थात् यजुर्वेद में दो काण्ड हैं—कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। बृहदारण्यकोपनिषद् ब्रह्मकाण्ड है और उससे भिन्न शतपथ और संहिताग्रन्थों में सर्वत्र कर्मकाण्ड है। इन दोनों में आधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास आदि कर्म का ही विधान है।

यद्यपि सायण ने ये पंक्तियां मन्त्र और ब्राह्मण को वेद मानकर लिखी हैं, फिर भी इनसे इतना स्पष्ट है कि वह ब्रह्मकाण्ड का प्रतिपादन उपनिषद् ग्रन्थों में ही मानता है, और संहिता में कर्मकाण्ड का ही निर्देश स्वीकार करता है।

यही विचार सामान्यरूप से सभी उपलब्ध वेदभाष्यों के रचयिताओं का है।

प्रसङ्ग से यह भी संकेत कर देना हम आवश्यक समझते हैं कि वेद का कर्मकाण्ड के साथ आत्यन्तिक सम्बन्ध जोड़ने का एक फल यह भी हुआ कि कर्मकाण्डियों में एक सम्प्रदाय ऐसा उत्पन्न हो गया, जो मन्त्रों के कर्मकाण्ड में विनियोगमात्र से अदृष्ट मानने लग गये और उन्होंने मन्त्रों के अनर्थकत्व को स्वीकार कर लिया।

यास्क मुनि ने इस सम्प्रदाय का युक्तिप्रमाणपूर्वक निराकरण करके मन्त्रों का अर्थ-वत्व दर्शाया है। ऐसा ही प्रयत्न आचार्य जैमिनि ने मीमांसाशास्त्र में किया है।

इस के लिखने का प्रयोजन यह है कि वेद को कर्मकाण्ड तक सीमित कर देने का कुफल महाभारतकाल में ही विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हो गया था, फिर भी उत्तरवर्ती आचार्य इस भयङ्कर अज्ञान से अपने आप को न बचा सके।

सहस्रों वर्षों के पश्चात् वेद का कर्मकाण्ड से उद्धार करने का श्रेय ऋषि दयानन्द को प्राप्त हुआ। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि वेद का कर्मकाण्ड-परक जो अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों श्रौतसूत्रों और पूर्वमीमांसा में दर्शाया है, उसे यथावत् स्वीकार करते हुए भी वेद का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वे सब सत्य विद्याओं के आकर ग्रन्थ हैं। इस विषय को समझने के लिये ऋषिदयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका और भ्रान्तिनिवारण ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया पर लिखने से पूर्व वेद का आर्थिक क्षेत्र प्राचीन ऋषियों के मतानुसार कितना विस्तृत है, इसका संक्षिप्त निदर्शन करा देना भी हम उचित समझते हैं। इस विषय में हम सबसे पूर्व आद्य समाजशास्त्र के प्रवक्ता स्वायम्भुव मनु का वेदविषयक मत लिखते हैं--

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ १२।१००॥

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥ १२।९७॥

बिर्भर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥ १२।९९॥

इन वचनों से स्पष्ट है कि वेद में सेनापति का कर्म (=युद्धसञ्चालन), दण्ड-विधान, न्यायाधीश के कर्तव्य, चक्रवर्ती राज्य के परिपालन के उपाय, भूत, वर्तमान और भविष्यकाल के देशकालोपयोगी समाजशास्त्रीय विधानों का निर्देश है। वेद ही एक ऐसा मानव का साधन है, जिससे वह ऐहलौकिक और पारलौकिक सब सुखों को प्राप्त कर सकता है। इसीलिये स्वायम्भुव मनु ने (२।१७) स्पष्ट लिखा है—**सर्वज्ञानमयो हि सः**, अर्थात् वेद सर्वविध ज्ञानों का भण्डार है।

इसी मानवधर्मशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास ने इस प्रकार किया है—

यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेद पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्॥

महा० अनु० १२२।२४॥

अर्थात् जितनी भी विद्यायें लोक में प्रसृत हुई हैं, उनके आगम (=मूलभूत शास्त्र) यथाक्रम वेद से ही प्रसिद्ध हुए हैं और समस्त लौकिक प्रवृत्तियों का मूल भी वेद ही हैं।

यही तत्त्व परम ब्रह्मनिष्ठ भगवान् याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

न हि वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्॥

भगवान् कृष्ण द्वैपायन और याज्ञवल्क्य सदृश महर्षियों के उक्त वचनों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण विद्याओं का प्रादुर्भाव वेद से ही हुआ है। अर्थात् उनमें सब विद्याओं के बीज विद्यमान हैं।

इस तथ्य की पुष्टि सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय से भी होती है। संस्कृतभाषा में जितने भी विविध विद्याओं के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, वे अपने-अपने विषयों वा विद्याओं का मूल वेद को ही स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिये हम कतिपय विद्याओं के प्रामाणिक आचार्यों के मत यहां उपस्थित करते हैं—

१. आयुर्वेदशास्त्र के प्रवक्ता भगवान् सुश्रुत ने लिखा है—**इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य** (सूत्रस्थान अ० १)। अर्थात् आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद है।

२. ज्योतिषशास्त्र के प्रवक्ता आर्यभट्ट ने स्वग्रन्थ के अन्त में ज्योतिषशास्त्र को वेदमूलक कहा है।

३. पदार्थज्ञान के प्रतिपादक कणाद मुनि ने तो वेद का प्रामाण्य ही पदार्थधर्मों का वेद में यथावत् उपदेश होने से स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् (वै० द० १।१।३)।

अर्थात् **अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः** इस प्रतिज्ञासूत्र से वैशेषिकप्रतिपाद्य पदार्थ-धर्म का ही वेद में कथन होने से वेद का प्रामाण्य है।

कणाद मुनि ने वेद में पदार्थविज्ञान के प्रतिपादन की केवल प्रतिज्ञा ही नहीं की, अपितु स्वशास्त्र में **वैदिकं च** (५।२।२०), **वेदलिङ्गाच्च** (४।२।११) इत्यादि सूत्रों द्वारा वेदवचनों को प्रमाणरूप से भी उद्धृत किया है।

यदि वेद में विविध विद्याओं का मूल न होता, तो ये आर्ष ऋषि मुनि आचार्य स्व-स्वशास्त्र का वेदमूलकत्व न दर्शाते।

यहां यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि भगवान् कणाद ने सहस्रों वर्ष पूर्व जिस वेद में पदार्थविज्ञान का प्रतिपादन माना था, उसी वेद को आज के विज्ञान के

युग में पदार्थविज्ञान का प्रतिपादक ग्रन्थ कहने का साहस ऋषि दयानन्द ने किया है। पूना के एक व्याख्यान में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि **पदार्थविज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है।** अर्थात् वेदों में पदार्थविज्ञान के विषय में बहुत सूक्ष्म और गम्भीर ज्ञान निहित है।

वेद के स्वरूप के विषय में संक्षेप से लिखकर अब हम मूल विषय वेदार्थ की त्रिविध वा चतुर्विध प्रक्रिया पर आते हैं। पहले हम त्रिविध प्रक्रिया पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

जिस या जिन प्रक्रियाओं के द्वारा वेद का सर्वविद्यामयत्व प्रकट हो, वही या वे ही प्रक्रियायें वास्तव में वेदार्थ की प्रक्रियायें हो सकती हैं। विद्याओं के अनन्त होने से वेदार्थप्रक्रियायें भी अनन्त होंगीं। परन्तु प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अति विस्तृत वेदार्थप्रक्रिया का संक्षेप याज्ञिक आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीन प्रक्रियाओं के रूप में स्वीकार किया है। इन प्रक्रियाओं पर लिखने से पूर्व हम जिस याज्ञिक प्रक्रिया का विषय यज्ञ है, उसके विषय में अति संक्षेप से लिखते हैं—

पौराणिक और बहुत से आर्य विद्वानों का विचार है कि अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त जो भी यज्ञीय कर्मकाण्ड है, उसका वेद में साक्षात् प्रतिपादन है। हमारा भी आरम्भ में यही विचार था। इस विषय में आगरा से प्रकाशित होनेवाले **'दिवाकर'** पत्र के वेदाङ्क में यज्ञ, उनकी सहायक सामग्री और उनकी विधियों का चारों वेदों में जहां-कहीं भी वर्णन मिलता है, उसका सङ्कलन प्रकाशित किया था। परन्तु उसके पीछे दीर्घकालीन वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि प्रसिद्ध श्रौतयज्ञ अपने रूप में स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं और ना ही वेदों का इनके साथ साक्षात् सम्बन्ध है। इन यज्ञों की प्रकल्पना ऋषियों ने सृष्टिविज्ञान को समझाने के लिये की थी। वेद में जहां भी यज्ञों का वर्णन मिलता है, वह प्रधानरूप से सृष्टिरूपी यज्ञ का ही है। पुरुषसूक्त अथवा पुरुषाध्याय के कतिपय मन्त्र इसकी स्पष्ट घोषणा करते हैं। प्राचीन आचार्य भी ऐसा ही व्याख्यान करते हैं।

यज्ञों के वास्तविक स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे पुराकालीन ऐतिहासिक घटना के प्रत्यक्ष परिज्ञान के लिये नाटक लिखे जाते हैं और उन्हें रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है, अथवा जैसे भूगोल और खगोल के परिज्ञान के लिये नक्शे बनाये जाते हैं और उनके सहारे भूगोल और खगोल का ज्ञान कराया जाता है। इस दृष्टि से भूगोल-खगोल के नक्शे अपने रूप में विशेष महत्त्व न रखते हुए भी भूगोल-खगोल के परिज्ञान में सहायक होने से महत्त्वपूर्ण होते हैं। ठीक यही स्थिति श्रौतयज्ञों की है। यतः इनके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों

का बोध कराया जाता है, अतः ये भी महत्त्वपूर्ण कर्म माने गये हैं। इनके द्वारा ऋषियों ने योगविद्या से उपलब्ध सृष्टि-विज्ञान सब को प्रत्यक्षवत् जनाने का प्रयत्न किया है।

श्रौतयज्ञों का प्रयोजन सृष्टियज्ञों के तत्त्वों का परिज्ञान कराना है। इसके निर्देश वेद, वेद की शाखाओं और ब्राह्मणग्रन्थों में भरे पड़े हैं। आवश्यकता है उन का सङ्कलन करके वैदिक श्रौतयज्ञों के महत्त्व के प्रतिष्ठापन की।

यतः साधन भी जब तक प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तब तक उसकी उपयोगिता से जिस प्रकार आंखें नहीं मूंदी जातीं, उसी प्रकार आधिदैविक जगत् के परिज्ञान के प्रमुख साधन होने से ऋषियों ने इन्हें भी साध्य के समान ही महत्त्व दिया है। इस दृष्टि से वेद के अर्थ की त्रिविध प्रक्रिया का प्राचीन ऋषि मुनि आचार्यों ने वर्णन किया है। यहां हम संक्षेप से इस विषय के कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

महर्षि यास्क ने **वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्** (१०।७१।४) इस ऋङ्मन्त्र का व्याख्यान करते हुए लिखा है—

अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा। नि० १।१६॥

अर्थात् वेद का मन्त्र वेदवाणी के पुष्प और फल का निर्देश करता है। ये पुष्प और फल हैं—क्रमशः आधियाज्ञिक और आधिदैविक विज्ञान, अथवा आधिदैविक और आध्यात्मिक विज्ञान।

यह सर्वलोकविदित है कि पुष्प पहले लगता है और फल पीछे। पुष्प फल की निष्पत्ति में कारण होता है। तदनुसार यास्क का मत है कि याज्ञिक अर्थ का परिज्ञान पुष्पस्थानीय है और वह फलस्थानीय आधिदैविक विज्ञान में कारण है। इसी प्रकार जब मानव को आधिदैविक जगत् विज्ञात हो जाता है, तो वह आध्यात्मिक विज्ञान में कारण बनता है। अर्थात् याज्ञिक विज्ञान की दृष्टि से जो आधिदैविक विज्ञान फलस्थानीय था, वह उत्तर अध्यात्मविज्ञान के प्रति पुष्पस्थानीय होता है। इसी आधार पर लोक में प्रसिद्धि है कि **यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे**। अर्थात् जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह इस पिण्ड=शरीर में है।

इससे यह तत्त्व अत्यन्त विस्पष्ट हो जाता है कि श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया, रचना और शरीररचना में अत्यन्त सादृश्य है। इसी तत्त्व का निर्देश ब्राह्मणग्रन्थों के प्रवक्ता याज्ञिक तत्त्वों की व्याख्या करके **अथाधिदैवतम् अथाध्यात्मम्** लिखकर सृष्टि और शरीरसम्बन्धी तत्त्वों का सादृश्य दर्शाते हैं।

हमें यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख होता है कि ऋषि दयानन्द ने जिन अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का अपने ग्रन्थों में यत्र तत्र प्रतिपादन किया है, वेद की शाखाएं ब्राह्मणग्रन्थ और श्रौतसूत्र जिनका प्रवचन करते हैं; जिनकी व्यवस्था करने के लिए महर्षि जैमिनि ने पूर्वमीमांसाशास्त्र बनाया, आर्यसमाज ने अपने १०० वर्ष के विगत काल में इन वैदिक श्रौतयज्ञों की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। अस्तु!

अब हम वेद का अर्थ आधियाज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भेद से तीन प्रकार का होता हैं, इस विषय में कतिपय प्राचीन आचार्यों के वचन उपस्थित करते हैं—

(१) शाङ्खायन श्रौतसूत्र (१।१।१८, १९) में लिखा है—

न श्रुतमतीयात्।
अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम्।
मन्त्रेषु ब्राह्मणे चैव श्रुतमित्यभिधीयते॥

अर्थात् श्रुत=शब्दश्रवणमात्र से गम्यमान अर्थ का परित्याग न करे। देव-सम्बन्धी आत्मसम्बन्धी और यज्ञसम्बन्धी तीन अर्थ मन्त्रों और ब्राह्मणग्रन्थों में 'श्रुत' कहे जाते हैं।

(२) महाभाष्य के टीकाकार भर्तृहरि ने (१।१।२७) की व्याख्या में लिखा है—

यथा इदं विष्णुर्विचक्रमे (ऋ० १।२२।१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन्नधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं च आत्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते।

अर्थात् 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' मन्त्र में एक ही विष्णु शब्द अनेक शक्तिवाला अधिदैवत अध्यात्म और अधियज्ञ में क्रमशः सूर्य, परमात्मा और चषाल (=यूप के ऊपर का ढक्कन) अर्थ को कहता है।

(३) निरुक्त-व्याख्याता स्कन्द स्वामी अ० ७ खं० ५ की व्याख्या करता हुआ लिखता है—

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रि-प्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थं वाचः पुष्पफलमाह इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।

अर्थात् सब दर्शनों=अधियज्ञ अधिदैवत अध्यात्म में सब मन्त्रों के अर्थ की योजना करनी चाहिए। क्योंकि भाष्यकार यास्क ने तीन प्रकार के विषय के

प्रदर्शन के लिए **अर्थं वाचः पुष्पफलमाह** वचन द्वारा यज्ञ आदि का पुष्पफलरूप से निदर्शन कराया है।

(४) स्कन्दस्वामी से प्राचीन निरुक्तव्याख्याकार दुर्गाचार्य लिखता है—

अध्यात्माधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्था विज्ञायन्ते। नि०टी० १।१८॥

अर्थात् अध्यात्म अधिदैवत और अधियज्ञ अर्थों को कहनेवाले मन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थ जाने जाते हैं।

(५) शतपथब्राह्मण का व्याख्याता हरिस्वामी प्रथम काण्ड के आरम्भ में लिखता है—

मन्त्रा आधियाज्ञिका इषे त्वादयः, त एव देवतापदत्वेनाधिदैविकाः, त एवात्मानमधिकृता आध्यात्मिकाः। ईशा वास्यादयस्त्वाध्यात्मिका एव।

अर्थात् **'इषे त्वा'** आदि मन्त्र अधियज्ञविषयक हैं, ये ही देवतापरक अर्थ का अभिधान करने पर आधिदैविक होते हैं और ये ही आत्मा के प्रति अधिकृत हुए आध्यात्मिक अर्थ को कहते हैं। **'ईशा वास्यम्'** आदि मन्त्र आध्यात्मिक ही हैं। अर्थात् वे तीनों अर्थों को नहीं कहते।

इन कतिपय प्राचीन आचार्यों के वचनों से यह स्पष्ट है कि वेद का यज्ञ-दैवत-आत्मविषयक त्रिविध अर्थ होता है।

याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभाव

याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभाव वेदार्थ पर इतना अधिक पड़ा कि निरुक्तकार ने जिन मन्त्रों का अर्थ आधिदैवत प्रक्रियानुसारी किया था, उनका अर्थ भी स्कन्दादि टीकाकारों ने बलात् यज्ञपरक ही किया।

त्रिविध अर्थों के गौण-प्राधान्यभाव

वेद का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है, यह पूर्व उद्धरणों से स्पष्ट है। यतः याज्ञिक प्रक्रिया स्वयं सृष्टियज्ञ अर्थात् आधिदैविक जगत् के व्याख्यानार्थ प्रवृत्त हुई है, अतः अधियज्ञ और अधिदैवत में अधियज्ञविषयक अर्थ गौण है और अधिदैवत अर्थ प्रधानभूत है। इस दृष्टि से वेद का प्रतिपाद्यविषय अधिदैवत और अध्यात्म ही है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वेद का प्रतिपाद्य विषय तृण से लेकर ईश्वरपर्यन्त पदार्थों का ज्ञान-विज्ञान है।

आधिदैविक अर्थ की भी परिणति अध्यात्म में ही होती है, अतः इन दोनों अर्थों में भी अध्यात्म अर्थ प्रधान है। अत एव उपनिषत्कारों ने लिखा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम् इत्येतत् ॥

अर्थात् समस्त वेद 'ओम्' पदवाच्य परमात्मा का ही वर्णन करते हैं। इसी का कथन सब तपस्वीजन करते हैं और इसे प्राप्त करने के लिए ही ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण करते हैं।

यही बात भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास ने भी अपने पुत्र शुकदेव को अध्यात्म-शास्त्र का उपदेश देकर कही थी—

दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमुद्धृतम्।
नवनीतं यथा दध्नि काष्ठेऽग्निर्यथा तथा ॥

अर्थात् हे पुत्र मैंने दशसहस्र ऋचाओं का मन्थन करके जो अध्यात्म ज्ञान उपलब्ध किया है, वह यही है। यह वेद के प्रत्येक मन्त्र में उसी प्रकार निहित है, जैसे दही में मक्खन और काष्ठ में अग्नि रहता है।

इसी मुख्य तत्त्व का कथन एक ऋचा इस प्रकार करती है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते ॥

ऋ० १।१६४।३९॥

अर्थात् जिस अविनाशी परम धाम में समस्त देवगण ठहरे हुए हैं, जो उस परम तत्त्व को नहीं जानता, वह ऋग्वेद से क्या करेगा? और जो उसे जानते हैं, वे ही मुक्त होकर उस ब्रह्म में विराजमान होते हैं।

वेद का यही आध्यात्मिक विचार परा विद्या है। उपनिषत्कारों ने **अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते** के द्वारा दैवी वाक् से इसी तात्पर्य की ओर संकेत किया है। आधिदैविक विज्ञान अपरा विद्या में गिना जाता है। कर्मकाण्डीय विज्ञान आधिदैविक विज्ञान का बाह्यस्वरूप है।

चतुर्थ वेदार्थप्रक्रिया

वेद के जितने भी आचार्य हुए हैं, उन्होंने प्रायः स्वकाल में प्रसिद्ध किसी एक वेदार्थ प्रक्रिया का आश्रयण करके वेदव्याख्यान लिखे हैं। स्वामी दयानन्द इन सब से पृथक् हैं। **मुरारेस्तृतीयः पन्थाः** सुभाषित के अनुसार उनका वेदार्थव्याख्यान सब से निराला है। इस निरालेपन के चार प्रधान कारण हैं—

१. जिस याज्ञिक प्रक्रिया का भारतवर्ष में सहस्रों वर्षों से एकाधिपत्य था, जिसके कारण वेद एक निर्जीव प्रेरणारहित ग्रन्थ बन गए थे, उसका उन्होंने परित्याग करके साहसिक कदम उठाया।

इसका तात्पर्य कोई यह न समझे कि वे वेद की याज्ञिक प्रक्रिया वा कर्मकाण्ड के विरोधी थे। वे यज्ञ आदि कर्मों को श्रेष्ठ कर्तव्य समझते थे। ब्राह्मणादि ग्रन्थों में वे याज्ञिक प्रक्रियानुसार किये गये व्याख्यान को प्रामाणिक मानते थे। परन्तु साथ ही वे उसी व्याख्यान को दोहराना पिष्टपेषणवत् दोष मानते थे। द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञा-विषय।

२. आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ प्रायः लुप्त हो चुका था। उसका निरुक्त तथा ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर पुनः प्रकट करने का साहस किया।

३. वेद के परतत्त्व के प्रति लोगों के मन में अनेकविध भ्रान्त धारणाएं उत्पन्न हो गई थीं। ये लोग वेदों में बहुदेवों की उपासना मानने लग गये थे। पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी वेद के विषय में ऐसे ही भ्रम फैलाने आरम्भ कर दिये थे। अतः ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार के भ्रमों के निराकरण के लिये विशेष प्रयत्न किया। शतशः प्राचीन वचनों को उद्धृत करके बताया कि वेद में उपास्यदेव एक परब्रह्म ही माना गया है।

४. कर्मकाण्डीय अर्थ के प्रचलन के कारण लोक में यह धारणा उत्पन्न हो गई थी कि वेद का मानवजीवन के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। इसके निवारण के लिये उन्होंने वेद का व्यावहारिक अर्थ विशेषरूप से प्रस्तुत किया।

उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञा-विषय में प्राचीन परम्पराप्राप्त त्रिविध अर्थ को साक्षात् स्वीकार करके स्व वेदभाष्य के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

अथाऽत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकद्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते।

अर्थात् जिस-जिस मन्त्र का श्लेषादि अलङ्कारों के द्वारा पारमार्थिक और व्यावहारिक दो-दो अर्थों का सम्भव होगा, वहां दो-दो अर्थ करेंगे। अन्यथा केवल व्यावहारिक अर्थ लिखा जायेगा।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद के पारमार्थिक अर्थात् आध्यात्मिक और व्यावहारिक अर्थ को देने का अपने वेदभाष्य में विशेषरूप से प्रयत्न किया है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि वेद के व्यावहारिक अर्थात् मानवसमाज से सम्बद्ध अर्थों के संकेत प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनको प्रधानता देकर वेद के व्यावहारिक अर्थ को उद्घाटित करने का परम श्रेय स्वामी दयानन्द सरस्वती को ही है।

इस व्यावहारिक अर्थ की रीढ़ है अलङ्कारों का समाश्रयण करना। अन्य वेद-भाष्यकारों ने भी क्वचित्-क्वचित् अलङ्कारों का उपयोग किया है, परन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में इनका भरपूर उपयोग किया है। यह भी दयानन्द के वेदभाष्य की एक विशेषता है।

ऋषि दयानन्द के द्वारा समाश्रित व्यावहारिकार्थ प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके अन्दर त्रिविध प्रक्रिया का अन्तःपुट रहते हुए भी यह एक स्वतन्त्र प्रक्रिया का स्थान ग्रहण करने में समर्थ है।

इस प्रकार हमने इस लेख में संक्षेप से वेदार्थ, उसकी त्रिविध प्रक्रिया, और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रमुखरूप से आश्रित व्यावहारिकार्थरूप चतुर्थ प्रक्रिया का निरूपण किया है। वस्तुतः ये वेदार्थ-प्रक्रियाएं इतनी गहन हैं कि इन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही विस्तारपूर्वक विचार किया जा सकता है। यहां तो हमने दिग्-दर्शनमात्र कराया है।

संस्कृतभाषाया राष्ट्रभाषात्त्वम्

[अयं लेखः २०२३ वैक्रमाब्दे कर्णपुर(कानपुर)नगरे सम्पन्नस्य त्रैमासिक-संस्कृतशिक्षणशिविरस्य समाप्तौ समायोजितस्य पुरस्कारवितरणसमारोहस्य आध्यक्षं विदधता मया पठितोऽभूत्।]

मान्या विद्वद्वर्याः ! विदितमेव तत्रभवतां समेषां यत् प्राचीनकाले संस्कृतभाषेयम् अस्माकं पूर्वजानां मातृभाषा राष्ट्रभाषा चासीत्।

मातृभाषा सैवाभिधीयते, या खलु मानवा बाल्यावस्थायां मातुः सकाशाद् अधिगच्छन्ति। एतादृश्येव भाषा लोकभाषा जनभाषा वोच्यते। माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (अथर्व० १२।१।१२) इति श्रुत्यनुसारम् अस्माकीना जन्मभूमिरार्यावर्ताभिधेया भारतवर्षाभिधेया वाऽस्माकं माता वर्तते। तथा सति राष्ट्रभाषा वा मातृभाषा वा नार्थान्तरं भजते।

राष्ट्रभाषाया अपि द्वे स्वरूपे भवतः। एकं तावद् राष्ट्रियाणां जनानां या भाषा अर्थाद् जनभाषा भवति, सैव 'राष्ट्रभाषा'नाम्ना व्यवह्रियते। द्वितीयं कृत्स्नस्य राष्ट्रस्य राज्यव्यवस्था परिचालनाय सतीष्वपि विविधासु प्रान्तीयासु भाषासु या एका तत्कार्यसमर्था भाषा सर्वसम्मत्याऽऽद्रियते सा राष्ट्रभाषापदम् अधितिष्ठति। अनयोर्द्वयोः स्वरूपयोः प्रथमरूपापन्ना राष्ट्रभाषा तदैव सम्भवति, यदा कृत्स्नस्यापि जनपदस्यैकैव भाषा स्यात्। अनया दृष्ट्या चिरकालं यावत् पुरा संस्कृतभाषा राष्ट्रभाषापदं तावद् अलञ्चकार यावद् अस्मिन् राष्ट्रे संस्कृतभाषाविगुणैरभिधातृभिर्विकारं प्राप्य नान्यभाषास्वरूपं प्रापिता। अयं च कालोऽतिपरोक्षः संवृत्तः। तदनु यदा संस्कृतभाषैव विकृत्या विविधासु भाषासु परिवृत्तिमलभत, तदापि तादृशां सर्वासां भाषाणां जननीत्वात् समस्तस्य वाङ्मयस्यैतिह्यस्य संस्कृतेश्चाऽऽधारभूतत्वात् 'सूत्रे मणिगणा इव' इति न्यायेन कृत्स्नस्यापि राष्ट्रस्येयमेव सुरभारती राष्ट्रभाषापदम् अलञ्चकार। एतादृशं खल्वस्या भाषाया राष्ट्रभाषापदम् अग्रेऽपि तावत्कालं प्रतिष्ठास्यति यावदस्मिन् भारते भारतीयं प्राचीनं वाङ्मयं 'यत्किञ्चिद् वाङ्मयं लोके' (याज्ञ० शि०) ऐतिह्यं संस्कृतिश्चाऽक्षुण्णभावेन स्थास्यति।

पुराकल्पे संस्कृतभाषाया लोकभाषात्वं राष्ट्रभाषात्वं च

अस्याः सुरभारत्याः मातृभाषात्वं केचन पाश्चात्यास्तदनुयायिनो भारतीयाश्च

प्रत्यवतिष्टन्ते। एतेषामयं घोषः—यदियं संस्कृतभाषा नैव कदाचिदपि जनभाषा लोकभाषा वा बभूव। प्राचीनैर्ब्राह्मणैरियं तत्समये व्यवह्रियमाणायां कस्याञ्चिज्जनभाषायां किञ्चित् परिवर्तनं संस्कारं वा विधाय निष्पादिता। अत एवेयं 'संस्कृतभाषा' नाम्ना प्रसिद्धिमलभत।

वस्तुतस्त्वयं विचारः केवलम् आपातरमणीयतामेव भजते, नह्येतिह्यनिकषां न्यायतुलां वाऽधिरोहति। भारते वर्षे या भाषाः सम्प्रति भाष्यन्ते, पूर्वं वाऽभाषन्त, तासां सर्वासां सुरभारत्येव प्राचीनतमेत्यत्र नास्त्यैतिह्यविदामपि वैमत्यम्। नैतावदेव, अपि तु सर्वस्मिन्नपि जगति यावत्यो भाषा व्यवह्रियन्ते व्यवाह्रियन्त वा तासां वाङ्मये संस्कृतभाषाया वाङ्मय एव प्राचीनतम इत्यैतिह्यविदः संगिरन्ते। अतोऽस्या भाषायाः सर्वप्राचीनत्वे नास्ति कोऽपि सन्देहः।

सुरभारतीयं पुराकल्पे लोकभाषाऽऽसीदित्यस्मिन् विषये कानिचित् प्रमाणानि प्रस्तूयन्ते—

(१) संस्कृतभाषायां यः खलु पुराणेतिहासादीनां विपुलग्रन्थराशिरुपलभ्यते, सोऽस्या जनभाषात्वमेव द्योतयति। यतो हि पुराणेतिहासादीनां ग्रन्थानां प्रादुर्भाव एव शूद्राणां कृतेऽभूदिति पौराणिकानां मतम्। यदि हि शूद्राणां तदानीं संस्कृतं मातृभाषा नाभविष्यच्चेत् तेषां कृते पुराणादिग्रन्थानां संस्कृतभाषायां संग्रन्थनं नाभविष्यत्।

(२) संस्कृतभाषाया यत् प्राचीनतमं व्याकरणं साङ्गं सम्प्रत्युपलभ्यते तत् पाणिनीयमिति लोके विश्रुतम्। व्याकरणस्य च प्रयोजनं भाषायां व्यवह्रियमाणानां पदानां साधुत्वज्ञापनं तत्स्वरूपपरिरक्षणं चेति सर्वैरेव भाषाविद्भिः स्वीक्रियते। अस्मिन् पाणिनीये व्याकरणे बहवस्तादृशा नियमा निर्दिष्टाः, ये खलु संस्कृतभाषाया जनभाषात्व एव संगच्छन्ते, न शिष्टभाषामात्रत्वे। तद्यथा—

(क) शाकविक्रेतृभिः संव्यवहाराय मूलकादीनां यः परिमितो मुष्टिर्बध्यते (गड्डी-इति भाषायाम्) स मूलकपणः शाकपणः इत्येवमादिभिः शब्दैरुच्यते। एतादृशां साधारणजनप्रयुक्तानां पदानां साधुत्वद्योतनाय भगवता पाणिनिना नित्यं पणः परिमाणे (अष्टा० ३।३।६६) इति सूत्रमुपदिश्यते।

(ख) वस्त्ररञ्जकैस्तत्तद्रागेण रक्तानां वस्त्राणां कृते व्यवह्रियमाणानां काषायम्, लाक्षिकम् इत्यादिपदानां साधुत्वपरिख्यापनाय तेन रक्तं रागात्, लाक्षारोचनाट्टक् (अष्टा० ४।२।१,२) इति सूत्रे पाणिनिना निर्दिष्टे।

(ग) कृषकैस्तत्तद्धान्योपयोगिनां क्षेत्राणां व्यवहाराय प्रयुक्तानां व्रीहेयम्,

तैलीनम्, प्रैयङ्गवीनम् इत्येवमादिपदानां साधुत्वज्ञापनाय धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् (अष्टा० ५।२।१-४) इत्येवमादीनि सूत्राणि सूत्रकृता विरचितानि ।

(घ) शूद्राणाम् अभिवादन-प्रत्यभिवादननियमानां संग्रहाय प्रत्यभिवादेऽशूद्रे (अष्टा० ८।२।८३) इति सूत्रं सूत्रितम् ।

एवमादयो बहवो नियमास्तत्रभवता पाणिनिना व्याकरणे संगृहीता ये खल्वस्याः सुरभारत्याः लोकभाषात्वं व्यक्तं द्योतयन्ति ।

(३) अपि च पाणिनीयेन व्याकरणेनेदमपि सिद्ध्यति यत्तस्य काले संस्कृतं न केवलं लोकभाषैवाऽऽसीद् अपित्वस्यां वैदिकवाग्विदात्तादिस्वराणामपि यथार्थः प्रयोगः प्रचलित आसीत् । अत एव तेन महामतिना—

(क) दत्तगुप्तादिभिर्विपाशाया उत्तरे दक्षिणे च कूले निर्मितानां खातमात्राणाम् इष्टकादिभिः परिबद्धानां च कूपानां कृते स्वरभेदेन प्रयुज्यमानानाम् आद्युदात्तानाम् अन्तोदात्तानां च दात्तगौप्तादिपदानां स्वरकृतसूक्ष्मभेदनिदर्शनाय उदक् च विपाशः (अष्टा० ४।२।७४) इति सूत्रेण अनोऽणश्च पार्थक्येन विधानं कृतम् । अत एव काशिकावृत्तिकृता जयादित्येन महता कण्ठेन महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य इत्यादिना भगवतः पाणिनेः स्तुतिर्विहिता । (उत्तरवर्तिभिर्वैयाकरणैर्लौकिकसंस्कृतवाचि स्वराणाम् अप्रयोगदर्शनात् स्वरकृतसूक्ष्मभेदनिदर्शका अनुबन्धाः प्रत्ययेभ्यो बहिष्कृताः ।)

(ख) इत्थमेव पाणिनीये शास्त्रे स्वरप्रकरणे निर्दिष्टं विभाषा भाषायाम् (अष्टा० ६।१।१८१) इति सूत्रमपि तत्समये व्यवह्रियमाणायां लोकभाषायां स्वरप्रयोगस्य व्यक्तं सद्भावं द्योतयति ।

(४) भगवता यास्केन पाणिनिना चास्याः संस्कृतभाषायाः केवलं भाषापदेनैव निर्देशः स्वग्रन्थयोः कृतः । तद्यथा—

नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम् (निरु० १।४) इति ।

विभाषा भाषायाम् । (अष्टा० ६।१।१८१) इति ।

भाषायां सदवसश्रुवः (अष्टा० ३।२।१०८) इति च ।

एतैर्निर्देशैरपि यास्कपाणिनिकाले संस्कृतभाषाया लोकभाषात्वं व्यज्यत एव ।

(५) प्राचीने उभयविधेऽपि वैदिकलौकिकवाङ्मये सुरभारतीयं मानुषी विशेषणेन विशिष्यते । यथा—

तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति । दैवीं च मानुषीं च करोति ।

काठक सं० १४।५॥

यदि वाचं प्रदास्यामि मानुषीमिह संस्कृताम् ।

रामा० सुन्दर० ३०।१७॥

(६) सुरभारत्या अस्या लोकव्यावहारिकत्वं दृष्ट्वैव महाराजशूद्रकः स्वकीये पद्मप्राभृतके भाणे आह—

साधु व्यावहारिकया वाचा वद । चतुर्भाणी, पृष्ठ ६ ।

एतैः कतिपयैरपि प्रमाणैरिदं विस्पष्टमेव यदियं सुरभारती पुराकल्पे लोकभाषापदम् अधिष्ठिताऽऽसीत् । अत एव चास्यार्यावर्तस्येयं राष्ट्रभाषाऽप्यासीत् ।

एतान्यपह्नोतुमशक्यानि प्रमाणान्युपलभ्य कीथनामा पाश्चात्यविद्वान् अप्यस्या लोकभाषात्वमुररीकर्तुं बाधितः । अत एव च तेन स्वीये संस्कृतसाहित्येतिहासे लिखितम्—

"पाणिनि ने संस्कृत के लिए भाषा शब्द का प्रयोग किया है । उसका स्वाभाविक अर्थ 'बोलचाल की भाषा' ही है । इसके अतिरिक्त भी पाणिनि ने ऐसे नियमों का विधान किया है, जो बोलचाल की भाषा से उनका संबन्ध न हो तो निरर्थक ही हो जाते हैं । उदाहरणार्थ भावोद्रेक की भाषा में स्पष्टतया व्यञ्जनों के द्वित्व का निषेध किया गया है । जैसा कि क्रूर-माता के लिए 'पुत्रादिनी' इस आक्रोशात्मक शब्द में । इस प्रकार पाणिनि आह्वान, प्रत्यभिवादन, प्रश्न और प्रश्नप्रतिवचन में प्लुतत्व का विधान करते हैं । वे पासों के खेल के पारिभाषिक शब्दों, चरवाहों की बोली के सम्बन्ध में सूचना देते हैं । वे वास्तविक दैनिक जीवन से सम्बन्धित मुहावरों का उल्लेख करते हैं ।" इत्यादि (कीथकृत सं० सा० का इतिहास, डा० मङ्गलदेवकृत भाषानुवाद, पृ० ११)

ये खलु केचनास्यां देवभारत्यां संस्कृतं नाम दृष्ट्वा एतां संस्कृतां कृत्रिमां भाषां मन्वते, प्राकृतायाश्च कस्याश्चित् संस्कृतभाषातः पूर्वभावं ब्रुवते, तेषां भ्रान्तिनिवारणाय किञ्चिदुच्यते—

(१) संस्कृतभाषातः पूर्वं काचिदन्या भाषा आर्याणामासीदित्यत्र न किञ्चिदपि मानमुपलभ्यते, यतोऽस्याः संस्कारविशेषैरुत्पत्तिः स्यात् । एतद्विपरीतानि तु बहूनि प्रमाणानि सन्ति, यैरस्याः प्रकृतित्वम् अपरासां च प्राकृतादीनां विकृतित्वं प्रकटी भवति । तद्यथा—

(क) अतिप्राचीनेन तत्रभवता भरतमुनिना प्राकृतभाषालक्षणं ब्रुवता प्रत्यपादि—

एवं तु संस्कृतं पाठ्यं मया प्रोक्तं समासतः ।
प्राकृतस्य तु पाठ्यस्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुण-वर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥

नाट्यशास्त्र १७।१।२

उक्तं चैतद्विवरणेऽभिनवगुप्तेन—

तत्र प्राकृतस्य सामान्यलक्षणमाह—संस्कारेति । संस्कृतमेव संस्कारगुणेन यत्नेन परिरक्षारूपेण वर्जितं प्राकृतम् ।

(२) वेदविदामलङ्कारभूतेन प्रमाणितशब्दशास्त्रेण भगवता भर्तृहरिणाऽप्युक्तम्—

वैखरी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः । वाक्य० १।१४५।।

(३) या खलु भाषा प्राकृतनाम्ना व्यवह्रियते, तस्याः प्राकृतनाम्नि कारणं न प्राकृताः पांसुलपादाः साधारणा जनाः, किन्त्वत्र प्रकृतिपदेन संस्कृतभाषैवाऽभिप्रेता । यत इयं प्रकृतेः संस्कृतभाषातोऽपभ्रंशद्वारेण समुद्भूता अत इयं प्राकृतपदेन व्यवह्रियते । अत एव सर्वे प्राकृतभाषाव्याकरणप्रवक्तारः प्राकृतभाषायाः संस्कृतभाषात एवोत्पत्तिं ब्रुवते । तद्यथा—

(क) तत्रभवान् प्राकृतभाषाव्याकर्त्ता वररुचिराह—**शेषः संस्कृतात् ।**

(ख) आचार्यो हेमचन्द्रसूरिरप्याह—**शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ।**

(ग) तत्रभवान् हेमचन्द्राचार्यस्तु **अथ प्राकृतम्** इत्यादिसूत्रव्याख्याने स्पष्टमाह—

प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवम्, तत आगतं वा प्राकृतम् ।

(घ) प्राकृतभाषायाः संस्कृतप्रभवत्वं मत्वैव आचार्यहेमचन्द्रसूरिणा सिद्धहैमशब्दानुशासनस्यादितः सप्तभिरध्यायैर्विस्तरेण संस्कृतभाषाया व्याकरणं निबध्य, तदनु चातिसंक्षेपेणैकस्मिन्नेवाध्याये प्राकृतभाषाया व्याकरणं संगृहीतम् ।

एतैः प्रमाणैर्हस्तामलकमिव विस्पष्टं यदियं सुरभारती संस्कृतभाषैव प्राकृतादिपदवाच्यानां विविधानां भाषाणां जननी । अस्या आपांसुलपादं लोकानां भाषात्व एव असंस्कृतैरज्ञैः साधारणजनैः प्रमादाज्ञानादिबहुविधैर्दोषैर्विकारभावेनास्याः प्राकृतादिभाषाणां समुत्पत्तिः संभवति, न केवलं शिष्टजनभाषामात्रत्वे । यतो हि शिष्टाः परं प्रयत्नेन भाषां परिरक्षन्ति । एतेनाप्यस्या देववाण्याः पुरा लोकभाषात्वं सिद्धमेव ।

सत्येवं पुराकल्पे संस्कृतभाषाया लोकभाषाद्वारेण मातृभाषात्वं राष्ट्रभाषात्वं चोभयमपि सुतरां सिद्ध्यति ।

माध्यमिके काले संस्कृतस्य राष्ट्रभाषात्वम्

पूर्वनिर्दिष्टैः कथमप्यपह्नोतुमशक्यैः सुदृढैः प्रमाणैरस्याः सुरभारत्या लोकभाषात्वे सिद्धे राष्ट्रभाषात्वं निर्विवादमेव । अथोत्तरे काले यदा संस्कृतभाषा लोकभाषापदात् परिभ्रष्टा, प्राकृतादयो विविधा भाषाश्च प्रादुर्भूतास्तदापीयम् आमुसलमानराज्यकालाद् राष्ट्रभाषापदम् अलकृतवतीत्यत्र न किञ्चिद् बहूवक्तव्यम् । यतो ह्यस्मिन् काले संस्कृतभाषाया या स्थितिरासीत् तां प्रायेण सर्वे एवैतिह्यविदो विदन्ति । तथापि किञ्चिदुच्यते—

प्रजापरिपालनाय राज्यव्यवस्थायै च या भाषा राजकर्मसु व्यवह्रियते, सापि राष्ट्रभाषापदेनोच्यते । सत्येवं, शुङ्गवंशीयान्महाराजपुष्यमित्रादारभ्यामुसलमानराज्यकालात् सर्वस्मिन्नपि भारते वर्षे राजकर्मस्वियमेव संस्कृतभाषा प्रायेण व्यवह्रियते स्मेत्यत्र न कश्चिदपि विवादः । यतो ह्यस्मिन् काले दक्षिणेनाऽऽहिमवन्तम्, उत्तरेणाकुमारीम्, पश्चिमेनापूर्वाचलम् (नागा खसिया की पहाड़ियां), पूर्वेणापश्चिमाचलं (सुलेमान पर्वत)येऽपि राजानो बभूवुस्तेषां शासनपत्राणि ताम्रपत्राणि शिलालेखाश्च प्रायेण संस्कृतभाषामया एवोपलभ्यन्ते । एतस्मिन् कालेऽस्या भाषाया यद् राष्ट्रभाषारूपं गौरवास्पदं स्थानमासीत् तस्यानुमानमेतेनैव शक्यते कर्त्तुम्, यन्मुसलमानराज्यकालारम्भे तदीयमुद्रासु अरबीभाषया सह सुरभारत्या अपि प्रयोग उपलभ्यते । नैतावदेव, अपितु तदीये मस्जिदाख्ये मन्दिरेऽपि क्वचित् सुरभारतीप्रयोगः कृतो बभूवेत्यैतिह्यविदो याथार्थ्येन विदन्ति ।

एतस्मिन्नेव कालेऽनेकैर्नृपैरिमां संस्कृतभाषां लोकभाषापदे पुनः प्रतिष्ठापयितुं महान् प्रयत्नोऽकारि । क्वचित्स साफल्यमप्यभजत । यथा—

धराधीशेन भोजराजेन सरस्वतीकण्ठाभरणनाम्न्यलङ्कारग्रन्थ उक्तम्—

काले श्री साहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिनः ।

अर्थात् साहसाङ्कस्य विक्रमस्य राज्यकाले सर्वोऽपि जनः संस्कृतभाषाविज्ञ आसीत् । तदनु महाराजभोजेनापि संस्कृतभाषाप्रचाराय महान् यत्नः कृतः । तथा च भोजप्रबन्धे श्रूयते ।

(ख) कदाचिद् भोजराजः कञ्चिद् वृद्धं काष्ठभारवाहं दृष्ट्वोवाच—

भूरिभारभराक्रान्तो बाधति स्कन्ध एष ते ।

काष्ठभारवाहकः प्रत्युत्तरम् आह—

न तथा बाधते राजन् यथा बाधति बाधते ।

(ग) अपरस्मिन् काले कस्मैचिद् विदुषे गृहप्रदापनाय यदा राजपुरुषैः कश्चित् तन्तुवायः स्वस्माद् गृहान्निष्कासितः, तदा स राजसभां गत्वा भोजराजमाह—

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि ।
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि ॥
भूपाल-मौलिमणिमण्डितपादपीठ !
हे साहसाङ्क ! कवयामि वयामि यामि ॥

(घ) भोजराजेन त्विदमप्युद्घोषितमासीत्—

चाण्डालोऽपि भवेद् विद्वान् यः स तिष्ठतु पुरे मम ।
विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद् बहिरस्तु मे ॥

अस्मिन् माध्यमिके काले संस्कृतवाङ्मयस्य यादृशो विकासः समभवत् तं सर्वे एव विद्वांसो जानन्ति ।

एवं चाऽऽमुसलमानराज्यकालाद् इयं सुरभारती सर्वस्मिन्नप्यार्यावर्ते राजकर्मसु प्राधान्येनोपयुज्यमाना राष्ट्रभाषापदम् अलंकृतवतीत्यत्र न कश्चिदपि सन्देहः ।

अर्वाचीने काले संस्कृतस्य राष्ट्रभाषात्वम्

मुसलमानराज्यकालेऽपि सुरभारतीयं न सर्वथा राजकर्मतः परिभ्रष्टा । यतो हि तस्मिन्नपि काले बहुष्वार्यराज्येषु राजकर्मण्यस्याः प्रवृत्तिं पश्यामः । किं बहुना, ईस्टइण्डियाकम्पनीराज्यात् प्राग् बहुषु राज्येष्वियमेव राजभाषाऽऽसीत्, न्यायाधिकारिणोऽस्यामेव भाषायां स्वं निर्णयं ददति स्म । एतादृशाः केचन न्यायपीठनिर्णया वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयतः प्राकाश्यं प्राप्ताः ।

नैतावदेव, अपि त्वस्मिन् काले शिक्षापद्धतौ संस्कृतभाषाया एकछत्रं साम्राज्यमासीत् । ईस्टइण्डियाकम्पनीराज्यकालतः प्राग् बङ्गदेशे यावत्यः संस्कृतपाठशाला आसन्, शिक्षिताश्च मनुजा अभूवन्, तावती संख्याऽद्यत्वेऽपि बङ्गप्रान्ते नास्ति इत्यप्यैतिह्यतथ्यं द्रष्टुमर्हसि ।

साम्प्रतिके काले राष्ट्रभाषात्वम्

आङ्ग्लशासनादारभ्य यद्यपि राजकीयव्यवहारे सर्वत्राऽऽङ्ग्लभाषा एव प्रचलिता, तस्याः एव च प्राधान्येन सप्रयत्नं शिक्षणं व्यधायि । स्वातन्त्र्यलाभे सत्यपि आङ्ग्लभाषैवाद्ययावद् राजव्यवहारे प्राधान्येन प्रचलति, सप्रयत्नं च शिक्ष्यते । तथाऽप्यस्याः

सुरभारत्या राष्ट्रभाषात्वं कस्मिंश्चिद् अंशे अद्याऽप्यक्षुण्णं वर्तते। कथम् इति चेत्—

अद्यापि समेषाम् आहिमवत आ च कुमारीतो निवसताम् आर्याणां विवाहादि-संस्काराः सन्ध्याग्निहोत्रादीनि च नैत्यिकानि च कर्माणि संस्कृतभाषयैव निष्पद्यन्ते। नहि कश्चिदपि कञ्चिदपि संस्कारं सन्ध्यावन्दनादिकं वा शास्त्रीयं कर्म प्राकृतादि-भाषया करोति। तदेवम्, आर्याणां संस्कृत्याधाररूपेण संस्कृतभाषाऽद्यापि सूत्रे मणि-गणा इव सङ्गमयन्ती राष्ट्रभाषारूपेण विराजते।

नैतावदेव, अद्यापि सरलसंस्कृतभाषामाध्यमेन तेष्वपि प्रान्तेषु स्वाभिप्रायं बोध-यितुं समर्था भवन्ति यात्रिणो येषां भाषाः संस्कृतभाषातोऽत्यर्थं दूरीभूताः स्वीक्रियन्ते पाश्चात्यभाषाविज्ञैः (वयं तु तासामपि भाषाणां संस्कृतैव जननीति प्रतिजानीमः)।

तदेवं या खलु भाषा सर्वान् अपि राष्ट्रियान् पुरुषान् एकसूत्रे सम्बद्धयति, या स्व-वाङ्मयेन भूतकालं वर्तमानकालेन संयोजयति, या प्राचीनभारतीयसंस्कृत्याऽहर्निशम् एतद्देशीयान् अनुप्राणयति, या च स्वस्यां निहितेन पूर्वजानां ज्ञानविज्ञानेनास्माकीनं शिरः सर्वस्मिन्नपि संसार उच्छ्रयति, सैव संस्कृतभाषा यदि राष्ट्रभाषापदवाच्या न भवेत् तर्हि का नाम भाषा राष्ट्रभाषापदवाच्या भवितुमर्हति। अनया दृष्ट्या-ऽद्यापीयं सुरभारती—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः।
विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता॥

इति न्यायेन स्वयमेव स्वमाहात्म्येन स्वगौरवेण च तादृशं स्वतःसिद्धं राष्ट्रभाषा-पदम् अधितिष्ठति, यस्मान्न कोऽपि तां विचालयितुं समर्थोऽभवत्, न चाग्रेऽपि तावद् भविष्यति, यावदस्मिन् देशे भारतीयं वाङ्मयं दुहितृभावमापन्ना भारतीया भाषाः, वैदिकी संस्कृतिश्चाक्षुण्णरूपेण स्थास्यति।

सम्प्रत्यपि राष्ट्रभाषापदहिता

यद्यपि देववाण्या अनेकविधं राष्ट्रभाषापदम् आपुराकल्पादद्य यावद् अक्षुण्णं वर्तते, तथाप्येतद्विषये विचार्यते यत् स्वतन्त्रे भारते वर्षे विविधासु भाषासु व्यवह्रिय-माणासु का नाम भाषैतादृशी वर्तते, या वस्तुतो राष्ट्रभाषापदम् अलङ्कर्तुं समर्था स्यात्। विचार्यमाणे त्वस्मिन् प्रश्नेऽखिलास्वपि भारतीयभाषासु द्वे एव एतादृश्या-वुपतिष्ठेते ये राष्ट्रभाषापदमलङ्कर्तुं समर्थे स्याताम्। तत्रैका हिन्दीभाषा, अपरा संस्कृतभाषा च। हिन्दीभाषाया राष्ट्रभाषात्वस्वीकारे एकैव प्रधाना युक्तिर्वर्तते, यदियं भाषार्धाऽधिकैर्भारतीयैर्जनैर्भण्यत इति। अन्या नैकापि राष्ट्रभाषालङ्कृति-योग्यताऽस्यां भाषायां सम्प्रति विद्यते (भविष्यत्युत्पद्येतेत्यन्या वार्ता)। नात्र संस्कृत-

वाङ्मयसदृशं किमपि महनीयं वाङ्मयं विद्यते, यत् सर्वान् अपि भारतीयान् समानरूपेणानुप्राण्यात्। न चेयं भाषा तादृग् वैज्ञानिकं विविधसूक्ष्मभेदभिन्नं ज्ञानमभिव्यञ्जयितुं समर्था, यादृशी संस्कृतभाषा वर्तते। अपि च, हिन्दीभाषामुत्तरभारतीया एव प्रायेण व्यवहरन्ति। अत एव यावान् विरोधो हिन्दीभाषाया राष्ट्रभाषास्वीकारेऽभूत्, भवति च तस्य शतांशरूपोऽपि वास्तविको विरोधः संस्कृतभाषा नाभविष्यत्।

अस्या सुरभारत्या अविरोधे बहूनि कारणानि सन्ति। तत्रेमानि प्रधानभूतानि—

१. इयं भाषा कस्यापि प्रान्तविशेषस्य मातृभाषा न विद्यते। ततोऽस्या अभ्यासे सर्वैः सम एव प्रयत्नो विधेयो भवति, भविष्यति च।

२. भारतीयानां सर्वासामपि भाषाणां संस्कृतभाषैव साक्षात् परम्परया वा जननी विद्यते। यासामपि दाक्षिणात्यानां कतिपयभाषाणां संस्कृतप्रभवत्वं नैव साक्षादुपलभ्यते, तास्वपि संस्कृतपदानां तद्भवानां च शब्दानां बाहुल्यं सुतरामनिच्छताऽपि स्वीकर्तव्यं भवति। तथा सति सर्वा एव साम्प्रतिका भारतीयभाषायाः संस्कृतभाषया सम्बद्धा इत्यत्र तु न कस्यचिदपि सचेतसो विप्रतिपत्तिर्भवितुमर्हति।

३. अस्यां संस्कृतभाषायां यावान् यादृशश्च प्राचीनग्रन्थराशिरुपलभ्यते, तावान् प्राचीनग्रन्थराशिः तादृशश्च संसारस्य कस्यामपि प्राचीनभाषायां नोपलभ्यते। अन्यासां भारतीयभाषाणां यासाम् उत्पत्तिरेव माध्यमिके काले समभवत्, कैव कथा ?

४. सूक्ष्माभिधानशक्तिर्यादृशी संस्कृतभाषायां विद्यते, न तादृशी शक्तिः कस्यामपि भाषायामुपलभ्यते। अत एव मीमांसकानामद्यापि द्वौ न्यायौ जागृतः—**अन्याभ्यश्चानेकशब्दत्वम्, अन्याभ्यश्चानेकार्थत्वम्**। सत्येवम्, सामान्यजनैः पर्यायत्वेनाभिमता ये शब्दाः सन्ति, तेऽपि प्रतिपदविशिष्टं सूक्ष्मभेदयुतं स्वपदार्थं ब्रुवन्ति। एतादृशी सूक्ष्मार्थाभिधानशक्तिः किं नाम हिन्दीभाषायां विद्यते ? वैदिकनिघण्टौ शतं जलनामानि पठ्यन्ते। तानि सर्वाण्यपि जलस्य शतविधं विविधं स्वरूपमेकैकशो द्योतयन्ति, न सर्वाणि सामान्यरूपेण केवलं जलमात्रमभिदधति। निघण्टुपठितानीमानि शतनामान्यप्युपलक्षीभूतान्येव, यतो हि संस्कृतवाङ्मय इतोऽप्यधिकानि जलनामान्युपलभ्यन्ते।

५. संस्कृतभाषायाः सम्प्रत्यत्यन्ते परिक्षीणेऽपि शब्दनिकाये यावन्तः शब्दा अस्यां भाषायां विद्यन्ते, न तावन्तः (तत्र तत्र प्रयुक्तान् संस्कृतशब्दान् विहाय) अन्यासु सर्वास्वपि भारतीयासु भाषासु सन्ति, एकस्या हिन्दीभाषायास्तु का कथा ?

६. प्रयोजनानुसारं यादृशः प्रकृतिप्रत्ययोपसर्गादियोजनरूपो यथेच्छशब्दरचना-

म्युपायः संस्कृतभाषाया व्याकरणे निरूपितः, न तादृशः कस्याश्चिदपि भाषाया व्याकरणे उपलभ्यत इति सर्व एव भाषाविदः प्रतिजानते। अतः संस्कृतभाषाया राष्ट्रभाषापदाधिष्ठाने सति विविधज्ञानविज्ञानव्यवहारादिकार्ययोग्यो यावानपि शब्दराशिरपेक्षितः स्यात् तस्य सर्वस्य पूर्तिरियं भाषा स्वोदरादेव कर्तुं समर्था, न कदाचिदपि अन्यभाषावत् परमुखापेक्षी स्यात्। वस्तुतः संसारेऽन्या काप्येतादृशी भाषा नास्ति ऋते सुरभारत्याः, या यथेच्छशब्दनिर्माणाय समर्था स्यात्।

७. आदिकालादारभ्य आमुसलमानराज्यं यावद् अस्माकं पूर्वजैः समुपार्जितं समस्तमपि ज्ञानविज्ञानम्, देशस्य प्राचीनमैतिह्यम्, संस्कृतिश्च संस्कृतभाषायामेव निहिता वर्तते।

८. इयं संस्कृतभाषैवास्ति यस्या गौरवेण वयं भारतीयाः पराधीनाः सन्तोऽपि शिर उच्छ्रयितुं लोके समर्था अभूवाम।

९. एषैव सा भाषा वर्तते या मातेव विमानिताऽप्यस्मान् मानयति, सर्वाश्चास्माकीना भाषा नवनवं शब्दामृतं पाययन्ती सततं पुष्णाति।

१०. इयमेव सा भाषाऽस्ति यस्याः स्तोकमपि रसमास्वाद्य जनोऽस्या गौरवेण महिम्ना च सश्रद्धं नतमस्तको भवति।

११. सन्त्यनेके तादृशा विविधभाषाविदो देशोन्नतिं चिकीर्षवो राज्यपालादिमहनीयपदमलंकुर्वन्तो विपश्चितः, ये संस्कृतभाषाया एव राष्ट्रभाषापदे प्रतिष्ठापनं साधुतरं मन्यन्ते। यथा—

श्री डा० सम्पूर्णानन्दमहानुभावाः, श्री कन्हैयालाल-माणिकलाल-मुंशिमहोदयाः, श्री प्रकाशमहाशयाः, श्री काटजूमहानुभावाः, श्री आयङ्गरमहोदयाः, श्री गाडगिलमहोदयाश्च।

एवमस्मिन् स्वल्पकाये निबन्धे संस्कृतभाषाया राष्ट्रभाषात्वमधिकृत्येयं सुरभारती पुराकल्पे माध्यमिके च काले वास्तविकरूपेण राष्ट्रभाषापदम् अलङ्कृतवती, मुसलमानराज्यकाले, प्राङ्गलराज्यकाले चानधिष्ठिताऽपि राष्ट्रभाषापदे सर्वान् भारतीयान् एकसूत्रे संग्रन्थन्ती राष्ट्रभाषापदयोग्यं महत् कार्यं विहितवती। इयमेव च भाषा सम्प्रत्यप्येतादृशी समृद्धा वर्तते, या भविष्यत्यपि राष्ट्रभाषापदम् अलंकर्तुं समर्थेति विविधैः प्रमाणैः सम्यगुपपादितम्।

इत्यलमतिविस्तरेण विपश्चिद्वर्येषु।

भारतीय वाङ्मय में नारी का इतिहास

[प्रस्तुत लेख प्रथम वार 'भारतीय संस्कृति में नारी' शीर्षक से सं० २०१० (सन् १९५३) में 'सम्मेलन पत्रिका' (प्रयाग) के भाग ३९, संख्या ४ में छपा था। तदनन्तर इस लेख में कुछ परिवर्धन एवं संशोधन करके यह 'भारतीय वाङ्मय में नारी का इतिहास' शीर्षक से हिन्दी-प्रचारसभा हैदराबाद की 'अजन्ता' पत्रिका अगस्त १९५६ (सं० २०१३) के अङ्क में छपा था[1]। उसे ही कुछ संशोधन और परिवर्धन के साथ यहां छाप रहे हैं।]

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। देश, काल और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ उसकी सामाजिक परिस्थितियों में भी अन्तर हो जाता है। आज हमारी जो सामाजिक परिस्थितियां हैं, वे आज से पचास वर्ष पूर्व इसी प्रकार की नहीं थीं। इसी प्रकार आज की परिस्थितियां पचास वर्ष पश्चात् इसी रूप में नहीं रहेंगी। परिस्थितियों के परिवर्तन से रहन, सहन आर्थिक और सामाजिक नियमों में परिवर्तन होता रहता है। इसी नियम के अनुसार आदि काल से (जब से इतिहास उपलब्ध है) आज तक भारतीय नारी की सामाजिक परिस्थितियों में क्या-क्या परिवर्तन हुए, इसका संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना ही इस लेख का प्रधान उद्देश्य है।

प्राचीन अतीत काल के इतिहास को जानने के लिए जितने साधन हैं, उनमें प्राचीन वाङ्मय सबसे प्रमुख है। क्योंकि जिस काल में जनता में जिस प्रकार के सामाजिक विचार होते हैं, उनका प्रतिबिम्ब उस काल के वाङ्मय में अवश्य उपलब्ध होता है (शिला लेख भी लिपिबद्ध होने के कारण वाङ्मय के अन्तर्गत ही समझे जाते हैं)। इसलिए जिस देश का वाङ्मय जितना अधिक प्राचीन होगा, उसमें उतना ही प्राचीन इतिहास अधिक सुरक्षित होगा। अन्य देशों के वाङ्मय की तुलना में भारतीय वाङ्मय सहस्रों वर्ष अधिक पुराना है। इसमें न केवल भारत का ही प्राचीन इतिहास सुरक्षित है, अपितु संसार के अन्य कई देशों का भी प्राचीन

---

१. इस शीर्षक के परिप्रेक्ष्य में सम्मेलनपत्रिका में छपे पूर्वभाग को हटा दिया था।

इतिहास (जो कि उन देशों के वाङ्मय में लुप्त हो चुका है) भारतीय वाङ्मय में ही सुरक्षित है। इसलिए भारतीय वाङ्मय मानव जाति के प्राचीन इतिहास को जानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।[1]

आदि मानवसमाज—पाश्चात्य विकासवादी विद्वानों के मत के सर्वथा विपरीत भारतीय इतिहास का कथन है कि आदि मानव अत्यन्त सभ्य था। पूर्ण सात्त्विक विचारों से युक्त होने के कारण न उस समय राज्यव्यवस्था की आवश्यकता थी और न सामाजिक बन्धनों की।[2] वह पूर्णतया स्वतन्त्र था। इस कारण नारी भी सब प्रकार के बन्धनों से उन्मुक्त थी।

सामाजिक बन्धनों का उदय—कालान्तर में मानव-समाज की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों सामाजिक आवश्यकताएं बढ़ती गईं और सात्त्विक वृत्तियों में न्यूनता होती गई, त्यों-त्यों सामाजिक व्यवस्थाओं का भी उदय होता गया। पाराशरकृत 'ज्योतिषसंहिता' में इसका बहुत सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है—

पुरा खलु अपरिमित-शक्ति-प्रभा-प्रभाव-वीर्य·····धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमाद् अपचीयमानसत्त्वानाम् उपचीयमानरजस्तमस्कानां लोभः प्रादुरभूत्, लोभात् परिग्रहम्, परिग्रहाद् गौरवम्, गौरवादालस्यम्, आलस्यात् तेजोऽन्तर्दधे·····।[3]

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य अपरिमित शक्ति, प्रभाव, वीर्य·····धर्म, सत्त्व और शुद्ध तेज से युक्त थे। उत्तरोत्तर क्रमशः सात्त्विक गुणों के नष्ट होने और राजसिक तथा तामसिक गुणों की वृद्धि से लोभ उत्पन्न हुआ।[4] लोभ से परिग्रह

---

१. देखो—श्री पं० भगवद्दत्तजीकृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' प्रथम भाग, अ० १०—'भारतीय इतिहास संसार इतिहास की तालिका'।

२.·····आदौ कृतयुगेऽभवत्। नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः। महाभारत शान्तिपर्व १८६।१३-१४॥ एकवर्णाः प्रजाः सर्वा आसीत् कृतयुगे तदा॥ महा० शान्ति।

३. वराहमिहिरकृत 'बृहत्संहिता' की भट्ट उत्पल की टीका, पृष्ठ १५ (विजय नगर सीरीज काशी) में उद्धृत। हमने यह वचन श्री पं० सूरमचन्दजी बी० ए०, वैद्य वाचस्पतिकृत 'आयुर्वेद का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १९८ से लिया है।

४. महाभारत शान्तिपर्व १८८।१५ में कहा है—'लोभादज्ञानतां गताः।' लोभ ही सब अनर्थों का मूल कारण है—'लोभश्चेदगुणेन किम्।' भर्तृहरिशतक।

(संग्रह की भावना), परिग्रह से शरीर का गौरव, शरीर के गौरव से आलस्य और आलस्य से मनुष्य का तेज नष्ट हुआ।

इसी प्रकार का एक वचन अग्निवेशकृत तथा चरक द्वारा संस्कृत 'चरकसंहिता' विमानस्थान अ० ३ में मिलता है।[1] उसके अनुसार मनुष्यों की यह अवस्था सतयुग के अन्त में हुई थी।[2]

जब मनुष्यों के शरीरों में गौरव से आलस्य की उत्पत्ति हुई, तब स्वामी-भृत्य-प्रथा का उदय हुआ। इसके अनन्तर जब विग्रह में रुचि रखनेवाले बलवान् मनुष्य अपने से निर्बलों को सताने लगे, प्रजाओं में **मात्स्य-न्याय**[3] की स्थिति उत्पन्न हुई, तब राज्य-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ[4] और उसी काल में वर्ण-व्यवस्था तथा नियत स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का नियमन हुआ।

इससे स्पष्ट है कि आदिकाल में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध स्वाभाविक रूप में था, अर्थात् उनका स्वेच्छा से परस्पर सहवास और वियोग होता था। दूसरे शब्दों में उस समय नारी नर पर आश्रित नहीं थी, दोनों स्वतन्त्र थे। यही शाश्वत प्राजापत्य नियम वन्य पशु-पक्षियों में आज तक विद्यमान है।[5]

मानव-जाति में जब भी नर-नारी के नियमित सम्बन्ध का उदय हुआ, तब उस के मूल में सुख-शान्ति की रक्षा की भावना का ही प्राधान्य था। परन्तु वह नियम-

---

१. चरक सूत्रस्थान, अ० १, श्लोक ३१ के अनुसार यही पराशर अग्निवेश का सतीर्थ्य है (दोनों ने भरद्वाज से आयुर्वेद का अध्ययन किया था), अत एव दोनों के विभिन्न विषयों के ग्रन्थों में भी समान विचार उपलब्ध होते हैं।

२. **भ्रश्यति तु कृतयुगे।**

३. बलवान् बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, यह मात्स्य-न्याय कहा जाता है। हिन्दी में इसी अर्थ को प्रकट करने के लिये 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' मुहावरे का प्रयोग होता है।

४. **अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।**
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः। महा०शान्ति०अ०६७।१७,२१॥
मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं प्रचक्रिरे। कौटिल्य अर्थशास्त्र।

५. **ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यधात्। नैव देवा अतिक्रमन्ति न पितरो न पशवः, मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति।** शत० ब्रा० २।४।२।५-६॥

मित सम्बन्ध कालान्तर में विकृत होता गया, अर्थात् वह अपने मूल रूप में स्थिर न रह सका। इस कारण मानव-समाज में नारी का स्थान उत्तरोत्तर गिरता गया।

नर-नारी के नियमित सम्बन्ध की उत्पत्ति से लेकर आज तक नारी की सामाजिक परिस्थितियों में जो अन्तर हुआ है, उसका निदर्शन आगे कराया जाता है—

आदिकाल में नारी की प्रधानता—जब मानव-समाज में सुख और शान्ति की रक्षा के लिये सामाजिक वचनों का उदय हुआ, उस समाज में नर की अपेक्षा नारी का प्राधान्य था।[1] विवाह के अनन्तर वधू को पितृगृह में निवास करना होता था। उस काल में मातृपक्ष की प्रधानता थी (जैसी सम्प्रति पार्वत्य प्रदेश के मानव-समाज में आज भी है)। पुरुष को पत्नी के अधीन रहना पड़ता था। इस अति प्राचीन परिस्थिति का संकेत ऋग्वेद के विवाहसूक्त (१०।८५) में उपलब्ध होता है।

एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥२८॥
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥२९॥

अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वो वासवा स्वमङ्गमभिधित्सते ॥३०॥

अर्थात् वधू साक्षात् पैरोंवाली कृत्या (बेड़ी) बनकर पति को प्राप्त होती है। वधू के सम्बन्धी बढ़ते हैं। (पति के वधू के पिता के घर में वास करने से उसी के कुटुम्ब की वृद्धि होती है)। और पति बन्धन में पड़ जाता है। वधू के दिए वस्त्रों के धारण करने से पति का शरीर शोभा-रहित हो जाता है।[2]

इसी प्रकार ऋग्वेद के विवाहसूक्त का एक मन्त्र है—

"सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्त वि परेतन॥" (ऋ० १०।८५।३३)

अर्थात् इस सुमंगलयुक्त वधू को सब इकट्ठे होकर देखो। इस वधू को सौभाग्य

---

१. महाभारत आदिपर्व अध्याय १०४ तथा १२२ में नर-नारी सम्बन्ध को नियंत्रित करने का उल्लेख है, उससे यही ध्वनि निकलती है। नर-नारी के सम्बन्ध का प्रथम बार नियंत्रण सतयुग के अन्त में अंगिरा के पौत्र उचथ्य के पुत्र दीर्घतमा ने किया था (आदिपर्व अध्याय १०४।३४)। तदनन्तर द्वापर के अन्त में उद्दालक पुत्र श्वेतकेतु ने किया (आदिपर्व अ० १२२।१६)।

२. वधू के घर में रहनेवाले पति (घर जवाई) की कैसी दुर्दशा होती है, उन्हें कितना पराश्रित जीवन बिताना पड़ता है, इसे भुक्त-भोगी ही जान सकता है।

(पति को)[1] देकर अपने-अपने घरों को वापस चले जाओ।

इस मन्त्र में वधू के गृह पर एकत्रित हुए वर के सम्बन्धियों को अपने-अपने घरों को वापस लौटने की प्रार्थना की है। कन्या को साथ में ले जाने का निर्देश कहीं नहीं है।

सम्प्रति इस मन्त्र का विनियोग विवाह में दो स्थानों पर होता है। एक वधूगृह में विवाह के अनन्तर (जिसे पूर्वविधि कहा जाता है) मांग में सिन्दूर भरने में और दूसरा वर के घर जाकर (अनेक गृह्यसूत्रों के अनुसार उत्तरविधि वर के घर होती है)। इनमें से वधूगृह में विवाहानन्तर इस मन्त्र का विनियोग पूर्व प्रचलित 'वधू-गृहवास' पद्धति की ओर संकेत करता है।

प्राचीन काल में भारत की कतिपय जातियों में विवाह के अनन्तर वधू के पितृ-गृह में ही गर्भाधान करने की प्रथा रही है।[2] हमारे विचार में यह प्रथा भी अति प्राचीन वधू पितृगृह-वास प्रथा का ही अवशेष है।

स्वयंवर शब्द में नारी का इतिहास—पति के वधू गृह में वास करने की प्रथा का प्राचीन इतिहास "स्वयंवर" शब्द में भी छिपा हुआ है। स्वयंवर शब्द का अर्थ है—(पति को) स्वयं स्वीकार करना। प्राचीन इतिहास से स्पष्ट है कि स्वयंवर कन्याओं का ही होता था, अर्थात् विवाहेच्छुक युवक अन्या के घर पर एकत्रित होते थे, उसमें से कन्या जिसे चाहती, उसे स्वीकार कर लेती थी, अपने पास रख लेती थी।

उत्तर काल में जब कन्या का पतिगृह में जाना प्रवृत्त हुआ उस समय भी कन्या

---

१. सौभाग्य का साधन अथवा निमित्त होने से पति को ही 'सौभाग्य' शब्द से कहा है। यथा—'**अन्न प्राणः**' वाक्य में अन्न को प्राण का साधन होने से प्राण शब्द से कहा जाता है (न्याय वात्स्यायनभाष्य २।२।६१)। इसी प्रकार महाभाष्य में भी कहा है—**आयुर्घृतम्—आयुषो निमित्तमिति गम्यते, नड्वलोदकं पादरोगः—पाद-रोगस्य निमित्तमिति।**

२. **वैदेहिषु सद्य एव व्यवयो दृष्टः। गृह्ये ब्रह्मचारिणो त्रिरात्रमिति ब्रह्मचर्यं विहितम्।** आश्वलायन गृह्य, भदनारागण टीका, पृष्ठ २१। महाभारत आदिपर्व अ० १९८, श्लोक १३, १४ से भी विदित होता है कि जिस दिन द्रौपदी का विवाह हुआ था, उसी रात पति-सम्बन्ध हुआ था।

का यह स्वयंवरण का अधिकार चिरकाल तक सुरक्षित रहा।[1] इससे स्पष्ट है कि आदिकाल में मानवसमाज में नर की अपेक्षा नारी का प्राधान्य था, उसके अधिकार भी नर की अपेक्षा अधिक थे।

नारी की प्रधानता अन्य शब्दों में—नारी की प्रधानता का इतिहास संस्कृत के कतिपय अन्य शब्दों में आज तक निहित है। संस्कृत भाषा के नियमानुसार जब किसी नर और नारी वाचक शब्दों का द्वन्द्व समास होता है, तब नारीवाचक पद का प्रथम प्रयोग होता है। यथा—**मातापितरौ, श्वश्रूश्वशुरौ, स्वसाभ्रातरौ, दुहितृ-पुत्रौ, सीतारामौ रुक्मिणीकृष्णौ** आदि आदि। हिन्दी में भी मातापिता, सीताराम, राधेश्याम आदि में यही प्रवृत्ति है।

दहेजप्रथा में नारी का इतिहास—संसार की सभी जातियों में दहेज की प्रथा प्रचलित है। वह भी पुराकाल की पति के वधूगृहवास (घर जवांई) प्रथा की द्योतक है। भारतीय समाज में दहेज में बर्तन, भांडे, वस्त्र, चर्खा, पलंग आदि जितने प्रकार के पदार्थ दिए जाते हैं, उनसे स्पष्ट है कि कन्या के माता-पिता ये पदार्थ कन्या को पृथक् घर बसाने के लिए देते हैं। इन प्रतिदिन उपयोग में आने वाले पदार्थों का कन्या के माता-पिता की ओर से देना तभी उपयुक्त है, जब पति अपने पितृगृह को वापस न जाए। दूसरे शब्दों में प्राचीन काल में कन्या के माता पिता वर को विविध उपहारों से प्रसन्न करके अपने पास ही रखने की चेष्टा करते थे।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल में जब सामाजिक बन्धनों का प्रादुर्भाव हुआ, तब नर की अपेक्षा नारी अधिक स्वतन्त्र थी, समाज में उसकी प्रधानता थी।

सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र परिवर्तन—उत्तर काल में जब सामाजिक प्रधानता का केन्द्र नारी से हटकर नर की ओर खिसकने लगा, तब मानव समाज के नियमों में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उनमें से प्रधान परिवर्तन है—विवाहानन्तर वधू का पितृगृह छोड़कर पतिगृह जाना। 'ऋग्वेद' के विवाह सूक्त के कतिपय मन्त्रों में वधू का पतिगृह जाना स्पष्ट लक्षित होता है। अथर्ववेद के विवाहसूक्तों में इस प्रकार के मन्त्रों का बाहुल्य है।

---

१. सीता और द्रौपदी के विवाहों के लिए भी रामायण महाभारत में यद्यपि स्वयंवर शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु वह वस्तुतः स्वयंवर नहीं था अपितु सशर्त विवाह होने से 'पण' था। प्रतीत होता है उत्तर काल में स्वयंवर शब्द विवाह का पर्याय बन गया होगा।

अब हम उस काल में पहुंचते हैं, जिसमें प्राचीन भारतीय आचार्यों के मन्तव्यानुसार वेदप्रतिपादित सभी नियम मानवसमाज में व्यवस्थित हो गए थे। यह काल सतयुग का तीसरा चरण है। इसी समय मानव समाजोपयोगी विविध शास्त्रों का प्रथम शासन[1] अर्थात् प्रवचन हुआ।

वेदों में नारी का स्थान—वेदों के गम्भीर अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस काल में नारी को मानवसमाज में वे सभी अधिकार प्राप्त थे, जिनमें नारी की प्राकृतिक शरीररचना विशेष बाधक नहीं थी।

वेदाध्ययन और उपनयन—वेद के अनुसार कुमारियों को भी उपनीत होकर आचार्या के पास नियमित रूप से ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक वेद का अध्ययन करना होता था। उसके अनन्तर पूर्ण युवती होने पर ही वे गृहस्थाश्रम में स्वेच्छा से प्रवेश करती थीं। इसी प्रकार पुरुषों के समान स्त्रियां यज्ञकर्म में ब्रह्मत्व प्राप्त किया करती थीं। इनका संकेत वेद के निम्न मन्त्रों में उपलब्ध होता है—

भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता। ऋ० १०।१०९।७॥

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व० ११।६।१८॥

स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ। ऋ० ८।३३।१९॥

इसकी पुष्टि मनु के निम्न श्लोक से भी होती है—

पुरा कल्पे हि नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री वाचनं तथा॥[2]

अर्थात् पुराकल्प (=अति प्राचीन काल) में स्त्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार होता था और वे वेदों का अध्ययन करती थीं।

मध्यकाल के समान प्राचीन काल में स्त्रियां असूर्यंपश्या नहीं थीं। विवाहसूक्त में स्पष्ट लिखा है—

---

१. शास्त्रों का जो प्रवचन कृतयुग के अन्त में हुआ, वह शासन, शास्त्र, तन्त्र नाम से प्रसिद्ध है। उसके पश्चात् उन्हीं विषयों के जो कालान्तर में पुनः प्रवचन हुए, वे अनुशासन कहाए। देखो—**अथ शब्दानुशासनम्, अथ योगानुशासनम्।** इन्हें अनुतन्त्र भी बहुत्र कहा जाता है।

२. वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश पृष्ठ ४०२ पर उद्धृत। महामहोपाध्याय मित्र मिश्र ने स्त्रियों के उपनयन और वेदाध्ययन का बड़े बलपूर्वक समर्थन किया है। देखो—वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश, पृष्ठ ४००—४०५।

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत । ऋ० १०।८५।३३॥

अर्थात् सिन्दूर से मांग भरी हुई वधू को देखो ।

वेद के अनुसार वधू को मातृगृह छोड़ कर पतिगृह में प्रवेश करना होता था, परन्तु वह प्रवेश आजकल के समान दासी रूप में नहीं होता था । विवाहसूक्त में स्पष्ट लिखा है—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥ ऋ० १०।८५।४६॥

अर्थात् हे वधू तू सास ससुर ननन्द और देवरों के मध्य सम्राज्ञी (महारानी) बन कर रह ।

प्राचीनकाल में कन्या को पिता की सम्पत्ति में भी अधिकार था । ऋग्वेद ३। ३१।१ में कन्या को दायभाग देने का स्पष्ट उल्लेख है, ऐसा कई एक आचार्यों का मत है । देखो—निरुक्त, अ० ३।३-४॥

कन्या को दायभाग देने की प्रथा मनु के काल में भी विद्यमान थी । यास्क ने 'निरुक्त' ३।४ में मनु का निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि नर-नारी सम्बन्ध के नियन्त्रित हो जाने तथा कन्या का विवाहोपरान्त पतिगृह में प्रवेश करने पर भी नारी को नर के समान वे सभी अधिकार प्राप्त थे, जो उत्तर काल में उससे छीन लिए गए ।

मनुस्मृति में नारी का स्थान—अब हम उस काल में प्रवेश करते हैं जब वैवाहिक सम्बन्ध अधिक कठोर हो गए। नर की प्रधानता हो गई। नारी नर के आश्रित हुई और समाज में नर को बहु-पत्नीत्व का अधिकार मिला । यह अवस्था त्रेतायुग के आरम्भ की है ।

मनुस्मृति का भृगु का प्रवचन इसी काल का है । अब हम भृगुओं की मनुस्मृति के आधार पर इस काल की नारी की स्थिति का वर्णन करेंगे—

---

१. भृगु के काल में इस व्यवस्था में कुछ अन्तर हो गया था । वर्तमान भृगु-प्रोक्त मनुस्मृति में पुत्र के अभाव में पुत्री को पुत्र बना लेने पर ही दायभाग की अधिकारिणी माना है । देखो—मनुस्मृति ९।१३०–१३३॥

इस काल में नारी यद्यपि नर के आश्रित हो चुकी थी, उस पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए जा चुके थे, पुनरपि इस काल में नारी मानवसमाज में आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। मनुस्मृति में लिखा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिता:।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्तत:॥ अ० ३।५६, ५७।

अर्थात् जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं। जहां इन को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता, वहां सब धर्मक्रियाएं निष्फल होती हैं। अनादृत नारियां जिन घरों को शाप देती हैं, वे कृत्या विष प्रयोग द्वारा मारे गए के समान सब ओर से नष्ट हो जाते हैं।

नारी के नर के अधीन होने पर भी गृह का सारा प्रबन्ध नारी के ही अधीन था। वह उसमें पूर्ण स्वतन्त्र थी, पति का इस विषय में कोई अंकुश नहीं था। अत एव 'मनुस्मृति' में कहा है—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥

अर्थात् नारी को सदा प्रसन्न रहना चाहिए, सब गृह कार्यों में दक्ष, चतुर, अन्नादि के पाक में कुशल और व्यय करने में अमुक्तहस्त (=अधिक व्यय न करने वाली) होना चाहिए।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि मनु के काल में नारी दायभाग की भी अधिकारिणी थी। इसलिए वह पूर्णतया नर के आश्रित नहीं हुई थी। उत्तरकाल में जब पुरुष समाज ने अपनी तुष्टि के लिए नारी को पूर्णतया आश्रित बनाना चाहा, तो उसने सबसे प्रथम नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता का अपहरण किया। उसे दायभाग से वंचित किया। 'मैत्रायणीसंहिता' में स्पष्ट लिखा है—"तस्मात् पुमान् दायाद: स्त्र्य-दायादा" (४।६।४)।

'मनुस्मृति' में स्त्री-पुरुष के ऐच्छिक संयोग अर्थात् गन्धर्वविवाह को विवाहों में गिना है (यह स्वयंवर का ही रूपान्तर था)। इससे स्पष्ट है कि उस काल में स्त्री-पुरुषों को झूठी मर्यादा के नाम पर जकड़ा नहीं गया था। उन्हें परस्पर मिलने जुलने की पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। उत्तर काल के अनेक धर्मसूत्रों में गन्धर्वविवाह को विवाह के अन्तर्गत ही नहीं माना, उसे अधर्म माना। 'मनुस्मृति' के काल में कामी

क्रोधी और बलशाली पुरुषों द्वारा कन्या के बलात् अपहरण और दूषण को भी निकृष्ट प्रकार के विवाहों में स्थान प्राप्त हो गया अर्थात् पुरुषसमाज के इस निन्द्य कृत्य को भी दबी जबान से धर्म मान लिया। इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृति के काल में ही पुरुषसमाज ने नारी पर विविध प्रकार अत्याचार करने प्रारम्भ कर दिए थे और उसे धर्म का चोला पहनाया जा रहा था।

'रामायण' में नारी का स्थान—मनुस्मृतिकाल के अनन्तर हम रामायणकाल में पहुंचते हैं। यह त्रेता का चतुर्थ चरण का समय है। इस काल में नारी की स्वतन्त्रता लगभग समाप्त हो चुकी थी। बहुपत्नीत्व प्रथा व्यापक रूप धारण कर चुकी थी। इस दृष्टि से भगवान् राम का बड़ा भारी आत्मसंयम था, जो उन्होंने सीता के त्याग[1] और स्वर्गवास के अनन्तर भी दूसरा विवाह नहीं किया। इस **एकपत्नीव्रत** के कारण ही राम मर्यादापुरुषोत्तम माने गए।

राम के काल में यद्यपि स्वयंवर होता था, परन्तु वह स्वयंवर न होकर द्यूत का रूप धारण कर चुका था। अब कन्या को स्वयं 'वर' चुनने का अधिकार न था, अपितु कन्या का पिता उसके विवाह के लिए योग्यता विशेष की परीक्षा नियत कर देता था। जो कोई भी उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता था, उसके गले में जयमाला डालनी ही पड़ती थी, चाहे वह उसके पसन्द का हो या न हो।

'रामायण' में सीता के सन्ध्या[2] करने और कौशल्या के अग्निहोत्र करने[3] का वर्णन है। अतः विदित होता है कि उस काल में कन्याओं को वेद का अध्ययन कराया जाता था। वाल्मीकि ने कौशल्या को 'मन्त्रवित्' कहा है। वेदाध्ययन बिना

---

१. आधुनिक व्यक्ति सदा प्राचीन वाङ्मय तथा संस्कृति की निन्दा में ही प्रवृत्त हैं, वे राम के द्वारा सीता के त्याग को लक्षित करके राम की निन्दा करते हैं, उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि सीतात्याग के समय राम को एक काल में दो भूमिकाएं निभानी पड़ रहीं थीं। एक व्यक्तिपरक, और दूसरी राजपरक। दोनों का निर्वाह एक काल में नहीं कर सकते थे। व्यक्तिधर्म को प्रधानता देते हैं तो उस घटना से प्रजाओं के मन में क्या भावना उदय होगी, उसे वे जानते थे। अतः उन्होंने व्यक्तिगत धर्म को राजधर्म की दृष्टि से त्यागना ही उचित समझा।

२. सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी ॥५।१५।४८॥

३. सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवित् कृतमङ्गला ॥२।२०।१५॥

यज्ञोपवीत के नहीं हो सकता। अतः उस काल में कन्याओं का यज्ञोपवीत भी होता था। यह स्पष्ट है।

इसी प्रकार 'रामायण' में कैकेयी का दशरथ के साथ 'देवासुर-संग्राम' में जाने और दशरथ के प्राणों की रक्षा करने का उल्लेख है। इस से विदित होता है कि उस काल में स्त्रियों को युद्धविद्या भी सिखाई जाती थी।

भारत-युद्ध[1]-कालीन वाङ्मय में नारी का स्थान—अब हम भारत-युद्ध-काल (द्वापर के अन्त) में पहुंचते हैं। वेद का जितना वाङ्मय (शाखा ब्राह्मण उपनिषद् सूत्र ग्रन्थ) इस समय उपलब्ध है, वह सब प्रायः भारत युद्ध काल के आस पास का है।

इस काल में नारीजाति की सभी प्राचीन मर्यादाएं लुप्त हो चुकी थीं। स्वयंवर प्रथा समाप्त हो चुकी थी। कन्या का बलात् अपहरण और दूषण को न केवल विवाहों के अन्तर्गत ही माना जाता था, अपितु क्षत्रियों में इस कर्म को श्रेष्ठ समझा जाता था। भीष्मपितामह सदृश व्यक्ति ने भी अपने भाईयों के लिए काशीराज की तीन कन्याओं का अपहरण किया था, स्वयं कृष्ण ने न केवल रुक्मिणी का अपहरण किया, अपितु अर्जुन को स्वयंवर में दोष दिखा कर सुभद्रा के अपहरण की सम्मति दी थी (महाभारत वनपर्व)।

इतना ही नहीं नारी साधारण भोग्यवस्तु बन गई थी। इसी कारण कौरवों की भरी राजसभा में रजस्वला द्रौपदी का भयंकर अपमान होने पर भी सारी सभा टुकुर-टुकुर देखती रही। भीष्म द्रोण जैसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने भी चूं तक न की। द्रौपदी का बहुपतित्व भी इसी बात का द्योतक है। जब द्रौपदी जैसी साम्राज्ञी की ऐसी दशा हो सकती थी, तो साधारण नारी की क्या दशा होती होगी, इसका अनुमान सहज में लगाया जा सकता था।

इस काल में नवजात कन्या को मार डालने अथवा छोड़ देने की प्रथा भी प्रचलित हो चुकी थी। मैत्रायणी सं० ४।६।४ में लिखा है—**'तस्मात् स्त्रियं जातां परास्पन्ति, न पुमांसम्'**।

इस जघन्य प्रथा का अवशेष राजस्थान के राजपूतों में कुछ समय पूर्व तक था। इतना ही नहीं, इस काल में स्त्रियों का विक्रय भी होने लग गया था। निरुक्त ३।४ में लिखा है—**स्त्रीणां दानातिसर्गविक्रया विद्यन्ते**।।

---

१. भरतकुल के कौरव पाण्डव युद्ध का नाम **'भारत'** है। (द्र० काशिका ४।२।५५)। 'महाभारत' नाम व्यासविरचित ग्रन्थ का है।

'महाभारत' से स्पष्ट है कि महाराज पाण्डु ने माद्री को धन से ही खरीदा था। इसी अभिप्राय का एक श्लोकार्ध काशिका ४।१।५० में भी मिलता है—सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।

इतना सब कुछ होने पर भी इस काल तक स्त्री जाति विद्याध्ययन से वंचित नहीं की गई थी। वह विद्या के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान निपुण हुआ करती थी। उनका उपनयन और वेदाध्ययन भी होता था।[1] बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी और मैत्रेयी के संवाद से उनके ब्रह्मज्ञान की उच्चता का अनुमान सुगमता से लगाया जा सकता है। सुलभा नाम्नी क्षत्रिय कन्या ने तो संन्यास आश्रम का ग्रहण ही इसलिए किया था कि उसे अपने योग्य पति ही नहीं मिला था।[2] 'महाभारत' शान्तिपर्व अ० ३२० में जनक और सुलभा का अद्भुत संवाद उपलब्ध होता है। अष्टाध्यायी ४।२।६६ की काशिकावृत्ति में निर्दिष्ट सौलभ ब्राह्मण सम्भवतः इसी क्षत्रियकुलप्रसूता ब्रह्मवादिनी सुलभा का प्रवचन है। इससे सुलभा का वेदविद्या-प्रवीणत्व सुव्यक्त है।

महाभारतान्तर्गत 'द्रौपदी-सत्यभामा' संवाद से स्पष्ट है कि पाण्डवों के चक्रवर्ती राज्य की मुख्य संचालिका द्रौपदी ही थी।[3] द्रौपदी राज्यकार्य में कितनी कुशल थी, इसके जानने के लिये वनपर्व अ० २३३ विशेषरूप से पठनीय है।

भारतयुद्ध-काल में स्त्री-चरित के विषय में अविश्वास की भावना बहुत प्रबल हो गई थी। इसीलिये यज्ञ में प्रवरोच्चारण-काल में यजमान कहता है—

न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मः अब्राह्मणा वा (मीमांसा-शाबर-भाष्य १।२।२ में उद्धृत ब्राह्मणवचन)।

मीमांसा-सूत्रकार जैमिनि ने भी **'अपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम्'** (१।२।१३) में इसी बात की पुष्टि की है।

---

२. गोभिल गृह्यसूत्र में स्पष्ट लिखा है—**प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानयन् जपेत्—सोमोऽददद् गन्धर्वाय** (१।१।१९)। इसी काल के हारीतधर्मसूत्र (२१।२०-२२) में लिखा है—**तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्, अग्नीन्धनम्, वेदाध्ययनं, स्वगृहे भिक्षार्चनेति।**

२. साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥ महा० शांति० ३२०।८२॥

३. सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च।
एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनि॥

शतपथब्राह्मण (१।३।४।२१) से भी विदित होता है कि सभाओं में आने-जाने के कारण नारी-जाति को शङ्का की दृष्टि से देखा जाने लगा था।[1]

अव सभा अह देवानां पत्नीः करोति, परःपुंसो हास्यपत्नी भवति। अर्थात् देवों की सभा में जो पत्नी प्रवेश करती है, वह पत्नी दूसरे पुरुष की हो जाती है।

हां, इतना अवश्य है कि इस काल में सभी पुरुष नारी-जाति को अविश्वास की दृष्टि से देखने लग गये हों, ऐसी बात नहीं थी। याज्ञवल्क्यसदृश कुछ ऐसे भी महनीयचरित्र व्यक्ति थे, जो छाती ठोक कर स्त्रियों का विश्वास करने का उपदेश करते थे। शतपथ में पूर्वोक्त प्रसंग के उत्तर में लिखा है—

तदु होवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या अस्तु। कस्तदाद्रियेत यत्परः पुरुषो वा पत्नी स्यादिति।

अर्थात् याज्ञवल्क्य बोला—पत्नी के लिए जैसा कहा है, वैसा ही करो। कौन इस बात को मान सकता है कि सभा में प्रवेश करने मात्र से पत्नी दूसरे पुरुष की हो जाएगी।

उत्तर काल में स्त्रीचरित के प्रति अविश्वास की धारणा दृढ़मूल हो गई। **स्त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानति कुतो मनुष्यः** (स्त्री का चरित्र, पुरुष का भाग्य भगवान् भी नहीं जानते, मनुष्य तो क्या जानेगा) यह एक साधारण आभाणक बन गया।

नारी की स्थिति इतनी गिर जाने पर भी इस काल में नारी सर्वथा हेय वस्तु नहीं बनी थी। कथंचित् बलात् परपुरुष सम्बन्ध हो जाने पर भी उसे घर से निकाला नहीं जाता था। अनुचित सम्बन्ध हो जाने पर पुनः रजोदर्शनमात्र से उसकी शुद्धि मान ली जाती थी। (रजसा शुद्ध्यते नारी—मनु०)। इस विषय की मीमांसा भारतयुद्ध-कालीन अनेक स्मृति-ग्रन्थों में विशेषकर देवलस्मृति में उपलब्ध होती है।

भारतयुद्ध के पश्चात्—अब हम उस काल में प्रवेश करते हैं, जिसे हम अन्धकार का युग कह सकते हैं। स्त्रीजाति की दशा तो दूर रही, पुरुषसमाज ने भी इस काल में वेद का अध्ययन-अध्यापन छोड़ दिया। केवल पाषाणप्रतिमाओं के पूजन से सर्व दुःखों की निवृत्ति मानने लग गए। ऐसे काल में यदि नारीजाति की स्थिति अत्यन्त भयंकर हो जाए तो क्या आश्चर्य। इस काल में पुरुषजाति ने अपनी झूठी मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु नारीजाति पर भयानक अत्याचार किये।

---

१. तुलना करो—**कथं हि स्त्री सभायां साध्वी स्यात्।** महाभाष्य ४।४।१०५॥

इस काल में भी अपवादस्वरूप इतिहास में ऐसी नारियों के दर्शन हो जाते हैं, जो अपनी ज्ञानगरिमा से और प्रतिभा से भारत का शिर उन्नत रखने में समर्थ थीं। मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों तक को स्वतःप्रमाण माननेवाले भट्टकुमारिल के प्रमुख शिष्य मण्डनमिश्र की भार्या शारदा ऐसी ही साक्षात् शारदा देवी थी, जो शङ्कराचार्य और मण्डनमिश्र के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ बनी थी। ऐसी वेदशास्त्रज्ञानसम्पन्ना के विद्यमान होते हुए शंकराचार्य **द्वारं किमेकं नरकस्य नारी** कैसे लिख सकते थे। वस्तुतः जो लोग शास्त्रज्ञानसम्पन्न नहीं हैं, वे यह जानते ही नहीं कि एक विषय में उपदेश करनेवाला व्यक्ति अधिकारीभेद से भिन्न-भिन्न उपदेश करता है। अतः यदि शंकराचार्य ने, जो स्वयं संन्यासी थे और जिनको उपदेश किया, वे ब्रह्मचारी वा संन्यासी पुरुष थे। विलिङ्ग की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक धर्म है। अतः शंकराचार्य ने स्त्रीवर्ग से सावधान रहने का अपने शिष्यों को उपदेश दिया, तो उन्होंने नारीजाति का कोई अपमान नहीं किया। एक साध्वी या संन्यासिनी अपनी शिष्याओं को नरों से सावधान रहने का उपदेश करती ही है।

हां, भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का लिखना—

ढोल गंवार पशु अरु नारी, ये सब हैं ताडन के अधिकारी अवश्य मन को कचोटता है[1]।

इस काल में नारी को साधारण से अपराध पर घर से निकाल देना एक मामूली बात हो गई। शतशः कुकर्म करके भी पुरुषसमाज अपने मूंछों पर बल देकर दन-दनाता रहा, उसे किसी ने पूछा भी नहीं।

इस भयंकर अत्याचार का फल भी पुरुषसमाज को हाथों-हाथ मिल गया और मिल रहा है। देश धर्म और गौ माता की श्रद्धापूर्वक प्रतिष्ठा करनेवाली मातृशक्ति को जब पुरुषसमाज साधारण से अपराध पर धक्के देकर घर से बाहर कर देता है तो वे बिचारी विधर्मियों के चुंगल में फंस कर हिन्दुओं को श्राप देती हुई विधर्मियों की संख्या बढ़ाती हैं। देश में जो इतनी मुस्लिमसंख्या बढ़ी, उनमें पुरुषसमाज से

---

१. इस चौपाई का अर्थ करते हुए कई लोगों का कहना है कि तुलसीदासजी के जन्मप्रदेश में बीज बोनेवाली नली, जो हल के पीछे बांधी जाती है, जिसमें किसान बीज छोड़ता है, उसको नारी कहते हैं। बीज मध्य में अटक न जावे इसलिए उसे ठोकते हैं। इसलिए इस चौपाई में नारी का अर्थ स्त्री नहीं है। हमें यह अर्थ प्रसंग-संगत नहीं लगता।

धक्के दी हुई नारियों का ही प्रधान हाथ है। आज उन्होंने अपनी शक्ति पर भारत माता के टुकड़े-टुकड़े कर दिए, और नए टुकड़े करने का स्वप्न देख रहे हैं। देश के बंटवारे के समय हिन्दुओं को जो भयानक अत्याचार सहने पड़े और कदाचित् आगे भी सहने हों, उनकी पृष्ठभूमि में इन्हीं पुरुषसमाज द्वारा पीड़ित माताओं और बहनों का अभिशाप मुख्य कारण है।

नारीजाति जर अत्याचारों की जो शृङ्खला आरम्भ हुई, उसकी परिणति 'सतीप्रथा'=विधवा को जबरदस्ती मृत पुरुष के साथ जलाने में हुई। श्री ईश्वर चन्द्र विद्यासागर एवं बङ्गाल के समाजसुधारकों के प्रयत्न से यह बन्द हुई। सती प्रथा के अनुमोदक तो विधवाओं को ही जलाते थे, परन्तु आजकल नराधम तो धन के लोभ में सधवा को ही जला रहे हैं।

हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमान और ईसाइयों में नारी की स्थिति और भी अधिक भयङ्कर रूप धारण कर चुकी थी। कुछ काल पूर्व तक ईसाई मत के अनुसार नारी में जीव-प्राण ही नहीं माना जाता था, वह जड़ पदार्थवत् पूर्णरूपेण भोग्य वस्तु बन गई थी। मुसलमानों के मत में अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए मनचाहे अत्याचार करने की पूरी छूट थी।

आधुनिक काल—ऐसी भयङ्कर स्थिति के अनन्तर नारीजाति ने पुनः पलटा खाया। किसी की भी एक जैसी स्थिति सदा नहीं रहती। नारीजाति की स्थिति बदलने और उसे पुनः शिक्षित करने में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायी आर्यसमाज ने प्रारम्भ में महान् कार्य किया। ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाज के संस्थापकों की एतद्विषयक सेवा भी भुलाई नहीं जा सकती। स्वामी दयानन्द ने तो अपने अमर ग्रन्थ "सत्यार्थप्रकाश" में स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि जब तक नारी को वे ही पुरातन अधिकार, जो वेदशास्त्रों ने पुरातन काल में इन्हें दिए थे, वे पुनः फिर से न लौटाए जायेंगे, तब तक मनुष्यजाति की उन्नति किसी प्रकार नहीं होगी। क्योंकि माता ही मनुष्य की सबसे प्रथम और प्रमुख शिक्षिका है। उसके द्वारा जो विचार कोमलमति बालकों के हृदय में भर दिए जाते हैं, वे जन्म भर अमिट रहते हैं। अतः पुरुषसमाज से भी अधिक नारीजाति को विदुषी बनाने में यत्न करना चाहिए।

आज नारी की स्थिति बड़े वेग से परिवर्तित हो रही है, इसमें सन्देह नहीं। उसे वे ही अधिकार समाज में दिए जा रहे हैं, जो नर को प्राप्त हैं। यह वस्तुतः बहुत अच्छी बात है। परन्तु इस स्थितिपरिवर्तन में पाश्चात्य देशों का अनुकरण अन्धाधुन्ध हो रहा है, यह शुभ लक्षण नहीं है। प्रत्येक देश, जाति और समाज की

अपनी-अपनी सामाजिक परिस्थितियां भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। जो कार्य यूरोपीय देशों में असभ्य नहीं समझा जाता, वह भारतीयसमाज में परम असभ्यता का सूचक माना जाता है। इसलिए जो भी परिवर्तन होना चाहिए वह अपने देश की पुरातनपरम्पराओं तथा इतिहास को दृष्टि में रखकर होना चाहिए। पाश्चात्य देशों के अन्धानुकरण से नारीजाति की स्थिति सुधरेगी, इसमें हमें यत्किंचित् विश्वास नहीं। यथा तलाकप्रथा को प्रोत्साहन देने और कन्या को पितृसम्पत्ति में भाग देने से जहां कतिपय नारियों को लाभ होगा, वहां सभी परिवारों में कलह का बीज बो दिया जाएगा। अच्छा तो यह हो कि जो पुरुष नारी पर अत्याचार करे उसी पुरुष से नारी को बचाने के लिए नियम बनाए जाएं। न कि तलाक प्रथा को प्रोत्साहन दिया जाए। इसी प्रकार विधवा और सताई गई नारियों को पति की सम्पत्ति का अधिकार दिया जाए, जिससे वे अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकें। हमारे विचार में नारीजाति की उन्नति के लिए जो तलाक और दायभाग के नियम बनाए जा रहे हैं, उनसे भारतीय समाज में नारी की दशा अधिक दयनीय हो जाएगी अथवा पाश्चात्य देशों के समान नारी और नर दोनों ही अत्यधिक उच्छृंखल बन जाएंगे और पारिवारिक जीवन नरक बन जाएगा।

अतः हमारा तो दृढ़ निश्चय है कि वेदशास्त्र आदि के अनुसार आदि काल में नारी जाति को जो-जो अधिकार प्राप्त थे, वे सभी देने उचित हैं, परन्तु एकदम नहीं, शनैः-शनैः जैसे-जैसे नारी उन्नति करती जाए, उसे उन सभी बन्धनों से मुक्त कर दिया जाए, जिन्हें उत्तरोत्तर काल में पुरुषसमाज ने अपने स्वार्थ के लिए लगाया है।

यदि पुरुषसमाज स्वयं सुधर जाये, तो नारीजाति का सुधार स्वयमेव हो जायेगा। महाराजा अश्वपति का 'न स्वैरी स्वैरिणी कुतः' कथन इसी सत्य को उजागर करता है। इति शम्।